

स म र्प ण

जो तप और त्याग के उज्ज्वल प्रतीक थे, जिनके मन, वचन, कर्म
से सदा विवेक का प्रकाश जगमगाता था, जिनका संयम माया
की छाया से परे था, जिनकी साधना, आदर्श साधना
थी, उन महास्यविर, पवित्रात्मा, दिवंगत ज्ञा
भमण श्री नाथूलालजी महाराज की सेवा
में सादर समर्पित
स म र्प ण

मनो-अनुनि

समस्तं मे-न्यायम्,

मेवम् मनीषिणा

मनीषी मन्त्रेष्टुम्,

मन्त्रेष्टुम् मन्त्रेष्टुम् ।

धन्यवाद

श्रीयुत हेमचन्द्रजी जैन सदर बाजार देहली के हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने बड़े ही स्नेह भाव से श्रमण सूत्र के प्रकाशन के लिए ७३०) रु० का सुन्दर कागज संस्था को अर्पण किया, जिसके फलस्वरूप श्रमण सूत्र मुद्रित रूप में इतना शीघ्र जनता तक पहुँच सका ।

श्री हेमचन्द्र जी हमारे जैन समाज के उत्साही युवक हैं, सुन्दर विचारक हैं और देहली नगरपालिका तथा (म्युनिसिपल कमेटी) के माननीय सदस्य हैं । जैन संसार आपसे भविष्य में बड़ी आशाएँ रखता है । हम आपके महान् भविष्य के लिए मंगल कामना करते हैं ।

—मन्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ

आगरा

प्रकाशकीय निवेदन

साहित्य समाज का दर्पण होता है। दर्पण का कार्य वस्तु का वास्तविक रूप में दर्शन कराना है। मनुष्य जैसा होगा, उसका प्रतिबिम्ब भी दर्पण में वैसा ही होगा। साहित्य रूढ़ी दर्पण में समाज अपना यथार्थ दर्शन पा लेता है। यह जान सकता है कि मैं क्या हूँ? मैंने अभी तक क्या प्रगति की है? मेरा रूप सुरुप है या कुरूप?

साहित्य की महत्ता और विशालता पर ही समाज की उपयोगिता आधारित रहती है। साहित्य समाज, धर्म और संस्कृति का प्राणधार है। साहित्य की उपेक्षा करके समाज, धर्म और संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। बिना प्राण के शरीर जैसे शव कहलाता है, उसी प्रकार साहित्य शून्य समाज की भी स्थिति है। सत्साहित्य समाज के जीवन होने का चिह्न है।

इसी शुभ लक्ष्य की पूर्ति के लिए ज्ञान पीठ ने मौलिक साहित्य प्रकाशित करने का दृढ संकल्प लिया है। स्वल्प काल में ही उसने अपनी उपयोगिता सिद्ध करने में सरलता प्राप्त की है और समाज को ठोस साहित्य प्रदान करके जनता की बौद्धिक चेतना को स्फूर्ति एवं जागरूकता प्रदान की है। ज्ञानपीठ के प्रकाशनों की सर्वांगियता का अनुमान पाठक-गण नासिक, पादिक और साप्ताहिक पत्रों की समालोचनाओं पर से लगा सकते हैं।

उही प्रकाशनों की शृङ्खला में आज हम भद्रेश उराभ्यायजी का भ्रमण सूत्र लेकर उपस्थित हो रहे हैं। भ्रमण सूत्र क्या है, उसका क्या महत्त्व है, और उस महत्त्व के प्रकटीकरण में उराभ्यायजी ने क्या कुतू

लिखा है, ये सब आप पुस्तक पढ़कर जान सकेंगे। हम स्वयं अपनी ओर से इस सम्बन्ध में क्या लिखें? उपाध्याय श्रीजी ने हमारे समाज को नई भाषा में नया चिन्तन देने का जो महान् उपक्रम किया है, उसे भविष्य की परम्परा कभी भूल न सकेगी। उपाध्याय श्रीजी के विराट् अध्ययन की छाया; उनके ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

श्रमण सूत्र के मुद्रण का कार्य बड़ी शीघ्रता में हुआ है। इधर मुद्रण चल रहा था और उधर साथ-साथ लेखन भी चलता था। इधर दो महीने से उपाध्याय श्रीजी का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहा है। इस विचित्र स्थिति में सम्भव है मुद्रण एवं संशोधन सम्बन्धी कुछ भूलें रही हों, पाठक उनके लिए हमें क्षमा करेंगे।

सन्मति शान-पीठ }
लोहामण्डी, आगरा }

विनीत—
रतनलाल जैन

आत्म निवेदन

'भमण सूत्र' भमण धर्म की स्थापना का मूल प्राण है। जीन भमण का जो कृत्र भी आचार व्यवहार है, जीवन प्रवाह है, उनका संज्ञित स्वरूप दर्शन भमण सूत्र के द्वारा हो सकता है। यही कारण है कि प्रति दिन प्रातः और सायंकाल प्रस्तुत सूत्र का दो बार नियमेन पाठ, प्रत्येक-साधु और सत्पुत्री के लिए आवश्यक है। यह जीवन शुद्धि और दीन प्रमाचन का महा सूत्र है। भमण साधक जितना ही अभ्यासी हो, परन्तु यदि उसे भमण सूत्र का ज्ञान नहीं है तो सम्भ्रमता चादिए कि वह कुछ नहीं जानता। भमण सूत्र का ज्ञान, एक प्रभर ने साधक के लिए अपनी आत्मा का ज्ञान है।

जो सूत्र इतना महान् एवं इतना उच्च है, दुर्भाग्य से उस पर अच्छी तरह लक्ष्य नहीं दिया गया। सूत्र पाठ केवल रट लिए जाते हैं, न पाठ शुद्धि ही होती है और न अर्थ ज्ञान। श्रोतृमंडल के प्रवाह में पढ़कर भमण सूत्र का रूप इतना मित्रित कर दिया गया है कि देखकर हृदय में महती पीड़ा होती है।

मैं बहुत दिनों से इस और कुछ लिखने का निश्चार करता रहा हूँ। सामाजिक सूत्र लिखने के बाद तो मुझे साधुवर्ग की ओर से भी प्रेरणा मिली कि ऐसा ही कुछ साधु प्रतिमण पर भी लिखा जाय। मैंने कुछ लिखा भी। और मेरा मन यह लोग व्याख्यान सचररति श्रद्धेय भी

मदन मुनिजी ने देखा-तो आप बड़े ही प्रभावित हुए। उनकी ओर का आग्रह-हुआ कि इसे शीघ्र-से-शीघ्र पूरा कर दिया जाय। परन्तु आप जानते हैं जैन भिक्षु की 'जीवनचर्या' कहीं एक जगह जमकर बैठने की नहीं है। यहाँ चतुर्मास में ही-थोड़ा बहुत लिखने का कार्य हो सकता है। फिर सब जगह प्राचीन और नवीन पुस्तक सामग्री भी तो नहीं मिल पाती है। बिना प्रामाणिक आधार लिए केवल कल्पना के भरोसे कलम को आगे बढ़ाना, आजकल मुझे पसन्द नहीं रहा है। यही-कारण है कि श्रमण सूत्र के-लेखन का कार्य-यथाशीघ्र प्रगति नहीं कर सका।

अबकी बार आगरा में कुछ दिन ठहरना हुआ तो विचार आया कि वह कार्य पूरा कर दूँ। यहाँ साधन-सामग्री भी उपलब्ध थी। कुछ दिन तो कार्य ठीक चलता रहा। परन्तु इधर दो महीने से मैं बराबर अस्वस्थ रहा। सिरदर्द ने इतना तंग किया है कि अधिक-क्या लिखूँ? ये पंक्तियाँ भी सिरदर्द की दुःस्थिति में ही लिखी जा रही हैं। हाँ, तो कुछ दिन लेखन कार्य बन्द भी रक्खा, पर कुछ विशेष स्वास्थ्य-लाभ न हुआ। और इसी बीच व्यावर संघ का अत्याग्रह होने से वहाँ के चातुर्मास के लिए स्वीकृति दे दी। अब प्रश्न यह आया कि जैसे भी हो कार्य पूर्ण किया जाय, अन्यथा अधूरा ही छोड़कर विहार-करना होगा।

हाँ, तो सिर दर्द होते हुए भी लिखने में जुटना पड़ा। इधर लिखता था और उधर मुद्रण बड़ी तीव्र गति से चल रहा था। इस बार बड़ी विकट स्थिति में मुझे गुजरना पड़ा है। अतः मैं जैसा चाहता था, अथवा मेरे साथी मुझसे जैसा चाहते थे, वैसा तो मैं नहीं लिख सका हूँ। प्रारम्भ में ही अपनी दुर्बलता के लिए क्षमा याचना कर-लेता-हूँ। फिर भी कुछ लिखा गया है। केवल 'न' से कुछ 'हाँ' अच्छी ही होती है। हाँ, तो मैं लिख गया हूँ। अब क्या है, कैसा है, वह सब विचार करना, पाठकों का काम है। सम्भव है कहीं इधर-उधर लिखा गया हो, मूल की भावनाएँ स्पष्ट न हो पाई हों, विपर्यास भी-हुआ हो, उन सबके लिए मुझे आशा है आत्मीयता की पवित्र भावना से सुचनाएँ मिलेंगी और

मैं शुद्ध हृदय से उठा पर विचार करूँगा एवं भूल को भूल मानूँगा। भूल स्वीकार करने में न मुझे कभी संकोच रहा है और न अन है। हाँ, भूल यदि वस्तुतः भूल हो तो।

आन्तरिक दिग्दर्शन में अच्छी तरह लिपटना चाहता था। इस ओर मैंने प्रारम्भ से ही विस्तार की भूमिका भी अपनाई थी। परन्तु दुर्भाग्य से स्वास्थ्य ने साथ अच्छा नहीं दिया, फलतः मुझे मन मारकर भी सिमटना पड़ा। आन्तरिक पर मैं खुलकर चर्चा करना चाहता था, वह इच्छा पूर्ण न हो सकी। रौंर, कोई जाल नहीं। मैं भविष्य के प्रति सदा ही आशावादी रहा हूँ। कभी समय मिला तो मैं इस विषय पर बहुत अच्छी सामग्री लेकर उपस्थित होऊँगा। इतने समय तक चिन्तन को और अधिक अवकाश मिल सकेगा, फलतः अपना अस्मिता स्थिति को और अधिक सुदृढ़ बना सकेगा।

प्रस्तुत धर्मग्रन्थ के सम्पादन में मेरा क्या है? मेरा तो केवल धर्म है इधर उधर से जगाने का और उसे व्यापक रूप देने का। प्राचीन आगम साहित्य और जैनाचार्यों का विचार प्रकाश ही मेरे लिए पथ प्रदर्शन बना है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी, आचार्य हरिभद्र और आचार्य जिनदास आदि का तो मुझ पर बहुत ही अधिक ऋण है। और इधर जैनमत के ख्यातनामा महान् दार्शनिक पण्डित मुकुललालजी का पत्र प्रतिनिधय एवं स्थानक वाली जैन समाज के सुप्रसिद्ध ज्ञानाचार के साधक साहित्यप्रेमी श्रीमद्भद्रानजी सेठिया जीरानेर का बोलसप्रद भी यत्नतः पथ प्रदर्शन रहा है। उक्त ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का खासा अच्छा ऋण मेरी स्मृति में है। प्रत्यन या परोक्ष किसी भी रूप में किसी की किसी भी कृति से किसी भी प्रकार का सहयोग मिला हो तो मैं उन सब महानुभावों का कृतज्ञ हूँ।

भूमिका ही तो है, अविक लिखने से क्या लाभ? फिर भी पाठक समा रहेगे, मैं अपने कुछ स्नेही सहयोगियों का स्मृति में ले आना चाहता हूँ। अद्वैत जैनाचार्य गुरुदेव पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज का

आशीर्वाद, व्याख्यानवाचस्पति श्रद्धेय श्री मदन मुनि जी एवं योगनिष्ठ श्रीरामजीलालजी म० की उत्साह पूर्ण मधुर प्रेरणा, श्री बलवन्त मुनि जी का विलम्ब होते रहने के लिए समय समय पर उलहना, मेरे चिर स्नेही गुरु भ्राता श्री अमोलकचन्दजी का पद-पद पर सहयोग एवं परामर्श, मेरे प्रिय शिष्ययुगल श्री विजय मुनि और सुरेश मुनिजी का सहकार ही मुझे प्रस्तुत विशाल-लेखन कार्य की पूर्ति पर पहुँचा सका है। ओर जैन सिद्धान्त सभा के संस्थापक श्री नगीनदास गिरधरलाल सेठ चम्बई और श्री दयालचन्द्र जी चोरडिया रोशन मुहल्ला आगरा की ओर से मिलने वाली साहित्य सामग्री आदि का सहयोग भी प्रस्तुत कार्य के साथ स्मृति में रहेगा। सन्मतिज्ञान पीठ के महामन्त्री सेठ रतनलाल जी की सेवा तो अपनी निजी बात है, वह भुलाई ही कैसे जा सकती है ? प्रिय आत्म-बन्धुओ ! तुम सब का सहयोग भविष्य के लिए भी यथावसर प्रस्तुत रहे, यही मङ्गल कामना।

आगरा
चैत्र पूर्णिमा
सं० २००७

}

—अमर मुनि

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
आवश्यक दिग्दर्शन	१—२११
१ मानव जीवन का महत्त्व	१
२ मानव जीवन का ध्येय	१४
३ सच्चे सुख की शोध	२८
४ आवश्यक धर्म	३६
५ अमर धर्म	५२
६ 'अमर' शब्द का निर्वचन	७३
७ आवश्यक का स्वरूप	८१
८ आवश्यक का निर्वचन	८३
९ आवश्यक के पर्याय	८६
१० द्रव्य और भाव आवश्यक	८८
११ आवश्यक के छः प्रकार	९०
१२ सामायिक आवश्यक	९३
१३ चतुर्विंशति स्तर आवश्यक	१०५
१४ वन्दन आवश्यक	११०
१५ प्रतिफल आवश्यक	११८
१६ कायोत्सर्ग आवश्यक	१२६
१७ प्रत्याख्यान आवश्यक	१४२
१८ आवश्यकों का क्रम	१५०
१९ आवश्यक से लोभित जीवन की शुद्धि	१५३

१०	आवश्यक का आध्यात्मिक फल	१५४
२१	प्रतिक्रमण जीवन की एक रूपता	१५८
२२	प्रतिक्रमण : जीवन की डायरी	१६५
२३	प्रतिक्रमण : आत्मपरीक्षण	१६८
२४	प्रतिक्रमण : तीसरी ओषध	१७५
२५	प्रतिक्रमण : मिच्छामि दुक्कङ्	१७६
२६	मुद्रा	१८६
२७	प्रतिक्रमण पर जन-चिन्तन	१८६
२८	प्रश्नोत्तरी	२०१
			१—२६८
	मरण-सूत्र		
१	नमस्कार-सूत्र	१
२	सामायिक-सूत्र	१६
३	मंगल-सूत्र	२५
४	उत्तम-सूत्र	३१
५	शरण-सूत्र	३६
६	संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र	४३
७	ऐर्यापथिक-सूत्र	५३
८	शय्या-सूत्र	६७
९	गोचरचर्या-सूत्र	७५
१०	काल-प्रतिलेखना-सूत्र	८४
११	असंयम-सूत्र	१०७
१२	घन्धन-सूत्र	११०
१३	दण्ड-सूत्र	११४
१४	गुप्ति-सूत्र	११६
१५	शल्य-सूत्र	११६
१६	गौरव-सूत्र	१२२
१७	विराधना-सूत्र	१२४

१८	कथाय सूत्र	—	—	१२६
१९	सहा सूत्र	—	—	१२६
२०	विनय, सूत्र	—	—	१२२
२१	ध्यान-सूत्र	—	—	१३६
२२	क्रिया-सूत्र	—	—	१३६
२३	साम गुण-सूत्र	—	—	१४३
२४	महात्म्य-सूत्र	—	—	१४६
२५	समिति-सूत्र	—	—	१४६
२६	वीरनिकाय सूत्र	—	—	१५१
२७	लेखा सूत्र	—	—	१५६
२८	भषादि सूत्र	—	—	१६०
२९	प्रतिज्ञा सूत्र	—	—	२१२
३०	सामान्य-सूत्र	—	—	२५८
३१	उत्तरहार सूत्र	—	—	२६५

परिशिष्ट

२६६-४४३

१ द्वादशादर्श गुरुवन्दन-मूत्र

२७०

२ प्रत्याख्यान-सूत्र

३०२-३४०

१	नमस्कार-सहित-सूत्र	—	—	३०१
२	पौष्टी-सूत्र	—	—	३०८
३	पूर्वार्थ सूत्र	—	—	३११
४	एकाशन सूत्र	—	—	३१६
५	एकस्थान सूत्र	—	—	३२३
६	आचामल-सूत्र	—	—	३२४
७	अभक्त्यर्थ-उपनास-सूत्र	—	—	३२५
८	दिवस-चरित सूत्र	—	—	३३१
९	अभिप्रद-सूत्र	—	—	३३१

१०	निर्विकृतिक-सूत्र	३३५
११	प्रत्याख्यान-पारणा सूत्र	३३८
३	संस्तार-पौरुषी-सूत्र			३४१
४	शेष-सूत्र			३५०-३६७
१	सम्यक्त्व-सूत्र	३५०
२	गुरु-गुण-स्मरण-सूत्र	३५१
३	गुरु-वन्दन-सूत्र	३५२
४	आलोचना-सूत्र	३५४
५	उत्तरीकरण-सूत्र	३५५
६	आगार-सूत्र	३५६
७	चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र	३५८
८	प्राणपात-सूत्र	३६३
५	संस्कृतच्छायाऽनुवाद			३६८
६	अतिचार-आलोचना			३६५
७	परमेष्ठि-वन्दन			४०५
८	बोल-संग्रह			४०६-४४०
१	प्रतिलेखना की विधि	४०६
२	अप्रमाद-प्रतिलेखना	४१०
३	प्रमाद-प्रतिलेखना	४१०
४	आहार करने के छः कारण	४११
५	आहार त्यागने के छः कारण	४१२
६	शिक्षामिलायी के आठ गुण	४१२
७	उपदेश देने योग्य आठ बातें	४१२
८	भिक्षा की नौ कोटियाँ	४१३
९	रोग की उत्पत्ति के नौ कारण	४१३
१०	समाचारी के दश प्रकार	४१४

११	साधु ने योग्य चौदह प्रकार का दान	****
१२	कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष	****
१३	साधु की ३१ उपमाएँ	****
१४	बत्तीस अस्वाध्याय	****
१५	वन्दना के बत्तीस दोष	****
१६	तेतीस आशातनूएँ	****
१७	गोचरी के ४७ दोष	****
१८	चरण-सन्तति	****
१९	करण-सन्तति	****
२०	चाणसी लाख जीव योनि	****
२१	पाँच व्यनहार	****
२२	अठारह हजार शीलाङ्ग रथ	****
	विवेचनादि में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची	

आवश्यक-दिग्दर्शन

: १ :

मानव-जीवन का महत्त्व

जब हम अपनी आँखें खोलते हैं और इधर-उधर देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे चारों ओर एक विराट संसार फैला दिखलाई पड़ता है। बड़े-बड़े नगर घसे हुए हैं और उनमें खासा अच्छा तूफान जीवन-संघर्ष के नाम पर चलता रहता है। दूर-दूर तक विशाल जंगल और मैदान हैं, जिनमें हजारों-लाखों वन्य पशु पक्षी अपने लुप्त जीवन की मोह-माया में उलझे रहते हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, नदी नाले हैं, झीलें हैं, समुद्र हैं, सर्वत्र असंख्य जीव-जन्तु अपनी जीवन यात्रा की दौड़ लगा रहे हैं। ऊपर आकाश की ओर देखते हैं तो वहाँ भी सूर्य, चन्द्र नक्षत्र और तारों का उज्ज्वल चमकता हुआ संसार दिन-रात अविराम गति से उदय-अस्त की परिक्रमा देने में लगा हुआ है।

यह संसार इतना ही नहीं है, जितना कि हम आँखों से देख रहे हैं, या इधर-उधर कानों से सुन रहे हैं। हमारे आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़े की जानकारी सीमित है, अत्यन्त सीमित है। आखिर हमारी इन्द्रियाँ क्या कुछ जान सकती हैं? जब हम शास्त्रों को उठाकर देखते हैं तो आश्चर्य में रह जाते हैं। असंख्य द्वीप समुद्र, असंख्य नारक और असंख्य देवी देवताओं का संसार हम कहाँ आँखों से देख पाते हैं? उनका पता तो शास्त्र द्वारा ही लगता है। अहो कितनी बड़ी है यह दुनिया !

हमारे कोटि-मोटि चार अभिगन्दीय देवाधिदेव भगवान् महानीय स्वामी ने, देविए, विश्व की विराट्ता का कितना सुन्दर चित्र उभारिष्य किया है ?

गौतम पूछते हैं—“भन्ते ! यह लोक कितना विशाल है ?”

भगवान् उत्तर देते हैं—“गौतम ! अस्सल्यात् कोझ-कोझ योजन पूर्व दिशा में, अस्सल्यात् कोझ-कोझ योजन पश्चिम दिशा में, इसी प्रकार अस्सल्यात् कोझ-कोझ योजन दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधोदिशा में लोक का विस्तार है ।” —भगवती १२, ७, सू. ४४७ ।

गौतम प्रश्न करते हैं—“भन्ते ! यह लोक कितना बड़ा है ?”

भगवान् समाधान करते हैं—“गौतम ! लोक की विशालता को समझने के लिए कहना क्या कि एक लाख योजन के ऊँचे मेरु परत के शिखर पर छ महान् शक्तिशाली श्रद्धिसम्पन्न देवता बैठे हुए हैं और नीचे भूतल पर चार दिशाकुमारिकाएँ हाथों में बलिपिंड लिए चार दिशाओं में खड़ी हुई हैं, बिनकी पीठ मेरु की ओर है एवं मुख दिशाओं की ओर ।”

—“उक्त चारों दिशाकुमारिकाएँ ऊपर अपने बलिपिंडों का अपनी अपनी दिशाओं में एक साथ चँकती हैं और उधर उन मेरुशिखरस्थ छ देवताओं में से एक देवता तत्काल दौड़ लगाकर चारों ही बलिपिंडों को भूमि पर गिराने से पहले ही पकड़ लेता है । इस प्रकार शीघ्रगति वाले ये छहो देवता हैं, एक ही नहीं ।”

—“उपप्लुत शीघ्र गति वाले छह देवता एक दिन लोक का अन्त मालूम करने के लिये क्रमशः छहों दिशाओं में चल पड़े । एक पूर्व की ओर तो एक पश्चिम की ओर, एक दक्षिण की ओर तो एक उत्तर की ओर, एक ऊपर की ओर तो एक नीचे की ओर । अपनी पूरी गति से एक पल का भी विश्राम लिए बिना दिन रात चक्कर रहे, चक्करे क्या उड़ते रहे ।”

जैसे ऋण देवता मेरुशिखर से उड़े, कल्पना करो, उसी क्षण स्थ के यहाँ एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र उत्पन्न हुआ । वर्ष पश्चात् माता-पिता परलोकवासी हुए । पुत्र बड़ा हुआ और विवाह हो गया । वृद्धावस्था में उसके भी पुत्र हुआ और बूढ़ा वर्ष की आयु पूरी करके चल बसा ।”

गौतम स्वामी ने बीच में ही तर्क किया—“भन्ते ! वे देवता, जो अथाकथित शीघ्र गति से लोक का अन्त लेने के लिए निरन्तर दौड़ लगा रहे थे, हजार वर्ष में क्या लोक के छोर तक पहुँच गए ?”

भगवान् महावीर ने वस्तुस्थिति की गम्भीरता पर चल देते हुए कहा—“गौतम, अभी कहाँ पहुँचे हैं ? इसके बाद तो उसका पुत्र, फिर उसका पुत्र, फिर उसका भी पुत्र, इस प्रकार एक के बाद एक, एक हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ी गुजर जायँ, इतना ही नहीं, उनके नाम गोत्र भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायँ, तब तक वे देवता चलते रहें, फिर भी लोक का अन्त नहीं प्राप्त कर सकते । इतना महान् और विराट् है यह संसार ।” —भगवती ११, २०, सू० ४२१ ।

जैन साहित्य में विश्व की विराटता के लिए चौदह राजु की भी एक मान्यता है । मूल चौदहराजु और वर्ग कल्पना के अनुसार तीन सौ से कुछ अधिक राजु का यह संसार माना जाता है । एक व्याख्याकार राजु का परिमाण बताते हुए कहते हैं कि क्सेटिमण लोहे का गोला यदि ऊँचे आकाश से छोड़ा जाय और वह दिन-रात अविराम गति से नीचे गिरता-गिरता छह मास में जितना लम्बा मार्ग तय करे, वह एक राजु की विशालता का परिमाण है ।

विश्व की विराटता का अब तक जो वर्णन आपने पढ़ा है, सम्भव है, आपकी कल्पना शक्ति को स्पर्श न कर सके और आप यह कह कर अपनी बुद्धि को सन्तोष देना चाहें कि—‘यह सब पुरानी गाथा है, किवदन्ती है ।’ इसके पीछे वैज्ञानिक विचार धारा का कोई आधार नहीं

हमारे कोटि-कोटि चार अभिन्न-दनीय देवाधिदेव भगवान् महावीर
सामीने, देखिए, विश्व की विराटता का कितना सुन्दर चित्र उपस्थित
किया है ?

✓ गौतम पूछते हैं—“भन्ते ! यह लोक कितना विशाल है ?”

✓ भगवान् उत्तर देते हैं—“गौतम ! अक्षरव्याप्त कोड़ा-कोड़ी योजन
पूर्व दिशा में, अक्षरव्याप्त कोड़ा-कोड़ी योजन पश्चिम दिशा में, इसी
प्रकार अक्षरव्याप्त कोड़ा-कोड़ी योजन दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधोदिशा
में लोक का वित्सार है ।” —मगधर्ता १२, ७, सू. ४४७ ।

गौतम प्रश्न करते हैं—“भन्ते ! यह लोक कितना बड़ा है ?”

भगवान् समाधान करते हैं—“गौतम ! लोक की विशालता को
समझने के लिए, कल्पना करो कि एक लाख योजन के ऊँचे मेघ पर्वत
के शिखर पर छः महान् शक्तियाली ऋद्धिसम्पन्न देवता बैठे हुए हैं
और नीचे भूतल पर चार दिशाकुमारिकाएँ हाथों में बलिर्पिण्ड लिए
चार दिशाओं में खड़ी हुई हैं, जिनकी पीठ मेघ की ओर है एवं मुख
दिशाओं की ओर ।”

—“उक्त चारों दिशाकुमारिकाएँ इसपर अपने बलिर्पिण्डों को अपनी
अपनी दिशाओं में एक साथ फेंकती हैं और उधर उन मेघशिखरस्थ छः
देवताओं में से एक देवता तत्काल दौड़ लगाकर चारों ही बलिर्पिण्डों को भूमि
पर गिराने से पहले ही पकड़ लेता है । इस प्रकार शीघ्रगति वाले ये
छहों देवता हैं, एक ही नहीं ।”

—“उपर्युक्त शीघ्र गति वाले छहों देवता एक दिन लोक का अन्त
मालूम करने के लिये कभश- छहों दिशाओं में चल पड़े । एक पूर्व की
ओर तो एक परित्रय की ओर, एक दक्षिण की ओर तो एक उत्तर की
ओर, एक ऊपर की ओर तो एक नीचे की ओर । अपनी पूरी गति से
एक पल का भी विश्राम लिए बिना दिन रात चलने रूके, चलने क्या
उठने रूके ।”

—“जिस क्षण देवता मेरुशिखर से उड़े, कल्पना करो, उसी क्षण किसी गृहस्थ के यहाँ एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् माता-पिता परलोकवासी हुए। पुत्र बड़ा हुआ और उसका विवाह हो गया। वृद्धावस्था में उसके भी पुत्र हुआ और बूढ़ा हजार वर्ष की आयु पूरी करके चल बसा।”

गौतम स्वामी ने चीच में ही तर्क किया—“भन्ते ! वे देवता, जो यथाकथित शीघ्र गति से लोक का अन्त लेने के लिए निरन्तर दौड़ लगा रहे थे, हजार वर्ष में क्या लोक के छोर तक पहुँच गए ?”

भगवान् महावीर ने वस्तुस्थिति की गम्भीरता पर चल देते हुए कहा—“गौतम, अभी कहाँ पहुँचे हैं ? इसके बाद तो उसका पुत्र, फिर उसका पुत्र, फिर उसका भी पुत्र, इस प्रकार एक के बाद एक-एक हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ी गुजर जायें, इतना ही नहीं, उनके नाम गोत्र भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायें, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक का अन्त नहीं प्राप्त कर सकते। इतना महान् और विराट् है यह संसार।” —भगवती ११, २०, सू० ४२१।

जैन साहित्य में विश्व की विराटता के लिए चौदह राजु की भी एक मान्यता है। मूल चौदहराजु और वर्ग कल्पना के अनुसार तीन नौ से कुछ अधिक राजु का यह संसार माना जाता है। एक व्याख्याकार राजु का परिमाण बताते हुए कहते हैं कि कोटिमण लोहे का गोला यदि ऊँचे आकाश से छोड़ा जाय और वह दिन रात अविराम गति से नीचे गिरता गिरता छह मास में जितना लम्बा मार्ग तय करे, वह एक राजु की विशालता का परिमाण है।

विश्व की विराटता का अब तक जो वर्णन आपने पढ़ा है, सम्भव है, आपकी कल्पना शक्ति को स्पर्श न कर सके और आप यह कह कर अपनी बुद्धि को सन्तोष देना चाहें कि—‘यह सब पुरानी गाथा किवदन्ती है। इसके पीछे वैज्ञानिक विचार धारा का कोई आधार

है। आन का युग विज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है, जलनः ऐसा सोचना और कहना, अपने आप में कोई बुरी बात भी नहीं है।

अच्छा तो आइए, जग विज्ञान की पोधियों के भी कुछ पन्ने उलट लें। सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ० गोरखनाथ का औरंगज़ार नामक भीमकाय ग्रन्थ लेखन के सामने है। पुस्तक का पॉन्चों अध्याय सुला हुआ है और उसमें सूर्य की दूरी के सम्बन्ध में जो शानदर्दक एवं साथ ही मनोहरक वर्णन है, वह आपके सामने है, जग धर्म के साथ पढ़ने का कष्ट उठाएँ।

—“पता चला है कि सूर्य हमसे लगभग सत्रा नौ करोड़ मील की बिकट दूरी पर है। सत्रा नौ करोड़ ! अंक गणित भी क्या ही निश्चिन्त है कि इतनी बड़ी सम्पत्ति को आठ ही अंकों में लिख डालता है और इन प्रकार हमारी कल्पना शक्ति को भ्रम में डाल देता है। [अंक गणित का इतना विकास न होता तो आप एक, दो, तीन, चार, आदि के रूप में गिनकर इस तथ्य को समझते। परन्तु विचार कीनिए कि सत्रा नौ करोड़ तक गिनने में आपका कितना समय लगता ?—लेखक] यदि आप बहुत ही जल्दी गिनें तो शायद एक मिनट में २०० गन गिन डालें, परन्तु इसी गति से लगातार, बिना एक क्षण भ्रमण या छेद के लिये बके हुए गिनते रहने पर भी आप को सत्रा नौ करोड़ तक गिनने में ११ महीना लग जायगा।”

—[हों तो आइए, जग डाक्टर साहब की इधर उधर की बालों में न जाकर सीधा सूर्य की दूरी का परिमाण मालूम करें—लेखक] “यदि हम रेलगाड़ी से सूर्य तक जाना चाहें और यह गाड़ी बिना बके हुए बराबर डाकगाड़ी की तरह ६० मील प्रति घण्टे के हिसाब से चलते जाय तो हमें वहाँ तक पहुँचने में १७५ वर्ष से कम नहीं लगेगा। १ पाई प्रति मील के हिसाब से तीसरे दर्जे के आने जाने का खर्च स सात लाख रुपया हो जायगा।” “आमज हवा में प्रति सेकण्ड १०० फुट चलती है। यदि यह शून्य में भी उसी गति से चलती।

सूर्य पर घोर शब्द होने से पृथ्वी पर वह चोटह वर्ष बाद सुनाई पड़ता ।”

—सौर परिवार, ५ वाँ अध्याय

अकेले सूर्य के सम्बन्ध में ही यह बात नहीं है । वैज्ञानिक और भी बहुत से दिव्य लोक स्वीकार करते हैं और उन सबकी दूरी की कल्पना चक्कर में डाल देने वाली है । वैज्ञानिक प्रकाश की गति प्रति सेकण्ड—मिनट भी नहीं—१, ८६००० मील मानते हैं । हाँ, तो वैज्ञानिकों के कुछ दिव्य लोक इतनी दूरी पर हैं कि वहाँ से प्रकाश जैसे शीघ्र-गामी दूत को भी पृथ्वी तक उतरने में हजारों वर्ष लग जाते हैं । अब मैं इस सम्बन्ध में अधिक कुछ न कहूँगा । जिस सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना है, उसकी काफी लम्बी चौड़ी भूमिका बँध चुकी है । आइए, इस महाविषय में अब मनुष्य की खोज करें ।

यह विराट् संसार जीवों से ठसाठसा भरा हुआ है । जहाँ देखते हैं, वहाँ जीव ही जीव दृष्टिगोचर होते हैं । भूमण्डल पर कीड़े-मकोड़े, बिच्छू-साँप, गधे घोड़े आदि विभिन्न आकृति एवं रंग रूपों में कितने कोटि प्राणी चक्कर काट रहे हैं । समुद्रों में कल्ल मल्ल, मगर, घड़ियाल आदि कितने जलचर जीव अपनी मंहार लीला में लगे हुए हैं । आकाश में भी कितने कोटि रंग-विरंगे पक्षीगण उड़ानें भर रहे हैं । इनके अतिरिक्त वे असंख्य सूक्ष्म जीव भी हैं, जो वैज्ञानिक भाषा में मीक्रो-ऑर्गैनिज्म के नाम से जाने गए हैं, जिनको हमारी ये स्थूल आँखें स्वतन्त्र रूप में देख भी नहीं सकतीं । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में असंख्य जीवों का एक विराट् संसार सोया पड़ा है । पानी की एक नन्ही-सी बूँद असंख्य जलकाय जीवों का विश्राम स्थल है । पृथ्वी का एक छोटा-सा रजकण असंख्य पृथ्वीकायिक जीवों का पिंड है । अग्नि और वायु के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी इसी प्रकार असंख्य जीवराशि से समाविष्ट हैं । जन-स्पति काय के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है ? वहाँ तो पनक (काँई) आदि-निमोद् में अनन्त जीवों का संसार मनुष्य के एक श्वास लेने जैसे क्षुद्रकाल में कुछ अधिक सत्तरह बार जन्म, जरा और मरण का खेल

रोजता रहता है। और वे अनन्त जीव एक ही शरीर में रहते हैं, फलतः उनका आहार आर रसमय का साथ ही होता है। हाहन्त ! मिनी दयनीय है जीवन की विडम्भा ! भगवान् महाशिव ने इसी गिफ्ट जीव शक्ति को ध्यान में रखकर अपने पागपुर के प्रारचन में कहा है कि गुरुम पाँच स्थानों से यह अर्थ य सोचनाकर गिफ्ट गमर (पात्रन की कुत्ती के समान) ठसाठस आगे हुआ है, कहीं पर अलुमाय भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ कोई गुरुम जीव न हो। मनुष्य जोगाकाश गुरुम जीवों में परिधाय है — 'मुहुमा गडरकोममि' — उत्तम ध्यानन मूर ३६ वाँ अत्यवन ।

हाँ, तो हम महाकाय गिफ्ट गमर में मनुष्य का क्या स्थान है ? अनन्तानन्त जीवों के संसार में मनुष्य एक नन्हे से क्षेत्र में अचरह-सा लड़ा है। जहाँ अन्य जाति के जीव अमर्य तथा अनन्त मर्या में है, वहाँ यह मानव जाति अत्यन्त अल्प ए३ सीमित है। जैन शास्त्रधार माता के गर्भ से पैदा होने वाली मानवजाति की संख्या का दुगु अर्ध तक ही सीमित मानते हैं। एक करि एवं दार्शनिक की भाषा में कहें तो विश्व की अनन्तानन्त जीवशक्ति के सामने मनुष्य की गणना में आ जाने वाली अल्प संख्या उन्नी प्रकार है कि बिना प्रकार विश्व के नदी नाला एवं समुद्र के सामने पानी की एक पुहार और संसार के समस्त पहाड़ी एवं भूपिण्ड के सामने एक ब्रह्मा धूल का कण। आज संसार के दूर-दूर तक के मैदानों में मानवजाति के जाति, देश या धर्म के नाम पर किए गए कल्पित टुकड़ों में संघर्ष छिड़ा हुआ है कि 'हाय हम अल्प संख्यक हैं, हमारा क्या हाल होगा ? बहुसंख्यक हमें तो जीविन भी नहीं रहने देंगे।' परन्तु ये टुकड़े यह जरा भी नहीं विचार पाते कि विश्व की असंख्य जीव जातियों के समस्त यदि कोई सचमुच अल्प संख्यक जीवजाति है तो यह मानवजाति है। चौदह राजबोक में से उसे केवल सब से छुट एवं सीमित दाईं दीर ही खने को मिले हैं। क्या समूची मानवजाति अकेले में बैठकर कभी अपनी अल्पसंख्यकता पर विचार करेगी ?

संसार में अनन्तकाल से भटकती हुई कोई आत्मा जब क्रमिक विकास का मार्ग अनाती है तो वह अनन्त पुण्य कर्म का उदय होने पर निगोद से निकल कर प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी, जल आदि की योनियों में जन्म लेती है। और जब यहाँ भी अनन्त शुभकर्म का उदय होता है तो द्वीन्द्रिय केंचुआ आदि के रूप में जन्म होता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय चींटी आदि, चतुरिन्द्रिय मक्खी मच्छर आदि, पञ्चेन्द्रिय नारक तिर्यच आदि की विभिन्न योनियों को पार करता हुआ, क्रमशः ऊपर उठता हुआ जीव, अनन्त पुण्य बल के प्रभाव से कहीं मनुष्य जन्म ग्रहण करता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि जब “अशुभ कर्मों का भार दूर होता है, आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनता है, तब वहाँ वह मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।”

कम्माणं तु पहाणाए
आणुपुन्वी क्याइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता
आययंति मणुस्सयं ॥

—(उत्तराध्ययन ३।७)

विश्व में मनुष्य ही सब से थोड़ी संख्या में है, अतः वही सबसे दुर्लभ भी है, महार्थ भी है। व्यापार के क्षेत्र में यह सर्व साधारण का पखा हुआ सिद्धान्त है कि जो चीज जितनी ही अल्प होगी, वह उतनी ही अधिक मंहगी भी होगी। और फिर मनुष्य तो अल्प भी है और केवल अल्पता के नाते ही नहीं, अपितु गुणों के नाते श्रेष्ठ भी है। भगवान् महावीर ने इसी लिए गौतम को उपदेश देते हुए कहा है—
“संसारी जीवों को मनुष्य का जन्म चिरकाल तक इधर उधर की अन्य योनियों में भटकने के बाद बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, वह सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा ही भयंकर होता है, अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत कर।”

दुल्लभे गलु माणुसे भवे,
 चिर कालेण वि सञ्जपाणिणं ।
 गाथा प विधान कानुणो,
 समर्थ गोयम । मा पमायण ॥

—(उत्तराज्यम १०।४)

जैन सत्कृति में मानव जन्म को बहुत ही दुर्लभ एवं महान् माना गया है। मनुष्य के-म पाना, निम्न प्रकार दुर्लभ है, इस के लिए जैन संस्कृति के ध्यात्मप्राप्ता ने दश दृष्टान्तों का निरूपण किया है। सब के सब उदाहरणों के कहने का न यहाँ अर्थप्रशंसा ही है और न शोचित्रता ही। वस्तु स्थिति की स्पष्टता के लिए कुछ बातें ध्यानके सामने रखनी पड़ी हैं, आशा है, आर्य जैने विज्ञानुद्देशों के द्वारा मानवजीवन का महान् समुक्त लक्ष्य है।

✓ कल्पना करो कि मानव शरीर के अन्दर भी छोटे-छोटे रङ्ग धान्य हो, उन सब को एक देखा किसी स्थान विशेष पर यदि इकट्ठा करे, पहाड़ जितना ऊँचा गगन चुम्बी ढेर लगा दे। और उस ढेर में एक सेर सरसों मिलादे, खूब अच्छी तरह उथल-पुथल कर। मा वर्ण की बुटिया, जिनके हाथ धौंसे हो, गर्दन बाँझी हो, और आँखों से भी कम दीवना हो। उन को छान देकर कहा जाय कि 'इस धान्य के ढेर में से सेर भर सरसों निकाल दो।' क्या वह बुटिया सरसों का एक एक दाना जैन कर पुनः सेर भर सरसों का अलग ढेर निकाल सकती है? आप को अर्थभर मालूम होता है। परन्तु यह सब तो किमी तरह देवशक्ति आदि के द्वारा समभव भी हो सकता है, परन्तु एक बार मनुष्यजन्म पाकर जो देने के बाद पुनः उसे प्राप्त करना सहज नहीं है।

✓ एक मनुज लम्बा चौड़ा अलास्य था, जो हजारों वर्षों से शैवाल (काई) की मोटी तह से आच्छादित रहता आया था। एक बहुत ही अनेक प्रहियार के साथ-साथ अन्धा, तभी से शैवाल के नीचे अन्धकार

में ही जीवन गुजार रहा था। उसे पता ही न था कि कोई और भी दुनिया हो सकती है। एक दिन बहुत भयंकर तेज अंधड़ चला और उस शैवाल में एक जगह जरा-सा छेद हो गया। दैवयोग से वह कछुआ उस समय वहीं छेद के नीचे गर्दन लम्बी कर रहा था तो उसने सहसा देखा कि ऊपर आकाश चाँद, नक्षत्र और अनेक कोटि ताराओं की ज्योति से जगमग-जगमग कर रहा है। कछुआ आनंद-विभोर हो उठा। उसे अपने जीवन में यह दृश्य देखने का पहला ही अवसर मिला था। वह प्रसन्न होकर अपने साथियों के पास दौड़ा गया कि 'आओ, मैं तुम्हें एक नई दुनिया का सुन्दर दृश्य दिखाऊँ। वह दुनिया हमसे ऊपर है, रत्नों से जड़ी हुई, जगमग-जगमग करती!' सब साथी दौड़ कर आए, परन्तु इतने में ही वह छेद बन्द हो चुका था और शैवाल का अखण्ड आवरण पुनः अपने पहले के रूप में तन गया था। वह कछुआ बहुत देर तक इधर-उधर टक्कर मारता रहा, परन्तु कुछ भी न दिखा सका। साथी हँसते हुए चले गए कि मालूम होता है, 'तुमने कोई त्यज देखा लिया है! क्या उस कछुवे को पुनः छेद मिल सकता है, ताकि वह चाँद और तारों से जगमगाता आकाश-लोक अपने साथियों को दिखा सके? यह सन्न हो सकता है, परन्तु नर-जन्म खोने के बाद पुनः उसका मिलना सरल नहीं है।'।

१) स्वयंभूरमण संमुद्र सबसे बड़ा समुद्र माना गया है, असंख्यात हजार योजन का लंबा-चौड़ा। पूर्व दिशा के किनारे पर एक जूआ पानी में छोड़ दिया जाय, और दूसरी तरफ पश्चिम के किनारे पर एक कीली। क्या कभी हवा के भोंहों से लहरों पर तैरती हुई कीली जूए के छेद में अपने आप आकर लग सकती है? संभव है यह अघटित घटना घटित हो जाय! परन्तु एक बार खोने के बाद मनुष्य जन्म का फिर प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है!"

२) "कल्पना करो कि एक देवता पत्थर के स्तम्भ को पीस कर आटे की तरह चूर्ण बना दे और उसे घाँस की नली में डालकर मेरु पर्वत की

चोटी पर से फूंक मार कर उड़ा दे। वह स्तम्भ परमाणुस्तर में होकर विश्व में इधर-उधर फैल जाय ! क्या कभी ऐसा हो सकता है कि कोई देवता उन परमाणुओं को फिर इकट्ठा कर ले और उन्हें पुनः उसी स्तम्भ के रूप में बदल दे ? यह असंभव, सम्भव है, संभव हो भी जाय। परन्तु मनुष्य जन्म या पाना बड़ा ही दुर्लभ है, दुष्कल्प्य है।”

—(आम्रयक निर्युक्ति गाथा ८१२)

ऊार के उदाहरण, जैन-संस्कृति के ये उदाहरण हैं, जो मानव-जन्म की दुर्लभता का छिड़िमनाद कर रहे हैं। जैन धर्म के अनुसार देव होना इतना दुर्लभ नहीं है, जितना कि मनुष्य होना दुर्लभ है ! जैन साहित्य में आप जहाँ भी कहीं किसी को सम्बोधित होते हुए देखेंगे, वहाँ 'देवाणुप्पिय' शब्द का प्रयोग पावेंगे। भगवान् महावीर भी अपने वाले मनुष्यों को इसी 'देवाणुप्पिय' शब्द से सम्बोधित करते थे। 'देवाणुप्पिय' का अर्थ है—“देवानुप्पिय”। अर्थात् ‘देवताओं की भी प्रिय’। मनुष्य की भेष्ठता कितनी ऊँची भूमि पर पहुँच रही है। दुर्भाग्य से मानव जाति ने इस और ध्यान नहीं दिया, और वह अपनी भेष्ठता को भूल कर अवमानता के दल दल में कैस गई है। ‘मनुष्य ! तू देवताओं से भी ऊँचा है। देवता भी तुझसे प्रेम करते हैं। ये भी मनुष्य बनने के लिए आतुर हैं।’ कितनी विराट प्रेरणा है, मनुष्य की सुल्ल आत्मा को जगाने के लिए।

जैन संस्कृति का अमर गायक आचार्य अमिता गनि कहता है कि—
‘जिस प्रकार मानव लोक में चक्रवर्ती, स्वर्गलोक में इन्द्र, पशुओं में सिंह, पक्षियों में प्रशम भाव, और पर्वतों में स्वर्णगिरि मेघ प्रधान है—
भेष्ठ है, उसी प्रकार ससार के सब जन्मों में मनुष्य जन्म सर्व भेष्ठ है।’

{ नरेषु चक्री त्रिदशेषु चक्री,
सृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।

मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो,
भवेयु मानुष्यभवः प्रधानम् ॥

—(श्रावकाचार १।१२)

महाभारत में व्यास भी कहते हैं कि 'आओ, मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताऊँ ! यह अच्छी तरह मन में दृढ़ कर लो कि संसार में मनुष्य से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नहीं है ।'

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
नहि मानुषात्
श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् !

—महाभारत

वैदिक धर्म ईश्वर को कर्ता मानने वाला संप्रदाय है । शुक्रदेव ने इसी भावना में, देखिए, कितना सुन्दर वर्णन किया है, मनुष्य की सर्व-श्रेष्ठता का । वे कहते हैं कि "ईश्वर ने अपनी आत्म शक्ति से नाना प्रकार की सृष्टि वृत्त, पशु, सरकने वाले जीव, पक्षी, दंश और मछली को बनाया । किन्तु इनसे वह तृप्त न हो सका, सन्तुष्ट न हो सका । आखिर मनुष्य को बनाया, और उसे देख आनन्द में मग्न हो गया ! ईश्वर ने इस बात से सन्तोष माना कि मेरा और मेरी सृष्टि का रहस्य समझने वाला मनुष्य अब तैयार हो गया है ।"

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या,
वृक्षान् सरीसृप-पशून् खग-दंश-मत्स्यान् ।
तैस्तैरुत्त-हृदयो मनुजं विधाय,
ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः ॥

—भामवत

महाभारत में एक स्थान पर इन्द्र कह रहा है 'कि भाग्यशाली है वे, जो दो हाथ वाले मनुष्य हैं । मुझे दो हाथ वाले मनुष्य के प्रति स्पृहा है ।'

‘पाणिमदुग्धः सृष्टाऽस्माकम् ।’

देविज, एक मल्लराम क्या धुन लगा रहे है ? उनका क्या है—
‘मनुष्य दो हाथ वाला इंसान है ।’

‘द्विमुजः परमेश्वरः ।’

महाराष्ट्र के महान् सन्त गुजरागम कहते हैं कि ‘स्वर्ग के देवता इच्छा करते हैं—दे प्रभु ! हमें मृत्यु शोक में जन्म चाहिये । क्योंकि हमें मनुष्य बनने की चाह है !’

स्वर्गी के अमर इन्द्रियाँ देमाः
मृत्युलोकों छाया जन्म आम्हा ।

सन्त भेट तुलसीदास गोल रहे हैं :—

‘बड़े भाग मानुष सन पाया,
सुर-दुर्लभ सन प्रथन्दि गावा ।’

जय उर्दू भाषा के एक मार्मिक कवि की यागी भी गुन लीजिए ।
आप भी मनुष्य को देवताओं से बढ़कर बता रहे हैं—

‘करिखे से बढ़कर है इन्सान बनना,
मगर इसमें पड़ती है मेहनत जियादा ।’

बैराग, इन्सान बाने में बहुत विषादा मेहनत खटानी पड़ती है, बहुत अधिक भ्रम करना होता है । बैराग्यकार, मनुष्य बनने की साधना के मार्ग को बड़ा कठोर और दुर्लभ मानते हैं । त्रैलोक्यिक सून में भगवान् महावीर का प्रवचन है कि “जो प्राणी छत्र, कपट से दूर रहता है—वृत्ति अर्थात् स्वभाव से ही सरल होता है, अदमास से शून्य होकर निनशरील होता है—सब छोटे बड़ों का यथोचित आदर सम्मान करता है, दूसरों की किसी भी प्रशार की उन्नति को देखकर हाई नई करता है—प्रत्युत हृदय में हर्ष और आनन्द की स्वाभाविक अनुभूति करता है, जिसके रम-रम में दया का संचार है—जो किसी भी दुःखित

प्राणी को देखकर द्रवित हो उठता है एवं उसकी सहायता के लिए तन, मन, धन सब लुटाने को तैयार हो जाता है, वह मृत्यु के पश्चात् मनुष्य जन्म पाने का अधिकारी होता है ।”

ऊँचा विचार और ऊँचा आचरण ही मानव जन्म की पृष्ठ भूमि है । यहाँ जो कुछ भी बताया गया है, वह अन्दर के जीवन की पवित्रता का भाव ही बताया गया है । किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक क्रिया-कारण और रीति-रिवाज का उल्लेख तक नहीं किया है । भगवान् महावीर का आशय केवल इतना है कि तुम्हें मनुष्य बनने के लिए किसी सम्प्रदाय-विशेष के विधि-विधानों एवं क्रियाकारणों की शर्त नहीं पूरी करनी है । तुम्हें तो अपने अन्दर के जीवन में मात्र सरलता, निनय-शीलता, अमात्सर्य भाव एवं दयाभाव की सुगन्ध भरनी है । जो भी प्राणी ऐसा कर सकेगा, वह अवश्य ही मनुष्य बन सकेगा । परन्तु आप जानते हैं, यह काम सहज नहीं है, तलवार की धार पर नंगे पैरों नाचने से भी कहीं अधिक दुर्गम है यह मानवता का मार्ग ! जीवन के विकारों से लड़ना, कुछ हँसी खेल नहीं है । अपने मन को मार कर ही ऐसा किया जा सकता है । तभी तो हमारा कवि कहता है कि—

“फरिश्ते से बढ़कर है इन्सान बनना ;
मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा ।”

: २ :

मानव-जीवन का ध्येय

मानव, अखिल ससार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। परन्तु जरा विचार कीजिए, यह सर्व श्रेष्ठता किस बात की है? मनुष्य के पास ऐसा क्या है, जिससे बल पर यह स्वयं भी अपनी सर्वश्रेष्ठता का दावा करता है और हजारों शास्त्र भी उसकी सर्वश्रेष्ठता की दुहाई देते हैं।

क्या मनुष्य के पास शारीरिक शक्ति बहुत मज़ी है? क्या यह शक्ति ही इसके उद्विग्न की निशानी है? यदि यह बात है तो मुझे इन्कार करना पड़ेगा कि यह कोई महत्व की चीज़ नहीं है। ससार के दूसरे प्राणियों के सामने मनुष्य की शक्ति कितना मूल्य रखती है? वह तुच्छ है, नगण्य है। मनुष्य तो दूसरे विशालकाय प्राणियों के सामने एक नन्हासा-छाछा सा बीड़ा लगता है। जंगल का विशालकाय हाथी कितना अधिक बलशाली होता है? पचास सौ मनुष्यों को बेर पाए तो खूँट से चीर कर सरके टुकड़े टुकड़े करके फेंक दे। वन का राजा सिंह कितना भयानक प्राणी है? पहाड़ों को गुँजा देने वाली उसकी एक गर्जना ही मनुष्य के जीवन को चुनौती है। आपने वन-मानुषों का वर्णन सुना होगा? वे आपके समान ही मानव-आवृत्ति वाली पशु हैं। इतने बड़े बलवान कि कुछ पूछिए नहीं। वे तेंदुओं को इस प्रकार उठा उठा कर पटकते और मारते हैं, जिस प्रकार साधारण मनुष्य रस्स की गेंद को। पूर्वी जंगलों में एक मृत वनमानुष को तोला गया तो वह

दो टन अर्थात् ५४ मन वजन में निकला ! मनुष्य इस भीमकाय प्राणी के सामने क्या अस्तित्व रखता है ? वह तो उस वन मानुष के चोंटे का धन भी नहीं ! और वह शुतुरमुर्ग कितना भयानक पक्षी है ? कभी-कभी इतने जोर से लात मारता है कि आदमी चूर-चूर हो जाता है । उसकी लात खाकर जीवित रहना असंभव है । जब वह दौड़ता है तो प्रति घंटा २६ मील की गति से दौड़ सकता है । क्या आप में से कोई ऐसा मनुष्य है, उसके साथ दौड़ लगाने वाला ।

मनुष्य का जीवन तो अत्यन्त लुद्र जीवन है । उसका बल अन्य प्राणियों की दृष्टि में परिहास की चीज है । वह रोगों से इतना घिरा हुआ है कि किसी भी समय उसे रोग की ठोकर लग सकती है और वह जीवन से हाथ धोने के लिए मजबूर हो सकता है ! और तो क्या, साधारण-सा मलेरिया का मच्छर भी मनुष्य की मौत का सन्देश लिए घूमता है । एक पहलवान बड़े ही विराट् काय एवं बलवान आदमी थे—सारा शरीर गठा हुआ था लोहे जैसा ! अंग-अंग पर रक्त की लालिमा फूटी पड़ती थी । कितनी ही बार लेखक के पास आया-जाया करते थे । दर्शन करते, प्रवचन सुनते और कुछ थोड़ा बहुत अवकाश मिलता तो अपनी विजय की कहानियाँ दुहरा जाते ! बड़े-बड़े पहलवानों को भिनटों में पछाड़ देने की घटनाएँ जब वे सुनाते तो मैं देखता, उनकी छाती अहंकार से फूल उठती थी । बीच में दो तीन दिन नहीं आए । एक दिन आए तो बिल्कुल निढाल, वेदम ! शरीर लड़खड़ा-सा रहा था ! मैंने पूछा—‘पहलवान साहब क्या हुआ ?’ पहलवान जी बोले—‘महाराज ! हुआ क्या ? आपके दर्शन भाग्य में बड़े थे सो मरता मरता बचा हूँ ! मेरा तो मलेरिया ने टम तोड़ दिया ।’ मैं हँस पड़ा । मैंने कहा—‘पहलवान साहब ! आप जैसे बलवान पहलवान को एक नन्हे से मच्छर ने पछाड़ दिया । और वह भी इस बुरी तरह से !’ पहलवान हँसकर चुप हो गया । यह अमर सत्य है मनुष्य के बल का ! यहाँ उत्तर वन ही क्या सकता है ? क्या मनुष्य इसी बल के भरोसे बड़े होने का

मन ले रहा है ? मनुष्य के शरीर का कागविक रूप क्या है ? इसके लिए एक पक्षि की कुछ पंक्तियाँ पढ़ें तो ठीक रहेगा ।

आदमी का जिस्म क्या है जिसमें शक्ति है जहाँ;
एक मिट्टी की इमारत, एक मिट्टी का मकान ।
गूँ का गाँव है इसमें और ईंटें हड्डियाँ;
बद सँसों पर खड़ा है, यह ग्याली आसमों ।
मौत की पुरजोर आँधी इसमें जब टकरायगी;
देर लेना यह इमारत टूट कर गिर जायगी !

यदि पक्ष नहीं तो क्या रूप से मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता ?
रूप क्या है ? मिट्टी की मूल पर जब चमकदार रंग रोगन ! इस को
धुलते और साफ होते कुछ देर लगनी है ? सफ़ा के बड़े बड़े सुन्दर तट
और तरफियाँ कुछ दिन ही अपने रूप और जीवन की पहार दिखा सके ।
पूछ सिलने भी नहीं पाता है कि मरना शुरू हो जाता है । दिनी
रोग अथवा चोट का आक्रमण होता है कि रूप बुरा हो जाना है, और
सुन्दर अंग भग्न एने बर्बर ! सनतुमार चमकी को रूप का अहंकार
परसे कुछ क्षण ही गुजरने पाये कि बोट ने आ घेरा । सोने का
नियम हुआ शरीर उड़ने लगा । दुर्गन्ध अस्वा हो गई । मधुर की
जनपदकपायी बाणदत्त भित्ती रूपगर्भा थी । एति के सदन
अन्धकार में भी दीशिगा के समान जगपग-जगमग होती रहती थी ।
परन्तु बौद्ध इतिहास कहता है कि एक दिन चेनक को आक्रमण हुआ ।
सारा शरीर क्षत निक्षत हो गया, उड़ने लगा, जगद-जगद से मारा बह
निकला । राजा, जो उसके रूप का उरीदा हुआ गुलाम था, बाण-
दत्ता को नगर के बाहर गढ़े कुँड़े के ढेर पर मरने को बिना देता है ।
यह है मनुष्य के रूप की इति ! तथा चमड़े का रंग और हड्डियों का
गडन भी कुछ महत्व रखता है ? चमड़े के हलफे से परदे के नीचे क्या
बुझ भरा हुआ है ? स्मरण मात्र से घुणा होने लगती है ! जो कुछ

अन्दर है, वह यदि बाहर आ जाय तो गीध, कौवे और कुत्ते उसे नोच खाएँ ! कहीं भी बाहर आना-जाना कठिन हो जाय । और यह मनुष्य का रूप दूसरे पशु पक्षियों की तुलना में है भी क्या चीज ? मयूर कितना सुन्दर पक्षी है ! गर्दन और पंखों का सौन्दर्य मोह लेने वाला है । शुतुरमुर्ग के शानदार छोटे से छोटे पंख का मूल्य, कहते हैं—चालीस से पचास रुपये तक होता है । मनुष्य की वाणी का माधुर्य कोयल से उपमित होता है । गति की उपमा हंस की गति से और नाक की उपमा तोते की चोंच से दी जाती है । किं बहुना, प्रत्येक अंग का सौन्दर्य विभिन्न पशु पक्षियों के अवयवों से तुलना पाकर ही कवि की वाणी पर चढ़ता है । इस का अर्थ तो यह हुआ कि मनुष्य का रूप पशु-पक्षियों के सामने तुच्छ है, नगण्य है ! अतएव रूप की दृष्टि से मनुष्य की महत्ता और श्रेष्ठता का कुछ भी मूल्य नहीं है ।

अब रहा, परिवार का बढ़प्पन ! क्या मनुष्य के दस-तीस बेटे, पोते और नाती हो जाने से उसका कुछ महत्त्व बढ़ जाता है ? कितना ही बड़ा परिवार हो, कितनी ही अधिक सन्तति हो, मनुष्य का महत्त्व इनसे अणुमात्र भी बढ़ने वाला नहीं है । रावण का इतना बड़ा परिवार था, आखिर वह क्या काम आया ? छप्पन कोटि यादव, जो एक दिन भारत-वर्ष के करोड़ों लोगों के भाग्य-विधाता बन बैठे थे, अन्त में कहाँ विलीन हो गए ? श्री कृष्ण को यादव जाति के द्वारा क्या सुख मिला ? मथुरा के राजा-उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म हुआ । बड़ा भाग्यशाली पुत्र था जो भारत के प्रतिवासुदेव जरासन्ध का प्यारा दामाद बना ! परन्तु उग्रसेन को क्या मिला ? जेलखाना मिला और मिली प्रतिदिन पीठ पर पोंचसौ कोड़ों की असह्य मार ! और राजा श्रेणिक को भी तो वह अज्ञात-शत्रु-कोणिक पुत्र के रूप में प्राप्त हुआ था, जिसके वैभव के वर्णन से औपपातिक सूत्र की प्रस्तावना अटी पड़ी है । परन्तु राजा श्रेणिक से पूछते तो पता चलता कि पुत्र और परिवार का क्या आनन्द होता है ? यह पुत्र का ही काम था कि राजा श्रेणिक को अपने छुड़ापे की प्रद्वियाँ

काष्ठ के रिजरे ॥ ३६ ॥ की तरह गुलाबी पड़ी। न मध्य पर भोजन का पता था और न पानी का ! और अन्न में ज़हर गाकर मृत्यु का स्वागत करना पड़ा। क्या यही है पुत्रों और पौत्रों की गोपशालिनी परंपरा ? क्या यह सब मनुष्य के लिए अभिमान की पन्थ है ? मैं नहीं समझता, यदि परिवार की एक लम्बी चौड़ी सेना हकूमी भी हो जानी है तो इससे मनुष्य को बीनने चार चाँद लग जाने हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में एक ऐसा बीयाणु परिचय में आया है, जो एक मिनट में दस कोड़ों और तन्नाम पैदा कर देता है। क्या इसमें बीयाणु का कोई गौरव है, महत्त्व है ? यदि मनुष्य ही क्या, जो बीयाणुओं की तरह अन्तर्नि प्रजनन में ही अपना रिवाज कायम कर रहा है। आचार्य गिद्धगेन दिनाकर से सम्वाद निम्नप्रकार ने यह पुष्टि कि “आचार्य भिक्षु अपने नमस्कार करने वाले भक्त को धर्म वृद्धि के रूप में प्रतिश्रुति देते हैं, अन्य नाधुओं की तरह पुनादि प्राप्ति का आशीर्वाद क्यों नहीं देते ?” आचार्य भी ने उत्तर में कहा कि “राजन् ! मानव जीवन के उत्थान के लिए एक धर्म को ही हम महत्त्वपूर्ण साधन समझते हैं, अतः उसी की वृद्धि के लिए प्रेरणा देते हैं। पुनादि बीनसी महत्त्वपूर्ण वस्तु है ? वे तो मुर्गे, कुत्ते और सूअरों को भी बड़ी सख्या में प्राप्त हो जाते हैं। क्या वे पुत्रहीन मनुष्य से अधिक भाग्यशाली हैं ? मनुष्य जीवन का महत्त्व वस्त्रे-वस्त्रियाँ प पैदा करने में नहीं है, जिसके लिए हम भिक्षु भी आशीर्वाद देते हैं।” ‘सन्तानाय च पुत्रवान् मय पुनस्तपुश्चुटानामपि।’

मनुष्य जाति का एक बहुत बड़ा वर्ग धन को ही अपने अधिक महत्त्व देता है। उसका सोचना समझना, बोलना चालना, लिखना पढ़ना सब कुछ धन के लिए ही होता है। यह दिन-रात सोने-चाँद के धन का ही स्वन देता है। न्याय हो, अन्याय हो, धर्म हो, पाप हो, कुछ भी हो, उसे इन सब से कुछ मतलब नहीं। उसे मतलब है एक मात्र धन से। धन मिलना चाहिए, फिर भले ही यह छल-कपट से मिले, चोरी से मिले, रिश्वतपान से मिले, देश-द्रोह से मिले या भाई

को गला काट कर मिले । गरीब जनता के गर्म खून से सना हुआ पैसा भी उसके लिए मृत्यु परमेश्वर है, उपास्य देव है । उसका सिद्धान्त खून अनादि काल से यही चला आ रहा है कि 'सर्वे गुणाः काञ्चन-माश्रयन्ति ।' 'ज्ञाना अंशकला प्रोक्ता रूप्योऽसौ भगवान् स्वयम् ।' परन्तु क्या मानव जीवन का यही ध्येय है कि धन के पीछे पागल बनकर घूमता रहे ? क्या धन अपने-आप में इतना महत्वपूर्ण है ? क्या तेली के बेल की तरह सत-दिन धन की चिन्ता में घुल-घुल कर ही जीवन की अन्तिम घड़ियों के द्वार पर पहुँचा जाय ? यदि दुनिया भर की बेईमानी करके कुछ लाख का धन एकत्रित कर भी लिया तो क्या बन जायगा ? रावण के पास कितना धन था ? सारी लंका नगरी ही सोने की थी । लंका के नागरिक सोने की सुन्ना के लिए आजकल की तरह तिजोरी तो न रखते होंगे ? जिनके वहाँ घर की दीवार, छत और फर्श भी सोने के हों, भला वहाँ सोने के लिए तिजोरी रखने का क्या अर्थ ? और भारत की द्वारिका नगरी भी तो सोने की थी ! क्या हुआ इन सोने की नगरियों का ? दोनों का ही अस्तित्व खाक में मिल गया । सोने की लंका ने रावण को राक्षस बना दिया तो सोने की द्वारिका ने यादवों को नर-शु । लंका और द्वारिका के धनी मनुष्यत्व से हाथ धो बैठे थे, दुराचारों में फँस गए थे । धन के अतिरेक ने उन्हें अंधा बना दिया था । आज कुछ गोरव है, उन धनी मानी नरेशों का ? मैं दिल्ली और आगरा में बिखरे हुए मुगल सम्राटों के वैभव को देख रहा हूँ । क्या लाल किला और ताज इसीलिए बनाए गए थे कि उन पर चाँद सितारे के मुस्लिम झंडे के स्थान पर अँग्रेजों का यूनियन जैक फहराए । आज कहाँ हैं, मुगल सम्राटों के उत्तराधिकारी ? कितने अत्याचार किए, कितने निरीह जनसमूह क्रतल किए ? परन्तु वे सिंहासन, जिनके पाये पाताल में गाड़कर मजबूत किए जा रहे थे, उखड़े बिना न रहे । और वह यूनियन जैक भी कहाँ है, जो समुद्रों पार से वृफान की तरह बढ़ता, हाहाकार मचाता भारत में आया था ? क्या वह वापस लौटने के इरादे

से आया था ? परन्तु गान्धी की आँधी के भटकों को वह गोक न सरा और उड़ गया ! धन अनित्य है, ख मंगुर है । इसका गरं क्या, इसका धमंड क्या ? भारत के आभीषण लोगों का विश्वास है कि 'जहाँ कोई उड़ा मौन रहता है, वहाँ अवश्य कोई धन का उड़ा खजाना होता है ।' यह विश्वास वहाँ तक सत्य है, यद जाने दीजिए । परन्तु इस पर से वह तो पना लगता है कि धन से चिपटे रहने वाले मनुष्य सोंप ही होते हैं, मनुष्य नहीं । मानव जीवन का प्येव चौंदी सोने की रंजीन दुनिया में नहीं है । विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव, क्या कमी कपड़े पैसे के गोल चक्र में अपना महान का सकता है ? कभी नहीं ।

मनुष्य विश्व का एक महान् बुद्धिवाली प्राणी है । वह अपनी बुद्धि के आगे किसी को कुछ समझता ही नहीं है । वह प्रकृति का विजेता है, और वह विजय मिली है उसे अपने बुद्धि वैभव के बल पर । वह अपनी बुद्धि की यादा में वहाँ से वहाँ पहुँच गया है । भूमण्डल पर दुर्गम पहाड़ों पर से रेल और मोटरें दौड़ रही हैं । महासमुद्रों के विषट् पक्ष पर से जलयानों की गर्जना सुनाई दे रही है । आज मनुष्य दग में पक्षियों की तरह उड़ रहा है, वायुयान के द्वारा संसार का कोना-कोना छान रहा है । मनुष्य की बुद्धि ने कान इतने बड़े प्रभावशाली बना दिए हैं कि वहाँ बैठे हजारों मीलों की बात सुन सकते हैं । और शॉल भी इतनी बड़ी हो गई है कि भारत में नैडरलैंड और अमेरिका में उनके आदमी को देग सकते हैं । अरे वह परमाणु शक्ति ! कुछ न पृष्ठो, हिरोशिमा का सहर क्या कमी सुनाया जा सकेगा ? रसद की छोटी-सी गेंद के बराबर परमाणु बम से आज दुनिया के इन्मनों की जिंदगी काँप रही है । अभी अभी स्ट्रान्गरोपद के एक वैज्ञानिक ने कहा है कि तीन छुट्ठान पिछानमरेपित विपाक्त पदार्थ विशेष से अरों मनुष्यों का जीवन कुछ ही मिनटों में समाप्त किया जा सकता है । और देखिए, अमेरिका में वह दादहोजन बम का धूरनेनु सर उठा रहा है, जिसकी चन्नी—मान में मानव जाने जग्न हो उठी है । वह सर है मनुष्य

की बुद्धि-लीला ! वह अपने बुद्धि कौशल से स्वर्ग बनाने चला था और कुछ बनाया भी था; परन्तु अब बन क्या गया है ? साक्षात् घोर नरक ! क्या यह बुद्धि मनुष्य के लिए गर्व करने की वस्तु है ? जिस बुद्धि के पीछे विवेक नहीं है धर्म की पिपासा नहीं है, वह बुद्धि मनुष्य को मनुष्य न रहने देकर राक्षस बना देती है । अपनी स्वार्थपूर्ति कर ली, जो मनचाहा काम बना लिया, क्या इस बुद्धि को ही मनुष्य-जीवन की सर्वश्रेष्ठता का गौरव दिया जाय ! खाना, पीना और ऐश आराम तो अपनी-अपनी समझ के द्वारा पशुपक्षी भी कर लेते हैं । पारिवारिक व्यवस्था और कमानेखाने की बुद्धि उनमें भी बहुतों की बड़ी शानदार होती है । उदाहरण के लिए आप फाकलैण्ड के द्वीप-समूह में पाई जाने वाली नमाजी चिड़ियाओं को ले सकते हैं । ये तीस से चालीस हजार तक की मंख्या के विशाल झुण्डों में रहती हैं । ये फौजी सिपाहियों की तरह कतार बाँध कर खड़ी होती हैं । और आश्चर्य की बात तो यह है कि बच्चों को अलग विभक्त कर के खड़ा करती हैं, नर पक्षियों को अलग तो मादा पक्षियों को अलग । इतना ही नहीं, यह और वर्गीकरण करती हैं कि साफ और तगड़े पक्षियों को अलग तथा पर भाड़ने वाले, गन्दे और कमजोर पक्षियों को अलग ! कितने गजब की है सैनिक पद्धति से वर्गीकरण करने की कल्पना शक्ति ! और ये मधुमक्खियाँ भी कितनी विलक्षण हैं ? मधुमक्खियों के छत्ते में, विशेषज्ञों के मतानुसार, लगभग तीसहजार से साठ हजार तक मक्खियाँ होती हैं । उनमें बहुत अच्छा सुदृढ़ संगठन होता है । सब का कार्य उचित पद्धति से बटा हुआ होता है, फलतः हर एक मक्खी को मालूम रहता है कि उसे क्या काम करना है ? इसलिए वहाँ कभी कोई काम बाकी नहीं रह पाता, नित्य का काम नित्य समाप्त हो जाता है । छत्ते के अन्दर सब तरह का काम होता है—आहार का प्रबन्ध, छत्ता बनाने के लिए सामान का प्रबन्ध, गोदाम का प्रबन्ध, सफाई का प्रबन्ध, मकान का प्रबन्ध और चौकी पहरे का प्रबन्ध ! कुछ को छत्ते के अन्दर गर्मों, हवा और सफाई का प्रबन्ध देखना होता

है। कुछ को रक्षा की व्यवस्था करना पड़ती है। इस पर भी कहीं तक रखी जाती है कि कोई निर्मा प्रसार की दुष्टता या काम, योरी न करने पाए। और उन आस्ट्रेलिया की नदियों में पाई जाने वाली निशानेशान मछलियों की कहानी भी कुछ कम विचित्र नहीं है। यह मछली अपने शिखर की तक म रहती है। जब यह देखती है कि नदी का किनारे उठे हुए पौधों की पत्तियों पर कोई मकड़ी या मकड़ी बैठा है तो पुनश्च उससे पास जाती है और मुँह में पानी भर कर कुत्ते का कीक निशाना ऐसे जोर से मारती है कि यह मकड़ा नुरन्त पानी में गिर पड़ता है और मछली का आग्रह जब कर बाल के गाल में पहुँच जाता है। इस मछली का निशाना शायद ही कभी चूकता है। वैज्ञानिकों ने इसका नाम टॉक्सेटस रक्का है, जिसका अर्थ है धनुषधारी। एन्टागिन्स महासागर में उड़ने वाली मछलियों भी होती हैं। काफी लम्बा लिप्य युक्त हैं। अतः अधिक उद्गारणा की अपेक्षा नहीं है। न मालूम किने कोटि पशु-पक्षी ऐसे हैं जो मनुष्य के समान ही छलछद्म रचते हैं अथवा लफाते हैं, जाल फैलाते हैं और अपना पैर भरते हैं। अन्तु पाने कमाने की, मीन शीक उड़ान की यदि मनुष्य न कुछ चतुरता पाई है तो क्या यह उसकी अपनी कोई भ्रष्टता है? क्या इस चातुर्य पर गर्व किया जाय? नहीं, यह मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है।

मानव जीवन का ध्येय न धन है न रूप है, न उल है और न सासारिक बुद्धि ही है। वां ही कहीं से धुमता फिरता मनुष्य आत्मा मानव शरीर में आया, कुछ दिन रहा खाया पीया लका भगदा हँसा रोया और एक दिन मर कर बाल प्रसाद में आगे च लिप्य उड़ गया,

— भी कोई जीवन है? जीवन का उद्देश्य मरण नहीं है, किन्तु विजय है। आज तक हम लोगों ने क्या ही क्या है? कहीं लिया है, कुछ दिन जिंदा रहे हैं और फिर पोंच पसार के लिये ले गये हैं। इस विषय संसार में कोई भी कुन, मर्य और स्वान ऐसा नहीं है जहाँ हमने

अनन्त-अनन्त-बार जन्ममरण न किया-हो ? भगवती मूत्र में हमारे जन्म-मरण की दुःख भरी कहानी का स्पष्टीकरण करने-वाली एक महत्वपूर्ण-प्रश्नोत्तरी है।

गौतम गणधर पूछते हैं:—

“भन्ते ! असंख्यात कोड़ी कोड़ा योजन-परिमाण इम विस्तृत विराट् लोक में क्या कहीं ऐसा भी स्थान है, जहाँ कि इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ?”

भगवान् महावीर उत्तर देते हैं:—

“गौतम ! अधिक तो क्या, एक परमाणु पुद्गल जितना भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ।”

....“नत्थि केद्द परमाणुपोग्गलमेत्ते त्ति पएसे जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा ।” —[भग १२, ७, सू० ४५७]

भगवान् महावीर के शब्दों में यह है हमारी जन्म-मरण की कड़ियों का लम्बा इतिहास ! बड़ी दुःखभरी है हमारी कहानी ! अब हम इस कहानी को कब तक दुहराते जायेंगे ? क्या मानव जीवन का ध्येय एक-मात्र जन्म लेना और मर जाना ही है । क्या हम-यों ही उतरते चढ़ते, गिरते-पड़ते इस महाकाल के प्रवाह में तिनके की तरह बेचम लाचार चहते ही चले जायेंगे ? क्या कहीं किनारा पाना, हमारे भाग्य में नहीं बदा है ? नहीं, हम मनुष्य हैं, विश्व के सर्वश्रेष्ठ प्राणी हैं । हम अपने जीवन के लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेंगे ! यदि हमने मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं प्राप्त किया तो फिर हम में और दूसरे पशु पक्षियों में अन्तर ही क्या रह जायगा ? हमारे जीवन का ध्येय, अधर्म नहीं, धर्म है—अन्याय नहीं, न्याय है—दुराचार नहीं, सदाचार है—भोग नहीं, त्याग है । धर्म, त्याग और सदाचार ही हमें पशुत्व से अलग करता है । अन्यथा हम में और पशु में कोई अन्तर नहीं है, कोई भेद नहीं है । इस सम्बन्ध में एक आचार्य कहते भी हैं कि आहार, निद्रा, भय-और कामवासना जैसी पशु में हैं वैसी ही मनुष्य में भी हैं, अतः इनको ले कर, भोग व

महत्त्व देकर मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता ! एक धर्म ही मनुष्य के पास ऐसा है, जो उसकी अग्नी विशेषता है, महत्ता है । अतः जो मनुष्य धर्म से शून्य है, वे पशु के समान ही हैं ।

✓✓✓ आहार-निद्रा-भय-मैयुन च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥”

मनुष्य अमर होना चाहता है । इसके लिए वह कितनी औपचारिकता है, कितने बेची-बेखता मनाता है, कितने अन्याय और अत्याचार के बाल बिछाता है ! परन्तु क्या यह अमर होने का मार्ग है ? अमर होने के लिए मनुष्य को धर्म की शरण लेनी होगी, त्याग का आश्रय लेना होगा ।

भगवान् महावीर कहते हैं :—

“चित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमंमि लोए अदुवा परत्था”

—उत्तराध्ययन सूत्र

—धर्मत मनुष्य की धन के द्वारा रक्षा नहीं हो सकेगी, न इस लोक में और न परलोक में ।

कठोपनिषत् कार कहते हैं :—

“न चित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः ।”

—मनुष्य कभी धन से तृप्त नहीं हो सकता ।

“श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्
तौ सम्परीत्य विचिनक्ति धीरः ।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षमाद् वृणीते ॥”

—श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष दोनों का भली भाँति विचार करके प्रेय की अपेक्षा श्रेय को श्रेष्ठ समझ कर ग्रहण करता है, और इसके विपरीत मन्द बुद्धि वाला मनुष्य लौकिक योग-क्षेम के फेर में पड़ कर त्याग की अपेक्षा भोग को अच्छा समझता है—उसे अपना लेता है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते,
कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ-मर्त्योऽमृतो भवति,
अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥”

—साधक के हृदय में रही हुई कामनाएँ जब सबकी सब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है, ब्रह्मत्व भाव को प्राप्त कर लेता है ।

एक हिन्दी कवि भी धर्म और सदाचार के महत्त्व पर, देखिए, कितनी सुन्दर बोली बोल रहा है :—

“धन, धान्य गयो, कछु नाहिं गयो,
आरोग्य गयो, कछु खो दीन्हो ।
चारित्र गयो, सर्वस्व गयो,
जग जन्म अकारथ ही लीन्हो ॥”

भगवान् महावीर ने या दूसरे महापुरुषों ने मनुष्य की श्रेष्ठता के जो गीत गाए हैं, वे धर्म और सदाचार के रंग में गहरे रंगे हुए मनुष्यों के ही गाए हैं । मनुष्य के से हाथ पैर पा लेने से कोई मनुष्य नहीं बन जाता । मनुष्य बनता है, मनुष्य की आत्मा पाने से । और वह आत्मा मिलती है, धर्म के आचरण से । यों तो मनुष्य राखण भी था ? परन्तु कैसा था ? ग्यारह लाख वर्ष से प्रति वर्ष उसे मारते आ रहे हैं, गालिये देते आ रहे हैं, जलाते आ रहे हैं । यह सब क्यों ? इसलिए कि उसने

मनुष्य बनकर मनुष्य का जैसा काम नहीं किया, बल्कि वह मनुष्य होकर भी राजस कहलाया। भोग, निग भोग मनुष्य को गदग बनाता है। एक मान त्यागभावना ही है जो मनुष्य को मनुष्य बनाने की क्षमता रखती है। भाग्यविज्ञान की दल दल में फँसे रहने वाले राजाओं के लिए, दमाँरे दार्शनिकों ने 'द्विमुक्तः परमेश्वरः' नहीं कहा है।

यूनान का एक दार्शनिक दिन के सात घंटे लालटेन जला कर पथेग नगरी के राजाओं में कई घंटे घूमता रहा। जनता के लिए आश्चर्य की बात थी कि दिन में प्रकाश के लिए लालटेन लेकर घूमना।

एक जगह कुछ हजार आदमी इकट्ठे होगए और पूछने लगे कि "यह मन क्या हो रहा है?"

दार्शनिक ने कहा—“मैं लाजबन की रोखनी में इनने घंटों में आदमी ढूँढ रहा हूँ।”

मन लोग गिला गिला कर हैंम पड़े और कहने लगे कि “हम हजारों आदमी आपके सामने हैं। इन्हें लालटेन लेकर देखने की क्या बात है?”

दार्शनिक ने गर्ज कर कहा—“अरे क्या तुम भी अपने आपनों मनुष्य समझे हुए हो? यदि तुम भी मनुष्य हो तो फिर पशु और राक्षस कौन हगि? तूम दुनिया भर के अत्याचार करने हो, हत्या छंद रखते हो, भाइयों का गला काटते हो, कामगमना की पूर्ति के लिए युत्ता की तरह मारेमारे फिरते हो, और फिर भी मनुष्य हो! मुझे मनुष्य चाहिए, वन मानुष नहीं!”

दार्शनिक भी यह बटोर, सिन्धु सार उक्ति, प्रत्येक मनुष्य के लिए, चिन्तन की चीज है।

एक और दार्शनिक ने कहा है कि “संसार में एक दिग्ध ऐसी है, जो बहुत अधिक परिमाण में मिलती है, परन्तु मनमुत्तारिक नहीं मिलती।” वह जिन्य और कोई नहीं, इन्धान है। जो होने को तें अगों

की मंख्या में हैं, परन्तु वे कितने हैं, जो इन्सानियत की तराजू पर गुणों की तौल में पूरे उतरते हैं ! सच्चा मनुष्य वही है, जिसकी आत्मा धर्म और सदाचार की सुगन्ध से निरन्तर महकती रहती हो ।

भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने २६ जनवरी १९४८ के दिल्ली-प्रवचन में मनुष्यता के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा था—“भारतवर्ष ने हमेशा ऋतानियत की, आत्मशक्ति की ही कद्र की है, अधिकार और पैसे की नहीं । देश की असली दालन, इन्सानी दालन है । देश में योग्य और नैतिक दृष्टि से बुलन्द जितने इन्सान होंगे, उतना ही वह आगे बढ़ता है ।”

प्रधानमंत्री, भारत को लेकर जो बात कह रहे हैं, वह सम्पूर्ण मानव-विश्व के लिए है । मनुष्यता ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है । जिस के पास वह है, वह मनुष्य है, और जिस के पास वह नहीं है, वह पशु है, साक्षात् राजस है । और वह मनुष्यता स्वयं क्या चीज है ? वह है मनुष्य का व्यक्तिगत भोगविलास की मनोवृत्ति से अलग रहना, त्याग मार्ग अग्रसर करना, धर्म और सदाचार के रंग में अपने को रँगना, जन्म-मरण के बन्धनों को तोड़कर अजर अमर पद पाने का प्रयत्न करना । संसार की अंधेरी गलियों में भटकना, मानव-जीवन का ध्येय नहीं है । मानव-जीवन का ध्येय है अजर अमर मनुष्यता का पूर्ण प्रकाश पाना । वह प्रकाश, जिससे बढ़कर कोई प्रकाश, नहीं । वह ध्येय, जिससे बढ़कर कोई ध्येय नहीं ।

: ३ :

सच्चे सुख की शोध

आज से नहीं, लाखों करोड़ अमरुत बगों से संगमर के कोने-कोने में एक मरुत पूछा जा रहा है कि यह प्रवृत्ति, यह सर्ग, यह दीव धूप किस लिए है ? प्रत्येक प्राणी के अन्तर्हृदय से एक ही उत्तर दिया जा रहा है—सुख के लिए, आनन्द के लिए, शान्ति के लिए । हर कोई जीव सुख चाहता है, दुःख से भागता है । संसार का प्रत्येक प्राणी सुख के लिए मरुतखीज है । घोंटी से लेकर हाथी तक, रक से लेकर राजा तक, नारक से लेकर देवता तक जुड़ से जुड़ और महान् से महान् प्रत्येक मंसारी प्राणी सुख को प्रवृत्तता बनाए दोहा कर रहा है ! अनन्त-अनन्त काल से प्रत्येक जीव इसी सुख के चारों ओर चक्कर काटता रहा है । सुख कीन नहीं चाहता ? शान्ति जिसे अभीष्ट नहीं ? सग को सुख चाहिए । सब जो शान्ति चाहिए

सुख प्राप्ति की धुन में ही मनुष्य ने नगर उठाए, परिवार बनाए । बड़े उड़े साम्राज्यों की नींव डाली, सोने के मिहामन लड़े किए । सुख के लिए ही मनुष्य ने मनुष्य से प्यार किया, और द्वेष भी किया ! आज तक के इतिहास में हजारों खून की नदियाँ बही हैं, वे सब सुख के लिए बही हैं, अग्नी तृप्ति के लिए बही हैं । सुख की खोज में भटक कर मानव, मानव नहीं रहा, साक्षात् पशु बन गया है, राक्षस होगया है । यह क्यों हुआ ?

भारतीय शास्त्रकारों ने सुख को दो भागों में विभक्त किया है । एक सुख आन्तरिक है तो दूसरा बाह्य । एक आत्मनिष्ठ है

तो दूसरा वस्तुनिष्ठ । एक आध्यात्मिक है तो दूसरा भौतिक । एक अजर अमर है तो दूसरा क्षणिक, क्षण भंगुर । एक दुःख की कालिमा से सर्वथा निर्मल है तो दूसरा विषमिश्रित मोदक ।

वास्तव सुख में सब प्रकार के भौतिक तथा पौद्गलिक सुखों का समावेश हो जाता है । वस्तुनिष्ठ है, अतः वस्तु है तो सुख है, अन्यथा दुःख ! एक बच्चा जो खेल रहा है । आपने खिलौना दिया तो आनन्द में उछल पड़ा, नाचने लगा । परन्तु कितनी देर ? देखिए, खिलौना टूट गया है, और वह बच्चा 'अवा' 'अवा' से भी अधिक रो रहा है । कहाँ गया, वह आनन्द-नृत्य ? खिलौने के साथ साथ वह भी टूट गया; क्योंकि वह वस्तुनिष्ठ था । यही सुख, वह सुख है, जिसके पीछे संसारी प्राणी पागल की तरह भटकता आ रहा है, अपने समय और शक्तियों का अपव्यय करता आ रहा है । इस सुख का केन्द्र धन है, विषय वासना है, भोग लिप्सा है, वस्तु संग्रह है, सन्तान की इच्छा है, स्वजन परिजन आदि हैं । परन्तु यह सब सुख, सुख नहीं, सुखाभास है । भोगवासना की तृप्ति में कल्पित सुख की अपेक्षा वास्तविक दुःख ही अधिक है । अधिक क्या, अनन्त है । 'खणमिच्छसुखा, बहुकाल दुःखा ।'

क्या धन में सुख है ? धनप्राप्ति के लिए कितना दम्भ रचा जाता है ? कितनी धृणा ? कितना द्वेष ? कितना अत्याचार ? भाई भाई का गला काट रहा है, धन के लिए । विश्व व्यापी युद्धों में प्रजा के खून की नदियाँ बह रही हैं, धन के लिए । मनुष्य धन के लिए पहाड़ों पर चढ़ता है, रेगिस्तानों में भटकता है, समुद्रों में डूबता है, फिर भी भाग्य का द्वार नहीं खुल पाता । साधारण भजदूर कहता है कि हाय धन मिले तो आराम से जिन्दगी कटे, संसार में और कुछ दुर्लभ नहीं, दुर्लभ है—एक मात्र धन !

परन्तु सेठिया कहता है कि अरे धन की क्या बात है ? मैंने लाखों कमाये हैं, और अब लाखों कमा सकता हूँ । मैंने सब तरफ धन के ढेर लगा दिए हैं, सोने के महल खड़े कर दिए हैं । परन्तु इस धन

का होगा क्या ? कोई पुत्र नहीं, जो हम धन का उल्लास करेगी हो । एक भी पुत्र होता तो मैं सुखी हो जाता, मेरा जिन्दगीया मजल हा जाता । आज बिना पुत्र के घर खन-खन है, छंफ-छंफा लगा है । पुत्र ! हा पुत्र ! पर का दीन !

परन्तु आइए, यह सब उमसेन है, छोड़ो सब राजा भेषिष । पुत्र मुक्त के सम्बन्ध में इनसे पूछिए, क्या जिन्दगी है ? दोनों ही नरेश कहते हैं कि "बाबा, ऐसे पुत्रों से लीट-गिना । पुत्र ही अच्छे । मूल में है ये लोग, जो पुत्रपणा में परमलक्ष्मी हैं । हम हमारे पुत्रों ने पैर में जाला, फाड़ के निचड़े में गर्द-फिना । न समय पर पेटी मिली, न कपड़ा और न पानी ही । पशु की भौंति दुग्ध के हाहाकार में झिन्गी के दिन गुजारे हैं । पुत्र और परिवार का सुख एक कहना है, मिश्रित भ्रान्ति है ।"

सच्चा सुख है आत्मा में । सुख का भरना अन्यथा नहीं, अपने अन्दर ही यह रहा है । जब आत्मा बाहर भटकता है, परपरिणति में जाता है तो दुःख का शिगर होता है । और जब यह लौट कर अपने अन्दर में ही आता है, वैराग्य रस आराधन करता है, संयम के अनृत प्रवाह में अराधन करता है, तो सुख, शान्ति और आनन्द का ठाठें मारता हुआ क्षीर सागर अपने अन्दर ही मिल जाता है । जब तक मनुष्य यस्तुओं के पीछे भागता है, धन, पुत्र, परिवार एवं भोग-वासना आदि की दल दल में कैमता है, तब तक शान्ति नहीं मिल सकती । यह वह आग है, जिनका रूचन आलोगे, उतना ही बड़ेगी, बुझेगी नहीं । वह मूर्ख है, जो आग में भी डालकर उमरी भूप बुझाना चाहता है । जब भोग का त्याग करेगा, तभी सच्चा आनन्द मिलेगा । सच्चा सुख भोग में नहीं, त्याग में है; वस्तु में नहीं, आत्मा में है । आर्यश्रीयोगनिबद्ध में क्या आती है कि प्रजापति के पुत्र आर्यश्री श्रुति वहीं आ रहे हैं । क्या देखा कि एक कुत्ता मांस से खनी हुई दूही भुज में लिए वहीं आ रहा था । दूही को देख कर कई कुत्तों के मुख में पानी

भर आया और उन्होंने आकर कुत्ते को घेर लिया एवं सब के सब दांत पंजे आदि से उसको मारने लगे। यह देखकर बेचारे कुत्ते ने मुख से हड्डी छोड़ दी। हड्डी छोड़ते ही सब कुत्ते उसे छोड़कर हड्डी के पीछे पड़ गए और वह कुत्ता जान बचाकर भाग गया। उन कुत्तों में हड्डी के पीछे बहुत देर तक लड़ाई होती रही और वे सब के सब घायल हो गए। यह तमाशा देखकर आरुणि ऋषि विचार करने लगे कि “अहो, जितना दुःख है, ग्रहण में ही है, त्याग में दुःख कुछ नहीं है, प्रत्युत सुख ही है। जब तक कुत्ते ने हड्डी न छोड़ी, तब तक पिटा और घायल होता रहा और जब हड्डी छोड़ दी, तो सुखी होगया।- इससे सिद्ध होता है कि त्याग ही सुख रूप है, ग्रहण में दुःख है। हाथ से ग्रहण करने में दुःख हो, इसका तो कहना ही क्या है, मन से विषय का ध्यान करने में भी दुःख ही होता है। सच कहा है कि विषयों का ध्यान करने से उनमें संग होता है, संग होने से उनकी प्राप्ति की कामना होती है, कामना में प्रतिबन्ध पड़ने से क्रोध होता है। कामना पूरी होने पर लोभ होता है, लोभ से मोह होता है, मोह से स्मृति नष्ट होती है—सद्गुरु का उद्देश याद नहीं रहता, स्मृति नष्ट होने से विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है और विवेक बुद्धि नष्ट होने से जीव नरक में जाता है; इसलिए विषया शक्ति ही सब अनर्थ का मूल कारण है। ‘खाणी अणत्थाण उ कामभोगा जब विषयों का त्याग होता है, वैराग्य होता है, तभी सच्चे सुख का भरना अन्तरात्मा में बढ़ता है और जन्म जन्मान्तरों से आने वाले वैषयिक सुख दुःख के मैल को बढ़ाकर साफ कर डालता है।

ब्राह्म दृष्टि से धन वैभव, भोग विलास कितने ही स्मणीय एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं, परन्तु विवेकी मनुष्य तो इन में सुख का गन्ध भी नहीं देखता। विषयासक्त होकर आज तक किसी ने कुछ भी सुख नहीं पाया। विषयासक्त मनुष्य, अपने आप में कितना ही क्यों न बड़ा हो, एक दिन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का सदा के लिए हाथ धो बैठता है। क्या कभी विषय-तृणा भोग से शान

हो सकती है ? कभी नहीं । वह तो जितना भोग भोगेंगे, उतनी प्रति पल बढ़ती ही जायगी । मनुष्य की एक इच्छा पूरी नहीं होती कि दूसरी उठ खड़ी होती है । वह पूरी नहीं हो पाती कि तीसरी आ धमरती है । इच्छाओं का वह सिलसिला टूट ही नहीं पाता । मनुष्य का मन परस्पर-विरोधी इच्छाओं का बैसा ही केन्द्र है, जैसा कि हजारों-लाखों उठती गिती लहरों का केन्द्र समुद्र । एक दृष्टि मनुष्य कहना है कि यदि कहीं ॥ पचास रुपए मादगरी मिल जाए तो मैं सुगी हो जाऊँ । जिससे पचास मिल रहे हैं, वह सो फे लिए छुटपटा रहा है और सो पाता हजार के लिए । इस प्रकार लाखों, करोड़ों और अरबों पर दोड़ लग रही है । परन्तु आप निचार करें कि यदि पचास में सुग है तो पचास वाला सी, सी वाला हजार, और हजार वाला लाख, और लाख वाला करोड़ क्यों चाहता है ? इगना अर्थ है कि वैयक्तिक सुग, सुग नहीं है । वह धनः दुःख ही है । भगवान् महाश्वर ने वैयक्तिक सुग के लिए शहर से लिये सलवार की धार का उदाहरण दिया है । यदि शहर पुनी सलवार की धार को चाटे तो किसनी देर का सुख ? और चाटते समय धार से जीभ फटते ही कितना लम्बा दुःख ? इसीलिए भगवान् महाश्वर ने अन्यत्र भी कहा है कि 'सर्व वैयक्तिक गान निम्न है, सर्व नाच रंग विडम्बना है, सर्व अलस शरीर पर बोझ है, कि बहुत ? जो भी काम भोग है, सर्व दुःख के देने वाले हैं ।'

सर्व विलपिष गीय,

सर्व नदृष्ट विडम्बितं ।

सर्वे आभरणा भार,

सर्वे कामा दुःखावहा ॥

(उत्तराध्यायन सूत्र १३।१६)

सदा सुग त्याग में है । जिसने विषयाशा छोड़ी उगी ने सदा सुग पाया । उससे बढ़कर संसार में और और सुगी हो सकता है ? जैन-

संस्कृति के एक अमर गायक ने कहा है कि देवलोक के देवता भी सुखी नहीं हैं। सेठ और सेनापति तो सुखी होंगे ही कहाँ से ? भूमण्डल पर शासन करने वाला चक्रवर्ती राजा भी सुखी नहीं है, वह भी विष-याशा के ग्रन्धकार में भटक रहा है। अस्तु, संसार में सुखी कोई नहीं। सुखी है, एक मात्र वीतराग भाव की साधना करने वाला त्यागी साधक !

न चि सुही देयया देवलोक,

न चि सुही सेट्टि सेणावई य ।

न चि सुही पुढविपई राया,

एगंत-सुही साहू वीयरानी ॥

✓ भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने त्यागजन्य आत्मनिष्ठ सुख की महत्ता और भोगजन्य वस्तुनिष्ठ वैषयिक सुख की हीनता बताते हुए कहा है कि बारह मास तक वीतराग भाव की साधना करने वाले श्रमण निग्रन्थ का आत्मनिष्ठ सुख, सर्वार्थ सिद्धि के सर्वोत्कृष्ट देवों के सुख से कहीं बढ़कर है ! संयम के सुख के सामने भला बेचारा वैषयिक सुख क्या अस्तित्व रखता है ?

✓ वैदिक धर्म के महान् योगी भर्तृहरि भी इसी स्वर में कहते हैं कि भोग में रोग का भय है, कुल में किसी की मृत्यु का भय है, धन में राजा या चोर का भय है, युद्ध में पराजय का भय है। किं बहुना, संसार की प्रत्येक ऊँची से ऊँची और सुन्दर से सुन्दर वस्तु भय से युक्त है। एक मात्र वैराग्य भाव ही ऐसा है, जो पूर्ण रूप से अभय है, निराकुल है।

‘सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ।’

—वैराग्य शतक

यह उद्गार उस महाराजाधिराज भर्तृहरि का है, जिस के द्वार पर संसार की लक्ष्मी खरीदी हुई दासी की भाँति नृत्य किया करती थी, बड़े-बड़े राजा महाराजा, क्षत्र सेवक की भाँति आज्ञापालन के लिए नंगे पैरों

टोड़ते थे । एक से एक आसरा सी सुन्दर रानियाँ अन्त पुर में दीर्घाश्रमा की भौंति अन्धकार में प्रकाश रेंगती नित्यनशील शृंगार साधना में व्यस्त रहती थीं । यह सब होते हुए भी भर्तृहरि को वैभव में आनन्द नहीं मिला, उनकी आत्मा की व्यास नहीं सुनी । ससार के सुख भोगने रहे, भोगते रहे, बट-बट कर भोगते रहे, परन्तु अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि ससार के सब भोग क्षणभंगुर हैं, विनाशी हैं, कष्टप्रद हैं, यह लोक में पश्चात्ताप और परलोक में नरक के देने वाले हैं । जब कि ससार के इन प्रकार धनी मानी राजाध्या की यह दशा है तो फिर तुच्छ अमानस्य ससारी जीव किस गणना में हैं ?

जहाँ भोग तहाँ रोग है, जहाँ रोग तह सोग,
जहाँ योग तह भोग नहि, जहाँ भोग, नहि भोग !

यात जरा लबी होगई है, अतः समेट लूँ तो अन्ध्रा रहेगा । सच्चा सुख क्या है, यह बात आपके ध्यान में आगई होगी । विषय सुख की नि सारता का स्पष्ट चित्र आपके सामने रख छोड़ा है । विषय सुख क्षणभंगुर है, क्योंकि विषय स्वयं जो क्षणभंगुर है । वस्तु विनाशी है तो वस्तुनिष्ठ सुख भी विनाशी है । ऐसा कारण होगा, वैसा ही कार्य होगा । मिट्टी के पदार्थ मिट्टी के ही होंगे । नीम के वृक्ष पर आम कैसे लग सकते हैं ? अतः क्षणभंगुर वस्तु से सुख भी क्षणभंगुर ही होगा, अन्धकार नहीं । अतः रहा आत्मनिष्ठ सुख । आत्मा अजर अमर है, अविनाशी है, अतः तन्निष्ठ सुख भी अजर अमर अविनाशी ही होगा । अहिंसा, सत्य, सयम, शील, त्याग, वैराग्य, दया, कल्याण आदि सब आत्मधर्म हैं । अतः इनकी साधना से होने वाला आध्यात्मिक सुख आत्मा से होने वाला सुख है, और वह अविनाशी सुख है, कभी भी नष्ट न होने वाला ! छान्दोग्य उपनिषद् में सुख की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'जो अल्प है, विनाशी है, वह सुख नहीं है । और जो भूमा है, महान् है, अनन्त है, अविनाशी है, वस्तुनः नहीं सच्चा सुख है ।'

यो वै भूमा तत्सुखं
नाल्पे सुखमस्ति ।

(छान्दोग्य ७।२३।२)

हाँ, तो क्या साधक मन्चा सुख पाना चाहता है ? और चाहता है मन्चे मन से, अन्दर के दिल में ? यदि हाँ तो आइए मन की भोगा-कांक्षा को धूल की तरह अलग फेंक कर त्याग के मार्ग पर, धैर्य के पथ पर ! ममता के क्षुद्र घेरे को तोड़ने के बाद ही साधक भूमा होता है, महान् होता है, अजर अमर अनन्त होता है । और वह मन्चा सुख भी पूर्ण रूपेण यही दश में प्राप्त होता है ! भूले साथियो ! अविनाशी सुख चाहते हो तो अविनाशी आत्मा की शरण में आओ । यही सच्चा सुख मिलेगा । वह आत्मनिष्ठ है, अन्यत्र कहीं नहीं ।

: ४ :

श्रावक-धर्म

एक बार एक पुण्ये अनुमती मन धर्म प्रयत्न कर रहे थे। प्रयत्न करते करते तरंग में आ गए और छाने भोलाओं से प्रश्न पूछने लगे, "भोलाओ, दिल्ली से लाहौर जाने के किनारे मार्ग है?"

भोला विचार में पड़ गए। मन के प्रश्न करने की शैली इतनी प्रभावपूर्ण थी कि भोला उत्तर देने में इतना निमग्न हो गए। वहीं में उत्तर गलत न हो जाय, इस प्रकार प्रतियोगितापूर्ण कुशला उत्तर तो क्या, उत्तर के रूप में कुछ भी सोचने ही नहीं दे रही थी।

उत्तर की छोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद अन्ततोगत्या सन्त ने ही कहा, "लो, मैं ही बताऊँ। दिल्ली से लाहौर जाने के दो मार्ग हैं।" भोला अब भी उलझन में थे। अतः सन्त ने आगे कुछ विस्फुरण करते हुए कहा—“एक मार्ग है स्थल का, जो आठ मोहर से, रेल में या पैदल, किसी भी तरह तय करते हैं। और दूसरा मार्ग है आकाश से होकर जिसे आप वायुमान के द्वारा तय कर पाते हैं। पक्षी सरल मार्ग है, परन्तु देर का है। और दूसरा उड़ान मार्ग है, पतारे में मग है, परन्तु है शीघ्रता का।”

उपर्युक्त रूपक का अर्थ धार्मिक विचार का वाहन बनाते हुए सन्त ने कहा—“कुछ समझें? मोक्ष के भी हमी प्रकार दो मार्ग हैं। एक गृह्य धर्म तो दूसरा साधु धर्म। दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग कोई

नहीं। परन्तु पहला सरल होते हुए भी ज़रा देर का है। और दूसरा कठिन होते हुए भी बड़ी शोघ्रता का है। घताग्रो, तुम कौन से मार्ग से मोक्ष जाना चाहते हो?

सन्त की बात को लम्बी करने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ प्रयोजन है एक मात्र पिछले अध्यायों की संगति लगाने का और जीवन की राह ढूँढने का। मानव जीवन का लक्ष्य है सच्चा सुख। और वह सच्चा सुख है त्याग में, धर्म के आचरण में। धर्माचरण और त्याग से हीन मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु है। मिट्टी को मनुष्य का आकार मिल जाने में ही कोई विशेषता नहीं है। यह आकार तो हमें अनन्त अनन्त बार मिला है, परन्तु उस से परिणाम क्या निकला? रावण मनुष्य था और राम भी, परन्तु दोनों में कितना अन्तर था? पहला शरीर के आकार से मनुष्य था तो दूसरा आत्मा की दिव्य विभूति के द्वारा मनुष्य था। जब तक मनुष्य की आत्मा में मनुष्यता का प्रवेश न हो, तब तक न उस मानव व्यक्ति का कल्याण है और न उसके आसपास के मानव समाज का ही। मानव का विश्लेषण करता हुआ, देखिए, लोकोक्ति का यह सूत्र, क्या कह रहा है—“आदमी आदमी में अन्तर, कोई हीरा कोई कंकर।”

कौन हीरा है और कौन कंकर? इस प्रश्न के उत्तर में पहले भी कह आए हैं और अब भी कह रहे हैं कि जो धर्म का आचरण करता है, गृहस्थ का अथवा साधु का किन्हीं भी प्रकार का त्याग-मार्ग अपनाता है, वह मनुष्य प्रकाशमान हीरा है। और धर्माचरण से शून्य, भोग-विलास के अन्धकर में आत्म-स्वरूप से भटका हुआ मनुष्य, भले ही दुनियादारी की दृष्टि से कितना ही क्यों न बड़ा हो, परन्तु वस्तुतः मिट्टी का कंकर है। सच्चा और खरा मनुष्य वही है, जो अपने ब्रन्धन खोलने का प्रयत्न करता है और अपने को मोक्ष का अधिकारी घनाता है।

जैन संस्कृति के अनुसार मोक्ष का एकमात्र मार्ग धर्म है, और

उसके दो भेद हैं—साधारण धर्म और अनसाधारण धर्म । साधारण धर्म गृहस्थ धर्म को कहते हैं, और अनसाधारण धर्म साधु धर्म को । भगवान् महावीर ने इसी सम्बन्ध में कहा है —

चरित्त - धम्मो दुविट्ठे पणुत्ते, तंजहा—
असाधारण चरित्त धम्मो चेव अणुसाधारणचरित्त धम्मो चेव

[स्थानाग सूत्र]

साधारण धर्म एक सीमित मार्ग है । वह जीवन की सरल किन्तु छोटा पगडंडी है । वह धर्म, जीवन का रात्र मार्ग नहीं है । गृहस्थ समाज में रहता है, अतः उस पर परिहार, समाज और राष्ट्र का उत्तर दायित्व है । यही कारण है कि वह पूर्ण रूपेण अहिंसा और सत्य के रात्र-मार्ग पर नहीं चल सकता । उसे अपने निरंकी प्रतिद्वन्द्वी लोगों से संपर्क करना पड़ता है, जीवनयात्रा के लिए कुछ-न-कुछ योग्यता का मार्ग अपनाना होता है, परिग्रह का जाल बुनना होता है । व्याप मार्ग पर चलते हुए भी अपने व्यक्तिगत या सामाजिक स्वार्थों के लिए कहीं न कहीं किसी से टकराना पड़ जाता है, अतः वह पूर्णतया निरपेक्ष स्वात्मपरिणति का अखण्ड अहिंसा सत्य के अनुयायी साधुधर्म का दावेदार नहीं हो सकता ।

गृहस्थ का धर्म अशु है, छोटा है, परन्तु वह हीन एवं निन्दनीय नहीं है । कुछ पक्षान्ध लोगो ने गृहस्थ को जहर का भरा हुआ कणोरा बनाया है । वे कहते हैं कि जहर के प्याले को किसी भी ओर से पीजिए, जहर ही पीने में आयागा, वहाँ अमृत कैसा ? गृहस्थ का जीवन बिधर भी देखो उधर ही पार से भरा हुआ है, उसका प्रत्येक आचरण पापमय है, विकारमय है, उसमें धर्म कहाँ ? परन्तु ऐसा कहने वाले लोग सत्य की गहराई तक नहीं पहुँच पाए हैं, भगवान् महावीर की वाणी का समर्थन नहीं समझ पाए हैं । यदि सदाचारी से सदाचारी गृहस्थ जीवन भी जहर का प्याला ही होता, 'उनकी अपनी भाषा में कुपात्र ही होता, तो जैन संस्कृति के प्राण प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर धर्म के दो भेदों में क्यों गृहस्थ धर्म की

गणना करते ? क्यों उच्च सदाचारी गृहस्थों को श्रमण के समान उपमा देते हुए 'समणभूष' कहते ? क्यों उत्तराध्ययन सूत्र के पंचम अध्ययन की वाणी में यह कहा जाता कि कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा संयम की दृष्टि से गृहस्थ श्रेष्ठ है और गृहस्थ दशा में रहते हुए भी साधक सुव्रत हो जाता है। 'संति एगेहि भिक्षाहि गारव्या मंजमुत्तरा।' 'एवं सिक्खाममावन्ने गिहिवासे वि सुव्वए।' यह ठीक है कि गृहस्थ का धर्म-जीवन जुद्र है, साधु का जैसा महान् नहीं है। परन्तु यह जुद्रता साधु के महान् जीवन की अपेक्षा से है। दूसरे साधारण भोगासक्ति की दलदल में कैसे संतारी मनुष्यों की अपेक्षा तो एक धर्माचारी सद्-गृहस्थ का जीवन महान् ही है, जुद्र नहीं।

प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में श्रावक के सामान्य गुणों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि "श्रावक प्रकृति से गंभीर एवं सौम्य होता है। दान, शील, सरल व्यवहार के द्वाग जनता का प्रेम प्राप्त करता है। पापों से उरने वाला, दयालु, गुणानुगामी, पक्षपात रहित = मध्यस्थ, बड़ों का आदर मन्कार करने वाला, कृतज्ञ = किए उपकार को मानने वाला, योग्यकारी एवं हिताहित मार्ग का जाता दीर्घदर्शी होता है।"

धर्म संग्रह में भी कहा है कि "श्रावक इन्द्रियों का गुलाम नहीं होता, उन्हें वश में रखता है। स्त्री-मोह में पड़कर वह अपना अनासक्त मार्ग नहीं भूलता। महारंभ और महापरिग्रह से दूर रहता है। भयंकर से भयंकर संकटों के आने पर भी सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं होता। लोकखुडि का सहाय लेकर वह भेड़ चाल नहीं अपनाता, अपितु सत्य के प्रकाश में हिताहित का निरीक्षण करता है। श्रेष्ठ एवं दोष-रहित धर्माचरण की साधना में किसी प्रकार की भी लजा एवं हिचकिचाहट नहीं करता। अपने पक्ष का मिथ्या आग्रह कभी नहीं करता। परिवार आदि का पालन पोषण करता हुआ भी अन्तर्हृदय से अपने को अलग रखता है, पानी में कमल बनकर रहता है।"

क्या ऊपर के सद्गुणों को देगते हुए कोई भी विचारहीन सज्जन
 गृहस्थ को कुपाय कह सकता है, उने ज़रूर का लयालय भरा हुआ
 प्याला बता सकता है? जैन धर्म में आश्रमों की वीतरागदेव श्री
 तीर्थंकरों का छोटा पुत्र कहा है। क्या भगवान् का छोटा पुत्र होने
 का महान् गौरव प्राप्त करने के बाद भी वह कुपाय ही रहता
 है? क्या आनन्द, कामदेव जैसे देवताओं से भी बच घाट न होते
 वाले भ्रमणोपासन गृहस्थ ज़रूर के प्याले थे? यह ध्यान धारणा है।
 गृहस्थ का जीवन भी धर्ममय हो सकता है, वह भी मोक्ष की ओर प्रगति
 कर सकता है, कर्म रन्ध्रों को तोड़ सकता है। सद्गृहस्थ सगार में रहता
 है, परन्तु अनासक्त भाव की ज्योने का प्रकाश अंदर में जगमगाता
 रहता है। यह कभी-कभी ऐसी दशा में होता है कि कर्म करता हुआ भी
 कर्मबन्ध नहीं करता है।

सहिमा सम्यग् ज्ञान की

अरु विराग बल जोड ।

मिथा परत फल सुंजतें

कर्म - बन्ध नहि होड ॥

—भगवान् नादक, निर्गङ्गाद्वार

सूतकृतांग सूत का दुमरा भुतम्बक हमारे सामने है। अविरल,
 विरल और विरलाविरल का त्रितना सुन्दर त्रिलेख्य मित्र गया है। विरला-
 विरल धारण की भूमिका है, इनके सम्पर्क में प्रभु महाश्री करते हैं—
 'सभी पापाचरणों से मुक्त निश्चिन्ता और मूर्द्धा अविच्छिन्ना होना ही विरलि-
 अविरलि है। परन्तु यह आरम्भ नोआरम्भ का स्थान भी धार्य है
 तथा वह दुःख का नाश करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी
 एषान्त सम्यक् पर्यं साधु है।'

—'तत्त्वार्थ' का सा सञ्चलित विद्याविहारी, वस टापो धारण मो

धारमद्वारे । एस ठाणे आदि जाव सव्वदुक्ख-प्पहीणग्गमे
एगंतसम्मे साहु !”

[सूत्रकृतांग २ । २ । ३६]

यह है अनन्तज्ञानी परम वीरराग भगवान् महावीर का निर्णय !
क्या हमसे बढ़कर कोई और भी निर्णय प्राप्त करना है ? यदि श्रद्धा
का कुछ भी अंश प्राप्त है तो फिर किसी अन्य निर्णय की आवश्यकता
नहीं है । यह निर्णय अन्तिम निर्णय है । अब हम व्यर्थ ही चर्चा को
लम्बी नहीं करना चाहते ।

आइए, अब कुछ इस बात पर विचार करें कि गृहस्थ दशा में
रहते हुए भी इतनी ऊँची भूमिका कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

यह आत्म-देवता अनन्त काल से मिथ्यात्व की अंधकारपूर्ण काल
रात्रि में भटकता-भटकता, असत्य की उपासना करता-करता, जब कभी
सत्य की विश्वासभूमिका में आता है तो वह उसके लिए स्वर्णप्रभात
का सुअवसर होता है । संसाराभिमुख आत्मा जब मोक्षाभिमुख होती है,
बहिर्मुख से अन्तर्मुख होनी है, अर्थात् विषयाभिमुख से आत्माभिमुख
होती है, तब सर्वप्रथम सम्यक्त्वरूप धर्म की दिव्य ज्योति का प्रकाश
प्राप्त होता है ।

सच्ची श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है । यह श्रद्धा अन्ध श्रद्धा नहीं है ।
अपितु वह प्रकाशमान जीवित श्रद्धा है, जिसके प्रकाश में जड़ को जड़
और चैतन्य को चैतन्य समझा जाता है, संसार को संसार और मोक्ष
को मोक्ष समझा जाता है और समझा जाता है धर्म को धर्म और
अधर्म को अधर्म ! निश्चय दृष्टि में विवेक बुद्धि का जागृत होना ही
सम्यक्त्व है, तत्त्वार्थ-श्रद्धान है । अनन्त काल से हम यात्रा तो करते
चले आ रहे थे, परन्तु उस का गन्तव्य लक्ष्य स्थिर नहीं हुआ था ।
यह लक्ष्य का स्थिरीकरण सम्यक्त्व के द्वारा होता है । सम्यक्त्व के
अभाव में कितना ही उग्र क्रिया-काण्डी क्यों न हो, वह अन्धा है, सर्व-

या अन्धा ! वह भटकता है, यात्रा नहीं करता । यात्री के लिए अग्नी शौनो चाहिए । वह शौन सम्पन्न है । इस शौन के बिना आध्यात्मिक जीवन यात्रा तै नहीं की जा सकती ।

अब रहस्य यह सम्पत्ति की भूमिका प्राप्त कर लेता है तो करि की आध्यात्मिक माया में भगवान् वीतराग देव का लुप्त पुत्र हो जाता है । वह पद कुछ कम महत्त्व पूर्ण नहीं है । यही भावी त्प्राप्ति है इसकी आध्यात्मिक क्षेत्र में । ज्ञाना धर्मकथा सूत्र में सम्पत्ति का स्तर की उलगा दी है । उक्तुत यह वह चिन्तामणि स्तर है, जिसके द्वारा माधन जो पाना चाहे वह सब पास होता है । अनन्त काय से दीन, दीन, दक्षि मित्रारी के रूप में भक्तता हुआ आत्मदेव सम्पत्ति स्तर पाने के बाद एक महान् आध्यात्मिक धन का स्वामी हो जाता है । सम्पत्ति की प्रत्येक क्रिया निराले दग की होती है । उसका सोचना, समझना, सोचना और करना सब कुछ मिलवण होता है । वह ससार में रहता हुआ भी संसार से निर्धन हो जाता है, उसके अन्तर में शम, मवेग, निर्वेद और अनुसन्धा का अमृत सागर ठाटें मारने लगता है । निरन के अनन्तानन्त चर अचर प्राणियों के प्रति उसके कोमल हृदय से दया का भरना रहता है और वह चाहता है कि संसार के सब जीव सुखी हो, कल्याणमागी हो । सब को आत्ममान हो, समार से निरक्ति हो । सम्पत्ति का जीवन ही अनुसन्धा का जीवन है । वह निरन का मंगलमय देवता चाहता है । धीर राग देव, निर्मल गुह और वीतराग प्रकृत धर्म पर उसका इतना दृढ़ आत्मिक भाव होता है कि यदि संसार में की देवी शक्तियों दिगाना चाहें तो भी नहीं दिग सकता । अला वह प्रकाश से अन्धकार में जाए तो कैसे जाए ? प्रकाश उस के लिए जीवन है और अधकार मृत्यु ! उसी यात्रा सत्य से असत्य की ओर नहीं, अस्तित्व असत्य से सत्य की ओर है । वह एक महान् भारतीय दार्शनिक के शब्दों में प्रतिष्ठित प्रतिकृष्ट यही भावना माता है कि 'ससतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय ।'

आध्यात्मिक विकासक्रम में सम्यक्त्व की भूमिका चतुर्थ गुणस्थान की है। जब साधक सम्यक्त्व का अजर अमर प्रकाश साथ लेकर आध्यात्मिक यात्रा के लिए अग्रसर होता है तो देशव्रती श्रावक की पंचम भूमिका आती है। वह वह भूमिका है, जहाँ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भाव की मर्यादित साधना प्रारम्भ हो जाती है। सर्वथा न करने से कुछ करना अच्छा है, यह आदर्श है इस भूमिका का ! गृहस्थ का जीवन है, अतः पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का बहुत बड़ा भार है मस्तक पर ! ऐसी स्थिति में सर्वथा परिपूर्ण त्याग का मार्ग तो नहीं अपनाया जा सकता। परन्तु अपनी स्थिति के अनुकूल मर्यादित त्याग तो ग्रहण किया जा सकता है। अतः, इस मर्यादित एवं आंशिक त्याग का नाम ही आगम की भाषा में देश-विरति है ! अभी अपूर्ण त्याग है, परन्तु अन्तर्मन में पूर्ण त्याग का लक्ष्य है। इस प्रकार के देशविरति श्रावक के चारह व्रत होते हैं। आगमसाहित्य में चारह व्रतों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। यहाँ इतना अवकाश नहीं है, और प्रसंग भी नहीं है। अतः भविष्य में कहीं अन्यत्र विस्तार की भावना रखते हुए भी यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।

१—अहिंसा व्रत

सर्व प्रथम अहिंसा व्रत है। अहिंसा हमारे आध्यात्मिक जीवन की आधार भूमि है ! भगवान् महावीर के शब्दों में 'अहिंसा भगवती है।' इस भगवती की शरण स्वीकार किए बिना साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

अहिंसा की साधना के लिए प्रतिज्ञा लेनी होती है, कि 'मैं मन, वचन, काय से किसी भी निरपराध एवं निर्दोष व्रत प्राणी की जानें-बूझ कर हिंसा न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप-स्थावर जीवों की हिंसा भी व्यर्थ एवं अमर्यादित रूप में न करूँगा और न कराऊँगा।' १

कर सकता तो उसको यह प्रतिज्ञा तो लेनी ही चाहिये कि 'मैं अपनी मन्त्रीय के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का व्यवसाय न स्वयं करूँगा और न दूसरों से करऊँगा। अपनी पत्नी के साथ भी अति संभोग नहीं करूँगा।'

अथर्व्य तत्र की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का स्वाम धारण है—

(१) निती रत्न के साथ संभोग करना।

(२) परम्पी, अग्निवाहिता तथा वेदवा आदि के साथ संभोग करना।

(३) अघातुक्त संभोग करना।

(४) दूसरों के निषादलभ्य बनने में अमर्यादित भाग लेना।

(५) वासभोग की तीव्र आत्माति रक्ता, अग्नि संभोग करना।

५—अपरिग्रह मत

परिग्रह भी एक बहुत बड़ा पाप है। परिग्रह मानव-जमात्र की मनो-वाचना को उत्तरोत्तर पूर्णतः करता जाता है और किसी प्रकार का भी स्वयंसेवितारित अर्थ लाभालाभ का विवेक नहीं रहने देता है। सामाजिक नियमना, संभर्ग, बलवत् एवं अज्ञाति का प्रधान कारण परिग्रहवाद ही है। अतएव यह और पर की शक्ति के लिए अत्यव्ययित स्वार्थवृत्ति अर्थ लब्ध बुद्धि पर निर्वन्धन स्वभाव आवश्यक है।

अपरिग्रह तत्र की प्रतिज्ञा के लिए निम्नलिखित वस्तुओं के अति-परिग्रह-स्वाम को उचित भर्त्सना कर निर्धारण करना चाहिये—

(१) भोजन, दूधन और लेन आदि की भृति।

(२) लोहा और चाँदी।

(३) लोहा पाकर तथा रुक, पैत आदि द्विपर वस्तुपर।

(४) रुक, लोहा, रुक, रुक और रुक।

(५) प्रति दिन के व्यवहार में आने वाली पात्र, शयन, आसन आदि घर की अन्य वस्तुएँ ।

६—दिग्व्रत

पापाचरण के लिए गमनागमनादि क्षेत्र को विस्तृत करना जैन गृहस्थ के लिए निषिद्ध है । बड़े-बड़े राजा सेनाएँ लेकर दिग्विजय को निकलते हैं और जिधर भी जाते हैं, संहार मचा देते हैं । बड़े-बड़े व्यापारी व्यापार करने के लिए चलते हैं और आस-पास के राष्ट्रों की शरीर प्रजा का शोषण कर डालते हैं । इसीलिए भगवान् महावीर ने दिग्व्रत का विधान किया है । दिग्व्रत में कर्मक्षेत्र की मर्यादा बाँधी जाती है अर्थात् सीमा निश्चित की जाती है । उस निश्चित सीमा के बाहर जाकर हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का पूर्णरूप से त्याग करना, दिग्व्रत का लक्ष्य है ।

७—उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत

जीवन भोग से वैशा हुआ है । अतः जब तक जीवन है, भोग का सर्वथा त्याग तो नहीं किया जा सकता । हाँ, आसक्ति को कम करने के लिए भोग की मर्यादा अवश्य की जा सकती है । अनियंत्रित जीवन विप्राक्त हो जाता है । वह न अपने लिए हितकर होता है और न जनता के लिए । न इस लोक के लिए श्रेयस्कर होता है और न परलोक के लिए । अनियंत्रित भोगासक्ति संग्रह-बुद्धि को उत्तेजित करती है । संग्रह-बुद्धि परिग्रह का जाल बुनती है । परिग्रह का जाल ज्यों-ज्यों फैलता जाता है, त्यों-त्यों हिंसा, द्वेष, घृणा, असत्य, चौर्य आदि पापों की परम्परा लम्बी होती जाती है । अतएव श्रमण संस्कृति गृहस्थ के लिए भोगासक्ति कम करने और उसके लिए उपभोग परिभोग में आने वाले भोजन, पान, वस्त्र आदि पदार्थों के प्रकार एवं संख्या को मर्यादित करने का विधान करती है । यह मर्यादा एक-दो-तीन दिन आदि के रूप में सीमित काल तक या यावज्जीवन के लिए की जा सकती है । उक्त-

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित पाँच कार्यों का त्याग आवश्यक करना चाहिए—

- (१) जीवों को मारना, पीटना, घाम देना ।
- (२) अंग-मग करना, निरुत एव अर्पण करना ।
- (३) कनोर ज्वन से रोंधना, या पित्रे आदि में रगना ।
- (४) शक्ति से अग्नि मार सादना या काम लेना ।
- (५) समय पर भोजन न देना, भूग्न प्यामा रगना ।

२—सत्य व्रत

असत्य का अर्थ है, झूठ बोलना । केवल बोलना ही नहीं, झूठा सोचना और झूठा काम करना भी असत्य है । अनन्तराल से आत्मा असत्यमय होने के कारण दुःख उठाती आ रही है, बलेरा पाती आ रही है । यदि इस दुःख और बलेरा की पराजय से मुक्ति पानी है तो असत्य का त्याग करना चाहिए । भगवान् महावीर ने सत्य को भगवान् कहा है । भगवान् सत्य की सेवा में आत्मार्पण किए बिना अलख आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती ।

एहस्थ साधक को सत्य की साधना के लिए प्रतिज्ञा लेनी होती है कि मैं जान बूझ कर झूठी साक्षी आदि के रूप में मोझ झूठ न स्वयं बोलूँगा, और न दूसरों से सुचनाऊँगा ।

सत्य व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग करना चाहिए—

- (१) दूसरों पर झूठा आरोप लगाना ।
- (२) दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करना ।
- (३) पत्नी आदि के साथ निर्यासधात करना ।
- (४) झुरी या झूठी सलाह देना ।
- (५) झूठी दस्तावेज बनाना, जालसाजी करना ।

३—अचौर्य व्रत

दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार करना चोरी है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुए साधनों से ही पूर्ण करनी चाहिए। यदि कभी प्रसंगवश दूसरों से भी कुछ लेना हो तो वह सहयोग पूर्वक मित्रता के भाव से दिया हुआ ही लेना चाहिए। किसी भी प्रकार का बलाभियोग अथवा अनधिकार शक्ति का उपयोग करके कुछ लेना, लेना नहीं है, छीनना है।

गृहस्थ साधक पूर्णरूप से चोरी का त्याग नहीं कर सकता तो कम से कम सन्ध लगाना, जेब कतरना, डाका डालना इत्यादि सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से सर्वथा अयोग्य चोरी का त्याग तो करना ही चाहिए। अस्तेय व्रत की प्रतिज्ञा है कि मैं स्थूल चोरी न स्वयं करूँगा और न दूसरो से करवाऊँगा।

अस्तेय व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग आवश्यक है—

- (१) चोरी का माल खरीदना।
- (२) चोरी के लिए सहायता देना।
- (३) राष्ट्रविरोधी कार्य करना, कर आदि की चोरी करना।
- (४) झूठे तोल माप रखना।
- (५) मिलावट करके अशुद्ध वस्तु बेचना।

४—ब्रह्मचर्य व्रत

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी संभोग क्रिया में भी जैन-धर्म पाप मानता है। प्रकृतिजन्य कहकर वह इस कार्य की कभी भी उपेक्षा करने के लिए नहीं कहता। संभोग क्रिया में असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। और काम-वासना स्वयं भी अपने आप में एक पाप है। यह आत्मजीवन की एक प्रमुख बहिर्मुख क्रिया है। यदि गृहस्थ पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य धारण नहीं

कर सकता तो उसको यह प्रतिष्ठा तो लेनी ही चाहिए कि 'मे' अपनी सन्तोष के अनिश्चित अन्य सभी प्रकार का व्यवहार न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा । अपनी पत्नी के साथ भी अति ममोग नहीं करूँगा ।'

प्रत्यक्ष प्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग आवश्यक है—

(१) किसी स्त्रिय के साथ समोग करना ।

(२) परस्त्री, अविवहिता तथा वेश्या आदि के साथ समोग करना ।

(३) अप्राकृतिक समोग करना ।

(४) दूसरा के विवाह-सम्पन्न करने में अमर्यादित भाग लेना ।

(५) काममोग की तीव्र आसक्ति रखना, अति ममोग करना ।

५—अपरिग्रह प्रत

परिग्रह भी एक बहुत बड़ा पाप है । परिग्रह मानव-ममात्र की मनी-मायना को उत्तरोत्तर दूषित करता जाता है और किसी प्रकार का भी स्वपरहिताहित एवं सामाजिक का विवेक नहीं रहने देता है । सामाजिक विषमता, संघर्ष, फलह एवं अस्थान्ति का प्रधान कारण परिग्रहवाद ही है । अतएव स्व और पर की शान्ति के लिए अमर्यादित स्वार्थवृत्ति एवं समग्र बुद्धि पर नियंत्रण रखना आवश्यक है ।

अपरिग्रह प्रत की प्रतिष्ठा के लिए निम्नलिखित वस्तुओं के अति परिग्रह त्याग की उचित मर्यादा का निर्धारण करना चाहिए—

(१) मकान, दूकान और खेत आदि की भूमि ।

(२) सोना और चाँदी ।

(३) नोकर चाकर तथा गाय, बैल आदि द्विपद चतुष्पद ।

(४) मुद्रा, जवाहिरात आदि धन और धान्य ।

१—स्त्री से 'स्वपति सन्तोष' कहना चाहिए ।

(५) प्रति दिन के व्यवहार में आने वाली पात्र, शयन, आसन आदि घर की अन्य वस्तुएँ ।

६—दिग्व्रत

पापाचरण के लिए गमनागमनादि क्षेत्र को विस्तृत करना जैन गृहस्थ के लिए निषिद्ध है । बड़े-बड़े राजा सेनाएँ लेकर दिग्विजय को निकलते हैं और जिधर भी जाते हैं, संहार मचा देते हैं । बड़े-बड़े व्यापारी व्यापार करने के लिए चलते हैं और आस-पास के राष्ट्रों की गरीब प्रजा का शोषण कर डालते हैं । इसीलिए भगवान् महावीर ने दिग्व्रत का विधान किया है । दिग्व्रत में कर्मक्षेत्र की मर्यादा बाँधी जाती है अर्थात् सीमा निश्चित की जाती है । उस निश्चित सीमा के बाहर जाकर हिंसा, अरुत्य आदि पापाचरण का पूर्णरूप से त्याग करना, दिग्व्रत का लक्ष्य है ।

७—उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत

जीवन भोग से व्रंश हुआ है । अतः जब तक जीवन है, भोग का सर्वथा त्याग तो नहीं किया जा सकता । हाँ, आसक्ति को कम करने के लिए भोग की मर्यादा अवश्य की जा सकती है । अनियंत्रित जीवन विपाक हो जाता है । वह न अपने लिए हितकर होता है और न जनता के लिए । न इस लोक के लिए श्रेयस्कर होता है और न परलोक के लिए । अनियंत्रित भोगासक्ति संग्रह-बुद्धि को उत्तेजित करती है । संग्रह-बुद्धि परिग्रह का जाल बुनती है । परिग्रह का जाल ज्यों-ज्यों फैलता जाता है, त्यों-त्यों हिंसा, द्वेष, घृणा, असत्य, चौर्य आदि पापों की परम्परा लम्बी होती जाती है । अतएव श्रमण संस्कृति गृहस्थ के लिए भोगासक्ति कम करने और उसके लिए उपभोग परिभोग में आने वाले भोजन, पान, वस्त्र आदि पदार्थों के प्रकार एवं संख्या को मर्यादित करने का विधान करती है । यह मर्यादा एक-दो-तीन दिन आदि के रूप में सीमित काल तक या यावज्जीवन के लिए की जा सकती है । उक्त-

मा के द्वारा प्रकृत मा के माय में ही वह निज स्वभाव का ही अधिक परिपूर्ण किया जाता है और आदर्श की भावना का ही अधिक सिद्धि प्राप्त प्रथम कारण बनता है।

यह मान्य है आचार्य व्यासजी के निवेदन की कृपा है। दुःख जीवन के लिए व्यासजी के आचार्यक है। शिवा उपासना का ध्यान करने के लक्ष्य की गाड़ी के अन्तर्गत ही रहती है। परन्तु व्यासजी के मान्य यह सिद्ध आचार्य कहते हैं कि 'यद् व्यास उपास' ११ है या 'यद् ११ इमं आचार्यक है वा मदार्यक ११ अतः, मदार्यक होने के कारण यह बाधक, उपासक के आत्म लक्षण, शरीर और शिवा आदि कथा, गन्धर्व तथा नदी आदि का गुणना आदि के ये उपासक के लिए बन्धित है।

८—अनर्थ दण्ड विमर्श व्रत

मनुः। यदि अन्न और का शिवा शून्य एवं प्रकृत रूप है तो शिवा प्रभाव भी शिवा आदि कर बैठता है। मन, बाली और शरीर का मन आदि गन्धर्व आदि प्रत्येक शिवा शिवा पुत्र ही रहनी चाहिए। अन्तर्गत भागी के लिए मन में लालसा रहना, मान भागी की रक्षा के लिए चिन्ता करना, दुरे विचार एवं दुरे संस्कार रहना, पाप कार्य के लिए परमार्थ देना, शरीर और मन आदि से अन्तर्गत चर्च करना, काम भाग मन्त्र की वार्ताभाव में रह लेना, बाल-बाल पर अन्तर्गत गाली देना की आदि गन्धर्व, निरर्थक शिवा वारक शस्त्रों का संभव करना, आवश्यकता से अधिक व्यर्थ भोग-मासकी इच्छा करना, तल तथा ही शिवा के पाप शिवा दण्ड गुल मुँह रहना, इत्यादि सब अनर्थ दण्ड है। साधक को इन सब अनर्थ दण्डों से निवृत्त रहना चाहिए।

९—सामायिक व्रत

जैन साधना में सामायिक व्रत का बहुत बड़ा महत्त्व है। सामायिक का अर्थ समता है। रागाद्वेषादिक मन्त्रांगी प्रवृत्तियों से अलग होकर जीवन यात्रा को निष्ठापूर्वक एवं पवित्र मानना ही समता है। यह

आखिर गृहस्थ है। वह साधु नहीं है, जो यावज्जीवन के लिए सत्र पाप व्यापारों का पूर्ण रूपा से परित्याग कर पवित्र जीवन बिता सके। अतः उसे प्रतिदिन कम-से-कम ४८ मिनट के लिए तो सामायिक व्रत धारण करना ही चाहिए। यद्यपि मुहूर्त भर के लिए पापव्यापारों का त्याग करने रूपा सामायिक व्रत का काल अल्प है, तथापि इसके द्वारा अहिंसा एवं समता की विराट भोंकी के दर्शन होते हैं। सामायिक व्रत की साधना करते समय साधारण गृहस्थ साधक भी लगभग पूर्ण निष्पाप जैसी ऊँची भूमिका पर आरुढ़ हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—‘सामाह्वयमि उ कए, समणो हव सावओ हवइ जम्हा।’ अर्थात् सामायिक कर लेने पर आवक श्रमण-जैसा हो जाता है।

यह गृहस्थ की सामायिक साधु की पूर्ण सामायिक के अभ्यास की भूमिका है। यह दो घड़ी का आध्यात्मिक स्नान है, जो जीवन को पाप-मल से हल्का करता है एवं अहिंसा की साधना को स्फूर्तिशील बनाता है। सामायिक के द्वारा किया जाने वाला पापाश्रव-निरोध एवं आत्म-निरीक्षण साधक के लिए वह अमूल्य निधि है, जिसे पाकर आत्मा परमात्मरूप की ओर अग्रसर होता है।

१०—देशावकाशिक व्रत

परिग्रह परिमाण और दिशा परिमाण व्रत की यावज्जीवन सम्बन्धी प्रतिज्ञा को और अधिक व्यापक एवं विराट बनाने के लिए देशावकाशिक व्रत ग्रहण किया जाता है। दिशा-परिमाण व्रत में गमनागमन का क्षेत्र यावज्जीवन के लिए सीमित किया जाता है। और वहाँ उस सीमित क्षेत्र को एक दो दिन आदि के लिए और अधिक सीमित कर लिया जाता है। देशावकाशिक व्रत की साधना में जहाँ क्षेत्रसीमा संकुचित होती है, वहाँ उपभोग सामग्री की सीमा भी संक्षिप्त होती है। यदि साधक देशावकाशिक व्रत की प्रतिदिन साधना करे तो उस की अनारम्भभय

अहिंसा साधना अधिकाधिक व्यापक होकर आत्म-तत्त्व अपनी स्वामयिक स्थिति में स्वच्छ हो जाए।

११—पौषध व्रत

यह व्रत जीवन सधर्प की सीमा को और अधिक संक्षिप्त करता है। एक अहोरात्र अर्थात् रात दिन के लिए सचित्त वस्तुओं का, शम्भ का, पाप व्यापार का, भोजन पान का तथा अत्रस्तचर्य का त्याग करना पौषध व्रत है। पौषध की स्थिति साधुजीवन जैसी है। अतएव पौषध में क्रुता, कमीज, थोट आदि गृहस्थोचित वस्त्र नहीं पहने जाते, पलग आदि पर नहीं सेया जाता और स्नान भी नहीं किया जाता। साधारण प्रवृत्ति से सर्वथा अलग रह कर एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्म चिन्तन आदि करते हुए जीवन को पवित्र बनाना ही इस व्रत का उद्देश्य है।

१२—व्रतिधि-संविभाग व्रत

गृहस्थ जीवन में सर्वथा परिग्रह-रहित नहीं हुआ जा सकता। यहाँ मन में मग्न हो बुद्धि उनी रहती है और तदनुसार समग्र भी होता रहता है। परन्तु यदि उक्त समग्र और परिग्रह का उपयोग अपने तक ही सीमित रहता है, जनकल्याण में प्रयुक्त नहीं होता है तो यह महा भयकर पाप बन जाता है। प्रतिदिन बढ़ते हुए परिग्रह का उदै हुए नश की उपमा दी है। बड़ा हुआ नाखून अपने या दूसरे के शरीर पर जहाँ भी लगेगा, घाव ही करेगा। अतः बुद्धिमान् सम्य मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह बढ़े हुए नाखून को यथावत् काटना रहे। इसी प्रकार परिग्रह भी मर्यादा से अधिक बड़ा हुआ अपने या तथा आस-पास के दूसरे साधियों को तंग ही करता है, अशान्ति ही बढ़ाता है। इसलिए जैन धर्म परिग्रह-परिमाण में धर्म बनाता है और उस परिमित परिग्रह में से भी निज प्रति दान देने का विधान करता है।

दान, परिग्रह का प्रायश्चित्त है। प्राप्त वस्तुओं का स्वार्थ बुद्धि से अकेला उपभोग करना, पाप है। गृहस्थ को उक्त पाप से बचना चाहिए।

गृहस्थ के घर का द्वार जन-सेवा के लिए खुला रहना चाहिए। यदि कभी त्यागी साधु-संत पधारें तो भक्ति भाव के साथ उनको योग्य आहार पानी आदि बहराना चाहिए और अपने को धन्य मानना चाहिए। यदि कभी अन्य कोई अतिथि आए तो उसका भी योग्य सत्कार सम्मान करना चाहिए। गृहस्थ के द्वार पर से यदि कोई व्यक्ति भूखा और निराश लौटता है तो यह समर्थ गृहस्थ के लिए पाप है। अतिथि संविभाग व्रत इसी पाप से बचने के लिए है।

यह संक्षेप में जैन-गृहस्थ की धर्म साधना का वर्णन है। अधिक विस्तार में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है, अतः संक्षिप्त रूप रेखा बता कर ही सन्तोष कर लिया गया है। धर्म के लिए वर्णन के विस्तार की तनी आवश्यकता भी नहीं है जितनी कि जीवन में उतारने की आवश्यकता है। धर्म जीवन में उतरने के बाद ही स्व-पर कल्याणकारी होता है। अतएव गृहस्थों का कर्तव्य है कि उक्त कल्याणकारी नियमों को जीवन में उतारें और अहिंसा एवं सत्य के प्रकाश में अपनी मुक्ति-यात्रा का पथ प्रशस्त बनाएँ।

है, साहसहीन है, वासनाओं के गुलाम है, इन्द्रियों के चक्कर में है, और दिन-रात इच्छाओं की लहरों के थपेड़े खाते रहते हैं, वे भला क्यों कर इस लुर-धारा के दुर्गम पथ पर चल सकते हैं ?

साधु-जीवन के लिए भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में कहा है—“साधु को ममतारहित, निरहंकार, निःसंग, नम्र और प्राणिमात्र पर समभावयुक्त रहना चाहिए। लाभ हो या हानि हो, सुख हो या दुःख हो, जीवन हो या मरण हो, निन्दा हो या प्रशंसा हो, मान हो या अपमान हो, सर्वत्र सम रहना ही साधुता है। सच्चा साधु न इस लोक में कुछ आसक्ति रखता है और न परलोक में। यदि कोई विरोधी तेज कुल्हाड़े से काटता है या कोई भक्त शीतल एवं सुगन्धित चन्दन का लेप लगाता है, साधु को दोनों पर एक जैसा ही समभाव रखना होता है। वह कैसा साधु, जो क्षण-क्षणमें राग-द्वेष की लहरों में बह निकले। न भूख पर नियंत्रण रख सके और न भोजन पर।”

निम्समो निरहंकारो,

निस्संगो चत्त-गारवो ।

समो य सव्वभूएसु,

तसेसु थावरेसु य ॥

लाभालाभे सुहे दुक्खे,

जीघिए मरणे तहा ।

समो निंदा - पसंसासु

समो माणावमाणओ ॥

अणित्सिओ इहं लोए,

परलोए अणित्सिओ ।

वासी - चंदणकण्णो य,

असणे अणसणे तहा ॥

भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार साधु-जीवन-न रोग का जीवन है और न द्वेष का। यह तो पूर्णरूपेण समभाव एवं तटस्थ-शक्ति का जीवन है। साधु विरस के लिए कह्याण एवं मङ्गल की धीमति मूर्ति है। यह अपने हृदय के कण-कण में सत्य और कहणा का अक्षर अमृतसागर लिए भूतलङ्घन पर विचरण करता है, पाणिमात्र को विरसमेवो का अक्षर न देव देता है। यह समग्र के ऊँचे से ऊँचे आदर्शों पर विचरण करता है, अपने मन, वाणी एवं शरीर पर कठोर नियंत्रण रखता है। समग्र की समस्त भोग वातनाओं से गर्वया अलित रहता है, और क्रोध, मान, माया एवं लोभ की दुर्गन्ध से हजार हजार कोस की दूरी से बचकर चलता है।

देवाधिदेव भगवान् महावीर ने उपर्युक्त पूर्ण त्याग मार्ग पर चलने वाले साधुओं को मेघ पर्यंत के समान अमर, समुद्र के समान गम्भीर, चन्द्रमा के समान शक्तिशाली, सूर्य के समान तेजस्वी और पृथ्वी के समान सर्वसह कहा है। सुरक्रान्त सूर के द्वितीय भूतलङ्घनान्तर्गत दूसरे त्रिया स्थान नामक अध्ययन में साधु जीवन सम्बन्धी उपायों की यह समीक्षा रखता, ज्ञान भी हर कोई विनाश देल सकता है। इसी अध्ययन के अन्त में भगवान् ने साधु जीवन को एकान्त परिदृष्ट, आर्यः एकान्तसम्पद, सुसाधु एवं सर दुर्गों से मुक्त होने का मार्ग बताया है। 'एतं ठाणे आचरिए जाव सवरदुश्चरणीय भवने दुर्गतसम्मे सुसाह ।'

भगवती-सूत्र में पाँच प्रकार के देवों का वर्णन है। वहाँ भगवान् महावीर ने गौतम गणधर के प्रश्न का समाधान करते हुए साधुओं को साक्षात् भगवान् एवं धर्मदेव कहा है। वस्तुतः साधु, धर्म का जीता-जागता देवता ही है। 'गोयमा ! जे हमे भगवारा भगवतो हरिया-सभिया' "जाव गुणवमवारी, से तेणट्ठेय एवं बुच्चइ धम्मदेस ।'

भगवती-सूत्र के १४ वें शतक में भगवान् महावीर ने साधुजीवन के अखण्ड आनन्द का उद्यम के द्वारा एक बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। गणधर गौतम को सम्बोधित करते हुए भगवान् कह रहे हैं—“हे गौतम ! एक मास की दीक्षा वाला श्रमण निर्ग्रन्थ चानव्यन्तर देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। दो मास की दीक्षा वाला नागकुमार आदि भवनवासी देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा वाला असुरकुमार देवों के सुख को, चार मास की दीक्षा वाला ग्रह, नक्षत्र एवं ताराओं के सुख को, पाँच मास की दीक्षा वाला ज्योतिष्क देव जाति के इन्द्र चन्द्र एवं सूर्य के सुख को, छः मास की दीक्षा वाला सौधर्म एवं ईशान देवलोक के सुख को, सात मास की दीक्षा वाला सनत्कुमार एवं माहेन्द्र देवों के सुख को, आठ मास की दीक्षा वाला ब्रह्मलोक एवं लांतक देवों के सुख को, नवमास की दीक्षा वाला आनत एवं प्राणत देवों के सुख को, दश मास की दीक्षा वाला आरण एवं अच्युत देवों के सुख को, ग्यारह मास की दीक्षा वाला नव ग्रैवेयक देवों के सुख को तथा बारह मास की दीक्षा वाला श्रमण अनुत्तरोपपातिक देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है।” —भग० १४, ६।

पाठक देख सकते हैं—भगवान् महावीर की दृष्टि में साधुजीवन का कितना बड़ा महत्त्व है ? बारह महीने की कोई विराट साधना होती है ? परन्तु यह लुप्तकाल की साधना भी यदि सच्चे हृदय से की जाय तो उसका आनन्द विश्व के स्वर्गीय सुख साम्राज्य से बढ़ कर होता है। सर्व श्रेष्ठ अनुत्तरोपपातिक देव भी उसके समक्ष हतप्रभ, निस्तेज एवं निम्न हैं। साधुता का दंभ कुछ और है, और सच्चे साधुत्व का जीवन कुछ और ! सच्चा साधु भूमण्डल पर साक्षात् भगवत्स्वरूप स्थिति में विचरण करता है। स्वर्ग के देवता भी उस भगवदात्मा के चरणों की धूल को मस्तक पर लगाने के लिए तरसते हैं। वैष्णव कवि नरसी महता कहता है—

आप! मार जगत में चेंटे नहीं किसी से काम,
 उनमें तो कुछ अन्नर नाह, संत रहो चाहे राम।
 हम तो उन सतन के हैं दास,
 जिन्होंने मन मार लिया।

सन्त वहीर ने भी साधु को प्रत्यक्ष भगवान् रूप कहा है और
 कहा है कि साधु की देह नियवार की आरसी है, जिसमें जो चाहे वह
 अलख को अपनी आँखों से देख सकता है।

निराकार की आरसी, साधु ही की देह
 लखा जो चाहे अलख को, इनही में लखि लोह।

सिद्ध-सम्प्रदाय के गुरु अर्जुन देव ने कहा है कि साधु की
 महिमा का कुछ अन्त ही नहीं है, उच्युच यह अनन्त है। वेचारा
 वेद भी उसकी महिमा का क्या वर्णन कर सकता है।

साधु की महिमा वेद न जानें,
 जेता सुने तेता चरानें।
 साधु की सोमा का नहीं अंत,
 साधु की सोमा सदा बे-अंत।

आनन्दकन्द प्रबचन्द्र श्री कृष्णचन्द्र ने भागवत में कहा है—
 सन्त ही मनुष्यों के लिए देस्ता हैं। ये ही उनके परम बान्धव हैं। सन्त
 ही उनकी आत्मा हैं। यत्कि नहि भी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि
 सन्त मेरे ही स्वरूप हैं, अर्थात् मगरा रहते हैं।

देवता बान्धवाः सन्तः,
 सन्त आत्माऽहमेव च।

—भाग. ११। २६। २४।

जैन-धर्म में साधु का पद कहा ही महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक-
 विनाश प्रथम में उसका स्थान छटा गुण स्थान है, और यहाँ से यदि

निरन्तर ऊर्ध्वमुखी विरास करता रहे तो अन्त में वह चौदहवें गुण-स्थान की भूमिका पर पहुँच जाता है और फिर सदा काल के लिए अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो जाता है। जैन-साहित्य में साधु-जीवन सम्बन्धी आचार-विचार का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ऐसा सूक्ष्म एवं नियम-बद्ध वर्णन अन्यत्र मिलना असंभव है। यही कारण है कि आज के युग में जहाँ दूसरे संप्रदाय के साधुओं का नैतिक पतन हो गया है, किसी प्रकार का संयम ही नहीं रहा है, वहाँ जैन-साधु अब भी अपने संयम-मथ पर चल रहा है। आज भी उसके संयम-जीवन की झोंकी के दृश्य आचारांग, सूत्र कृतांग एवं दशवैकालिक आदि सूत्रों में देखे जा सकते हैं। हजारों वर्ष पुरानी परंपरा को निभाने में जितनी दृढ़ता जैन-साधु दिखा रहा है, उसके लिए जैन-सूत्रों का नियमबद्ध वर्णन ही धन्यवादार्ह है।

आगम-साहित्य में जैन-साधु की नियमोपनियम-सम्बन्धी जीवनचय का अतीव विराट एवं तलस्पर्शी वर्णन है। विशेष गिज्ञासुओं को उसी आगम-साहित्य से अपना पवित्र सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। यहाँ हम संक्षेप में पाँच महाव्रतों का परिचय मात्र दे रहे हैं। आशा है, यह हमारा छुद्र उपक्रम भी पाठकों की ज्ञान-वृद्धि एवं सच्चरित्रता में सहायक हो सकेगा।

अहिंसा महाव्रत

मन, वाणी एवं शरीर से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय आदि की दूषित मनोवृत्तियों के साथ किसी भी प्राणी को शारीरिक एवं मानसिक आदि किसी भी प्रकार की पीड़ा या हानि पहुँचाना, हिंसा है।

१—आचरितानि महद्भिर्,

यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।

स्वयमपि महान्ति यस्मान्

महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥

—आचार्य शुभचन्द्र

केवल पीडा और हानि पहुँचाना ही नहीं, उनके लिए किसी भी तरह की अनुमति देना भी हिता है। निःशुना, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाना हिता है। हानि हिता से घटना अहिता है।

अहिता और हिता की आधार भूमि अधिपति भावना पर आधारित है। मन में हिता है तो गृह में हिता हो तर भी हिता है, और हिता न हो तर भी हिता है। और यदि मन पवित्र है, उपयोग एवं विवेक के साथ प्रवृत्ति है तो गृह में हिता होते हुए भी अहिता है। मन में द्वेष न हो, घृणा न हो, आचरण की भावना न हो, अग्नि प्रेम हो, कल्याण की भावना हो, परमाणु का सम्हरण हो तो शिष्टार्थ उचित ताड़ना देना, योग निराकरणार्थ कट

—महापुरुषों द्वारा आचरण के साथ गए हैं, महान् अर्थ मोक्ष का प्रकाशन करते हैं, और स्वयं भी मृतों में सर्व महान् हैं, अतः मुनि के अहिंसा आदि मत महाव्रत कहे जाते हैं।

योग-दर्शन के साधनपाद में महाव्रत की व्याख्या के लिए ३१ वें सूत्र है—‘जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना महाव्रतः।’ इसका भावार्थ है—जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं।

जाति द्वारा सङ्कुचित—गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मण की हिता न करना।

देश द्वारा सङ्कुचित—गंगा, इन्द्रिवार आदि तीर्थ भूमि में हिता न करना।

काल द्वारा सङ्कुचित—एकादशी, चतुर्दशी आदि तिथियाँ में हिता नहीं करना।

औपधि देना सुभार्य या प्राणधित्त के लिए दण्ड देना हिंसा नहीं है। परन्तु जब ये ही द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह एवं भय आदि की दूषित वृत्तियों से मिश्रित हों तो हिंसा हो जाती है। मन में किसी भी प्रकार का दूषित भाव लाना हिंसा है। यह दूषित भाव अपने मन में हो, अथवा संकल्प पूर्वक अपने निमित्त से किसी दूसरे के मन में पैदा किया हो, सर्वत्र हिंसा है। इस हिंसा से बचना प्रत्येक साधक का परम कर्तव्य है।

जैन-साधु अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ साधक है। वह मन, वाणी और शरीर में से हिंसा के तत्त्वों को निकाल कर बाहर फेंकता है, और जीवन के कण-कण में अहिंसा के अमृत का संचार करता है। उमका चिन्तन कल्याण से ओत-प्रोत होता है, उमका भाषण दया का रस बरसाता है, उमकी प्रत्येक शारीरिक प्रवृत्ति में अहिंसा की भक्तिकार निकलती है। वह अहिंसा का देवता है। अहिंसा भगवती उमके लिए 'ब्रह्म' के समान उपास्य है। दिव्य और हिंगक दोनों के कल्याण के लिए ही वह हिंसा से निवृत्ति करता है, अहिंसा का प्रण लेता है। सब काल में सब प्रकार से सब प्राणियों के प्रति चित्त में अणुमात्र भी द्वेष न करना ही अहिंसा का सच्चा स्वरूप है। और इस स्वरूप को जैन-साधु न दिन में भूलता है और न रात में, न जागने में भूलता है और न सोते में, न एकान्त में भूलता है और न जन समूह में।

जैन-श्रमण की अहिंसा, प्रत नहीं, महान्त है। महाप्रत का अर्थ है महान् प्रत, महान् प्रण। उक्त महाप्रत के लिए भगवान् महावीर 'सन्वाथो पाणाइवायाथो विरमण' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ है मन बचन और कर्म से न स्वयं हिंसा करना, न दूसरों से करवाना और न हिंसा करने वाले दूसरे लोगों का अनुमोदन ही करना। अहिंसा का यह कितना ऊँचा आदर्श है! हिंसा को प्रवेश करने के लिए

१—'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्'

—आचार्य समन्तभद्र

वही द्विदमात्र भी नहीं रहा है । दिग्ग तो वस्तु, दिग्ग की गन्ध भी प्रवेश नहीं पा सकती ।

एक वैनाचार्य ने पालत्रीयों को अदिग्ग का मर्म समझाने के लिए प्रथम वर्णन के ८० भंग वर्णन किये हैं । वृष्णी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, इंद्रिय, श्रोत्रिन्द्रिय, चतुर्विन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय—ये नौ प्रकार के संगीनी जीव हैं । उनकी न मन से दिग्ग करना, न मन से दिग्ग कराना, न मन से दिग्ग का अनुमोदन करना । हम प्रसार १७ भंग होने हैं । वे पात मन के सम्बन्ध में कही गई है, वही ज्ञान वचन और शरीर के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिये । हाँ, तो मन के ६७, वचन के २७, और शरीर के २७, सब मिला कर ८२ भंग हो जाते हैं ।

जैन साधु की अदिग्ग का यह एक सक्षिप्त एवं लघुनम वर्णन है । परन्तु यह वर्णन भी त्रिजना महान् और रिपट है । इसी वर्णन के आधार पर जैन साधु न कथा जल पीता है, न अग्नि का स्पर्श करता है, न सक्षिप्त वनस्पति का ही कुण्ड उपयोग करता है । भूमि पर चलता है तो नगे पैरों चलाता है, और आगे रुढ़े तीन हाथ परिमाण भूमि को देखकर फिर कदम उठाता है । मुग के उष्ण रसस से भी झिगी वायु आदि एतन् जीव को पीका न पहुँचे, इन के लिए मुग पर मुजसखिका का प्रयोग करता है । उन साधारण इन भिया काण्ड में एक निश्चित अत्यन्तम की अनुभूति । है । परन्तु अदिग्ग के साधक को इस में अदिग्ग मगती के सूत्र रूप की भौंभी मिलनी है ।

मत्स्य महाव्रत

मत्स्य का वचार्थ ज्ञान ही सत्य है । उक्त सत्य का शरीर से काम में लाना शरीर का सत्य है, वाणी से कहना वाणी का सत्य है, और विचार में लाना मन का सत्य है । जो जिस समय जिसके लिए जैसा वचार्थ रूप से करना, कहना एवं समझना चाहिये, वही सत्य है । इनके विपरीत भी सोचना, समझना, कहना और करना है, वह असत्य है ।

सत्य, अहिंसा का ही विराट् रूपान्तर है। सत्य का व्यवहार केवल वाणी से ही नहीं होता है, जैसा कि सर्व-साधारण जनता समझती है। उसका मूल उद्गम-स्थान मन है। अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होता ही सत्य है। अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, जैसा अनुमान किया हो, वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना, सत्य है। वाणी के सम्बन्ध में यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल सत्य कह देना ही सत्य नहीं है, अपितु सत्य कोमल एवं मधुर भी होना चाहिए। सत्य के लिए अहिंसा मूल है। अतः यथार्थ ज्ञान के द्वारा यथार्थ रूप में अहिंसा के लिए जो कुछ विचारना, कहना एवं करना है, वही सत्य है। दूसरे व्यक्ति को अपने बोध के अनुसार ज्ञान कराने के लिए प्रयुक्त हुई वाणी धोखा देने वाली और भ्रान्ति में डालने वाली न हो; जिससे किसी प्राणी को पीडा तथा हानि न हो, प्रत्युत सब प्राणियों के उत्कार के लिए हो, वही श्रेष्ठ सत्य है। जिस वाणी में प्राणियों का हित न हो, प्रत्युत प्राणियों का नाश हो तो वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति द्वेष से दिल दुखाने के लिए अंधे को तिरस्कार के साथ अन्धा कहता है तो यह असत्य है; क्योंकि यह एक हिंसा है। और जहाँ हिंसा है, वह सत्य भी असत्य है; क्योंकि हिंसा सदा असत्य है। कुछ अविवेकी पुरुष दूसरों के हृदय को पीडा पहुँचाने वाले दुर्वचन कहने में ही अपने सत्यवादी होने का गर्व करते हैं, उन्हें ऊपर के विवेचन पर ध्यान देना चाहिए।

जैन-श्रमण सत्यव्रत का पूर्णरूपेण पालन करता है, अतः उसका सत्य व्रत सत्य महाव्रत कहलाता है। वह मन, वचन और शरीर से न स्वयं असत्य का आचरण करता है, न दूसरे से करवाता है, और न कभी असत्य का अनुमोदन ही करता है। इतना ही नहीं, किसी तरह का साव्य वचन भी नहीं बोलता है। पापकारी वचन बोलना भी असत्य ही है। अधिक बोलने में असत्य की आशंका रहती है, अतः

जैन भ्रमण अत्यन्त मित्रभावी होता है। उसने प्रत्येक वचन से स्वपर-
वर्तण की भावना उपकृती है, अहिंसा का स्वर गूँजता है। जैन-साधु
के लिए हँसी में भी झूठ बोलना निषिद्ध है। प्राणों पर संकट उप-
स्थित होने पर भी सत्य का आश्रय नहीं छोड़ा जा सकता। सत्य महा-
मती की वाणी में अविचार, अज्ञान, मोह, मान, माया, लोभ, परिहास
आदि किसी भी विचार का अंश नहीं होना चाहिये। यही कारण है
कि साधु दूर से पशु आदि को लैंगिक दृष्टि से अनिश्चय होने पर सहसा
उत्ता, बैल, पुरुष आदि के रूप में निश्चयकारी भाषा नहीं बोलता।
ऐसे प्रसंगों पर वह बुत्ते की जाति, बैल की जाति, मनुष्य की जाति,
इत्यादि जानिपरक भाषा का प्रयोग करता है। इसी प्रकार वह ज्योतिष,
मंत्र, संज्ञा आदि का भी उपयोग नहीं करता। ज्योतिष आदि की
प्रकल्पना में भी हिंसा एवं असत्य का संनिभण है।

जैन-साधु जब भी बोलता है, अनेकान्तवाद को ध्यान में रखकर
बोलता है। वह 'ही' का नहीं, 'मी' का प्रयोग करता है। अनेकान्तवाद
का लक्ष्य रम्ये बिना सत्य की वास्तविक उपासना भी नहीं हो सकती।
जिस वचन के पीछे 'स्यात्' लग जाता है, वह असत्य भी सत्य हो जाता
है। क्योंकि एकान्त असत्य है, और अनेकान्त सत्य। स्यात् शब्द
अनेकान्त का गौतक है, अतः यह एकान्त को अनेकान्त बनाता है,
दूसरे शब्दों में कहें तो असत्य को सत्य बनाता है। आचार्य मिद्धसेन
की दार्शनिक एवं आलंकारिक वाणी में यह स्यात् वह अमोघ स्पर्शरस
है, जो लोभ को खोना बना देता है। 'नवास्तव स्यात्पदसाध्विना इमे,
रसोपदिग्धा इव सोदधातवः।'

एक आचार्य सत्य महाजन के ३६ मंत्रों का निरूपण करते हैं।
मोह, लोभ, मय और हास्य इन चार कारणों से झूठ बोला जाता है।
अस्य, उक्त चार कारणों से न सत्य मन से असत्यवाचरण करना, न
मन से दूसरों से कहना, न मन से अनुमोदन करना, इस प्रकार मनो-

योग के १२ भंग हो जाते हैं। इसी प्रकार वचन के १२ और शरीर १२, सब मिलकर सत्य महाव्रत के ३६ भंग होते हैं।

अचौर्य महाव्रत

अचौर्य, अस्तेय एवं अदत्तादानविरमण सब एकार्थक हैं। अचौर्य, अहिंसा और सत्य का ही विराट रूप है। केवल छिपकर या चलात्कार-पूर्वक किसी व्यक्ति की वस्तु एवं धन का हरण कर लेना ही स्तेय नहीं है, जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। अन्यायपूर्वक किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का अधिकार हरण करना भी चोरी है। जैन-धर्म का यदि सूक्ष्म निरीक्षण करें तो मालूम होगा कि भूख से तंग आकर उदरपूर्त के लिए चोरी करने वाले निर्धन एवं असहाय व्यक्ति स्तेय पाप के उतने अधिक अपराधी नहीं हैं जितने कि निम्न श्रेणी के बड़े माने जाने वाले लोग।

(१) अत्याचारी राजा या नेता, जो अपनी प्रजा के न्यायप्राप्त राज-नीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों का अपहरण करता है।

(२) अपने को धर्म का ठेकेदार समझने वाले संकीर्ण-हृदय, समृद्धिशाली, ऊँची जाति के सवर्ण लोग; भ्रान्तिग्रस्त जो नीची जाति के कहे जाने वाले निर्धन लोगों के धार्मिक, सामाजिक तथा नागरिक अधिकारों का अपहरण करते हैं।

(३) लोभी जमींदार, जो गरीब किसानों का शोषण करते हैं, उन पर अत्याचार करते हैं।

(४) मिल और फैक्ट्रियों के लोभी मालिक, जो मजदूरों को पेट-भर अन्न न देकर सबका सब नफ़ा स्वयं हड़प जाते हैं।

(५) लोभी साहूकार, जो दूना-तिगुना सद्द लेते हैं और गरीब लोगों की जायदाद आदि अपने अधिकार में लाने के लिए सदा सचिन्त रहते हैं।

(६) धूर्त व्यापारी, जो वस्तुओं में मिलावट करते हैं, उच्चिन्न मूल्य से प्रसादां दाम लेते हैं, और कम सोचते हैं ।

(७) मूर्खगौरव्याधीन तथा अन्य अधिपत्ति गण; जो वेतन पाते हुए भी अपने कर्तव्य वाचन में प्रमाद करते हैं और विरत लेते हैं ।

(८) लोभी पत्नी, जो केवल जीत के लोभ से झूठे सुन्दरमे लफाते हैं और जानते हुए भी निरपराध लोगों को दण्ड दिलाते हैं ।

(९) लोभी वैद्य, जो रोगी का ध्यान न रखकर केवल पीछ का लोभ रखते हैं और ठीक औषधि नहीं देते हैं ।

(१०) वे सब लोग, जो अ-शाय पूर्ण किसी भी अनुचित रीति से किसी व्यक्ति का धन, वस्तु, समय, भय और शक्ति का आचरण एवं अन्वय करते हैं ।

अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य अथवा चोर की साधना करने वालों को उक्त सब पाप व्यापारों से बचना है, अत्यन्त सावधानी से बचना है । जरा-सा भी यदि कहीं चोरी का छेद होगा तो आत्मा का पतन अवश्यभावी है । जैन-ग्रन्थ भी इस प्रकार की चोरी से बचकर रहता है, और जैन भ्रमण तो पूर्णरूप से चोरी का त्यागी होता ही है । यह मन, ध्यान और कर्म से न स्वयं किसी प्रकार की चोरी करता है, न दूसरों से करवाता है, और न चोरी का अनुमोदन ही करता है । और तो क्या, यह दाँत कुदेदने के लिये तिनका भी बिना आज्ञा ग्रहण नहीं कर सकता है । यदि साधु कहीं जंगल में हो, वहाँ वृक्ष, पत्थर, पत्थर अथवा वृक्ष के नीचे छाया में बैठने और वहाँ शौच करने की आवश्यकता हो तो शास्त्रोक्त विधि के अनुसार उसे इन्द्रदेव की ही आज्ञा लेनी होती है । अभिप्राय यह है कि बिना आज्ञा के कोई भी वस्तु न ग्रहण की जा सकती है और न उसका दृष्टिकोण उपयोग ही किया जा सकता है । पाठक इसके लिए अत्युक्ति का भय करते होंगे । परन्तु साधक को इस रूप में मन पालन के लिए सतत जाग्रत रहने की शक्ति मिलती

है। व्रतपालन के क्षेत्र में तनिक सा शैथिल्य (ढील) किसी भी भारी अनर्थ का कारण बन सकता है। आप लोगों ने देखा होगा कि तम्बू की प्रत्येक रस्ती खूँटे से कस कर बाँधी जाती है। किसी एक के भी थोड़ी सी ढीली रह जाने से तम्बू में पानी आ जाने की सम्भावना बनी रहती है।

अस्तु, अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए साधु को बार-बार आज्ञा ग्रहण करने का अभ्यास रखना चाहिए। गृहस्थ से जो भी चीज ले, आज्ञा से ले। जितने काल-के लिए ले, उतनी देर ही रखे, अधिक नहीं। गृहस्थ आज्ञा भी देने को तैयार हो, परन्तु वस्तु यदि साधु के ग्रहण करने के योग्य न हो तो न ले। क्योंकि ऐसी वस्तु लेने से देवाधि-देव तीर्थंकर भगवान की चोरी होती है। गृहस्थ आज्ञा देने वाला हो, वस्तु भी शुद्ध हो, परन्तु गुरुदेव की आज्ञा न हो तो फिर भी ग्रहण न करे। क्योंकि शास्त्रानुसार यह गुरु अदत्त है, अर्थात् गुरु की चोरी है।

एक आचार्य तीसरे अचौर्य महाव्रत के ५४ भंगों का निरूपण करते हैं। अल्प = थोड़ी वस्तु, बहु = अधिक वस्तु, अणु = छोटी वस्तु, स्थूल = स्थूल वस्तु, सचित्त = शिष्य आदि, अचित्त = वस्त्र पात्र आदि। उक्त छः प्रकार की वस्तुओं की न स्वयं मन से चोरी करे, न मन से चोरी कराए, न मन से अनुमोदन करे। ये मन के १८ भंग हुए। इसी प्रकार वचन के १८, और शरीर के १८, सब मिलकर ५४ भंग होते हैं। अचौर्य महाव्रत के साधक को उक्त सब भंगों का दृढ़ता से पालन करना होता है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

ब्रह्मचर्य अपने आप में एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति है। शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक आदि सभी ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं। ब्रह्मचर्य वह आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, जिसके द्वारा मानव-समाज पूर्ण सुख और शान्ति को प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्य की महत्ता के सम्बन्ध में भगवान् महावीर कहते हैं कि देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और निम्नर आदि सभी दैवी शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरखा में घुसाम करती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्य की साधना बड़ी ही कठोर साधना है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वस्तुतः वे एक बहुत बड़ा दुष्कर कार्य करते हैं—

देव-दाणव-गन्धर्वाः,

जकर-रकरस-किन्तरा ।

यमयारि नमसंति,

हुक्करं जे करंति ते ॥

—उत्तराध्यायन सूत्र

भगवान् महावीर की उन्मुक्त वाणी को आचार्य भी शुभचन्द्र भी प्रकारान्तर से बुरा रहे हैं—

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं,

ब्रह्मचर्यं

जगत्प्रियं ।

यद्-विशुद्धिं समापन्नाः,

पूज्यन्ते

पूजितैरपि ॥

—शानार्णव

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोक्ना होता है। यह वेग बड़ा ही भयंकर है। जब आता है तो उड़ी से बड़ी शक्तियाँ भी लाचार हो जाती हैं। मनुष्य जब वासना के दाव का खिलौना बनता है तो बड़ी दयनीय स्थिति में पहुँच जाता है। वह श्रमभेदन का कुछ भी मान नहीं रखता, एक प्रकार से पागल-सा हो जाता है। धन्य हैं वे महापुरुष, जो इस वेग पर नियंत्रण रखते हैं और मन को अपना दाम बना कर रखते हैं। महाभारत में व्यास की बाणी है कि—
'जो पुरुष वाणी के वेग को, मन के वेग को, क्रोध के वेग को, काम

करने की इच्छा के वेग को, उदर के वेग को, उपस्थ (कामवासना) के वेग को रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ ।

वाचो वेगं, मनसः क्रोध-वेगं,
विधित्सा-वेगमुदरोपस्थ-वेगम् ।
एतान् वेगान् यो विपहेदुदीर्णास्
तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥

(महा० शान्ति० २६६ । १४)

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग में वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखना ही नहीं है । ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत व्यापक क्षेत्र है । अतः उपस्थेन्द्रिय के संयम के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों का निरोध करना भी आवश्यक है । वह जितेन्द्रिय साधक ही पूर्ण ब्रह्मचर्य पाल सकता है, जो ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले उत्तेजक पदार्थों के खाने, कामोदीपक दृश्यों के देखने, और इस प्रकार की वार्ताओं के सुनने तथा ऐसे गन्दे विचारों को मन में लाने से भी बचता है ।

आचार्य शुभचन्द्र ब्रह्मचर्य की साधना के लिए निम्नलिखित दश प्रकार के मैथुन से विरत होने का उपदेश देते हैं—

- (१) शरीर का अनुचित संस्कार अर्थात् कामोत्तेजक शृङ्गार आदि करना ।
- (२) पौष्टिक एवं उत्तेजक रसों का सेवन करना ।
- (३) वासनामय नृत्य और गीत आदि देखना, सुनना ।
- (४) स्त्री के साथ संसर्ग = घनिष्ठ परिचय रखना ।
- (५) स्त्री सम्बन्धी संकल्प रखना ।
- (६) स्त्री के मुख, स्तन आदि अंग-उपांग देखना ।
- (७) स्त्री के अंग दर्शन सम्बन्धी संस्कार मन में रखना ।
- (८) पूर्व भोगे हुए काम भोगों का स्मरण करना ।

ब्रह्मचर्य की महत्ता के सम्बन्ध में भगवान् महावीर कहते हैं कि देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी दैवी शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरणों में प्रणाम करनी हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्य की साधना बड़ी ही बड़ोरा साधना है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वस्तुतः वे एक बहुत बड़ा दुस्तर कार्य करते हैं—

देव-दास्य-गन्धर्वा,

जकर-रक्षस-किन्नरा ।

भभयारि नमसंति,

हुक्करं जे करंति ते ॥

—उत्तराभ्ययन-सूत्र

भगवान् महावीर की उक्त वाणी को आचार्य भी शुभचन्द्र भी प्रसारणार्थ से दुरा रहे हैं—

एकमेव मतं श्लाघ्यं,

ब्रह्मचर्यं

जगत्प्रियं ।

यद्-विशुद्धिं समापन्नाः,

पूज्यन्ते

पूजितैरपि ॥

—शानार्णव

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोकना होता है। यह वेग बड़ा ही भयंकर है। जब आता है तो बड़ी से बड़ी शक्तियाँ भी लाचार हो जाती हैं। मनुष्य जब वासना के हाथ का लिलौना बनता है तो बड़ी दफ्तीय स्थिति में पहुँच जाता है। वह आश्लेषण का कुछ भी भान नहीं रखता, एक प्रकार से पागल-सा हो जाता है। धन्य हैं वे महापुरुष, जो इस वेग पर नियंत्रण रखते हैं और मन को अपना दास बना कर रखते हैं। महाभारत में व्यास की वाणी है कि—
'जो पुरुष वाणी के वेग को, मन के वेग को, क्रोध के वेग को, काम

रहते हैं और जनता में भी सुख का प्रवाह बहाते हैं। परन्तु जब उक्त व्रत का यथार्थ रूप से पालन नहीं होता है तो समाज में बड़ा भयंकर हाहाकार मच जाता है। आज समाज की जो दयनीय दशा है, उसके मूल में यही आवश्यकता से अधिक संग्रह का विपर रहा हुआ है। आज मानव-समाज में जीवनोपयोगी सामग्री का उन्नित पद्धति से वितरण नहीं है। किसी के पास सैकड़ों मकान खाली पड़े हुए हैं तो किसी के पास रात में सोने के लिए एक छोटी-सी भोंगड़ी भी नहीं है। किसी के पास अन्न के सैकड़ों कोठे भरे हुए हैं तो कोई दाने-दाने के लिए तरसता भूखा मर रहा है। किसी के पास संदूकों में बंद सैकड़ों तरह के वस्त्र सड़ रहे हैं तो किसी के पास तन ढाँगे के लिए भी कुछ नहीं है। आज की सुख सुविधाएँ मुट्ठी भर लोगों के पास एकत्र हो गई हैं और शेष समाज अभाव से ग्रस्त है। न उसकी भौतिक उन्नति ही हो रही है और न आध्यात्मिक। सब ओर भुखमरी की महामारी जनता का सर्व ग्रास करने के लिए मुँह फैलाए हुए है। यदि प्रत्येक मनुष्य के पास केवल उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही सुख-सुविधा की साधन-सामग्री रहे तो कोई मनुष्य भूखा, गृहहीन एवं असहाय न रहे। भगवान् महावीर का अग्रिग्रहवाद ही मानव जाति का कल्याण कर सकता है, भूखी जनता के आँसू पोंछ सकता है।

भगवान् महावीर ने गृहस्थों के लिए मर्यादित अग्रिग्रह का विधान किया है, परन्तु भिक्षु के लिए पूर्ण अग्रिग्रही होने का। भिक्षु का जीवन एक उत्कृष्ट धर्म जीवन है, अतः वह भी यदि परिग्रह के जाल में फँसा रहे तो क्या खाक धर्म की साधना करेगा? फिर गृहस्थ और भिक्षु में अन्तर ही क्या रहेगा?

जैन धर्मग्रन्थों में परिग्रह के निम्न लिखित नौ भेद किए हैं। गृहस्थ के लिए इनकी अमुक मर्यादा करने का विधान है और भिक्षु के लिए पूर्ण रूप से त्याग करने का।

(१) क्षेत्र—जंगल में खेती-बाड़ी के उपयोग में आने वाली धान्य

(६) भविष्य के काम भोगों की चिन्ता करना ।

(१०) परस्पर रतिकर्म अर्थात् सम्भोग करना ।

जैन भिक्षु उक्त सब प्रकार के मैथुनों का पूर्ण त्यागी होता है । यह मन, वचन और शरीर से न स्वयं मैथुन का सेवन करता है, न दूसरों से सेवन करवाता है, और न अनुमोदन ही करता है । जैन भिक्षु एक दिन की जन्मी हुई वस्त्री का भी स्पर्श नहीं कर सकता । उस के स्थान पर रात्रि को कोई भी स्त्री नहीं रह सकती । भिक्षु की माता और बहन को भी रात्रि में रहने का अधिकार नहीं है । जिस मकान में स्त्री के चिन हो उसमें भी भिक्षु नहीं रह सकता है । यही बात साध्वी के लिए पुरुषों के सम्बन्ध में है ।

एक आचार्य अनुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत के २७ भंग बतलाते हैं । देवता सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी और तिर्यञ्च सम्बन्धी तीन प्रकार का मैथुन है । उक्त तीन प्रकार का मैथुन न मन से सेवन करना, न मन से सेवन करवाना, न मन से अनुमोदन करना, ये मनः सम्बन्धी ६ भंग होते हैं । इसी प्रकार वचन के ६, और शरीर के ६, सब मिलकर २७ भंग होते हैं । महाव्रती साधक को उक्त सभी भंगों का निरतिचार पालन करना होता है ।

अपरिग्रह महाव्रत

धन, सम्पत्ति, भोग सामग्री आदि किसी भी प्रकार की वस्तुओं का ममत्त्व मूलक संग्रह करना परिग्रह है । जब मनुष्य अपने ही भोग के लिए स्वार्थ-सुद्धि से आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो यह परिग्रह बहुत ही भयंकर हो उठता है । आवश्यकता की यह परिभाषा है कि आवश्यक वह वस्तु है, जिसने बिना मनुष्य की जीवन यात्रा, सामाजिक मर्यादा एवं धार्मिक नियम निर्दिष्टता पूर्वक न चल सके । अर्थात् जो सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान में साधन-रूप से आवश्यक हो । जो गृहस्थ इस नीति मार्ग पर चलते हैं, वे तो स्वयं भी सुखी

रखता है, ममत्वबुद्धि से नहीं। ममत्व बुद्धि से रखा हुआ उपकरण जैनसंस्कृति की भाषा में उपकरण नहीं रहता, आधिकरण हो जाता है, अनर्थ का मूल बन जाता है। कितना ही अच्छा सुन्दर उपकरण हो, जैनश्रमण न उस पर मोह रखता है, न अपने-पन का भाव लाता है, न उसके खोए जाने पर आतर्ध्यान ही करता है। जैन भिक्षु के पास वस्तु केवल वस्तु बनकर रहती है, वह परिग्रह नहीं बनती। क्योंकि परिग्रह का मूल मोह है, मूर्च्छा है, आसक्ति है, ममत्व है। साधक के लिए यही सबसे बड़ा परिग्रह है। आचार्य शय्यभवन दशवैकालिक सूत्र में भगवान् महावीर का सन्देश सुनाते हैं—‘मुच्छा परिग्रहो बुद्धो नाद्विपुनेण तादृणा।’ आचार्य उमास्वाति कहते हैं—‘मूर्च्छा परिग्रहः।’ मूर्च्छा का अर्थ आसक्ति है। किसी भी वस्तु में, चाहे वह छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य एवं आभ्यन्तर आदि किसी भी रूप में हो, अपनी हो या पराई हो, उसमें आसक्ति रखना, उसमें बँध जाना, एवं उसके पीछे पड़कर अपना आत्म-विवेक खो बैठना, परिग्रह है। बाह्य वस्तुओं को परिग्रह का रूप यह मूर्च्छा ही देती है। यही सबसे बड़ा विषय है। अतः जैनधर्म भिक्षु के लिए जहाँ बाह्य धन, सम्पत्ति आदि परिग्रह के त्याग का विधान करता है, वहाँ ममत्व भाव आदि अन्तरंग परिग्रह के त्याग पर भी विशेष बल देता है। अन्तरंग परिग्रह के मुख्य रूपेण चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—

मिथ्यात्व-वेदरागा,

दोषा हास्यादयोऽपि पट् चैव ।

चत्वारश्च कषायाश्,

चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥

जैनश्रमण का एक बहुत सुप्रसिद्ध नाम निग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्र के शब्दों में निग्रन्थ का अर्थ है—ग्रन्थ अर्थात् गाँठ से रहित।

भूमि को छेज कहते हैं। यह दो प्रकार का है—सेतु और वेतु। नहर, कुआ आदि कृत्रिम माधनों से भीनी जाने वाली भूमि को सेतु कहते हैं और केवल वर्षा के प्राकृतिक जल से सीनी जाने वाली भूमि को वेतु।

(२) वास्तु—प्राचीन काल में घर को वास्तु कहा जाता था। यह तीन प्रकार का होता है—सात, उभिन्न और सातोभिन्न। भूमिश्च अर्थात् तलपर को 'सात' कहते हैं। नीर खोदकर भूमि के ऊपर बनाया हुआ महल आदि 'उभिन्न' और भूमिश्च के ऊपर बनाया हुआ भवन 'सातोभिन्न' कहलाता है।

(३) हिरण्य—आभूषण आदि के रूप में गढ़ी हुई तथा बिना गढ़ी हुई चाँदी।

(४) सुवर्ण—गढ़ा हुआ तथा बिना गढ़ा हुआ सभी प्रकार का स्वर्ण। हीरा, पद्मा, मोती आदि जवाहरत भी इसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(५) धन—शुद्ध, शकर आदि।

(६) धान्य—चावल, गेहूँ गजण आदि।

(७) द्विपद—दास, दासी आदि।

(८) चतुष्पद—हाथी, घोड़ा, गाय आदि पशु।

(९) सुप्य—पात्र के गने हुए पात्र, कुरसी, मेज आदि घर-गृहस्थी के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ।

जैनभगवन् उक्त सब परिग्रहों का मन, वचन और शरीर से न स्वयं संग्रह करता है, न दूसरों से करवाता है और न करने वालों का अनुमोदन ही करता है। यह पूर्णरूपेण असंग, अनासक्त, अविचन कृत्ति का धारक होता है। कौडीभात्र परिग्रह भी उसके लिए रिप है। और तो क्या, यह अपने शरीर पर भी ममत्त्व भाव नहीं रख सकता। वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि जो कुछ भी उपकरण अपने पास रखता है, वह सब संवम-यात्रा के सुचारु रूप से पालन करने के निमित्त ही

यह निष्कर्ष हम ही नहीं निकाल रहे हैं, अपितु सनातन धर्म के सुप्रसिद्ध भक्तराज जयदयालजी गोयनका भी गोरखपुर से प्रकाशित गीतांक में लिखते हैं—‘सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों के कार्य को ‘त्रैगुण्य’ कहते हैं। अतः समस्त भोग और ऐश्वर्य मय पदार्थों और उनकी प्राप्ति के उपायभूत समस्त कर्मों का वाचक यहाँ ‘त्रैगुण्य’ शब्द है। उन सब का अङ्ग-प्रत्यङ्गों सहित वर्णन जिन (ग्रन्थों) में वर्णन हो, उनको ‘त्रैगुण्यविषयाः’ कहते हैं। यहाँ वेदों को ‘त्रैगुण्यविषयाः’, बतला कर यह भाव दिखलाया है कि वेदों में कर्मकाण्ड का वर्णन अधिक होने के कारण वेद ‘त्रैगुण्यविषय’ हैं।’

केवल वेद ही नहीं, अन्यत्र भी आपको अनेकों ऐसे प्रसंग मिलेंगे, जहाँ ब्राह्मण संस्कृति के भौतिकवाद का मुक्त समर्थन मिलता है। श्रीमद्-भागवत के दशम स्कन्ध में ईश्वरीय अवतार कहे जानेवाले श्रीकृष्णचन्द्रजी के जीवन का वर्णन कितना भोग-प्रधान है, कितना नग्न शृंगारमय है, इसे हर कोई पाठक देख-सुन सकता है। जब कि ईश्वरीय रूप रखने वालों की यह स्थिति है, तब साधारण जनता की क्या स्थिति होनी चाहिए, यह स्वयं निर्णय किया जा सकता है।

अधिक लिखने का यहाँ प्रसंग नहीं है। अतः आइए, प्रस्तुत की चर्चा करें। श्रमण संस्कृति का मूलाधार त्वयं ‘श्रमण’ शब्द ही है। लाखों-करोड़ों वर्षों की श्रमण संस्कृति-सम्बन्धी चेतना आप अकेले श्रमण शब्द में ही पा सकते हैं। श्रमण का मूल प्राकृत ‘समण’ है। समण के संस्कृत रूपान्तर तीन होते हैं श्रमण, समन और शमन। ‘समण’ संस्कृति का वास्तविक मूलाधार इन्हीं तीन संस्कृत रूपों पर से व्यक्त होता है। प्राचीन ग्रन्थों की लंबी चर्चा न करके श्रीयुत इन्द्रचन्द्र एम. ए. वेदान्ताचार्य के संक्षिप्त शब्दों में ही हम भी

(१) ‘श्रमण’ शब्द ‘श्रम’ का अ. करना। यह शब्द

का अ.

है। देखिए, उसके सम्बन्ध में भगवद्गीता का दूसरा अध्याय क्या कहता है ?

त्रैगुण्य पिपया वेदा
निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो,
निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

—‘हे अर्जुन ! त्रय के त्रय वेद तीन गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिए तू उन भोगों एवं उनके साधनों में अलित रहकर, हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य परमात्मस्वरूप में स्थित, योगक्षेम की कल्पनाओं से परे आत्मवान् होकर विचरण कर ।’

यावानर्थ उदपाने,
सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
सावान् सर्वेषु वेदेषु
ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

—‘तब और से परिपूर्ण विशाल एवं अधाह जलाशय के प्राप्त हो जाने पर कुछ जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, आत्म-स्वरूप की जानने वाले ब्राह्मण का तब वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है, अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं रहता है ।

पाठक ऊपर के दो श्लोकों पर से विचार सकते हैं कि ब्राह्मण-संस्कृति का मूलाधार क्या है ? ब्राह्मण संस्कृति के मूल वेद हैं और वे प्रकृति के भोग और उनके साधनों का ही वर्णन करते हैं । आत्मतत्त्व की शिक्षा के लिए उनके पास कुछ नहीं है । भगवद्गीता वेदों को कुछ जलाशय की उम्मा देती है । वेदों का कुछत्व इसी बार में है कि वे-यज्ञ, यागादि क्रिया कार्यों का ही विधान करते हैं, ऐहिक भोग निरास एवं सुगों का सहल ही मानन के सामने रखते हैं, आत्म विद्या का नहीं ।

न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न किसी प्रकार का हिंसा का अनुमोदन ही करता है, अर्थात् सभी प्राणियों में समत्व-बुद्धि रखता है, वह श्रमण है।

मूल-सूत्र में ‘सममणइ’ शब्द आया है, उसकी व्याख्या करते हुए मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—सममणति ति-सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तते यतस्तेनासौ समणइति ।’ अण् धातु वर्तन अर्थ में है, और सम् उपसर्ग तुल्यार्थक है। अतः जो सब जीवों के प्रति सम् अर्थात् समान अणति अर्थात् वर्तन करता है, वह समण कहलाता है।

एतथ य से कोइ वेसो,

पिओ अ सब्वेसु चैव जीवेसु ।

एएण होइ समणो,

एसो अन्नो चि पज्जाओ ॥२॥

—जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको सभी जीव समानभाव से प्रिय हैं, वह श्रमण है। यह श्रमण का दूसरा पर्याय है।

आचार्य हेमचन्द्र उक्त गाथा के ‘समण’ शब्द का निर्वचन ‘सममन’ करते हैं। जिसका मत्र जीवों पर सम् अर्थात् समान मन अर्थात् हृदय हो वह सममना कहलाता है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यहाँ तो मूल में ‘समण’ शब्द है, एक मकार कहाँ चला गया ? आचार्य उत्तर देते हैं कि निरुक्त विधि से सममन के एक मकार का लोप हो गया है। आचार्य श्री के शब्दों में ही देखिए, प्रस्तुत गाथा की व्याख्या का उत्पान और उगसंहार। ‘तदेव’ सर्वजीवेषु समत्वेन सममणतीति समण इत्येकः पर्यायो दर्शितः। एवं समं मनोऽस्येति सममना इत्यन्योऽपि पर्यायो भवत्येवेति दृश्यन्नाह.....सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वाद्, अनेन भवति सत्रं मनोऽस्येति निरुक्तविधिना समना इत्येषोऽन्योपि पर्यायः।’

तो समणो जइ सुमणो,

भावेण जइ ए होइ पाव-मणो ।

अपने ही परिश्रम द्वारा कर सक्ता है। सुख दुःख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तर दायी है।

(२) समन का अर्थ है—समता भाव, अर्थात् सभी को आत्मज्ञत् समझना, सभी के प्रति समभाव रखना। दूसरों के प्रति व्यवहार की समीची आत्मा है। जो बात अपने को बुरी लगती है, वह दूसरों के लिए भी बुरी है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—यही हमारे व्यवहार का आधार होना चाहिए। समाज विज्ञान का यही मूलतत्त्व है कि किसी के प्रति राग या द्वेष न करना, शत्रु और मित्र को प्रत्यक्ष समझना, शत्रु पौत तथा अन्य भेदों को न मानना।

(३) समन का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शान्त रखना। [मनुष्य का जीवन ऊँचा नीचा अपनी वृत्तियों के अनुसार ही होता है। अकुशल वृत्तियों आत्मा का पतन करती हैं और कुशल वृत्तियों उत्थान। अकुशल अर्थात् दुर्दृष्टियों को शान्त रखना, और कुशल वृत्तियों का विकास करना ही भ्रमण साधना का परम उद्देश्य है—लेखक]

इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज का पराशर भ्रम, सम, और सम इन तीनों तत्त्वों पर आश्रित है। यह 'समण' संस्कृति का निचोड़ है। भ्रमण संस्कृति इसका संस्कृत में एकाद्री रूपान्तर है।"

अनुयोग द्वार सूत्र के उपक्रमाधिनार में भाव सामाधिक का निरूपण करते हुए भ्रमण शब्द के निर्वाचन पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रसंग की गाथाएँ यही ही भाग्यपूर्ण हैं—

जहं मम न पिय दुःखं,

जायिय एमेव सच्च-जीवाण ।

न हणइ न हणवेइ य,

सममणइ तेण सो समणो ॥१॥

—'जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है।' यह समझ कर जो

प्रश्न करने पर भगवान् ने उक्त शब्दों की विभिन्न रूप से अत्यन्त सुन्दर भाव-प्रधान व्याख्या की है।

लेखक का मन उक्त सभी नामों पर भगवान् की वाणी का प्रकाश डालना चाहता है, परन्तु यहाँ मात्र श्रमण शब्द के निर्वचन का ही प्रसंग है, अतः इनमें से केवल श्रमण शब्द की भावना ही भगवान् महावीर के प्रवचनानुसार स्पष्ट की जा रही है।

—“जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता है, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से भी रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सब से निवृत्त रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, संयमी है, मोक्ष मार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह ममत्त्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है।”

१ भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन स्वरूप उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही कहा है कि केवल मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता, श्रमण होता है समता की साधना से। ‘न वि मुण्डिण समणो’ ‘समयाण समणो होइ।’

करुणा मूर्ति तथागत बुद्ध ने भी धम्म पद के धम्मट्ठ वग्ग में श्रमण शब्द के निर्वचन पर कुछ ऐसा ही प्रकाश डाला है—

न मुण्डकेन समणो अच्वतो अलिकं भणं।

इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥ ६ ॥

—जो व्रत-हीन है, जो मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा-लोभ से भरा (मनुष्य) क्या श्रमण बनेगा ?

यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सच्चसो।

समितत्ता हि पापानं समणो’ति पवुच्चति ॥ १० ॥

—जो सब छोटे-बड़े पाप का शमन करता है, उसे पापों का शमन-कर्ता होने के कारण से श्रमण कहते हैं।

सयणे य जणे य समो;

समो अ माणावमाणेसु ॥३॥

—भमण सुमना होना है, वह कभी भी पागमन नहीं होता । अर्थात् जिसका मन सदा प्रसुम्भित रहता है, जो कभी भी पागमन चिन्तन नहीं करता, जो स्वजन और परजन में तथा मान और अमान में बुद्धि का उचित समुत्पन्न रहता है, वह भमण है ।

आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का समोदघाटन करते हुए भमण का अर्थ तपस्वी करते हैं । अर्थात् जो अपने ही भ्रम से तपसाधना से मुक्ति लाभ करते हैं वे भमण कहलाते हैं—‘आम्यन्तीति समसा तपस्वन्तीत्यर्थः ।’

आचार्य शीलाक भी सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम भुतस्कन्धान्तर्गत १६ वें अध्ययन में भमण शब्द की यही भ्रम और तप सम्बन्धी व्याख्या प्रयोग कर रहे हैं—‘आम्यति तपसा तिष्ठत इति कृत्वा भ्रमणो वाक्योऽयं तपः तुल्यं मित्रादिषु मम —अन्तःकरण परस्व से सममता सर्वत्र वासीचन्द्रनक्षत्र इत्यर्थः ।’

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम भुत स्कन्धांतर्गत १६ वें गाथा अध्ययन में भगवान् महावीर ने साधु के मादन^१ (माहण), भ्रमण, मिष्टु^२ और निर्मन्थ^३ इस प्रकार चार सुपसिद्ध नामों का वर्णन किया है । साधक^४ के

१ किसी भी प्राणी का हनन न करे, यह प्रवृत्ति जिसकी है, यह मादन है । ‘माहणसि प्रवृत्तिर्यस्यास्तौ माहनः ।’ आचार्य शीलाक, सूत्र कृतांग वृत्ति १।१६।

२ जो शास्त्र की नीति के अनुसार तप साधना के द्वारा कर्म प्रवृत्ति का भेदन करता है, वह मिष्टु है । ‘य शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स मिष्टुः ।’—आचार्य हरिभद्र, दशवैकालिक वृत्ति दशम अध्ययन ।

३ जो प्रायः अर्थात् जल और आम्यतर परिग्रह से रहित होता है, कुछ भी छुपाकर गोंठ बाँधकर नहीं रखता है, वह निर्मन्थ है । ‘निर्गतो प्रधाद निर्मन्थः ।’ आचार्य हरिभद्र, दशवैकालिक वृत्ति प्रथम अध्ययन ।

: = :

आवश्यक का निर्वचन

निर्वचन का अर्थ है—संयुक्त पद को तोड़ कर अर्थ का स्पष्टीकरण करना । उदाहरण के लिए पंकज शब्द को ही लीजिए । पंकज का शाब्दिक निर्वचन है—‘पंकाज्जायते इति पंकजः’ । ‘जो पंक से उत्पन्न हो, वह कमल ।’ इसी निर्वचन की दृष्टि को लेकर प्रश्न है कि—आवश्यक का शाब्दिक निर्वचन क्या है ?

आवश्यक का निर्वचन अनेकों आचार्यों ने किया है । अनुयोगद्वार-सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलधारी हेमचन्द्र, आवश्यक-सूत्र के टीकाकार आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि, और विशेषावश्यक महाभाष्य के टीकाकार आचार्य कोटि इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हैं । पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ कोट्याचार्य के द्वारा विशेषावश्यक-टीका में बताये गए निर्वचन उपस्थित करते हैं ।

(१) अवश्यं करणाद् आवश्यकम् ।^१ जो अवश्य किया जाय वह आवश्यक है । साधु और श्रावक दोनों ही नित्य प्रति अर्थात् प्रति दिन क्रमशः दिन और रात्रि के अन्त में सामायिक आदि की साधना करते हैं, अतः वह साधना आवश्यक-पद-वाच्य है । उक्त निर्वचन अनुयोग-द्वार-सूत्र की निम्नोक्त गाथा से सहमत है :—

समणेण सावएण य,

अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा ।

१ ‘अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम् । श्रमणादिभिरवश्यम् उभयकालं क्रियत इति भावः ।’—आचार्य मलयगिरि ।

क्षण गुजरते चले जाते हैं। उनके लिए साधारण कनन कामिनी आदि नियम ही आवश्यक हैं। परन्तु जो अन्तर्दृष्टि है, जिनके विचारों का आत्मा की ओर झुकाव है, जो दृष्टिक वैयक्तिक मुग्न में मुग्न न होकर स्थायी आत्म-कल्याण के लिए सतत संवेष्ट है, उनका आवश्यक आध्यात्मिक-साधना रूप है।

अन्तर्दृष्टि वाले सज्जन साधक कहलाते हैं, उन्हें कोई भी जगत् पदार्थ अपने सौन्दर्य से नहीं लुभा सकता, अस्तु उनका आवश्यक कर्म यही हो सकता है, जिसके द्वारा आत्मा सहज स्थायी मुग्न का अनुभव करे, कर्म मल को दूर कर सहज स्वाभाविक निर्मलता प्राप्त करे, सदा काल के लिए सब दुःखों से छूट कर अन्त में अजर अमर पद प्राप्त करे। यह अजर, अमर, सहज, स्वाभाविक अनन्त मुग्न तभी की आत्मा को प्राप्त हो सकता है, जबकि आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य रूप अध्यात्म-ज्योति का पुष्पतया विकास हो। और इस अध्यात्म-ज्योति का विकास बिना आवश्यक निष्ठा के कथमपि नहीं हो सकता। मतलब प्रसंग में इसी आध्यात्मिक आवश्यक का वर्णन करना अभीष्ट है और संक्षेप में इस आध्यात्मिक आवश्यक का स्वरूप परिचय इतना ही है कि सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का पूर्ण विकास करने के लिए, जो निष्ठा अर्थात् साधना अवश्य करने योग्य है, यही आवश्यक है।

(५) गुणैर्वा आवासकं = अनुरञ्जकं वस्त्रधूपादिवत् । आवस्सय का संस्कृत रूप जो आवासक होता है, उसका अर्थ है—‘अनुरंजन करना’ । जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से अनुरंजित करे, वह आवासक ।

(६) गुणैर्वा आत्मानं आवासयति = आच्छादयति, इति आवासकम् । वस् धातु का अर्थ आच्छादन करना भी होता है । अतः जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा आत्मा को आवासित = आच्छादित करे, वह आवासक है । जब आत्मा ज्ञानादि गुणों से आच्छादित रहेगा तो दुर्गुण-रूप धूल आत्मा पर नहीं पड़ने पाएगी ।

‘आवस्सय’ ‘आवश्यक’ के ऊपर जो निर्वचन दिए गए हैं, उनकी आधार-भूमि, जिन भद्र गणी क्षमाश्रमण का विशेषावश्यक भाष्य है । जिज्ञासु पाठक ८७७ और ८७८ वीं गाथा देखने की कृपा करें ।

अन्तो अहो—निसस्स य

तम्हा आवस्सयं नाम ॥

(२) आषाधयो वा इदं गुणानाम्, प्राकृत्यैत्या आवस्सय । प्राकृत भाषा में आधार वाचक आषाधय शब्द भी 'आवस्सय' कहलाता है । जो गुणों की आधार भूमि हो, वह आवस्सय = आधारभय है । आवश्यक आध्यात्मिक समता, मज्जना, आत्मनिरीक्षण आदि सद्गुणों का आधार है, अतः यह आषाधय भी कहलाता है ।

(१) गुणानां वरयमात्मानं करोतीति ।^१ जो आत्मा को दुर्गुणों से दूर कर गुणों के आधीन करे, वह आनन्दयक है । आ + वरय, आनन्दय ।

(४) गुणशून्यमात्मानं गुणैरनासयतीति आवासकम् । गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से वासित करे, वह आवश्यक है । प्राकृत में आवासक भी 'आवस्सय' बन जाता है । गुणों से आत्मा को वासित करने का अर्थ है—गुणों से युक्त करना ।

१ 'ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वरणा इन्द्रिय-कषायादिभोज-
शत्रवो यस्मात् तद् आवश्यकम्' । आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि इन्द्रिय
और कषाय आदि भावशत्रु जिस साधना के द्वारा ज्ञानादि गुणों के
वश्य लिए जायें, अर्थात् पराजित लिए जायें, वह आवश्यक है । अथवा
ज्ञानादि गुण समूह और मोक्ष पर जिस साधना के द्वारा अधिकार किया
जाय, वह आवश्यक है । 'ज्ञानादि गुण कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद्
वरय क्रियतेऽनेन इत्यावश्यकम् ।'

दिगंबर जैनाचार्य उद्देर मूलान्तर में कहते हैं कि जो साधक राग,
द्वेष, विषय, कषायादि व यशीभूत न हो वह अवश कहलाता है, उस
अवश का जो आचरण है, वह आवश्यक है ।

'य वसो अवसो, अउसस्स वम्मिमावासयेत्ति वोऽन्ना ।'

ध्रुव कहलाता है। अस्तु, जो कर्म और कर्मफलस्वरूप संसार का निग्रह करता है, वह ध्रुव निग्रह है।

४. विशोधि—कर्ममलिन आत्मा की विशुद्धि का हेतु होने से आवश्यक विशोधि कहलाता है।

५. अध्ययन पट्कवर्ग—आवश्यक-सूत्र के सामायिक आदि छह अध्ययन हैं, अतः अध्ययन पट्क वर्ग है।

६. न्याय—अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक् उपाय होने से न्याय है। अथवा आत्मा और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का अपनयन करने के कारण भी न्याय कहलाता है। आवश्यक की साधना आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करती है।

७. आराधना—मोक्ष की आराधना का हेतु होने से आराधना है।

८. मार्ग—मोक्षपुर का प्रापक होने से मार्ग है। मार्ग का अर्थ उपाय है।

उपर्युक्त पर्यायवाची शब्द थोड़ा-सा अर्थ भेद रखते हुए भी मूलतः समानार्थक हैं।

: ६ :

आवश्यक के पर्याय

पर्याय, अर्थात्तर का नाम है। एक पदार्थ के अनेक नाम परस्पर पर्यायवाची कहलाते हैं, जैसे—जल के बारि, पय, सलिल, नीर, तोय आदि पर्याय हैं। प्रस्तुत में प्रश्न है कि आवश्यक के कितने पर्याय हैं ?

अनुयोग द्वार-खून में आवश्यक के अवश्य-करणीय, भ्रूयनिग्रह विशेषि, चाय, आराधना, भाग आदि पर्याय उदाण गए हैं—

‘आवस्तय अधस्त-रणिज्जं,

धुयनिगहो पिसोही य ।

अ० भयण-द्वकृषगो,

नाथो आराहणा मगो ।’

१ आवश्यक—अवश्य करने योग्य कार्य आवश्यक कहलाता है। सामायिक आदि की साधना साधु साध्वी भावक और भाविता के द्वारा अवश्य रूप से करने योग्य है, अतः आवश्यक है। ‘अवश्य क्रियते आवश्यकम् ।’

२ अवश्यकरणीय—मुमुक्षु साधनों के द्वारा निवर्त्तेन अनुष्ठेय होने के कारण अवश्य करणीय है ।

३ भ्रूयनिग्रह—अनादि होने के कारण कर्मों को भ्रूय पड़ते हैं। कर्मों का चल जल जल मरणादि संसार भी अनादि है, अतः वह भी

जिगाणमणाणाए सच्छंदं हिहरिऊण उभञ्चो कालं आवस्सयस्स उव-
ट्ठंति; से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं ।”

भाव आवश्यक का अर्थ है—अन्तरंग उपयोग के साथ, लोक तथा परलोक की वासना रहित, यश कीर्ति सम्मान आदि की अभिलाषा से शून्य, मन वचन शरीर को निश्चल, निष्प्रकम्प, एकाग्र बना कर, आवश्यक की मूल भावना में उतर कर, दिन और रात्रि के जीवन में जिनाशा के अनुसार विचरण कर आवश्यक सम्बन्धी मूल-पाठों के अर्थों पर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करते हुए, केवल निजात्मा को कर्म-मल से विशुद्ध बनाने के लिए जो दोनों काल सामायिक आदि की साधना की जाती है, वह भाव आवश्यक होता है ।

यह भाव आवश्यक ही यहाँ आवश्यकत्वेन अभिमत है । इसके बिना आवश्यक क्रिया आत्म-विशुद्धि नहीं कर सकती । यह भाव आवश्यक ही वस्तुतः योग है । योग का अर्थ है—‘मोक्षेण योजनाद् योगः ।’ वाचक । यशो विजय जी, ज्ञान-सार में कहते हैं—जो मोक्ष के साथ योजन = सम्बन्ध कराए, वह योग कहलाता है । भाव आवश्यक में हम साधक लोग, अपनी चित्तवृत्ति को संसार से हटा कर मोक्ष की ओर केन्द्रित करते हैं, अतः वह ही वास्तविक योग है । प्राणायाम आदि हठयोग के हथकण्डे केवल शारीरिक व्यायाम है, मनोरंजन है, वह हमें मोक्ष-स्वरूप की भोंकी नहीं दिखा सकता ।

भाव आवश्यक का स्वरूप, अनुयोग द्वार सूत्र में देखिए :—

“जं णं इमे समणो वा समणी वा, सावञ्चो वा, साविआ वा तच्चित्ते, तम्मणो, तद्धेसे, तद्वज्जवसिण, तत्तिव्वज्जमसाणो, तद्वोवउत्ते, तद्विषयकरणे, तव्भावणाभाविण, अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरोमाणे उभञ्चो कालं आवस्सयं करंति; से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं ।”

: १० :

द्रव्य और भाव आवश्यक

जैन-दर्शन में द्रव्य और भाव का बहुत गंभीर एवं सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। यहाँ प्रायेक साधना एवं प्रत्येक विचार को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाना है। उद्दिष्टि वाले लोग द्रव्य प्रधान होते हैं, जब कि अन्तर्दृष्टि वाले लोग भाव प्रधान होते हैं।

द्रव्य आवश्यक का अर्थ है—अन्तरंग उपयोग के बिना, केवल पर-परा के आधार पर, पुण्यफल की इच्छा रूप द्रव्य आवश्यक होता है। द्रव्य का अर्थ है—प्राणरहित शरीर। बिना प्राण के शरीर केवल इश्य यस्तु है, गति शील नहीं। आवश्यक का मूल पाठ बिना उपयोग = विचार के सोचना, अन्यमनस्क होकर स्थूल रूप में उठने बैठने की विधि करना, अहिंसा, साय आदि सद्गुणों के प्रति निरादर भाव रखकर केवल अहिंसा आदि शब्दों से चिन्ते रहना, द्रव्य आग्रसन है। दिन और रात के लगाम ढोड़ों की तरह उछलना, निरंकुश हाथियों की तरह भिन्ना से बाहर निचरना करना, और फिर प्रातः साय आवश्यक सूत्र के पाठों की रटन किया में लग जाना, द्रव्य नहीं तो क्या है? विवेकहीन साधना अन्तर्बोधन में प्रगल्भ नहीं दे सकती। यह द्रव्य आवश्यक साधना-क्षेत्र में उपयोगी नहीं होता। अतएव अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है—

“जे इमे समणगुणमुक्कज्जीवी, पुक्काय निदणुकेना, हवा इव
बहमा, गवा इव निरुहना, पट्ठा, मट्ठा, तुण्णोट्ठा, पंदुरपट्ठावरणा,

और केवल साधु ही नहीं, अपितु दोनों ही पडावश्यक का समान आधिकार रखते हैं। अतः जैन आवश्यक की साधना मानव मात्र के लिए कल्याण एवं मंगल की भावना प्रदान करती है।

अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के छः प्रकार बताए गए हैं—
'सामाह्यं, चउवीसत्थओ, वंदणं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खलाणं ।'

१ सामायिक—समभाव, समता।

२ चतुर्विंशतिस्तव—वीतराग देव की स्तुति।

३ वन्दन—गुरुदेवों को वन्दन।

४ प्रतिक्रमण—संयम में लगे दोनों की आलोचना।

५ कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग।

६ प्रत्याख्यान—आहार आदि की आसक्ति का त्याग।

अनुयोग द्वार सूत्र में प्रकारान्तर से भी छः आवश्यकों का उल्लेख किया गया है। यह केवल नाम भेद है, अर्थ-भेद नहीं।

सावज्जजोग-विरट्ठे,

उक्कित्तण गुणवओ य पडिचत्ती।

खलियस्स निंदणा,

वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥

(१) सावद्ययोगविरति—प्राणातिपात, असत्य आदि सावद्य योगों का त्याग करना। आत्मा में अशुभ कर्मजल का आश्रय पापरूप प्रयत्नों द्वारा होता है, अतः सावद्य व्यापारों का त्याग करना ही सामायिक है।

(२) उत्कीर्तन—तीर्थंकर देव स्वयं कर्मों को क्षय करके शुद्ध हुए हैं और दूसरों को आत्मशुद्धि के लिए सावद्ययोगविरति का उपदेश दे गए हैं, अतः उनके गुणों की स्तुति करना उत्कीर्तन है। यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है।

: ११ :

आवश्यक के छः प्रकार

जैन संस्कृति में जिसे आवश्यक कहा जाता है, वैदिक संस्कृति में उसे नित्य-कर्म कहते हैं। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग कर्म बताए गए हैं। ब्राह्मण के छः कर्म हैं—दान लेना, दान देना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, स्वयं पढ़ना, और दूसरों को पढ़ाना। इसी प्रकार रक्षा करना आदि क्षत्रिय के कर्म हैं। व्यापार करना, कृषि करना, पशु पालन करना आदि वैश्यकर्म हैं। ब्राह्मण आदि उच्च वर्ग की सेवा करना शूद्रकर्म है।

मैं पहले लिख कर आया हूँ कि ब्राह्मण संस्कृति समार की भौतिक व्यवस्था में अधिक रस लेती है, अतः उस के नित्यकर्मों के विधान भी उसी रंग में रंगे हुए हैं। उक्त आनीषिकामूचक नित्यकर्म का यह परिणाम आया कि भारत की जनता ऊँचे नीचे जातीय भेद भावों की दल दल में पँस गई। किसी भी व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार जीव नोरयोगी कार्य क्षेत्र में प्रवेश करना कठिन हो गया। प्रायः प्रत्येक दिशा में आदि अन्त काल के लिए ठेकेदारी का दावा किया जाने लगा।

परन्तु जैन-संस्कृति मानवता को जोड़ने वाली संस्कृति है। उसके यहाँ किसी प्रकार की भी ठेकेदारी का विधान नहीं है। अतः एत जैन-धर्म के महावश्यक मानव मात्र के लिए एक जैसे हैं। ब्राह्मण हों, क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र हों, कोई भी हों सब सामायिक कर सकते हैं, बदन कर सकते हैं, प्रतिग्रहण कर सकते हैं। वही ही आवश्यक बिना किसी जाति और वर्ग भेद के सब के लिए आवश्यक है। केवल यह स्थ

सामायिक आवश्यक

‘सम्’ उपसर्गपूर्वक ‘गति’ अर्थ वाली ‘इण्’ धातु से ‘समय’ शब्द बनता है। सम् का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है, अस्तु जो एकी भावरूप से बाह्य परिणति से वापस मुड़ कर आत्मा की ओर गमन किया जाता है, उसे समय कहते हैं। समय का भाव सामायिक होता है।’

उक्त निर्वचन का संक्षेप में भाव यह है कि—आत्मा को मन, वचन, काय की पापवृत्तियों से रोक कर आत्मकल्याण के एक निश्चित ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक, बाह्य सांसारिक-दुर्वृत्तियों से हट कर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर मन को वश में कर लेता है, वचन को वश में कर लेता है, काय को वश में कर लेता है, कथाओं को सर्वथा दूर करता है, राग-द्वेष के दुर्भावों को हटाकर शत्रु मित्र को समान दृष्टि से समझता है, न शत्रु पर क्रोध करता है और न मित्र पर अनुराग करता है। हों तो वह महल और मसान, मिट्टी और स्वर्ण सभी अच्छे बुरे सांसारिक वस्तुओं में

१ ‘सम्’ एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।’

—सर्वार्थ सिद्धि ७। ११

समभाव धारण कर लेता है जल्दा उसका जीवन सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर शांति एवं समभाव की लहरों में बहने लगता है ।

तस्स सामाणिको अग्ग,
संजमे नियमे तथे ।

तस्स सामादर्यं होइ,
इइ पेवलि - भासिर्य ॥

जो समो सच्चगूणमु,
तसेमु थापमेसु य ।

तस्स सामादर्यं होइ,
इइ पेवलि भासिर्य ॥१

—अनुयोग द्वार एव

सम + आव अर्थात् समभाव का आना सामायिक है । जिस प्रकार हम अपने आर को देखते हैं, अग्नी मुग्गमुषिणाओं को देखते हैं, अपने पर स्नेह सद्भाव रखते हैं, उसी प्रकार दूसरी आत्माओं के प्रति भी सदैव एव सद्दय रहना, सामायिक है । राक्ष दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि अपनाइए, आत्मनिरीक्षण में मन को छोड़िए, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर बनिए, पौद्गलिक पदार्थों का ममत्व हटाकर आत्म स्वरूप में रमण कीजिए, आप सामायिक के उच्च आदर्श पर पहुँच जायेंगे । यह सामायिक समस्त धर्म निशाओं, साधनाओं, उपासनाओं, सदाचरणों के प्रति उसी प्रकार आधारभूत है, जिस प्रकार कि आकाश और पृथ्वी चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत है ।

१—जिसकी आत्मा संयम में, नियम में तथा तप में लीन है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक मत है, ऐसा वेदल शानियों ने कहा है ।

—जो नस् और स्थानर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, मैत्री भावना रखता है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक मत है, ऐसा वेदल शानियों ने कहा है ।

समभावरूप सामायिक के धारण करने से मानव-जीवन कष्टमय नहीं होता, क्यों कि संसार में जो कुछ भी मन, वचन, एवं शरीरका कष्ट होता है, वह सब विषमभाव से ही उत्पन्न होता है। और वह विषमभाव सामायिक में नहीं होता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव-उक्त छह भेदों से साम्य-भावरूप सामायिक धारण किया जाता है:—

(१) नाम सामायिक—चाहे कोई शुभनाम हो, अथवा अशुभ नाम हो, सुनकर किसी भी प्रकार का राग-द्वेष नहीं करना, नाम सामायिक है।

सामायिकधारी आत्मा शुभाशुभ नामों के प्रयोग पर, स्तुति-निन्दा के शब्दों पर, विचारता है कि—किसी ने शुभ नाम अथवा अशुभ नाम का प्रयोग किया तो क्या हुआ ? आत्मा तो शब्द की सीमा से अतीत है। अतएव मैं व्यर्थ ही राग द्वेष के संकल्पों में क्यों फँसूँ ?

(२) स्थापना सामायिक—जिस किसी स्थापित पदार्थ की सुरुपता अथवा कुरूपता को देखकर रागद्वेष नहीं करना, स्थापना सामायिक है।

सामायिकधारी आत्मा विचारता है कि जो कुछ यह स्थापित पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, अतः मुझे इसमें रागद्वेष क्यों करना चाहिए ? मैं आत्मा हूँ, मेरा इस से कुछ भी हानि-लाभ नहीं है।

(३) द्रव्य सामायिक—चाहे सुवर्ण हो, चाहे मिट्टी हो, इन सभी अच्छे बुरे पदार्थों में समदर्शों भाव रखना, द्रव्य सामायिक है।

सामायिकधारी आत्मा विचारता है कि यह पुद्गल द्रव्य स्वतः सुन्दर तथा असुन्दर कुछ भी नहीं हैं। अपना मन ही सुन्दरता, असुन्दरता, बहुमूल्यता, अल्पमूल्यता आदि की कल्पना करता है। आत्मा की दृष्टि से तो त्वर्ण भी मिट्टी है, मिट्टी भी मिट्टी है। हीरा और कंकर दोनों ही जड़ पदार्थ की दृष्टि से समान हैं।

समभाव धारण कर लेता है, फलतः उसका जीवन सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर शांति एवं समभाव की लहरों में उठने लगता है ।

तस्स सामाणिको अग्गो,

सज्जमे नियमे तथे ।

तस्स सामादयं होइ,

इइ कवलि - भासिय ॥

जो समो सज्जभूएसु,

तमेसु थाचरेसु य ।

तस्स सामादयं होइ,

इइ कवलि भासिय ॥^१

—अनुयोग द्वार एव

सम + आद्य अर्थात् समभाव का आगम सामायिक है । जिस प्रकार हम अपने आप को देखते हैं, अपनी सुखसुविधाओं को देखते हैं, अपने पर स्नेह सद्भाव रखते हैं, उसी प्रकार दूसरी आत्माओं के प्रति भी सदैव एव सद्भाव रखना, सामायिक है । ग्राह्य इष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि अपनाएँ, आत्मनिरीक्षण में मन को छोड़िए, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर बनिएँ, पौद्गलिक पदार्थों का ममत्व हटाकर आत्म स्वरूप में रमण कीजिए, आप सामायिक के उच्च आदर्श पर पहुँच जायेंगे । यह सामायिक समस्त धर्म निपात्रों, साधनाओं, उपासनाओं, सदाचरणों के प्रति उसी प्रकार आधारभूत है, जिस प्रकार कि आकाश और पृथ्वी चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत हैं ।

१—जिसकी आत्मा संयम में, नियम में तथा तप में लीन है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक मत है, ऐसा नेत्रल शानियों ने कहा है ।

—जो प्रसन्न और स्थानर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, मैत्री भावना रखता है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक मत है, ऐसा केवल शानियों ने कहा है ।

अतएव जीने में, मरने में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, चन्धु में, शत्रु में, सुख में, दुःख में क्यों हर्ष शोक करूँ ? मुझे तो अच्छे-बुरे सभी प्रसंगों पर समभाव ही रखना चाहिए । हानि और लाभ, जीवन और मरण, मान और अपमान, शत्रु और मित्र आदि सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं । वस्तुतः निश्चय नय की दृष्टि से इनके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।

भाव-सामायिक के सम्बन्ध में भगवान् महावीर एवं प्राचीन जैनाचार्यों ने बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है । विस्तार में जाने का तो इधर अवकाश नहीं है, हाँ, संक्षेप में उनके विचारों की झलकी दिखा देना आवश्यक है ।

‘आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे ।’

—भगवती सूत्र १ । ६ ।

—वस्तुतः अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है । सामायिक का प्रयोजन भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिच्छिन्नात्मक स्वरूप आत्म-तत्त्व की प्राप्ति ही है ।

सावज्ज - जोग - विरओ,

.. तिगुत्तो छसु संजओ ।

उचउत्तो जयमाणो,

आया सामाइयं होइ ॥

—आवश्यक-नियुक्ति

—जब साधक सावद्य योग से विस्त होता है, छः काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन, धचन एवं कय को एकाग्र करता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त होता है, यतना में विचरण करता है, वह (आत्मा) सामायिक है ।

‘सममेकत्वेन आत्मनि आयाः आगमने परद्रव्येभ्यो निवृत्त्य
उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः,

(४) क्षेत्र सामायिक—चाहे कोई सुन्दर आग हो, या बाँटों से भरी हुई ऊँच भूमि हो, दोनों में समभाव रखना, क्षेत्र सामायिक है।

सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि चाहे राजधानी हो, चाहे अंगल हा, दोनों ही पर क्षेत्र हैं। मेरा क्षेत्र तो केवल आत्मा है, अतएव मेरा उपाय समद्वेष करना, सर्वथा अयुक्त है। अनात्मदर्शी ही अनात्म निगूढ स्थान गौरव या अंगल समझते हैं, आत्मदर्शी के लिए तो अनात्म आत्मा ही अनात्म निगूढ स्थान है। निश्चय नव की दृष्टि में प्रत्येक पदार्थ अने में ही वेदित है। अहं, जहं में रहता है, और आत्मा, आत्मा में रहता है।

(५) कान्ति सामायिक—चाहे सर्ग हो, शीत हो, गर्म हो तथा कटुतल वायु से मुतावनी वनस्त शून्य हो, या भयंकर ओंधी वर्षावर हो, किन्तु सब अतुल्य तथा प्रतिद्वन्द्व परिस्थितियों में समभाव रखना कान्ति सामायिक है।

सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि ठण्डक, गरमी, वस्तु, वर्रा आदि सब पुद्गल के विकार हैं। मेरा तो इन से स्वर्ग भी नहीं हो सकता। मैं अमूर्त हूँ, अरुण हूँ। मुझसे भिन्न सभी भाव वैभाविक हैं, अतः मुझे इन परभावजनित वैभाविक भावों में किसी प्रकार का भी समद्वेष नहीं करना चाहिए।

(६) भाव सामायिक—समस्त जीवों पर मैत्रीभाव धारण करना, किसी से किसी प्रकार का भी वैर विरोध नहीं रखना भाव सामायिक है।

प्रस्तुत भाव सामायिक ही वास्तविक उत्तम सामायिक है। पूर्वोक्त सभी सामायिकों का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। आध्यात्मिक संयमी जीवन की महत्ता के दर्शन इसी सामायिक में होते हैं। भाव सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि—मैं अजर, अमर, चित्त्वत्तार चैतन्य स्वरूप हूँ। वैभाविक भावों से मेरा कुछ भी बनना निगूढता नहीं है।

से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर आत्मा को पूर्ण, विशुद्ध, निर्मल बनाते हैं और उसे परमात्मा की कोटि में पहुँचा देते हैं।

चारित्र सामायिक के अधिकारी-भेद से दो प्रकार हैं—(१) देश, और (२) सर्व। गृहस्थों की आचार-साधना को देशचारित्र कहते हैं। देश का अर्थ है—‘अंश’। गृहस्थ अहिंसा आदि आचार-साधना का पूर्णरूप से पालन न करता हुआ अंशतः पालन करता है। साधुओं की आचार-साधना को सर्वचारित्र कहते हैं। सर्व का अर्थ है—‘समग्र, पूर्ण’। पाँच महाव्रतधारी साधु, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अग्निहोत्र की साधना को मन, वचन, और काय के द्वारा पूर्णतया पालन करने के लिए कृतप्रयत्न रहता है।

सामायिक की साधना बहुत ऊँची है। आत्मा का पूर्ण विकास सामायिक के बिना सर्वथा असम्भव है। धर्मक्षेत्र की जितनी भी अन्य साधनाएँ हैं, सबका मूल सामायिक में ही रहा हुआ है। जैन-आगम-साहित्य सबका सब सामायिक की चर्चा से ही ध्वनित है। अतएव चाचक, यशोविजयजी सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गीरूप जिनवाणी का सार वतलाते हैं—

“सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूतसामायिकसूत्रवत्”

—तत्त्वार्थ वृत्ति १-१

आचार्य जिनभद्र विशेषावश्यक-भाष्य में, सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ-पिण्ड कहते हैं—

‘सामाद्यं संखेवो, चोद्सपुञ्जत्यपिण्डो त्ति ।’ गा० २७६६

जैन-संस्कृति समप्रधान संस्कृति है। उसके यहाँ तपश्चरण एवं उग्र क्रियाकाण्ड का कुछ महत्त्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व संयम का है, समता का है, सामायिक का है। जबतक समभाव रूप सामायिक न हो, तबतक कोटि-कोटि वर्ष तप करने वाला अविधेकी साधक भी कुछ नहीं कर पाता है। संथार पड़ना में कहा है—

से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर आत्मा को पूर्ण, विशुद्ध, निर्मल बनाते हैं और उसे परमात्मा की कोटि में पहुँचा देते हैं।

चारित्र सामायिक के अधिकारी-भेद से दो प्रकार हैं—(१) देश, और (२) सर्व। गृहस्थों की आचार-साधना को देशचारित्र कहते हैं। देश का अर्थ है—‘अंश’। गृहस्थ अहिंसा आदि आचार-साधना का पूर्णरूप से पालन न करता हुआ अंशतः पालन करता है। साधुओं की आचार-साधना को सर्वचारित्र कहते हैं। सर्व का अर्थ है—‘समग्र, पूर्ण’। पाँच महाव्रतधारी साधु, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अरिग्रह की साधना को मन, वचन, और काय के द्वारा पूर्णतया पालन करने के लिए कृतप्रयत्न रहता है।

सामायिक की साधना बहुत ऊँची है। आत्मा का पूर्ण विकास सामायिक के बिना सर्वथा असम्भव है। धर्म-क्षेत्र की जितनी भी अन्य साधनाएँ हैं, सबका मूल सामायिक में ही रहा हुआ है। जैन-आगम-साहित्य सबका सब सामायिक की चर्चा से ही ध्वनित है। अतएव वाचक यशोविजयजी सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गीरूप जिनवाणी का सार बतलाते हैं—

“सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूतसामायिकसूत्रवत्”

—तत्त्वार्थ वृत्ति १-१.

आचार्य जिनभद्र विशेषावश्यक-भाष्य में सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ-पिण्ड कहते हैं—

‘सामाङ्ग्यं संखेवो, चोदसपुञ्जवत्थपिण्डो त्ति ।’ गा० २७६६

जैन-संस्कृति समप्रधान संस्कृति है। उसके यहाँ तपश्चरण एवं उग्र क्रियाकाण्ड का कुछ महत्त्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व संयम का है, समता का है, सामायिक का है। ज्ञातक समभाव रूप सामायिक न हो, तबतक-कोटि-कोटि वर्ष तप करने वाला अविधेकी साधक भी नहीं कर पाता है। संथार पड़ना में कहा है—

जं श्रमणी कर्म,

सवेइ बहुवाहि वासकोडीहि ।

तं नार्णी विहि गुत्तो,

सवेइ उत्तास - मेत्तेण ॥

—अज्ञानी एवं असंयमी साधक करोड़ों वर्षों में तपधरण के द्वारा जितने कर्म नष्ट करता है, उतने कर्म त्रिगुतिधारी संयमी एवं विवेकी साधक एक सौस सेने भर-जैसे अल्प काल में नष्ट कर डालता है ।

संयम-राज्य तप, तप नहीं होता, वह केवल देह दण्ड होता है । वह देहदण्ड नारकी जीव भी सागरों तक सहते रहते हैं, परन्तु उनकी कितनी आत्म शुद्धि होती है ? भगवती रूप के छूटे सतक में प्रश्न है कि 'सागरी नरक के नैरयिक जीवों के कर्मों की अधिक निर्बल होती है अथवा संयमी भ्रमण निर्मल्य के कर्मों की ? भगवान् महाधीर ने उत्तर में कहा है कि—
“संयम की साधना करता हुआ भ्रमण तपधरण आदि के रूप में भोग सा भी कर सहन करता है तो कर्मों की परी भारी मित्रंग करता है । सले पाप का गूहा अग्नि में डालने ही कितनी शीघ्रता से भस्म होता है ? आग से जलने हुए लोहे के तवे पर जल बिन्दु पित्त प्रकार महसा नाम रोष हो जाता है ? इसी प्रकार संयम की साधना भी वह जलती हुई अग्नि है, जिसमें प्रतिक्षण कर्मों के दल के दल सहण नष्ट होने रहते हैं ।”

आचार्य हरिभद्र आचर्यन त्रिबुक्ति पर ध्याना करते समय ताप व पहले संयम के उल्लेख का राष्ट्रीय करते हुए कहते हैं कि—‘संयम भविष्य में होने वाले कर्मों के आसुर का नियंत्रण करने वाला है, या वह मुक्त है । संयम पूर्ण ही ता वस्तुतः गन्त होता है, अन्तर्गत नहीं । ‘संयमारण प्रागुपादान्मदरेकमांगमनितोपोरकारेण साधन्य साधनार्थम् । तन्मूर्कं च वस्तुनः गन्तं ततः ।’

संयम और ता के अन्तर को समझने के लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ । बिगी शरभ के पर पर घोड़ों का आश्रय होगा है । कुछ घोर

घर के अन्दर घुस आते हैं और कुछ घर के बाहर घुसने की तैयारी में खड़े रहते हैं। ऐसी स्थिति में गृहस्थ का क्या कर्तव्य हो जाता है? वह अन्दर घुसे हुए चोरों से लड़े या पहले घर का दरवाजा बंद करे? यदि पहले दरवाजा बंद न करके सीधा चोरों से उलझ जाए तो बाहर खड़े चोरों का दल अन्दर आ सकता है, इस प्रकार चोरों की शक्ति घटने की अपेक्षा बढ़ती ही जाएगी। समझदारी का काम यह है कि पहले दरवाजा बंद करके बाहर के चोरों को अन्दर आने से रोका जाय और फिर अन्दर के चोरों से संवर्ष किया जाय। संयम, भावी पापाश्रव को रोकता है और तपश्चरण पहले के संचित कर्मों को क्षय करता है। जहाँ दूसरे धर्म केवल तप पर बल देते हैं वहाँ जैन-धर्म संयम को अधिक महत्त्व देता है। जैन-धर्म की सामायिक वह संयम की साधना है, जो भविष्य में आनेवाले पापाश्रव को रोक कर फिर अन्दर में कर्मों से लड़ने की कला है। यह युद्ध-कला ही वस्तुतः मुक्ति के साम्राज्य पर अधिकार करा सकती है।

सामायिक का बहुत बड़ा महत्त्व है। वह आवश्यक का आदिमंगल है। अखिल मंगल का मूल निर्वाण है, और यह निर्वाण सामायिक के द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः सामायिक मङ्गल है। आचार्य जिनदास कहते हैं—‘आदिमंगलं सामाह्यज्जययां ।’... ‘सर्व मंगल-निहायां निवृत्तायां पारिवर्हितित्तिकाऊण सामाह्यज्जययां मंगलं भवति ।’—आवश्यक-चूर्णि। सामायिक विश्व के सब प्राणियों के प्रति समता की साधना है। और यह समता ही वस्तुतः सब मंगलों का निधान है। अतः, समभाव की दृष्टि से भी सामायिक आदिमंगल है। ‘जो य समभावो सो कहं सर्वमंगलनिधायं ण भविस्सति?’

—आवश्यक चूर्णि।

सामायिक की उत्कृष्ट साधना का तो कहना ही क्या है? यदि जघन्यरूप से भी सामायिक रूप समभाव का स्पर्श कर लिया जाय तो साधक संसार का अन्त कर देता है, सात-आठ जन्म से अधिक जन्म नहीं ग्रहण करता है। ‘सत्तट्ठमवगगहणाइं पुण नाइक्कमइ ।’

मम० पृ० १० । क्या हम प्रभु महावीर के उक्त प्रवचन पर श्रद्धा रखते हैं ? यदि रखते हैं तो सामायिक से पराङ्मुख होना, हमारे लिए निगी क्षण भी हितावद नहीं है । हमारे जीवन की साँस-मौम पर सामायिक की अन्तर्जोशा का नाद भङ्गन गढ़ना चाहिये, तभी हम अपने जीवन को मंगलमय बना सक्ते हैं ।

जैन धर्म का सामायिक धर्म बहुत विराट एवं व्यापक धर्म है । यह आत्मा का धर्म है, यतः सामायिक न किसी की जात पूजता है, न देश पूजता है, न कुर-रंग पूजता है, और न मत एवं पंथ ही । जैन धर्म का सामायिक सधर्म से विमुक्त जैनत्व की बात पूजता है, उस जैनत्व की, जो जात पॉन, देश और पंथ से ऊपर की भूमिका है । यही कारण है कि माता मकरेदी ने हाथी पर बैठे हुए सामायिक की स्तुति की, और मोक्ष में पहुँच गईं । इला पुत्र एक नट था, जो गोंग पर खड़ा हुआ नाच रहा था । उसने अन्तर्जीवन में समसार की एक न-ही लहर पैदा हुई, वह पैली और इतनी पैली कि अन्तर्मुहूर्त में ही गोंग पर चढे चढे वेबल ज्ञान हो गया । यह चमत्कार है सामायिक का । सामायिक किसी अमुक वेप विशेष में ही होता है, अन्यत्र नहीं, यह जैन धर्म की मान्यता नहीं है । सामायिक का जैनत्व वेप में नष्ट, सम्भाव में है, माध्यम्य मात्र में है । गगद्देव के प्रसंग पर मध्यस्थ रहना ही सामायिक है, और यह मध्य-वर्ती अन्तर्जीवन की ज्योति है । इस ज्योति को किसी वेप विशेष में बँधना सामायिक का अपमान करना है । और यह सामायिक का अपमान स्वयं जैन धर्म का अपमान है ।—मगवती सूर में इभी चर्चा को लेकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर है । वह द्रव्यलिंग की अपेक्षा मागलिंग को अधिक महत्त्व देता है । द्रव्यलिंग कोई भी हो, सामायिक की ज्योति प्रस्तुति हो सकती है । हाँ, मागलिंग कयायनिबरुत जैनत्व सर्वत्र एकरस होना चाहिये । उसके बिना सब शून्य है, अन्यकार है ।

सामाह्यसंज्ञणं भंते ! किं सल्लिगे होज्जा, अन्नल्लिगे होज्जा, मिहिल्लिगे होज्जा ?

दण्वल्लिगं पडुच्च सल्लिगे वा होज्जा, अन्नल्लिगे वा होज्जा, मिहिल्लिगे वा होज्जा । भावल्लिगं पडुच्च नियमा सल्लिगे होज्जा ।

—भग० २५ । ७ ।

सामायिक के सम्बन्ध में आजकल एक बहुत भ्रान्तिपूर्ण मत चल रहा है । वह यह कि सामायिक की साधना केवल अभावात्मक साधना है । उसमें हिंसा नहीं करना, इस प्रकार 'न' के ऊपर ही बल दिया गया है । अतः सामायिक की साधना करने वाला गृहस्थ तथा साधु किसी की रक्षा के लिए, किसी जीव को मरने से बचाने के लिए, कोई विधानात्मक प्रवृत्ति नहीं कर सकता ।

यह प्रश्न व्यर्थ ही उठ खड़ा हुआ है ! यदि जैन-आगम-साहित्य का भली भाँति अवलोकन किया जाता तो इस प्रश्न की उत्पत्ति के लिए अवकाश ही न रहता । कोई भी विधि-मार्ग : अर्थात् साधना-पथ अभावात्मक नहीं हो सकता । निषेध के साथ विधि अवश्य ही रहती है । झूठ नहीं बोलना, इस वाक्य का अर्थ होता है—असत्य का निषेध और सत्य का विधान । अब आप समझ सकते हैं—सत्य की साधना केवल निषेधात्मक नहीं है, प्रत्युत विधानात्मक भी है । इसी प्रकार अहिंसा आदि की साधना का अर्थ भी समझ लेना चाहिए । सामायिक में पापाचार का निषेध किया है, धर्माचार का नहीं । किसी जीव को मरने से बचाना धर्माचार है, अतः सामायिक में उसका निषेध नहीं । आवश्यक-अवचूरि में सामायिक का निर्वचन करते हुए कहा है—

“सामाह्यं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं,
निरवज्ज - जोग - पडिसेवणं च ।”

—‘सावद्य योगों का त्याग करना और निरवद्य योगों में प्रवृत्ति करना ही सामायिक है ।’

मैं पृथ्वा हूँ मिनी भी दुर्लभ की रत्ना करना, मिनी गिरते हुए जीव को सदाय देकर बचा लेना, मिनी मारते हुए सरल को रोफर निर्लभ की हत्या न होने देना, इन में कौन सा साम्य योग है ? कौन सा पापकर्म है ? प्रत्युत मन में निःस्वार्थ करुणा भाव का संचार होने से तब तो सम्भारन की शुद्धि का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है । अनुष्णा हृदयक्षेत्र की वह परिधि रंगता है, जो पारमन को बहाकर साफ कर देती है । अनुष्णा के बिना सामायिक का कुछ भी अर्थ नहीं है । अनुष्णा ने सामायिक की स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे ज्योतिर्हीन दीपक की स्थिति । ज्योतिर्हीन दीपक, दीपक नहीं, मात्र मिट्टी का टिंड है । सामायिक का सच्चा अधिकारी ही वह होता है, जो अनुष्णा के अमृतरस से भरपूर होता है । आचार्य हरिभद्र आवश्यक बृहद्भूति में लिखते हैं—“अनुष्णा प्रवणक्षितो जीवः सामायिक ज्ञाते, शुभपरिणामयुक्तत्वाद् वैधवद् ।”

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आचर्य विभुक्ति में सामायिक के सामायिक, समन्वित, सम्बन्ध आदि आठ नामों का उल्लेख किया है । उसमें से समन्वित शब्द का अर्थ भी मय जीवों पर सम्बन्ध से दिया करना है । आचार्य हरिभद्र समन्वित की व्युत्पत्ति करते हैं—“समिति सम्बन्धं शब्दार्थं उपसर्गः, सम्बन्धस्य समन्वयः—सम्बन्धं दत्वा पूर्वकं जीवेषु समन्वितव्यम् । समन्वयोऽस्यास्तीति, अत इति दत्वा (पा० २-२-११२) विधि देव समन्वितम् ।”

सामायिक के सम्बन्ध में बहुत सच्चा ज्ञान चुने है । इतना लिखना आवश्यक भी था । अधिक विमर्शना वाले सच्चे ज्ञान का सामायिक-पूर देल सकते हैं ।

: १३ :

चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक

सामायिक आवश्यक को सावद्ययोग-विरति भी कहते हैं। अनुयोग-द्वार सूत्र में इस नाम का उल्लेख किया गया है। परन्तु प्रश्न है कि यह सावद्ययोग से निवृत्ति शीघ्रनया कैसे प्राप्त हो सकती है ?

सावद्य योग से शीघ्रातिशीघ्र निवृत्त होने के लिए, समभाव पर पूर्ण प्रगति प्राप्त करने के लिए, साधक को किसी तदनुरूप ही महत्त्वशाली उच्च आलम्बन की आवश्यकता होती है। किसी वस्तु से निवृत्त होने के लिए उससे निवृत्त होने वालों को अपने समस्त उपस्थित करने की एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। जब तक कोई महान् आदर्श साधक के सामने उपस्थित न हो तब तक उसका किसी वस्तु से निवृत्त होना कठिन है।

हाँ तो, सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश कौन देते हैं ? सावद्य योग की निवृत्ति किन के जीवन में पूर्णतया उतरी है ? समभाव रूप सामायिक के संसार में कौन सब से बड़े प्रतिनिधि हैं ? आध्यात्मिक-साधना-क्षेत्र पर नजर दौड़ाने के बाद उत्तर है कि 'तीर्थंकर भगवान्, वीरराग देव !

१ जिस साधना के द्वारा संसारसागर पार किया जाता है, वह तीर्थ है। 'संसार-सागरं तरन्ति येन तत्तीर्थम्।' —नन्दीसूत्र-वृत्ति।

तीर्थ धर्म को कहते हैं, अतः जो धर्म का आदिकर्ता है, प्रवर्तक है, वह तीर्थंकर है। 'तीर्थमेव धर्मः, तस्यादिकर्तारस्तीर्थंकराः।'

—आवश्यक-चूर्णि।

यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक, जिसका दूसरा नाम अनुयोग द्वार सून में उत्कीर्तन भी है; सामायिक साधना के लिए आलम्बन स्वरूप है। चौरीन तीर्थंकर, जो कि त्याग वैराग्य के, संयम-साधना के महान् आदर्श हैं, उनकी स्तुति करना, उनके गुणों का कीर्तन करना, चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक कहलाता है।

तीर्थंकर देवों की स्तुति से गायक की महान् आस्थात्मिक बल मिलता है, साधना का मार्ग प्रशस्त होता है, जइ एउ मृत शब्दा सजीव एवं स्फूर्तिमयी होनी है, त्याग तथा वैराग्य का महान् आदर्श आँखों के सामने देदी यमान हो उठता है।

तीर्थंकरों की भक्ति के द्वारा गायक अपने औदार्य तथा अहंकार का नाश करता है, सद्गुणों के प्रति अनुयोग की श्रद्धा करता है, फलतः प्रशस्त भावों की, कुशल परिणामों की उपलब्धि करके सन्तित ब्रह्मों को उम्मी प्रकार नम्र कर देता है, 'विन प्रकार अमे की नग्ही-णी जलती'।

वर्तमान काल चक्र में भगवान् श्वरभदेव से लेकर भगवान् महा-वीर पर्यन्त चौरीन तीर्थंकर हुए हैं। चतुर्विंशतिस्तव के लिए आवश्यक 'लोगस्त उगजोवनरे' नामक स्तुति पाठ का प्रयोग किया जाता है।

१. आचार्य रुद्रगद्गु स्वामी ने कहा है—

'भतीइ त्रिणवरार्ण, तिज्जंठी पुण्यसंधिया कम्मा ।'

—आवरण-नियुक्ति, १०७६

पाप-वराल को पुत्र बनयो भक्ति,

मानो मेह आकारो।

से तुम नाम हुताशन संतो,

सहन ही प्रशस्त सारो।

पदुमपु पावन नाम निहारो ॥

—मिथवन्द चौरीजी।

हुई चिनगारी घास के ढेर को भस्म कर डालती है। कर्मों का नाश हो जाने के बाद आत्मा जब पूर्ण शुद्ध निर्मल हो जाता है, तब वह भक्त की कोटि से भगवान की कोटि में पहुँच जाता है। जैन-धर्म का आदर्श है कि प्रत्येक आत्मा अपने अन्तरंग स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा ही है, भगवान् ही है। यह कर्म का, मोहमाया का परदा ही आत्माओं के अखण्ड तेज को अवरुद्ध किए हुए है। जब यह परदा उठा दिया गया तो फिर कुछ भी अन्तर नहीं रहता।

शुद्ध हो सकती है कि तीर्थंकर वीतराग देवों के स्मरण तथा स्तुति से हम पापों के बन्धन कैसे काट सकते हैं? किस प्रकार आत्मा से परमात्मा के पद पर पहुँच सकते हैं? शांति जितनी गूढ़ है, उतनी ही आनन्दप्रद भी है। आप देखते हैं बालक नंगे सिर गली में खेल रहा है। वह अपने विचारों के अनुसार जिस बालक को अच्छा समझता है, जिस खेल को ठीक जानता है, उसी का अनुकरण करने लगता है। दूसरे बच्चों को जो कुछ करते देखता है, उसी ओर उसके हाथ पैर भी चंचल हो उठते हैं। बालक बड़ा हुआ, पाठशाला गया, वहाँ अपने सहपाठियों में से किसी को आदर्श विद्यार्थी जान कर उसका अनुकरण करने लगता है। यह देखी हुई बात है कि छोटी श्रेणियों के लिए बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी आचार-व्यवहार में नेता होते हैं। आगे चल कर बड़े लड़कों के लिए उनके अध्यापक आदर्श बनते हैं। मनुष्य, बिना किसी मानसिक आदर्श के क्षण भर भी नहीं रह सकता। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन, मानसिक आदर्शों के प्रति ही गतिशील है, और तो क्या मरते समय भी मनुष्य के जैसे संकल्प होते हैं वैसी ही गति आगे मिलती है। यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है कि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है। 'अद्वयमयोऽयं पुरुष यो यच्छब्दः स एव सः।' हाँ तो, इसी प्रकार उपासक भी अपने अन्तर्हृदय में यदि त्यागमूर्ति तीर्थंकर देवों का स्मरण करेगा तो अवश्य ही उसका आत्मा भी अपूर्व अलौकिक त्याग-प्रेम की भावनाओं से आलोकित हो

पठना । आध्यात्मिक शक्तिशाली महान् आत्माया का स्मरण करना, स्तुति आध्यात्मिक जल के लिए अग्नी आत्मा के निराद खोल देना है । तीर्थंकर देव ज्ञान की अगार ज्योति से ज्योतिर्मय हैं, जो भी साधक इनके पास आध्यात्मा, इन्हें स्मृति में लायगा, वह अवश्य ज्योतिर्मय बन जायगा । संसार की मोह माया का अन्धकार टसक निकर कदापि वष मणि नहीं पक सकेगा । 'वाह्यी दृष्टि स्ताह्यी सृष्टिः ।'

भगवत्स्तुति अंतःकरण का स्नान है । उससे हम स्फूर्ति, पवित्रता और जल मिलता है । भगवत्स्तुति का अर्थ है उच्च नियमों, सद्गुणों एव उच्च आदर्शों का स्मरण ।

एक बात यहाँ दख करने योग्य है । वह यह कि जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है । उसमें काल्पनिक आदर्शों के लिए जरा भी स्थान नहीं है । अतः यहाँ प्रार्थना का लम्बा खीश जान नहीं बिछा हुआ है । और न जैन धर्म का विश्वास ही है कि कोई महापुरुष किसी को कुछ दे सकते हैं । हम महापुरुषों को केवल निमित्त मात्र मानते हैं । उनसे हम केवल आध्यात्मिक प्रसाद के लिए प्रेरणा मिलती है । ऐसा नहीं होता कि हम स्वयं कुछ न करें और केवल प्रार्थना से सत्पुत्र परमात्मा हमें अभीष्ट सिद्धि प्रदान कर दें । जो लोग भगवान् के सामने गिडगिडा कर प्रार्थना करते हैं कि—'भगवान् ! हम पापी हैं, दुष्टाचारी हैं, नू हमारा उद्धार कर, तेरे बिना हम क्या करें ?' वे जैन धर्म के प्रति निवि नहीं हो सकते । स्वयं उठने का वजन न करके फल भगवान् से उठाने की प्रार्थना करना सर्वथा निरर्थक है । इस प्रकार की निरिच्छा प्रार्थनाओं ने तो मानव जाति को सत्र प्रकार से हीन, दीन एव नपसक बना दिया है । सदाचार की मर्यादा को ऐसी प्रार्थनाओं से बहुत गहरा पफा लगा है । हजारों लोग इन्हीं प्रार्थनाओं के मरोस परमात्मा को अगना भारी उद्धार समझ कर मोन मनाते रहते हैं और कभी भी स्वयं पुनर्गर्भ के मरोने सदाचार के वष पर अग्रसर नहीं होते । अतएव जैन धर्म निश्चयक साधना पर जोर देता है । वह भगवान् के स्मरण को

बहुत ऊंची चीज मानता है, परन्तु उसे ही सब कुछ नहीं मानता । जैन धर्म की दृष्टि में भगवत्स्तुति हमारी प्रमुख अन्तर चेतना को जाग्रत करने के लिए सहकारी साधन है । हम स्वयं सदान्वार के पथ पर चल कर उसे जगाने का प्रयत्न करते हैं । और भगवान की स्तुति हमें आदर्श प्रदान कर प्रेरणास्वरूप बनती है ।

जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य जिनदास गग्गी ने इस सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि—केवल तीर्थकर देवों की स्तुति करने मात्र से ही मोक्ष एवं समाधि आदि की प्राप्ति नहीं होती है । भक्ति एवं स्तुति के साथ-साथ तप एवं संयम की साधना में उद्यम करना भी अतीव आवश्यक है ।

‘न केवलापि तिथ्यगस्त्युत्तीप एताणि (आरोग्यादीणि) लब्धमिति, किंतु तव-संजमुज्जमेण ।

—आवश्यक चूर्णि



: १४ :

वन्दन आवश्यक

देव के नाम गुरु का नाम है। तीर्थंकर देवों के गुणों का उत्कीर्तन करने के नाम अथवा साधक 'गुरुदेव' को वन्दन करने की ओर मुक्तता है। गुरुदेव को वन्दन करने का अर्थ है—गुरुदेव का स्तवन और अभिवादन।^१ मन, वचन, और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार, जिस के द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है, वन्दन कहलाता है। प्राचीन आवश्यक नियुक्ति आदि ग्रन्थों में वन्दन के चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध हैं।

१—संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में 'गुरु' भारी को कहते हैं, अतः जो अपने से ऊँचा, सत्य आदि महाव्रतरूप गुणों में भारी हो, वजनदार हो, वह सर्व विरक्ति साधु, भले वह स्त्री हो या पुरुष, गुरु कहलाता है। इस मोटि में गणेश से लेकर सामान्य साधु साध्वी सभी सपत्नी जनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है ■ जो सत्य धर्म का उपदेश देता है, वह गुरु है। 'गुणाति-कथयति सद्धर्मं तत्र' स गुरुः।^२ तीर्थंकर देवों के नीचे गुरु ही सद्धर्म का उपदेश है।

२ 'यद्भि' अभिमानस्तुत्योः, इति कायेन अभिवादाने वाचा स्तवने।^३

—आवश्यक चूर्ण

वन्दन आवश्यक की शुद्धि के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वन्दनीय कैसे होने चाहिए ? वे कितने प्रकार के हैं ? अथवा अवन्दनीय कौन हैं ? अवन्दनीय लोगों को वन्दन करने से क्या दोष होता है ? वन्दन करते समय किन-किन दोषों का परिहार करना जरूरी है ? जब तक साधक उपर्युक्त विषयों की जानकारी न कर लेगा, तब तक वह कथमपि वन्दनावश्यक के फल का अधिकारी नहीं हो सकता ।

मानव मस्तक बहुत उत्कृष्ट वस्तु है । वह व्यर्थ ही हर किसी के चरणों में रगड़ने के लिए नहीं है । सबके प्रति नम्र रहना और चीज है, और पूज्य समझ कर सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर वन्दना करना, दूसरी चीज है । जैनधर्म गुणों का पूजक है । वह पूज्य व्यक्ति के, सदगुण देख कर ही उसके आगे शिर झुकाता है । आध्यात्मिक क्षेत्र की तो बात दूसरी है । यहाँ जैन इतिहास में तो साधारण सांसारिक गुणहीन व्यक्ति को वन्दन करना भी पाप समझा जाता है । असंयमी को, पतित को वन्दन करने का अर्थ है—पतन को और अधिक उत्तेजन देना । जो समाज इस दिशा में अपना विवेक खो देता है, वह पापाचार, दुराचार को निमंत्रण देता है । आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि—‘जो मनुष्य गुणहीन अवन्ध व्यक्ति को वन्दन करता है, न तो उस के कर्मों की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही । प्रत्युत असंयम का, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का बन्ध होता है । वह वन्दन व्यर्थ का कायक्लेश है ।’

पासत्थाई वंदमाणस्स

नेव किन्ती न निज्जरा होई ।

काय-किलेसं एमेव

कुराई तह कम्मबंधं च ॥११०८॥

अवन्ध को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को ही दोष होता है और वन्दन कराने वाले को कुछ पाप नहीं लगता, यह बात नहीं है । आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं—कि—यदि

अवन्दनीय व्यक्ति गुणी पुरुषों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असंभव में और भी वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है ।^१

जैन धर्म के अनुशार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र्य से संपन्न त्यागी, विरागी आचार्य, उपाध्याय, स्थविर एवं गुरु देव आदि ही वन्दनीय हैं । इन्हीं को वन्दना करने से मध्य साधक अपना आत्मिक-रूपाण कर सकता है, अन्यथा नहीं । साधक ने लिए बड़ी आदर्श उपयोगी हो सकता है जो गृह में भी पवित्र एवं महान हो और अन्दर में भी । न केवल साधक जीवन की पवित्रता साधारण साधकों के लिए अपने जीवन-निर्माण में आदर्श रूपेण सहायक हो सकती है, और न केवल अंतरंग पवित्रता एवं महत्ता ही । साधक को तो ऐसा गुरुदेव चाहिए, जिस का जीवन निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से पूर्ण हो । आचार्य भद्रपाद स्वामी आवश्यक नियुक्ति की १११८ वीं गाथा में इस सम्बन्ध में सुद्धा अर्थात् सिकके की चतुर्थी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं संगत दृष्टान्त देते हैं:—

(१) चौंटी बघाि शुद्ध हो, किन्तु उम पर मुहर ठीक न लगी होता बड़ सिका प्राप्त नहीं होता । इसी प्रकार भाव चारित्र्य से युक्त किन्तु द्रव्य लिंग से रहित प्रत्येक बुद्ध आदि मुनि साधकों के द्वारा वन्दनीय नहीं होते ।

१—जे बंभवेर - भट्टा,

वार उड्डति बंभयारीण ।

ते होति कुंठ मुंटा,

बोहो य मुदुल्लह तेसि ॥११०६॥

—आवश्यक नियुक्ति

—जो पार्श्वस्थ आदि वडाचर्य अर्थात् सवम से भट्ट हैं, परन्तु अपने वो गुरु कहलाते हुए सदाचारी सज्जनों से वन्दन कराते हैं, वे अगले जन्म में अपंग, रोगी, ढूँढ़ भूँट होते हैं, और उनको धर्ममार्ग का मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है ।

(१) जिस सिक्के पर मुहर तो ठीक लगी हो, परन्तु मूलतः चाँदी अशुद्ध हो, वह सिक्का भी ग्राह्य नहीं माना जाता; उसी प्रकार भाव-चारित्र्य से हीन केवल द्रव्य लिङ्गी साधु, वस्तुतः कुसाधु ही हैं, अतः वे साधक के द्वारा सर्वथा अवन्दनीय होते हैं। मूल ही नहीं तो व्याज कैसा ? अन्तरङ्ग में भावचारित्र्य के होने पर ही बाह्य द्रव्य क्रिया काण्ड एवं वेप आदि उपयोगी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

(२) जिस सिक्के की चाँदी भी अशुद्ध हो और मुहर भी ठीक न हो, वह सिक्का तो बाजार में किञ्चित् भी आदर नहीं पाता, प्रत्युत दिखाते ही फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति न भावचारित्र्य की साधना करता हो और न बाह्य की ही, वह भी आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में आदरणीय नहीं माना जाता।

(४) जिस सिक्के की चाँदी भी शुद्ध हो, और उस पर मुहर भी बिल्कुल ठीक लगी हो, वह सिक्का सर्वत्र अव्याहत गति से प्रसार पाता है, उसका कहीं भी निरादर तथा तिरस्कार नहीं होता। इसी प्रकार जो मुनि द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार के चारित्र्य से सम्पन्न हों, जो अपनी आत्मसाधना के लिए अन्दर तथा बाहर से एकरूप हों, वे मुनि ही साधना-जगत में अभिवन्दनीय माने गये हैं। उन्हीं से साधक कुछ आत्म कल्याण की शिक्षा ग्रहण कर सकता है। वन्दन आवश्यक की साधना के लिए ऐसे ही गुरुदेवों को वन्दन करने की आवश्यकता है।

सुदृढ तर नासंती

अप्याणं जे चरित्तपब्भट्ठा ।

गुरुजण वंदारिंती

सुसमण जहुत्तकारिं च ॥१११०॥

—आवश्यक नियुक्ति

—जो चारित्र्यभ्रष्ट लोग अपने को यथोक्तकारी, गुणभ्रेष्ठ साधक से वन्दन कराते हैं और सद् गुरु होने का दावा रचते हैं, वे अपनी आत्मा को सर्वथा नाश कर डालते हैं।

‘वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है, अहंकार अर्थात् गर्व का (आत्म गौरव का नहीं) नाश होना है, उच्च आदशों की भोंसी का स्पष्टतया मान होना है, गुरुजनों का पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है, और भुक्त धर्म की आराधना होती है। यह भुक्त धर्म की आराधना आत्मशक्तियों का समिक विनाश करती हुई अन्तर्भावना मोक्ष का कारण बनती है। भगवती तू म उतलाया गया है कि—‘गुरुजनों का उत्तमग करने से शास्त्र धर्म का लाभ होता है, शास्त्र धर्म से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है, और फिर कमल प्रत्यास्थान, संयम, अनाभय, तप, कर्मनाश, अनिया अथवा सिद्धि का लाभ होता है।’

सवणे खाणे य विद्याणे,

पञ्चकल्याणे य संजने ।

अणुणहण

तवे वेप,

बोटाणे अकिरिया सिद्धी ॥

—[भग० २।५।११२]

गुरु वन्दन की विद्या बड़ी ही महत्वपूर्ण है। साधक को इस आत्म उदासीन भाव न रखना चाहिए। मन के कण-कण में भाक्त भावना का निमल स्रोत बहाये विना वन्दन द्रव्य वन्दन हो जाता है, और वह साधक के जीवन में किसी प्रकार की भी उत्थान्ति नहीं ला सकता। विना वन्दन की पृष्ठ भूमि में भय हो, लज्जा हो, संसार का कोई स्वार्थ हो वह कभी-कभी आत्मा का इतना पतन करता है कि कुछ पूछिए नहीं।

१—विष्णुश्रीवयार माणस्त

भंजणा पूजणा गुरुजणस्स ।
तित्थयराण य आणा,

मुयधम्मागट्ठणा ऽ विरिया ॥

—आर्य समाज नियुक्ति १२१५ ॥

इसी लिए द्रव्य वन्दन का जैन धर्म में निषेध किया गया है। पवित्र भावना के द्वारा उपयोग पूर्वक किया गया भाव वन्दन ही तीखरे आवश्यक का प्राण है। आचार्य मलयगिरि आवश्यक वृत्ति में द्रव्य और भाव-वन्दन की व्याख्या करते हुए कहते हैं—‘द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुप-युक्त सम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तत्त्वं ।’

आचार्य जिनदास गणी ने आवश्यक चूर्णि में द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन पर दो कथानक दिए हैं। एक कथानक भगवान् अरिष्ट नेमि का समय है। भगवान् नेमि के दर्शनों के लिए वासुदेव कृष्ण और उनके भिन्न वीरककौलिक पहुँचे। श्री कृष्ण ने भगवान् नेमि और अन्य साधुओं को बड़े ही पवित्र श्रद्धा एवं उच्च भावों से वन्दन किया। वीरककौलिक भी श्रीकृष्ण की देखा देखी उन्हें प्रसन्न करने के लिए पीछे-पीछे वन्दन करता रहा। वन्दन फल के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् नेमि ने कहा कि ‘कृष्ण ! तुमने भाव वन्दन किया है, अतः तुमने ज्ञायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है और तीर्थंकरगोत्र की शुभ प्रकृति का वन्धन । इतना ही नहीं, तुमने सातवीं, छठी, पाँचवीं और चौथी नरक का वन्धन भी तोड़ दिया है। परन्तु वीरक ने देखा देखी भावना शून्य वन्दन किया है, अतः उसका वन्दन द्रव्यवन्दन होने से निष्फल है। उसका उद्देश्य तुम्हें प्रसन्न करना है, और कुछ नहीं।’

दूसरा कथानक भी इसी युग का है। श्री कृष्णचन्द्र के पुत्रों में से शाम्भू और पालक नामक दो पुत्र वन्दना के इतिहास में सुविश्रुत हैं। शाम्भू बड़ा ही धर्म श्रद्धालु एवं उदार प्रकृति का युवक था। परन्तु पालक बड़ा ही लोभी एवं श्रमव्य प्रकृति का स्वामी था। एक दिन प्रसंगवश श्रीकृष्ण ने कहा कि ‘जो कल प्रातः काल में सर्व प्रथम भगवान् नेमिनाथ जी के दर्शन करेगा, वह जो माँगेगा, दूँगा।’ प्रातः काल होने पर शाम्भू ने जागते ही शय्या से नीचे उतर कर भगवान् को भाववन्दन कर लिया। परन्तु पालक राज्य लोभ की मूर्छा से थोड़े पर संभार होकर जहाँ भगवान् का समवेसरण था वहाँ गन्तव्य करने के

लिए पहुँचा। ऊपर से वन्दन करता रहा, किन्तु अन्दर में आदोश की आग जल रही थी। सूर्योदय के पश्चात् भीटूष्य ने पूछा कि 'भगवान् ! आज आप को पहले वन्दना किसने की ? भगवान् ने उत्तर दिया— 'द्रव्य से पालक ने और भाव से शास्त्र ने।' उपहार शास्त्र को प्राप्त हुआ।

पाठक उक्त कथानकों पर से द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन का अन्तर समझ गए होंगे। द्रव्य वन्दन अवधार है तो भाववन्दन प्रकाश है। भाववन्दन ही आत्मशुद्धि का मार्ग है। केवल द्रव्य वन्दन तो अभव्य भी कर सकता है। परन्तु अनेके द्रव्य वन्दन से होता क्या है ? द्रव्य-वन्दन में जगतक भाव का प्राण न डालना चाय तब तक आवश्यकशुद्धि का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

वन्दन क्रिया का उद्देश्य अस्मै में नम्रता का भाव प्राप्त करना है। जैनधर्म के अनुसार अहंकार नीच गोत्र का कारण है और नम्र। उच्च गोत्र का। वस्तुतः जो नम्र हैं, सबों का आदर करते हैं, रुद्रगुणों के प्रति बहुतमान रखते हैं, वे ही उच्च हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। जैनधर्म में विनय एवं नम्रता को तप कहा है। विनय विनशासन का मूल है— 'विण्णो जिणसासणमूलं।' आचार्य भद्रबाहु ने आशय नियुक्ति में कहा है कि— 'विनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा तपमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसको कैसा धर्म और कैसा तप ?'

विण्णो सासणे मलं,

विणीयो संजयो भवे।

विण्णयाउ विण्णमुक्कस्स,

कथो धम्मो कथो तवो ?॥

—आवश्यक नियुक्ति, १२१६

दशवैगलिक सूत्र में भी विनय का बहुत अधिक गुणगान किया गया है। एक समूचा अध्याय ही इस विनय के सम्भीर प्रतिपादन।

लिए रक्खा गया है। विनयाध्ययन में वृक्ष का रूपक देते हुए कहा है कि—‘जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ, और फिर क्रम से पत्र, पुष्प एवं फल उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार धर्म वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है।’

एवं धम्मस्स विणञ्चो,

मूलं परमो से मोक्खो ।

जेण कित्ती सुयं सिग्घं,

निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥

प्रतिक्रमण आवश्यक

जो पार मन से, वचन से और काय से स्वीय किए जाते हैं, दूसरों से कराए जाते हैं, एवं दूसरों के द्वारा किए हुए पारों का अनुमादन किया जाता है, इन सब पारों की निश्चिती के लिए, कृत पारों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है।

प्राचीन जैन-परम्परा के अनुगार प्रतिक्रमण का व्याकरणमन्मन निर्वाचन है कि—'प्रतीः क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अवमर्थः—शुभयोगे न्योऽशुभयोगान्तरं कालस्य शुभेषु पृथ क्रमणात्प्रतीः क्रमणम्।' आचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश की खोलाश वृत्ति में यह व्युत्पत्ति की है। इसका भाव यह है कि—शुभयोगों से अशुभ योगों में गए हुए आने-आवने पुनः शुभयोगों में लौटा लाना, प्रतिक्रमण है।

आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यक सूत्र की टीका में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए तीन महत्त्वपूर्ण प्राचीन श्लोक कथन किए हैं,—

स्वस्थानाद् यत्परस्थान,

प्रमादस्य वशाद् गत ।

तत्रैव क्रमणं भूयः

प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

—प्रमादवशः शुभ योग से गिर कर अशुभयोग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभयोग को प्राप्त करना, प्रतिक्रमण है।

ज्ञायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशं गतः ।

तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः ॥

रागद्वेषादि औदयिक भाव संसार का मार्ग है और समता, जमा, दया, नम्रता आदि ज्ञायोपशमिक भाव मोक्ष का मार्ग है। अस्तु, ज्ञायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से ज्ञायोपशमिक भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु ।

निः शल्यस्य यत्तेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥

—अशुभयोग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से उत्तरोत्तर प्रत्येक शुभ योग में प्रवृत्त होना ही प्रतिक्रमण है।

साधना क्षेत्र में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अप्रशस्त योग ये चार दोष बहुत भयंकर माने गए हैं। प्रत्येक साधक को इन चार दोषों का प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। मिथ्यात्व को छोड़ कर सम्यक्त्व में आना चाहिए, अविरति को त्याग कर विरति को स्वीकार

१—मिथ्यात्व प्रतिक्रमण का यह भाव है कि—‘ज्ञातं या अज्ञातं रूप में यदि कभी मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया हो, मिथ्यात्व में परिणति की हो तो उसकी आलोचना कर पुनः शुद्ध सम्यक्त्व भाव में उपस्थित होना।’

आचार्य भद्रबाहु ने १२५१ वीं गाथा में संसार प्रतिक्रमण का भी उल्लेख किया है, उसका यह भाव है—‘नरकादि गति के कारण-भूत महारंम आदि हेतुओं की आलोचना निन्दा गर्हणा करना।’ कुमनुष्य और कुदेव गति के हेतुओं की आलोचना ही करणीय है, शुभ मनुष्य और शुभ देवगति के हेतुओं की नहीं। क्योंकि विनयादि गुण हेतु नहीं हैं। ‘नवरं शुभनरामरायुर्हेतुभ्यो मायाधनासेवनादित्त-छरण्यो निराशंसेनैव अपवर्गाभिलाषिणापि न प्रतिक्रान्तव्यम्।’

काना चाहिए, कथाय का परिहार कर जमा आदि धारण करना चाहिए, और संसार की वृद्धि करने वाले अशुभ व्यापारों को छोड़ कर शुभ योगों को अमानना चाहिए—

मिच्छत-पट्टिकमणं,

सदेव असंजमे य पट्टिकमणं ।

कसायाण पट्टिकमणं,

जोगाण य अपरसत्थारुं ॥१२५०॥

—आचर्यक नियुक्ति

आचार्य भद्रपाद स्वामी, आचर्यक नियुक्ति में प्रतिज्ञमण के सम्बन्ध में बहुत गम्भीर विचार धारा उपस्थित करते हैं। उन्होंने साधक के लिए चार विषयों का प्रतिज्ञमण मतलाया है। आचार्यभी के ये चार कारण एवम दृष्टि से चिन्तन करने योग्य हैं—

(१) हिंसा, असत्य आदि त्रिण पाप कर्मों का भाषक तथा साधु के लिए प्रतिषेध किया गया है, यदि कभी भ्रान्तिवश से कर्म कर लिए जायें तो प्रतिज्ञमण करना चाहिए।

(२) शुद्ध स्वाध्याय, प्रतिलेखना, समाधिक आदि त्रिण कार्यों को करने का शास्त्र में विधान किया है, उनके न किए जाने पर भी प्रतिज्ञमण करना चाहिए। कर्तव्य कर्म को न करना भी एक पाप ही है।

(३) शास्त्र प्रतिपादित आत्मादि तत्त्वों की सत्यता के विषय में सन्देह लाने पर, अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिज्ञमण करना चाहिए। यह मानसिक शुद्धि का प्रतिज्ञमण है।

(४) आगमभिरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करने पर, अर्थात् हिंसा आदि के समर्थक विचारों की प्रवृत्ति काने पर भी अचर्य प्रतिज्ञमण करना चाहिए। यह वचन शुद्धि का प्रतिज्ञमण है।

पडिसिद्धाणं करणे,

किञ्चाणमकरणे पडिक्कमणं ।

असद्दहणे य तथा,

चिपरियपरुवणाए

अ ॥ १२६८॥

सामान्यरूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का है—द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण । मुमुक्षु साधकों के लिए भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं । उपयोग शून्य प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण है । इसी प्रकार केवल यश आदि के लिए दिखावे के रूप में किया जाने वाला प्रतिक्रमण भी द्रव्य प्रतिक्रमण ही है । दोषों का एक बार प्रतिक्रमण करने के बाद पुनः-पुनः उन दोषों का सेवन करना और फिर उन दोषों की शुद्धि के लिए बराबर प्रतिक्रमण करते रहना, यथार्थ प्रतिक्रमण नहीं माना जाता । इस प्रकार के प्रतिक्रमण से आत्म-शुद्धि होने के बदले धृष्टता द्वारा दोषों की वृद्धि ही होती है, न्यूनता नहीं । जो साधक बार-बार दोष सेवन करते हैं और फिर बार-बार उनका प्रतिक्रमण करते हैं, उनकी स्थिति ठीक उस जुल्लक साधू जैसी है—जो कंकर का निशाना मार कर बार बार कुम्हार के चाक से उतरते हुए कच्चे बर्तनों को फोड़ता था और कुम्हार के कहने पर बार-बार 'मिच्छामि दुक्कड़' कह कर क्षमा माँग लेता था । अस्तु, संयम में लगे हुए दोषों की सरल भावों से प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करना, और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत जागरूक रहना ही प्रतिक्रमण का वास्तविक उद्देश्य है । प्रतिक्रमण का अर्थ है पापों से भीति रखना । यदि पापों से डर ही नहीं हुआ, आत्मा पहले की भौंति ही स्वच्छन्द दोषों की ओर प्रभावित होता रहा तो फिर वह प्रतिक्रमण ही क्या हुआ ? भावप्रतिक्रमण त्रिविधं त्रिविधेन होता है, अतः उसमें दोष-प्रवेश के लिए अणुमात्र भी अवकाश नहीं रहता । पापाचरण का सर्वथा भावेन प्रायश्चित्त हो जाता है, और आत्मा पुनः अपनी शुद्ध स्थिति में पहुँच जाता है । भाव प्रतिक्रमण के लिए

आचार्य जिनश्रम कहते हैं—‘भाष्यपट्टिकमण अ मम्मदसशादपुणमुत्तस
पट्टिकमण ति ।’ आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—

माध-पट्टिकमणं पुण,
विपिह विपिहण नेय-व ॥१२४१॥

आचार्य हरिभद्र ने उक्त निबुक्ति गाथा पर विवेचन करते हुए
एक गाथा उद्धृत की है, जिसका यह भाव है कि मन, वचन एवं
कार से मिथ्यात्व, कथाय आदि दुर्मागों में न स्थाय गमन करना, न
दूसरों की गमन कराना, न गमन करने वाला वा अनुमोदन करना ही
मान प्रतिश्रमण है ।

“मिच्छताइ ए गच्छइ,
ए य गच्छावेइ एणुजाणैइ ।

ज मख वय - काणहि,

त भणिय भाषपट्टिकमण ॥”

आचार्य भद्रबाहु ने आदर्शक निबुक्ति में काल के भेद से प्रति-
श्रमण तीन प्रकार का बताया है —

“(१) भूत काल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना ।

(२) वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संरक्षित रहना ।

(३) प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को अवरुद्ध करना ।

उत्पुक्त प्रतिक्रमण की निराल निषयता पर ध्यान है कि—प्रति-
श्रमण तो भूतकालिक माना जाता है, यह निरालनिषयक कैसे हो सकता
है ? उत्तर में निवेदन है कि प्रतिश्रमण शब्द का मौलिक अर्थ अशुभ
योग की निवृत्ति है । आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की खोजकृति में
यही भाव व्यक्त करते हैं—“प्रतिक्रमण शब्दोऽशुभयोग निवृत्तिम आर्थः ।”
अस्तु निन्दा द्वारा भूतकालिक अशुभयोग की निवृत्ति होनी है, अतः यह
अतीत प्रतिक्रमण है । संरक्ष के द्वारा वर्तमान कालनिषयक अशुभयोगों
की निवृत्ति होनी है, अतः यह वर्तमान प्रतिक्रमण है ।

प्रत्याख्यान-के द्वारा भविष्यकालीन अशुभ योगों की निवृत्ति होती है अतः यह भविष्यकालीन प्रति क्रमण माना जाता है ।^१ भगवती सूत्र में भी कहा है “अइयं पडिक्कमेइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ ।”

विशेषकाल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच भेद भी माने गए हैं—‘दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, और सांवत्सरिक ।

(१) दैवसिक—प्रतिदिन सायंकाल के समय दिन भर के पापों की आलोचना करना ।

(२) रात्रिक—प्रतिदिन प्रातःकाल के समय रात्रि भर के पापों की आलोचना करना ।

(३) पाक्षिक—महीने में दो बार अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पक्ष भर के पापों की आलोचना करना ।

(४) चातुर्मासिक—चार चार महीने के बाद कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा, आपाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने भर के पापों की आलोचना करना ।

(५) सांवत्सरिक—प्रत्येक वर्ष प्रतिक्रमणकालीन आपाढ़ी पूर्णिमा से पचास दिन बाद भाद्रपदशुक्ला पंचमी के दिन वर्ष भर के पापों की आलोचना करना ।

एक प्रश्न है कि जब प्रतिदिन प्रातः सायं दो बार तो प्रतिक्रमण हो ही जाता है, फिर ये पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्यों किए जाते हैं ? दैवसिक और रात्रिक ही तो अतिचार होते हैं, और उनकी शुद्धि प्रतिदिन दैवमिक तथा रात्रिक प्रतिक्रमण के द्वारा हो ही जाती है ?

—१—प्रतिक्रमण—शब्दो हि अत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थः

सामान्यतः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेवेति, प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरद्वारेण अशुभयोग निवृत्तिरेव, अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति ।

—आचार्य हम्पिद्र

प्रश्न सुदूर है। उत्तर में निवेदन है कि 'गृहस्थ लोग प्रति दिन अपने घरों में भाङ्ग लगाते हैं और बूझ साफ करते हैं। परन्तु कितनी ही सावधानी से भाङ्ग दी जाय, फिर भी थोड़ी गहुत धूल रह ही जाती है, जो किसी विशेष पर्वा अर्थात् त्योहार आदि के दिन साफ की जाती है। इसी प्रकार प्रति दिन प्रतिनम्य करते हुए भी कुछ भूलों का प्रमाजर्जन करना बाकी रह ही जाना है, जिसके लिए पार्ष्विक प्रतिनम्य किया जाता है। पक्षभर की भी जो भूलें रह जायें उनके लिए चातुर्मासिक प्रतिनम्य का विधान है। चातुर्मासिक प्रतिनम्य से भी अवशिष्ट रही हुई अशुद्ध, सावत्सरिक क्षमापना के दिन प्रतिनम्य करके दूर की जाती है।

स्थानाङ्ग सूर के षष्ठ स्थान के ५३८ वें सूत्र में छह प्रकार का प्रतिनम्य बतलाया है :—

(१) उज्ज्वार प्रतिनम्य—उपयोगपूर्वक भक्ष्य नीत का = पुरीष का त्याग करने के बाद ईर्षा का प्रतिनम्य करना, उज्ज्वार प्रतिनम्य है।

(२) प्रश्नपण प्रतिनम्य—उपयोगपूर्वक लघुनीत अर्थात् वेश्या करने के बाद ईर्षा का प्रतिनम्य करना, प्रश्नपण प्रतिनम्य है।

(३) इत्यर प्रतिनम्य—दैविक तथा सानक आदि स्वल्प-फाल्गुन प्रतिनम्य करना, इत्यर प्रतिनम्य है।

(४) यावरकथिक प्रतिनम्य—महाव्रत आदि के रूप में यावज्जीवन के लिए पाप से निवृत्ति करना, यावरकथिक प्रतिनम्य है।

१—'एतद्देवस्यै रत्नैः पट्टिस्कन्ते किमितिपत्तितय-चाउम्मा-
सिय-सपसरिपसु विसेसेणं पट्टिस्कन्ति? —जया सोने मोहं दिपसे
दिपसे पत्तिज्जित वि पदादिपु अम्मन्तिं खवनेवपमज्जणादीहि
रुत्तिज्जति। एवमिहा वि पवसोह-विसेसे कीरति ति।'।

—आवरण धूँ

(५) यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण—संयम में सावधान रहते हुए भी साधु से यदि प्रमादवश तथा आवश्यक प्रवृत्तिवश असंयमरूप कोई आचरण हो जाय तो अपनी भूल को स्वीकार करते हुए उसी समय पश्चात्ताप पूर्वक 'मिक्छामि दुक्कडं' देना, यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है ।

(६) स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—सोकर उठने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है । अथवा विकारवासना रूप कुत्सप्त देखने पर उसका प्रतिक्रमण करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है ।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के प्रतिचरणा आदि आठ पर्याय कथन किए हैं । यद्यपि आठों पर्याय शब्द-रूप में पृथक् पृथक् हैं, परन्तु भाव की दृष्टि से प्रायः एक ही हैं ।

पडिक्रमणं पडियरणा,

परिहरणा वारणा नियत्ती य ।

निन्दा गरिहा सोही,

पडिक्रमणं अट्टहा होइ ॥१२३३॥

(१) प्रतिक्रमण—'प्रति' उपसर्ग है 'क्रम' धातु है । प्रति का अर्थ प्रतिकूल है, और क्रम का अर्थ पदनिक्षेप है । दोनों का मिलकर अर्थ होता है कि जिन कदमों से बाहर गया है उन्हीं कदमों से वापस लौट आए । जो साधक किसी प्रमाद के कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप स्व-स्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयमरूप पर-स्थान में चला गया हो, उसका पुनः स्वस्थान में लौट आना प्रतिक्रमण है । पापक्षेत्र से वापस आत्म शुद्धि क्षेत्र में लौट आने को प्रतिक्रमण कहते हैं । आचार्य जिनदास कहते हैं—'पडिक्रमणं पुनरावृत्तिः ।'

(२) प्रतिचरणा—अहिंसा, सत्य आदि संयमक्षेत्र में भली प्रकार विचरण करना, अग्रसर होना, प्रतिचरणा है । अर्थात् असंयम क्षेत्र से दूर-दूर वचते हुए सावधानतापूर्वक संयम को विशुद्ध एवं निर्दोष पालन

करना, प्रतिचरणा है। आचार्य जिनदास कहते हैं—‘अत्याद्वानुचरणा पटिचरणा चकार्येपरिहार कायप्रवृत्तिश्च।’

(३) परिहरणा—मन प्रसार से अशुभ योगों का, दुष्पानों का, दुष्टाचरणों का त्याग करना, परिहरणा है। संयममार्ग पर चलते हुए आसनाम अनेक प्रकार के प्रलाभन आते हैं, विघ्न आते हैं, यदि साधक परिहरणा न रखे तो झोकर ला सकता है, पथ भ्रष्ट होसकता है।

(४) धारणा—धारणा का अर्थ निवेद है। महासाधैराई बीतराग देव ने साधकों को निषय भोग रूप विष हृदों के पास आने से रोका है। अतः जो साधक इस निषेधाज्ञा पर चलते हैं, अपने को निषयभोग से उचावर रखते हैं, वे सतुंगल ससार बन् को पार कर मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं। ‘आत्म निधारणा धारणा।’

(५) निवृत्ति—अशभ अर्थात् पापचरण का अकार्य से निवृत्त होना, निवृत्ति है। साधक को कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। यदि कभी प्रमाद दशा में चला भी जाए तो शीघ्र ही स्वप्रमाद भाव में लौट आना चाहिए। आचार्य जिनदास कहते हैं—‘अमुनभाव निवृत्तण नियत्ती।’

(६) निष्ठा—अपने आत्मदेव की सखी से ही पूर्णतः अशुभ आचरणों को दुरा समझना, उमन निष्ठा पश्चात्ताप करना निष्ठा है। पाप को दुरा समझते हो तो सुवचार क्यों रहते हो? अपने मन में ही उस अशुभ संकल्प एवं अशुभ आचरण का धिक्कार दो, ताकि वह मन का मेल धुनकर साफ हो जाय। साधनाकाल में सगार की ओर से बड़ी भारी पूजा प्रतिष्ठा मिलती है। इस स्थिति में साधक यदि अहंकार व चक्र में पड़ गया तो सर्वनाश है। अन्तः भावन का प्रतिदिन विचारना है और अपने आत्मा से कहना है कि—‘तू यही गरज तिर्यक्त आदि उन्नति में भगवन्ने वाला पामर प्राणी है। यह मनुष्य जन्म उन्ने पुण्योदय से मिला है। और यह सम्भृद्दर्शन आदि रत्नत्रय का ही प्रताप है कि तू इस उच्च स्थिति में है। बेगाना, कहीं भटक न जाया। तू ने अमुकअमुक

भूलें की हैं और फिर भी यह साधुता का गर्व है ? धिक्कार है तेरी इस नीच मनोवृत्ति पर ।’

(७) गर्हा—गुरुदेव तथा किसी भी अन्य अनुभवी साधक के समक्ष अपने पापों की निन्दा करना गर्हा है । गर्हा के द्वारा मिथ्याभिमान चूर-चूर हो जाता है । दूसरों के समक्ष अपनी भूल प्रकट करना कुछ सहज बात नहीं है । जबतक हृदय में पश्चात्ताप का तीव्र वेग न हो, आत्मशुद्धि का दृढ़ संकल्प न हो, पापाचार के प्रति उत्कट घृणा न हो, तबतक अपराध मन में ही छुपा बैठा रहता है, वह किसी भी दशा में बाहर आने के लिए जिह्वा के द्वार पर नहीं आता । अतएव तीव्र पश्चात्ताप के द्वारा दूसरों के समक्ष पापों की आलोचना रूप गर्हा पाप प्रक्षालन का सर्वश्रेष्ठ साधन है । जिस प्रकार अमृतौघधि से विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार गर्हा के द्वारा दोषरूप विष भी पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है ।

(८) शुद्धि—शुद्धि का अर्थ निर्मलता है । जिस प्रकार वस्त्र पर लगे हुए तैल आदि के दाग को साबुन आदि से धोकर साफ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर लगे हुए दोषों को आलोचना, निन्दा, गर्हा तथा तपश्चरण आदि धर्म साधना से धोकर साफ किया जाता है । प्रतिक्रमण आत्मा पर लगे दोषरूप दागों को धो डालने की साधना है, अतः वह शुद्धि भी कहलाता है ।

प्रतिक्रमण जैन-साधना का प्राण है । जैन साधक के जीवन क्षेत्र का कोना-कोना प्रतिक्रमण के महा प्रकाश से प्रकाशित है । शौच, पेशाव, प्रतिलेखना, वसति का प्रमार्जन, गोचरी, भोजन पान, मार्ग में गमन, शयन, स्वाध्याय, भक्तगान का परिष्ठापन, इत्यादि कोई भी क्रिया की जाए तो उसके बाद प्रतिक्रमण करना आवश्यक है । एक स्थान से सौ हाथ तक की दूरी पर जाने और वहाँ फिर एक मुहूर्त भर बैठ कर विश्राम लेना हो तो बैठते ही गमनागमन का प्रतिक्रमण अवश्य करणीय होता है । श्लेष्म और नाक का मल भी डालना हो तो उसका भी प्रतिक्रमण करने का विधान है । भूमि पर एक कदम भी यदि बिना देखे निरुपयोग तथा

में रख दिया हो तो साधु को तदर्थ भी मिच्छामि दुस्कर्ड देना चाहिए । शात, अज्ञात तथा सहसाकार आदि किसी भी रूप में कोई भी मित्रा की हो, कोई भी घटना घरी हो, उसके प्रति मिच्छामि दुस्कर्ड रूप प्रतिक्रमण कर लेने से आत्मा में अप्रमत्तभाव की ज्योति प्रकाशित होती है। अपूर्व आत्मशुद्धि का पथ प्रशस्त होता है और होता है अज्ञान, आवेक एवं अनवधानता का अन्त ।

प्रतिशमण का अर्थ है—‘यदि किसी कारण विशेष से आत्मा संयम क्षेत्र से असंगम क्षेत्र में चला गया हो तो उसे पुनः संयम क्षेत्र में लौटा लाना ।’ इस व्याख्या में प्रमाद शब्द विचारणीय है । यदि प्रमाद के स्वरूप का पता लग जाय तो माधक बहुत कुछ उससे बचने की चेष्टा कर सकता है ।

प्रवचन साधेश्वर में प्रमाद के निम्नोक्त आठ प्रकार बताए गए हैं:-

(१) अज्ञान—जोष नूयता आदि ।

(२) सशय—जिन उचनों में सन्देह ।

(३) मिथ्या ज्ञान—विपरीत धारणा ।

(४) राग—आमक्ति ।

(५) द्वेष—वृथा ।

(६) स्मृति भ्रंश—भूल हो जाना ।

(७) अनादर—संयम के प्रति अनादर ।

(८) योगदुष्प्रशिक्षधानता—मन, वचन, शरीर को कुमार्ग में प्रवृत्त करना ।

प्रतिशमण की साधना प्रमादभाव को दूर करने के लिए है । साधक के जीवन में प्रमाद ही बढ़ रहा है, जो अन्दर ही अन्दर साधना को सड़ा मला कर नष्ट भ्रष्ट कर डालता है । अतः साधु और भावक दोनों का कर्तव्य है कि प्रमाद से बचें और अपनी साधना को प्रतिशमण के द्वारा अप्रमत्त स्थिति प्रदान करें ।

: १६ :

कायोत्सर्ग-आवश्यक

प्रतिक्रमण-आवश्यक के बाद कायोत्सर्ग का स्थान है। यह आवश्यक भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग का नाम व्रण-चिकित्सा है। धर्म की आराधना करते समय प्रमादवश यदि कहीं अहिंसा एवं सत्य आदि व्रत में जो अतिचार लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं, वे संयम रूप शरीर के घाव हैं। कायोत्सर्ग उन घावों के लिए मरहम का काम देता है। यह वह औषधि है, जो घावों को पुर करती है और संयम शरीर को अक्षत बनाकर परिपुष्ट करती है। जो वस्त्र मलिन हो जाता है, वह किससे धोया जाता है? जल से ही धोया जाता है न? एक बार नहीं, अनेक बार मलमल कर धोया जाता है। इसी प्रकार संयम रूप वस्त्र को जब अतिचारों का मल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं तो उसे प्रतिक्रमण रूप जल से धोया जाता है। फिर भी कुछ अशुद्धि का अंश रह जाता है तो उसे कायोत्सर्ग के उष्ण जल से दुबारा धोया जाता है। यह जल ऐसा जल है, जो जीवन के एक एक सूत्र से मल के कण-कण को गला कर साफ करता है और संयम जीवन को अच्छी तरह शुरू बना देता है।

कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। वह पुराने पापों को धोकर साफ कर देता है। आवश्यक सूत्र के उत्तरीकरण सूत्र में यही कहा है कि संयम जीवन को विशेषरूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को शल्य रहित बनाने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए, कायोत्सर्ग किया जाता है।

—‘तस्मै उत्तरीकरणेणं, पापविच्छेदकरणेणं, तिस्रोही करणेणं, तिस्रह्ली करणेणं, पापाणं कर्माणं निष्पापवृत्त्यापुं तामि काउत्स्यम् ।’
 आनन्द प्रश्न करेंगे कि क्या किए हुए पाप भी धोकर गए किए जा सकते हैं ? शिवा भोग हुए भी पापों ने छुटकारा हो सकता है ? पाप कर्मों के सम्बन्ध में तो यही कहा जाता है कि ‘अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।’

जैन धर्म उपर्युक्त पारणा से विरोध करता है । वह तब पाप कर्मों के भोगने की मान्यता का पक्षगती नहीं है । किए हुए पापों की शुद्धि न मानें तो फिर यह सब धर्म साधना, तपस्वरण आदि व्यर्थ ही पाप क्लेश होगा । संसार में हम देखते हैं कि अनेक विद्वान् हुईं परन्तु पुनः शुद्ध कर ली जाती है तो कि आत्मा को शुद्ध क्या नहीं बनाया जा सकता ? पाप क्या है या आत्मा ? पाप की शक्ति बलवती है या धर्म की ? धर्म की शक्ति संसार में बड़ी मंदिर की शक्ति है । उसके समस्त पाप टहर नहीं सकते हैं । मगमान के सामने चैतान भला कैसे टहर सकता है ? हमारी आध्यात्मिक शक्ति ही भागवती शक्ति है । उमक समस्त पापों की आसु की शक्ति कथमपि नहीं रखी रह सकती है । परम की शुद्ध में हजार हजार लोगों से अन्धकार भरा हुआ है । कुछ भी तो नहीं दिखाई देता । निधर चलते हैं, ठहर ही डोकर खते हैं । परन्तु क्या ही प्रकाश अन्दर पहुँचना है, लक्ष भर में अन्धकार अज्ञान भिन्न हो जाता है । धर्म-साधना एक ऐसा ही अप्रतिहत प्रसरण है । भोग भोग कर कर्मों का नाश कब तक होगा ? एकेक आत्मप्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म धारणा है । इस संलित जीवन में उनका भोग हो भी तो कैसे हो ? हाँ तो जैन-धर्म पापों की शुद्धि में विश्वास रखता है । धर्मधर्म की अपूर्ण शक्ति के द्वारा वह आत्मा की शुद्धि मानता है । भूला भट्ठा हुआ साधक जब प्रायश्चित्त कर लेता है तो वह शुद्ध हो जाता है, निर्गम हो जाता है । फिर वह धर्म में, समाज में, लोक में, परलोक में सर्वत्र आदर का स्थान प्राप्त कर लेता है । वस्तु पर जयन अशुद्धि लगी रहनी है, तभी

सक उसके प्रति घृणा बनी रहती है। परन्तु जब वह धोकर साफ कर लिया जाता है तो फिर उसी पहले जैसे स्नेह से पहना जाता है। यही ज्ञात पाप शुद्धि के लिए किए जाने वाले प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भी है। प्रायश्चित्त के अनेक रूप हैं। जैसा दोष होता है, उसी प्रकार का प्रायश्चित्त उसकी शुद्धि करता है। जीवन व्यवहार में इधर-उधर जो संयम जीवन में भूलें हो जाती हैं, ज्ञात या अज्ञात रूप में कहीं इधर-उधर जो कदम लड़खड़ा जाता है, कायोत्सर्ग उन सब पापों का प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्ग के द्वारा वे सब पाप धुल कर साफ हो जाते हैं^१ फलतः आत्मा शुद्ध निर्मल एवं निष्पाप हो जाता है।

भगवान् महावीर ने पापकर्मों को भार कहा है। जेठ का महीना हो, मंजिल दूर हो, मार्ग ऊँचा नीचा हो, और मस्तक पर मन भर पत्थर का बोझ गर्दन की नम-नस को तोड़ रहा हो, बताइए, वह कितनी विकट स्थिति है? इस स्थिति में भार उतार देने पर मजदूर को कितना आनन्द प्राप्त होता है? यही दशा पापों के भार की भी है। कायोत्सर्ग के द्वारा इस भार को दूर फेंक दिया जाता है। कायोत्सर्ग वह विश्राम भूमि है, जहाँ पाप कर्मों का भार हल्का हो जाता है, सब ओर प्रशस्त धर्म ध्यान का वातावरण तैयार हो जाता है, फलतः आत्मा स्वस्थ, सुखमय एवं आनन्दमय हो जाता है।

‘काउसगोणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहिण्ण ओहरिय भरुव भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ।

—उत्तराध्ययन २६। १२।

कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं—काय और उत्सर्ग। दोनों का मिल कर अर्थ होता है—काय का त्याग। प्रतिक्रमण करने के बाद साधक अमुक

२—‘कायोत्सर्गकरणतः प्रागुपात्तकर्मक्षयः प्रतिपाद्यते ।’

—हरिभट्टीय आवश्यक

समय तक अपने शरीर को घोसिया कर जिनमुद्रा से रखा हो जाता है, वह उस समय न संसार के बाह्य पदार्थों में रहता है, न शरीर में रहता है, सब ओर से मिमट कर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की साधना है। अस्तु बहिर्मुख स्थिति से साधक जब अन्तर्मुख स्थिति में पहुँचता है तो वह रागद्वेष से बहुत ऊपर उठ जाता है, निःसंग एवं अनासक्त स्थिति का रसास्वादन करता है, शरीर तक की मोहमाया का त्याग कर देता है। इस स्थिति में कुछ भी संकट आए, उसे समभाव से सहन करता है। सरदी हो, गर्मी हो, मच्छर हो, दश हों, सब पीड़ाओं को समभाव से सहन करना ही काय का त्याग है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य शरीर पर की मोहमाया को कम करना है। यह जीवन का मोह, शरीर की ममता वही भयंकर चीज है। साधक के लिए तो गिर है। साधक तो क्या, साधारण समूची प्राणी भी इस दल दल में पँस जाने के बाद किसी अर्थ का नहीं रहता। जो लोग कर्तव्य की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्व देते हैं, शरीर की मोहमाया में रचे पचे रहते हैं, दिन-रात उसी के सजाने-सँवारने में लगे रहते हैं, वे समय पर न अपने परिवार की रक्षा कर सकते हैं, और न समाज एवं राष्ट्र की ही। वे भगोड़े सफ़ट काल में अपने जीवन को लेकर भाग लकें होते हैं, इस स्थिति में परिवार, समाज, राष्ट्र की कुछ भी पुर्गति हो, उनकी गला से। आज भारत इसी स्थिति में पहुँच गया है। यहाँ सर्वत्र भगोड़े ही राष्ट्र और धर्म के जीवन को बरबाद कर रहे हैं। उठ कर सघर्ष करने की, और संघर्ष करते-करते अपने आपनों कर्तव्य के लिए होम देने की यहाँ हिम्मत ही नहीं रही है। आज देश के प्रत्येक स्त्रीपुरुष को कायोत्सर्ग-सम्बन्धी शिक्षा लेने की आवश्यकता है। शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझने की बला ही राष्ट्र में कर्तव्य की चेतना जगा सकती है। बड़-छेन का भेद समझे बिना सारी साधना मूल साधना है। जीवन के

कदम-कदम^१ पर कायोत्सर्ग का स्वर गूँजते रहने में ही आज के धर्म, समाज और राष्ट्र का कल्याण है। कायोत्सर्ग की भावना के बिना समय पर महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने तुच्छ स्वार्थों को बलिदान करने का विचार तक नहीं आ सकता। इस जीवन में शरीर का मोह बहुत बड़ा बन्धन है। जीवन की आशा का पाश जन-जन को अपने में उलझाए हुए है। पद-पद पर जीवन का भय कर्तव्य साधना से पराङ्मुख होने की प्रेरणा दे रहा है। आचार्य अकलंक इन सब बन्धनों से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय कायोत्सर्ग को बताते हैं—

—‘निःसंग-निर्भयत्व-जीविताशा-ध्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः ।’

—राजवार्तिक ६ । २६ । १० ।

आचार्य अमित गति तो अपने सामायिक पाठ में कायोत्सर्ग के लिए मङ्गलकामना ही कर रहे हैं कि—

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं,

विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।

जिनेन्द्र ! कोपादिव खङ्ग-यष्टिं,

तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

—हे जिनेन्द्र ! आप की अपार कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्रकट हो कि मैं अपनी अनन्त शक्ति सम्पन्न, दोष-रहित, निर्मल दीतराग आत्मा को इस क्षणभंगुर शरीर से उसी प्रकार अलग कर सकूँ—अलग समझ सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है।

हाँ तो जैनधर्म के पटावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतन्त्र स्थान इसी ऊपर की भावना को व्यक्त करने के लिए मिला है। प्रत्येक जैन साधक को प्रातः और सायं अर्थात् प्रति-दिन नियमेन कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर

और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करना होता है कि—“यद शरीर और है, और मैं और हूँ। मैं अजरअमर चैतन्य आत्मा हूँ, मेरा कभी नाश नहीं हो सकता। शरीर का क्या है, धातु है, बलान रहै। अस्तु, मैं इस क्षणभंगुर शरीर के मोह में अपने कर्तव्यों से क्यों पराट्मुख बनूँ ? यह मिट्टी का मिट मेरे लिए एक गिलौना भर है। जब तक यह गिलौना काम देता है, तब तक मैं इससे काम लूँगा, हट कर काम लूँगा। परन्तु जब यह टूटने को होगा, या दूटेगा तो मैं नहीं रोऊँगा। मैं रोऊँ भी क्यों ? ऐसे ऐसे गिलौने अनन्त अनन्त प्रवृत्ति किए हैं, क्या हुआ उनका ? कुछ दिन रहे दूटे और मिट्टी में मिल गए। इस गिलौने की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। ध्येय ही शरीर की इत्या करना, अपने आप में कोई आदर्श नहीं है। धीतराग देन ध्येय ही शरीर को दबाने देने में, उसकी इत्या करने में पाप मानते हैं। परन्तु जब यह शरीर कर्तव्य पथ का रोड़ा उठे, जीवन का मोह दिग्गजर आदर्श से ध्युत करे तो मैं इस रागिनी को मुनने वाला नहीं हूँ। मैं शरीर की अपेक्षा आत्मा की ध्वनि सुनना अधिक पसंद करना हूँ। शरीर मेरा वाहन है। मैं इस पर सवार होकर जीवन पाना का लम्बा पथ तय करने के लिए आया हूँ। परन्तु कभी कभी यह दुष्ट अश्व डलटा मुझ पर सवार होना चाहता है। यदि यह घोड़ा मुझ पर सवार हो गया तो सितमी अमर अत दामी ? नहीं, मैं ऐसा कभी नहीं होने दूँगा।” यह है कायोत्सर्ग की मूल भावना। प्रति दिन नियमेन शरीर के सम्मत्त-स्थान का अभ्यास करना, साधक के लिए कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो साधक निरन्तर ऐसा कायोत्सर्ग करते रहेंगे, ध्यान करते रहेंगे, वे समय पर अवश्य शरीर की मोहमाया से बच सकेंगे और अपने जीवन के महान् लक्ष्य का प्राप्ति में सफल हो सकेंगे। आचार्य शंकर कीर्ति करते हैं—

समत्वं देहतो नश्ये,

कायोत्सर्गं धीमताम् ।

निर्ममत्वं भवेन्नूनं,

महाधर्म-सुखाकरम् ॥१८॥ १८४॥

—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

—कायोत्सर्ग के द्वारा ज्ञानी साधकों का शरीर पर से ममत्वभाव छूट जाता है, और शरीर पर से ममत्वभाव का छूट जाना ही वस्तुतः महान् धर्म और सुख है।

कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में आज की क्या स्थिति है ? इस पर भी प्रसंगानुसार कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। आजकल प्रतिक्रमण करते समय जब ध्यान स्वरूप कायोत्सर्ग किया जाता है, तब मच्छरों से अपने को बचाने के लिए अथवा सरदी आदि से रक्षा करने के लिए शरीर को सब ओर से वस्त्र द्वारा ढक लेते हैं। यह दृश्य बड़ा ही विचित्र होता है। यह ममत्व त्याग का नाटक भी क्या खूब है ? यह कायोत्सर्ग क्या हुआ ? यह तो उल्टा शरीर का मोह है। कायोत्सर्ग तो कष्टों के लिए अपने आपको खुला छोड़ देने में है। कष्ट सहिष्णु होने के लिए अपने को वस्त्र रहित बनाकर नंगे शरीर से कायोत्सर्ग किया जाय तो अधिक उत्तम है। प्राचीन काल में यही परम्परा थी। आचार्य धर्मदास ने उपदेश माला में प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते समय प्रावरण ओढ़ने का निषेध किया है। कायोत्सर्ग करते समय न बोलना है, न हिलना है। एक स्थान पर पत्थर की चट्टान के समान निश्चल एवं निःस्वन्द जिन मुद्रा में दण्डायमान खड़े रहकर अगलक दृष्टि से शरीर का ममत्व ब्रोकसाना है, आत्मध्यानमें रमण करना है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक नियुक्ति में इस ममत्व त्याग पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

वासी-चंदणकण्णो,

जो मरणे जीविए य समसण्णो।

देहे य अपडिवद्धो,

काउस्सग्गो ह्वइ तस्स ॥१५४८॥

—चाहे कोई भक्ति भाव से चंदन लगाए, चाहे कोई द्वेषयश जसीले से छीले, चाहे चीजन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु आ जाय; परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, उक्त सब स्थितियों में सम चेतना रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।

विधिहाणुपसंगाणं,

दिव्याख्यं भाणुसाण तिरियाणं ।

सम्ममहियासणाए,

काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥ १५४६ ॥

—जो साधक कायोत्सर्ग के समय देवता, मनुष्य तथा तिर्यक्ष-सम्बन्धी सभी प्रकार के उपासकों को सम्बन्ध रूप से सहन करता है, उसका कायोत्सर्ग ही वस्तुतः शुद्ध होता है।

काउस्सग्गे जइ सुट्टियस्स,

भज्जति अग मंगाइ ।

इय भिदंति सुविहिया,

अट्टविहं कम्म-संघाय ॥ १५४७ ॥

—जिस प्रकार कायोत्सर्ग में निःस्वन्द रखे हुए अंत-अंत दूढ़ने लगता है, दुपने लगता है, उसी प्रकार सुविहित साधक कायोत्सर्ग के द्वारा आठों ही कर्म समूह को पीड़ित करते हैं एवं उन्हें नाश कर डालते हैं।

अन्नं इयं सरीरं,

अन्नो जीवुत्ति कय-जुद्धा ।

हुक्ख परिफिलेस हन्,

द्धिदं ममत्तं सरीराओ ॥ १५४८ ॥

—सायोत्सर्ग में शरीर से सब दुष्टों की वह ममता का सम्बन्ध तोड़ देने के लिए साधक को यह मुद्दह संकल्प कर लेना चाहिये कि शरीर ओर है, ओर आत्मा ओर है।

कायोत्सर्ग करने वाले सज्जन विचार सकते हैं कि कायोत्सर्ग के लिए कितनी तैयारी की आवश्यकता है, शरीर पर का कितना मोह हटाने की अपेक्षा है। कायोत्सर्ग करते समय पहले से ही शरीर का मोह रखलेना और उसे वस्त्रों से लपेट लेना किसी प्रकार भी न्याय्य नहीं है। ममत्व त्याग के ऊँचे आदर्श के लिए वस्तुतः सच्चे हृदय से ममत्व का त्याग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के लिए ऊपर आचार्य भद्रबाहु के जो उद्धरण दिए गए हैं, उनका उद्देश्य साधक में क्षमता का दृढ़ बल पैदा करना है। उसका यह अर्थ नहीं है कि साधक मिथ्या आग्रह के चक्कर में अज्ञानता-वश अपना जीवन ही होम दे। साधक, आखिर एक साधारण मानव हैं। परिस्थितियाँ उसे झकझोर सकती हैं। सभी साधक एक क्षण में ही उस चरम स्थिति में पहुँच सकें, यह असम्भव है। आज ही नहीं, उस युग में भी असम्भव था। मानव जीवन एक पवित्र वस्तु है, उसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही सुगन्धित रखना है या होम देना है। अतः भगवान् ने दुर्बल साधकों के लिए आवश्यक सूत्र में कुछ आगारों की ओर सकेत किया है। कायोत्सर्ग करने से पहले उस आकार सूत्र का पढ़ लेना, साधक के लिए आवश्यक है। खाँसी, छींक, ढकार, मूछाँ आदि शारीरिक व्याधियों का भी आगार रक्खा जाता है, क्योंकि शरीर शरीर है, व्याधिका मन्दिर है। किसी आकस्मिक कारण से शरीर में कम्पन आजाय तो उस स्थिति में कायोत्सर्ग का भंग नहीं होता है। दीवार या छत आदि गिरने की स्थिति में हों, आग लग जाए, चोर या राजा आदि का उद्भव हो, अचानक मार काट का उपद्रव उठ खड़ा हो, तब भी कायोत्सर्ग खोलकर इधर-उधर सुत्ता के लिए प्रवन्ध किया जा सकता है। व्यर्थ ही धर्म का अहंकार रख कर खड़े रहना, और फिर आर्त रौद्र ध्यान की परिणति में मरण तथा प्रहार घात करना, संयम के लिए घातक चीज है। जैन साधना का मूल उद्देश्य आर्तरौद्र की परिणति को वन्द करना है, अतः जब तक वह परिणति

कायोत्सर्ग के द्वारा बन्द होनी है, तब तक कायोत्सर्ग का आलम्बन रित कर है। और यदि वह परिणति परिस्थितिवश कायोत्सर्ग समाप्त करने से बन्द होनी हो तो वह मार्ग भी उपादेय है। केवल अग्नी रक्षा ही नहीं, यदि कभी दूसरे जीवों को रक्षा के लिए भी कायोत्सर्ग जीवन में लोचना पड़े तो वह भी आवश्यक है। प्यानस्थ साधक के सामने पचेन्द्रिय जीवों का छेदन भेदन होना हो, किसी को सर्व आदि दस ले तो तात्कालिक सहायता करने के लिए जैन परम्परा में प्यान लोचने की स्पष्टता आशा है। क्योंकि वह रक्षा का कार्य कायोत्सर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक नियुक्ति में इन्हीं ऊपर की भावनाओं का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

अगणीओ छिदिज्ज वा,

योहियलोभाइ दीहड्डको वा ।

आगारेहि

अभग्गो,

उस्सग्गो

एवमाइहि^१ ॥ १५१६ ॥

हाँ, तो जैन धर्म विवेक का धर्म है। जो भी स्थिति विनेन पूर्ण हो, लाभपूर्ण हो, आर्तरोद्र दुःखान की परिणति को कम करने वाली हो, उसी स्थिति को अपनाना जैन धर्म का आदर्श है। पाठक इस का विचार करें तो अग्निक भेयस्कर होगा। दुःखमद में नहीं, सदासद में ही जैन-धर्म की आत्मा का निवास है।

आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद मिले हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एव स्थान पर जिन मुद्रा से निश्चल एवं निःस्पन्द स्थिति में लगे रहना। यह साधना के क्षेत्र में आदर्शवश है, परन्तु भाव के साथ। केवल

१—यह गाथा, आगारसुभन्तर्गत 'एवमाइहि' आगारेहि इस पद के स्पष्टीकरण के लिए ली गई है।

द्रव्य का जैनधर्म में कोई महत्त्व नहीं है। एक आचार्य कहता है कि यह द्रव्य तो एकेन्द्रिय वृत्तों एवं पर्वतों में भी मिल सकता है। केवल निःस्पर्श हो जाने में ही साधना का प्राण नहीं है। साधना का प्राण है भाव। भाव कायोत्सर्ग का अर्थ है—आर्त रौद्र दुर्धानों का त्याग कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है। द्रव्य तो ध्यान के लिए भूमिकामात्र है। अतएव आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में कहते हैं—‘सो पुण काउत्सर्गो द्भवतो भावतो य भवति, द्भवतो कायचेट्टानिरोहो, भावतो काउत्सर्गो काणं ।’ और इसी भाव को मुख्यत्व देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में बार-बार कहा गया है कि—‘काउत्सर्गं तथो कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।’ कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है, परन्तु कोन सा ? ‘द्रव्य के साथ भाव’ ।

यह कायोत्सर्ग दो रूप में किया जाता है—एक चेष्टाकायोत्सर्ग तो दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग। चेष्टा कायोत्सर्ग परिमित काल के लिए गमनागमनादि एवं आवश्यक आदि के रूप में प्रायश्चित्त स्वरूप होता है। दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए होता है। उत्सर्ग विशेष के आने पर यावज्जीवन के लिए जो सागरी संधारा रूप कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें यह भावना रहती है कि यदि मैं इस उत्सर्ग के कारण मर जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए है। यदि मैं जीवित बच जाऊँ तो उत्सर्ग रहने तक कायोत्सर्ग है। अभिभव कायोत्सर्ग का दूसरा रूप संस्तरक अर्थात् संधारे का है। यावज्जीवन के लिए संधारा करते समय जो काय का उत्सर्ग किया जाता है वह भय चरिम अर्थात् आमरण अनशन के रूप में होता है। संधारे के बहुत-से भेद हैं, जो मूल आगम साहित्य से अथवा आवश्यक नियुक्ति आदि ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। प्रथम चेष्टा कायोत्सर्ग, उस अन्तिम

अभिभय वायोत्सर्ग के लिए अभ्यासरूप होना है। निश्चय ही योगी का अभ्यास करने रहने से एक दिन वह आत्मज्ञ प्राप्त हो सक्ता है, जिसके फलस्वरूप साधक एक दिन मृत्यु के नामने भोक्ता हैतता हुआ लडा हो जाता है और मर कर भी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

वायोत्सर्ग के द्रव्य और भाव स्वरूप को समझने के लिए एक जैनाचार्य वायोत्सर्ग के चार रूपों का निरूपण करते हैं। साधनों की जानकारी के लिए हम यहाँ संक्षेप में उनके विचारों का उल्लेख कर रहे हैं —

(१) उत्थित उत्थित—वायोत्सर्ग के लिए लडा होने वाला साधक जब द्रव्य के साथ भाव से भी लडा होता है, अर्थात् रौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म ध्यान तथा गुह्य ध्यान में रमण करता है, तब उत्थितोत्थित वायोत्सर्ग होता है। यह वायोत्सर्ग सर्वोत्कृष्ट होता है। हमने मुन आत्मा आसन छोड़ कर धर्मों से मुक्त करने के लिए तन कर लडा हो जाता है।

(२) उत्थित निविष्ट—जब अयोग्य साधक द्रव्य से तो लडा हो जाता है, परन्तु भाव से गिर रहता है, अर्थात् अर्तौर्द्र ध्यान की परिणति में रह रहता है, तब उत्थित निविष्ट वायोत्सर्ग होता है। इस में शरीर तो लडा रहता है, परन्तु आत्मा बैठी रहती है।

(३) उपविष्ट उत्थित—असह तथा बृद्ध साधक लडा तो नहीं हो पाता, परन्तु अन्दर में भाव शुद्धि का प्रगट तीव्र है। अतः जब वह शरीरिक सुविधा की दृष्टि से पश्चात्त आदि से बैठ कर धर्म ध्यान तथा शुरुज ध्यान में रमण करता है, तब उपविष्ट वायोत्सर्ग होता है। शरीर बैठा है, परन्तु आत्मा लडा है।

(४) उपविष्ट निविष्ट—जब आनसी एवं कर्तव्यरूप साधक शरीर से भी बैठा रहता है और भाव से भी बैठा रहता है, धर्म ध्यान

ही और न जाकर सांसारिक विषयभोगों की कल्पनाओं में ही उलझा रहता है तब अविविष्ट-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है। यह कायोत्सर्ग नहीं, मात्र कायोत्सर्ग का दम्भ है।

उपर्युक्त कायोत्सर्ग-चतुष्टय में से साधक जीवन के लिए पहला और तीसरा कायोत्सर्ग ही उपादेय है। ये दो कायोत्सर्ग ही वास्तविक रूप में कायोत्सर्ग माने जाते हैं, इनके द्वारा ही जन्म-मरण का चक्कर कटता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँच कर वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है।

: १७ :

प्रत्याख्यान आवश्यक

मंगल में जो कुछ भी हरन तथा अहरन वगुणमूर्त हैं, वह मन न हो एक इक्ति के द्वारा भगवा ही आ मयता है और न भोगने के योग्य ही है। भोग के पीछे पहरन मनु'र वशाति शान्ति तथा आनन्द नहीं पा सकता। पार्थविक आत्मानन्द तथा अल्प शान्ति के लिए मांगों का त्याग करना ही एक मात्र उपाय है। अतएव प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा राघव अपने को स्वर्ग के भोगों से दृष्टा है, आनन्द के वन्दन से मुक्त है, और स्थायी आत्मिक शान्ति पाने का प्रयत्न करता है।

प्रत्याख्यान का अर्थ है—'त्याग करना।' 'प्रभृतिप्रतिपक्षतया आत्मर्षादवा रवान' 'प्रत्याख्यानम्' —योग शास्त्र सूक्ति।

१ प्रत्याख्यान में तीन शब्द हैं—प्रति + आ + आख्यान। अक्षरिणि एव अग्रयम के प्रति प्रथम प्रतिक्रिया रूप में, आ अर्थात् मर्यादा स्वरूप आहार के साथ, आख्यान अर्थात् प्रतिष्ठा करना, प्रत्याख्यान है। 'अक्षरिनिःस्वरूप प्रभृति प्रतिपक्षतया आ मर्यादया आकार-करणस्वरूपया आ खान-कृतने प्रत्याख्यानम्।'—प्रवचनसारासार सूक्ति।

आत्मस्वरूप न प्राप्त आ अर्थात् अभिव्यक्त रूप से विद्यते अनादमा रूप गुण उत्पन्न है, इस प्रकार का आख्यान—कथन करना, प्रत्याख्यान है।

भविष्यकाल के प्रति आ मर्यादा के साथ अशुभयोग से निवृत्ति और शुभयोग में प्रभृति का आख्यान करना, प्रत्याख्यान है।

त्यागने योग्य वस्तुएँ द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार की हैं। अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ द्रव्य रूप हैं, अतः इनका त्याग द्रव्य त्याग माना जाता है। अज्ञान, मिथ्यात्व, असंयम तथा कपाय आदि वैभाविक विकार भावरूप हैं, अतः इनका त्याग भावत्याग माना गया है। द्रव्य त्याग की वास्तविक आधारभूमि भावत्याग ही है। अतएव द्रव्य-त्याग तभी प्रत्याख्यानकोटि में आता है, जबकि वह राग-द्वेष और कपायों को मन्द करने के लिए तथा ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति के लिए किया जाय। जो द्रव्य त्याग भावत्याग पूर्वक नहीं होता है, तथा भाव त्याग के लिए नहीं किया जाता है, उससे आत्म-गुणों का विकास किसी भी अंश में और किसी भी दशा में नहीं हो सकता। प्रत्युत कभी-कभी तो मिथ्याभिमान एवं दंभ के कारण वह अधःपतन का कारण भी बन जाता है।

मानव-जीवन में आसक्ति ही सब दुःखों का मूल कारण है। जब तक आसक्ति है, तब तक किसी भी प्रकार की आत्मशान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। भविष्य की आसक्ति को रोकने के लिए प्रत्याख्यान ही एक अमोघ उपाय है। प्रत्याख्यान के द्वारा ही आशा तृष्णा, लोभ लालच आदि विषय विकारों पर विजय प्राप्त हो सकती है। प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग के द्वारा आत्म शुद्धि हो जाने के बाद पुनः आसक्ति के द्वारा पापकर्म प्रविष्ट न होने पाएँ, इसलिए प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है। एक बार मकान को धूल से साफ करने के बाद दरवाजे बन्द कर देने ठीक होते हैं, ताकि फिर दुबारा धूल न आने पाए।

अनुयोग द्वार सूत्र में प्रत्याख्यान का नाम गुणधारण भी आया है। गुणधारण का अर्थ है—अतरुण गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा, मन वचन काय को दुष्ट प्रवृत्तियों से रोक कर शुभ प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करता है। ऐसा करने से इच्छानिरोध, तृष्णाभाव, सुख शान्ति आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है। आचार्य भगवान् आवश्यक नियुक्ति में कहते हैं:—

पञ्चमखाणंमि काण,

आसवदाणइ' हु'ति पिहियाइ ।

आसव - बुच्छेएण,

तएहा-बुच्छयणं होइ ॥ १५६४ ॥

—प्रत्याख्यान करने से संयम होता है, संयम से आश्रय का निरोध = संवर होता है, आश्रयनिरोध से दुःखा का नाश होता है ।

तएहा-बुच्छेदेण य,

अउलोउसमो भवे मणुस्साण ।

अउलोउसमेण पुणो,

पञ्चमखाणं हवइ सुद्धं ॥१५६५॥

—दुःखा के नाश से अनुपम उपशमभाव अर्थात् माध्यस्थ्य परिणाम होता है, और अनुपम उपशमभाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है ।

तत्तो चरित्तधम्मो,

कम्मविवेगो तत्तो अपुव्व तु ।

तत्तो वेवल-नाणं,

तत्तो य मुक्खो सया मुक्खो ॥१५६६॥

—उपशमभाव से चारित्र धर्म प्रकट होता है, चारित्र धर्म से कर्मों की निर्जटा होती है, और उससे अपूर्वस्वरण होता है । पुनः अपूर्व स्वरण से वेवल ज्ञान और वेवल ज्ञान से शाश्वत सुखमय मुक्ति प्राप्त होती है ।

प्रत्याख्यान के मुख्यतया दो प्रकार हैं—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान । मूल गुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान और देश गुण प्रत्याख्यान । साधुओं के पाँच महाव्रत सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान होते हैं । और गृहस्थों के पाँच आशुव्रत देश गुण प्रत्याख्यान हैं । मूल गुण प्रत्याख्यान यागजीवन के लिए प्रधान किए जाते हैं ।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान, प्रतिदिन एवं कुछ दिन के लिए उपयोगी

होते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान और सर्व उत्तर गुण प्रत्याख्यान। तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत, देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान हैं, जो श्रावकों के लिए होते हैं। अनागत आदि दश प्रकार का प्रत्याख्यान, सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान होता है, जो साधु और श्रावक दोनों के लिए है।

अनागत आदि दश प्रत्याख्यान इस भाँति हैं :—

(१) अनागत—पर्युपण आदि पर्व में किया जाने वाला विशिष्ट तप उस पर्व से पहले ही कर लेना, ताकि पर्वकाल में ग्लान, वृद्ध आदि की सेवा निर्वाह रूप से की जा सके।

(२) अतिक्रान्त—पर्व के दिन वैशावृत्य आदि कार्य में लगे रहने के कारण यदि उपवास आदि तप न हो सका हो तो उसे आगे कभी अपर्व के दिन करना।

(३) कोटि सहित—उपवास आदि एक तप जिस दिन पूर्ण हो उसी दिन पारणा किए बिना दूसरा तप प्रारम्भ कर देना, कोटि सहित तप है। कोटि सहित तप में प्रत्याख्यान की आदि और अन्तिम कोटि मिल जाती हैं।

(४) नियंत्रित—जिस दिन प्रत्याख्यान करने का संकल्प किया हो उस नियमित दिन में रोग आदि की विशेष अङ्कन एवं विघ्न आशा आने पर भी हड़ता के साथ वह संकल्पित प्रत्याख्यान कर लेना नियंत्रित प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान प्रायः चतुर्दश पूर्व के धर्मा, जिनकल्पी और दश पूर्व पर मुनि के लिए होता है। आज के युग में इस की परम्परा नहीं है, ऐसा प्राचीन आचार्यों का स्वर्गी-परण है।

(५) साकार—प्रत्याख्यान करते समय आकार विशेष अर्थात् ध्वजाद की छूट रख लेना, साकार तप होता है।

(६) तिराकार—आकार रखे बिना प्रत्याख्यान करना, तिराकार तप है। यह हृदय धर्म के बल पर होता है।

(७) परिमाणवृत्त—पत्नी, भ्राम, भोज्य द्रव्य तथा गृह आदि की संख्या का नियम करना, परिमाणवृत्त है। जैसे कि इनने यहाँ में तथा इनने भ्राम से अधिक भोजन नहीं लेना।

(८) निरवगेष—प्रशनादि चतुर्दिश आहार का त्याग करना, निरवगेष तार है। निरवगेष का अर्थ है, पूर्ण।

(९) साधेतिज—मनपूर्वक किया जाने वाला प्रत्याख्यान, साधेतिज है। मुड़ी गेंदर या गोंड गेंदकर यह प्रत्याख्यान करना कि जब तक यह रैपी हुई है तब तक मैं आहार का त्याग करता हूँ। आत्र कल किया जाने वाला हल्के का प्रत्याख्यान भी साधेतिज प्रत्याख्यान में अन्तर्भूत है। इस प्रत्याख्यान का उद्देश्य आत्मी सुगमता व अनुसार गिरि का अभ्यास होना है।

(१०) अद्धा प्रत्याख्यान—समस्त विशेष की निश्चित मर्यादा धान नमस्कारिका, दौरी आदि दश प्रत्याख्यान, अद्धा प्रत्याख्यान कहलाते हैं। अद्धा धान को कहते हैं। —मगधनीसूत्र ७।२।

पाषाणा क्षेत्र में प्रत्याख्यान की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। प्रत्याख्यान को पूर्ण शुद्ध रूप से पालन करने में ही साधक की नहिता है। यह प्रकार की विशुद्धियों से गुप्त पाना दुष्का प्रत्याख्यान ही शुद्ध और दोष रहित होता है। ये विशुद्धियाँ इस प्रकार हैं—

(१) अद्धान विशुद्धि—शास्त्राक्त विधान व अनुसार पाँच महाव्रत तथा बारह मन आदि प्रत्याख्यान का शुद्ध भक्षण करना, भक्षण विशुद्धि है।

(२) ज्ञान विशुद्धि—जिन कल्प, स्थितिकल्प, मूल गुण, उत्तर गुण तथा प्राण-नाल आदि के रूप में जिस समय जिनके लिए जिन प्रत्याख्यान का जैसा रहस्य होता है, उसका ठीक ठीक वैसा ही जानना, ज्ञान विशुद्धि है।

(३) विनय विशुद्धि—मन, उचन और वाय से सयत हँते हुए

प्रत्याख्यान के समय जितनी वन्दनाओं का विधान है, तदनुसार वन्दना करना विनय-विशुद्धि है ।

(४) अनुभाषणा शुद्धि—प्रत्याख्यान करते समय गुरु के सम्मुख हाथ जोड़ कर उपस्थित होना; गुरु के वहे अनुसार पाठों को ठीक-ठीक बोलना; तथा गुरु के 'बोसिरेहि' कहने पर 'बोसिरामि' वगैरह यथा समय कहना, अनुभाषणा शुद्धि है ।

(५) अनुपालना शुद्धि—भयंकर वन, दुर्भिक्ष, बीमारी आदि में भी व्रत को उत्साह के साथ ठीक-ठीक पालन करना, अनुपालना शुद्धि है ।

(६) भाव विशुद्धि—राग, द्वेष तथा परिणाम रूप दोषों से रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान करना तथा पालना, भाव विशुद्धि है ।

(१) प्रत्याख्यान से अमुक व्यक्ति की पूजा हो रही है अतः मैं भी ऐसा ही प्रत्याख्यान करूँ—यह राग है ।

(२) मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूँ, जिससे सब लोग मेरे प्रति ही अनु-रक्त हो जायें; फलतः—अमुक साधु का फिर आदर ही न होने पाए, यह द्वेष है ।

(३) ऐहिक तथा पारलौकिक कीर्ति, यश, वैभव आदि किसी भी फल की इच्छा से प्रत्याख्यान करना; परिणाम दोष है ।

—आवश्यक नियुक्ति ।

१ उक्त प्रत्याख्यान शुद्धियों का वर्णन स्थानांग सूत्र के पंचम स्थान में भी है, परन्तु वहाँ ज्ञान शुद्धि का उल्लेख न होकर शेष पाँच का ही उल्लेख है । श्रद्धानं शुद्धि में ही ज्ञान शुद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि श्रद्धानं के साथ नियमतः ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं । निर्युक्तिकार ने स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ज्ञान शुद्धि का स्वतंत्र रूपेण उल्लेख कर दिया है । 'पंचविहे पञ्चवखाणे ५० तं० सदहणासुद्धे, विणयसुद्धे, अणुभाषणासुद्धे, अणुपालणासुद्धे, भावसुद्धे ।'

—स्थानांग ५ । ४६६ ।

प्रत्याख्यान ग्रहण करने के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण चतुर्भंगी का उल्लेख, आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र की खोसल वृत्ति में करते हैं। यह चतुर्भंगी भी साधक को ज्ञान लेता आवश्यक है।

(१) प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी प्रत्याख्यान स्वरूप का ज्ञाता विवेकी तथा विचारशील हो और प्रत्याख्यान देने वाले गुरुदेव भी गंतार्थ तथा प्रत्याख्यान विधि के मनीषी ज्ञानकार हो। यह प्रथम भंग है, जो पूर्ण शुद्ध माना जाता है।

(२) प्रत्याख्यान देने वाले गुरुदेव तो गंतार्थ हो, परन्तु शिष्य विवेकी प्रत्याख्यान स्वरूप का ज्ञानकार न हो। यह द्वितीय भंग है। यदि गुरुदेव प्रत्याख्यान कराते समय संज्ञेय म अशोध शिष्य को प्रत्याख्यान की जानकारी करावे तो यह भंग शुद्ध हो जाता है, अन्यथा अशुद्ध। बिना ज्ञान के प्रत्याख्यान ग्रहण करना, 'दुःप्रत्याख्यान' माना जाता है।

(३) गुरुदेव प्रत्याख्यानविधिसे ज्ञानकार न हो, किन्तु शिष्य ज्ञानकार हो, यह तीसरा भंग है। गीता में गुरुदेव के अध्याय में यदि

१. प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में भी उक्त चतुर्भंगी का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है—

‘आणुगो आणुगसमासे, अज्ञाणगो आणुग-समासे, आणुगो अज्ञाणगसमासे, अज्ञाणगो अज्ञाणगसमासे।’

२. भगवती सूत्र में वर्णन है कि जिसको जीर अजीर आदि का ज्ञान है, उसका प्रत्याख्यान तो सुप्रत्याख्यान है। परन्तु जिसे जड़-चैतन्य का कुछ भी पता नहीं है, जो प्रत्याख्यान कर रहा है उसकी कुछ भी जानकारी नहीं है, उसका प्रत्याख्यान दुःप्रत्याख्यान होता है। अज्ञानी साधक प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा करता हुआ सत्य नहीं बोलता है, अशुद्ध झूठ बोलता है। वह असत्य है, अनिरत है, पापकर्मों है, एवान्त बर्ता है। ‘युं सञ्च से दुष्पञ्चवाई सञ्चपाणेहि जाव सञ्चसत्तेहि पञ्च-कवायमिति वदमाणो नो सञ्च भासे भासह, मोसें भासें भासह’ ।’

केवल साक्षी के तौर पर अगीतार्थ गुरु से अथवा माता पिता आदि से प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाय तो यह भंग शुद्ध माना जाता है। यदि ओष संज्ञा के रूप में गीतार्थ गुरुदेव के विद्यमान रहते भी अगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाय तो यह भंग भी अशुद्ध ही माना गया है।

(४) प्रत्याख्यान लेने वाला भी अगीतार्थ विवेक शून्य हो और प्रत्याख्यान देने वाला गुरु भी शास्त्र-ज्ञान से शून्य अविवेकी हो तो यह चतुर्थ भंग है। यह पूर्ण रूप से अशुद्ध माना जाता है।

यह प्रत्याख्यान आवश्यक संयम की साधना में दीप्ति पैदा करने वाला है, त्याग वैराग्य को दृढ़ करने वाला है, अतः प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि प्रत्याख्यान आवश्यक का यथाविधि पालन करे और अपनी आत्मा का कल्याण करे।

प्रत्याख्यान पर अधिक विवेचन, इस अभिप्राय से किया गया है कि आज के युग में बड़ी भयंकर अन्ध परंपरा चल रही है। जिधर देखिए उधर ही चतुर्थ भंग का राज्य है। न कुछ शिष्य को पता है, और न गुरुदेव नामधारी जीव को ही। एकमात्र 'बोसिरे' के ऊपर अंधाधुन्ध प्रत्याख्यान कराये जा रहे हैं। आशा है, विश पाठक ऊपर के लेख से प्रत्याख्यान के महत्त्व को समझ सकेंगे।

: १८ :

आवश्यकों का क्रम

हो अन्तर्दृष्टि वाले साधक हैं, उ-के जीवन का प्रधान उद्देश्य समझान अर्थात् सामाजिक करना है। उनके अत्यंत व्यग्रता में, रहन-सहन में सममाध के दर्शन होते हैं।

- अन्तर्दृष्टि वाले साधक जब किसी महापुरुषों को सममाध की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे भक्तिभाव से गद्गद होकर उनके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक अतीव नम्र, निम्नी एवं गुणानुगामी होते हैं। अतएव वे सममान स्थित छात्र पुरुषों को यथा समय पन्दन करना कभी भी नहीं भूलते।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक इतने अप्रमत्त, जागरूक तथा सावधान रहते हैं कि यदि कभी पूर्णज्ञानाय अथवा कुत्कार यथ अरुना सममान से गिरजाय तो यथ विश्व यथ जगत् = आता यथ पञ्चाक्षर आदि करके पुन आने पूर्व स्थिति को या लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व स्थिति से आने भी उद्ग जाते हैं।

ध्यान ही अत्यधिक जीवन की कुञ्जी है। इस लिए अन्तर्दृष्टि वाले साधक वरवार ध्यान = काशे पूर्ण करते हैं। ध्यान से सम के प्रति एकाग्रता की मात्रा परिपुर्ण होती है।

ध्यान के द्वारा विशेष चित्त शुद्धि होने पर अन्तर्दृष्टि साधक अत्यंत

स्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अतएव उनके लिए जड़ वस्तुओं के भोग का प्रत्याख्यान करना सहज स्वाभाविक हो जाता है।

जबतक सामायिक प्राप्त न हो = आत्मा समभाव में स्थित न हो, तब तक भावपूर्वक चतुर्विंशतिस्तव किया ही नहीं जा सकता। भला जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है, वह किस प्रकार रागद्वेषरहित समभाव में स्थित वीतराग पुरुषों के गुणों को जान सकता है और उनकी प्रशंसा कर सकता है? अतएव सामायिक के बाद चतुर्विंशति स्तव है।

चतुर्विंशति स्तव करने वाला ही गुरुदेवों को यथाविधि वन्दन कर सकता है। क्योंकि जो मनुष्य अपने इष्ट देव वीतराग महापुरुषों के गुणों से प्रसन्न होकर उनकी स्तुति नहीं कर सकता है, वह किस प्रकार वीतराग तीर्थंकरों की वाणी के उपदेशक गुरुदेवों को भक्तिपूर्वक वन्दन कर सकता है? अतएव वन्दन आवश्यक का स्थान चतुर्विंशति स्तव के बाद रखा गया है।

वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि जो राग द्वेष रहित समभावों से गुरुदेवों की स्तुति करने वाले हैं, वेही गुरुदेव की साक्षी से अपने पापों की आलोचना कर सकते हैं, प्रतिक्रमण कर सकते हैं। जो गुरुदेव को वन्दन ही नहीं करेगा, वह किस प्रकार गुरुदेव के प्रति बहुमान रखेगा और अपना हृदय स्पष्टतया खोल कर कृत पापों की आलोचना करेगा?

प्रतिक्रमण के द्वारा व्रतों के अतिचार रूप छिद्रों को बंद कर देने वाला, पश्चात्ताप के द्वारा पाप कर्मों की निवृत्ति करने वाला साधक ही कायोत्सर्ग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाय, तब तक धर्म ध्यान या शूद्र ध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता। आलोचना के द्वारा चित्त शुद्धि किए बिना जो कायोत्सर्ग करता है, उसके मुँह से चाहे

किसी शब्द विशेष का ज़र हुआ करे, परन्तु उसने हृदय में उस ध्येय का विचार कभी नहीं आता ।

जो साधक कायोत्सर्ग के द्वारा विशेष चित्त-शुद्धि, एकाग्रता और आत्मरत प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है । जिसने एकाग्रता प्राप्त नहीं की है और संकल्प मल भी उत्पन्न नहीं किया, वह यदि प्रत्याख्यान पर भी ले, तो भी उस का ठीक ठीक निर्वाह नहीं कर सकता । प्रत्याख्यान मन से ऊपर की आवश्यक क्रिया है । उसने लिए विशिष्ट चित्त शुद्धि और विशेष उत्साह की अपेक्षा है, जो कायोत्सर्ग के बिना पैदा नहीं हो सकते । इसी विचार धारा को सामने रखकर कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान का नेत्र पड़ता है ।

उपयुक्त पद्धति से विचार करने पर यह स्पष्टता ज्ञान पड़ता है कि छह आवश्यकों का जो क्रम है, वह विशेष कार्य कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है । चतुर पाठक किन्ती भी बुद्धिमानी से उल्ट कर करे, परन्तु उसमें वह स्वाभाविकता नहीं रह सकती, जो कि प्रस्तुत क्रम में है ।

आवश्यक से लौकिक जीवन की शुद्धि

यह ठीक है कि आवश्यक क्रिया लोकोत्तर साधना है। वह हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र की चीज है। उसके द्वारा हम आत्मा से परमात्मा के पद की ओर अग्रसर होते हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भी आवश्यक की कुछ कम महत्ता नहीं है। यह हमारे साधारण मानव-जीवन में कदम कदम पर सहायक होने वाली साधना है।

अन्य प्राणियों के जीवन की अपेक्षा मानव-जीवन की महत्ता और श्रेष्ठता जिन तत्त्वों पर अवलम्बित है, वे तत्त्व लोक भाषा में इस प्रकार हैं:—

- (१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य का सम्मिश्रण।
 - (२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोत्कृष्ट जीवन वाले महापुरुषों का आदर्श।
 - (३) गुणवानों का बहुमान एवं विनय करना।
 - (४) कर्तव्य की स्मृति तथा कर्तव्य पालन में हो जाने वाली भूलों का निष्कपट भाव से संशोधन करना।
 - (५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए विवेक शक्ति का विकास करना।
 - (६) त्यागवृत्ति द्वारा सन्तोष तथा सहन शीलता को बढ़ाना। भोग ही जीवन उद्देश्य नहीं है, त्यागमय उदारता ही मानव की महत्ता बढ़ाती है। जितना त्याग उतनी ही शान्ति।
- उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर ही आवश्यक साधना का मद्दल

एक है। यदि मनुष्य टीफ्टीफ स्तर से आदर्श साधना को अनगते रहे तो फिर कभी भी उनका नैतिक जीवन पवित्र नहीं हो सकता, उनकी प्रतिष्ठा भंग नहीं हो सकती, रिफ्ट से रिफ्ट प्रबंध पर भी वे अपना लक्ष्य नहीं भूल सकते।

मानवसाम्य को आधार सिता सुगमता मानसिक प्रगतिता पर है। यद्यपि दुनिया में अन्य भी अनेक साधन मिले हैं, जिनके द्वारा कुछ न कुछ मानसिक प्रगतिता प्राप्त हो ही जाती है; परन्तु स्थायी मानसिक प्रगतिता का स्रोत पूर्वोक्त तारों के आधार पर निर्मित आदर्श ही है। वास्तविक तथ्यों पर आधुनिक प्रगतिता दृष्टि होती है। अतः स्थायी प्रगतिता अपने अन्दर ही है, और वह अन्दर की साधना के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

अतः स्थायीता का कोटिबद्ध अर्थान् पारिवारिक गुण। कुटुम्ब को सुखी बनाने के लिए मनुष्य को नीति प्रधान जीवन बसाना आवश्यक है। इसलिए छोटे बड़े सब में एक दूसरे के प्रति यथोचित विनय, आशा पालन, नियमशीलता, अपनी भूलों का स्वीकार करना एवं क्षमाग्रह रहना जरूरी है। ये सब गुण आवश्यक साधना के द्वारा सहज ही में प्राप्त किए जा सकते हैं।

सामाजिक दृष्टि से भी आवश्यक विषय उद्गरेय है। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए विचारशीलता, प्रामाणिकता, दीर्घदर्शिता और गंभीरता आदि गुणों का जीवन में रहना आवश्यक है। अतः, कथं शास्त्रीय और कथं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक विषय का यथोचित अनुष्ठान करना, अतीव लाभप्रद है।

['आवश्यकता का क्रम' और 'आवश्यक से लौकिक जीवन की शुद्धि' उक्त दोनों प्रकरणों के लिए लेखक जैन जगत के महान् उत्पन्न-चित्त एवं दार्शनिक पंडित-मुचलासजी का श्रेयस्वी है। पंडित जी के 'पंच प्रति क्रमण' नामक ग्रन्थ से ही उक्त निम्नवद्ध का भावः स्पष्टतः विचारणीय किया गया है।]

: २० :

आवश्यक का आध्यात्मिक फल

सामायिक

सामाहणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

सामाहणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

‘भगवन् ! सामायिक करने से इस आत्मा को क्या लाभ होता है ?’

‘सामायिक करने से सावज्ज योग = पापकर्म से निवृत्ति होती है ।’

चतुर्विंशतिस्तव

चउव्वीसत्थएणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ।

‘भगवन् ! चतुर्विंशतिस्तव से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?’

‘चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि होती है ।’

वन्दना

वंदएणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

वंदएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं निवंधइ, सोहग्गं च ण अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ।

‘भगवन् ! वन्दन करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?’

‘वन्दन करने से यह आत्मा नीच मोक्ष कर्म का त्याग करता है,

उद्योगों का चयन करना है, सुमग, सुन्वर आदि गौभाग्य की प्राप्ति होती है, सब उपायी आकाश शिरण स्वीकार करने हैं और वह दाक्षिण्यभाव-दुःखत्याग एवं सर्व विपत्तियों को प्राप्त करता है ।'

प्रतिक्रमण

पदिःकमलेण भते । जीये किं जणयइ ?

पदिःकमलेण ययद्धिदद पिदेह, पिदियययद्धिदे पुण जीये निरुद्धासये असगल चरित्ते अद्रमु परयणमायासु उवडत्ते उप-हुत्ते (अभ्रमत्ते) सुप्रणिहिण विहरइ ।

'भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को जिस पल की प्राप्ति होती है ?

'प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि प्रती के शोरकन छिद्रों का निरोध होता है और छिद्रों का निरोध होने से आत्मा आश्वय का निरोध करता है तथा शुद्ध चारित्र्य का पालन करता है । और इस प्रकार आठ प्रवचनमाता, पाँच समिति एवं तीन गुणित रूप संयम में सावधान, अभ्रमत्त तथा सुप्रणिहित होकर विचरण करता है ।'

कायोत्सर्ग

काउसगोणं भते । जीये किं जणयइ ?

काउसगोणं तीयपदुभन पायन्दिस्तं विसोदेइ, विसुद्धपाय च्छिने य ज वे निज्जुयहियइ ओइरियमकन्व भारवहे पसत्पथ म्मज्झणोवगर सुद्ध मुहेण विहरइ ।

'भगवन् ! कायोत्सर्ग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?'

'कायोत्सर्ग करने से अतीत काल एवं आश्वय भूतकाल के प्रयत्न विरोध आतिचारों की शुद्धि होती है और इस प्रकार विशुद्धि प्राप्ति आत्मा प्रशस्त धर्म-ध्यान में रमण करता हुआ इहलोक एवं परलोक में उसी प्रकार सुगुणपूर्वक विचरण करता है जिस प्रकार सिर का बोम उतर जाने से मन्दूर गुण का अनुभव करता है ।'

प्रत्याख्यान

पञ्चक्लाणेषु भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पञ्चक्लाणेषु आसयदाराइं निरुंभइ, पञ्चक्लाणेषु इच्छा-
निरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गणं गुं जीवे सव्यदव्येसु विणी-
यतएहे सीहिंसूए विहरइ ।

‘भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से आत्मा को किम फल की प्राप्ति होती है ?’

‘प्रत्याख्यान करने से द्विगा आदि आश्रय-द्वार बन्द हो जाते हैं एवं इच्छा का निरोध हो जाता है, इच्छा का निरोध होने से समस्त विषयों के प्रति विदूष रहता हुआ नागक शान्त-चित्त होकर विचरण करता है ।’

[उन्नाययन-सूत्र, २६ वाँ अध्याय]

प्रतिक्रमण : जीवन की एकरूपता

किस मनुष्य का जीवन ऊँचा है और किस का नीचा ? कौन मनुष्य महात्मा है महान है और कौन दुष्टत्मा तथा लुट्ट ? इन प्रश्न का उत्तर आपनो भित भित कर म मिलेगा । जो जैसा उत्तर दाता होगा यह वैसा ही कुछ कहेगा । यह मनुष्य की दुर्बलता है कि यह प्रायः अपनी सीमा में घिर रह कर ही कुछ सोचता है, सोलता है, और करता है ।

हाँ तो इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग आपके सामने जात-पौत को महत्त्व देंगे और कहेंगे कि ब्राह्मण ऊँचा है, क्षत्रिय ऊँचा है, और शूद्र नीचा है, चमार नीचा है, भंगी तो उससे भी नीचा है । ये लोग जात पौत व जाल म इस प्रकार अवरोध हो चुके हैं कि कोई ऊँची भेणी की जात सोच ही नहीं सकने । अब भी कभी प्रसंग आएगा, एक ही गंग झलावे—जात पौत का रोना रोयेंगे ।

कुछ लोग सम्मान है धन को महत्त्व दें ? पैसा ही नीच हो, दुगचारी हो, मुँहा हो, जिसने पास दो पैसे हैं, वह इनकी नज़रों में देवता है, ईश्वर का भूष है । राजा और सेठ होना ही इनके लिए सबसे महान् होना है, धर्मात्मा होना है—‘सर्वे सुख’ का चतुर्मास्यन्ते । और यदि कोई धनहीन है, गरीब है तो वम सबसे बड़ी नीचता है । गरीब आदमी कितना ही सदाचारी हो, धर्मात्मा हो, कोई कुछ नहीं । ‘दुष्टा दरिद्रा य समा मरन्ति ।’

क्यों लम्बी बातें करें, जितने मुँह उतनी बातें हैं ! आप तो मुझ से मालूम करना चाहते होंगे कि कहिए, आपका क्या विचार है ? भला, मैं अपना क्या विचार बताऊँ ? मेरे विचार वे ही हैं, जो भारतीय संस्कृति के निर्माता आत्मतत्त्वावलोकी महापुरुषों के विचार हैं। मैं भी आपकी ही तरह भारतीय साहित्य का एक स्नेही विद्यार्थी हूँ, जो पढ़ता हूँ, कहने को मचल उठता हूँ। हाँ, तो भारतीय संस्कृति के एक अमर गायक ने इस प्रश्न-चर्चा के सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं

कर्मण्येकं महात्मनाम् ।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्

कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार सर्वश्रेष्ठ, महात्मा महान् पुरुष वही है, जो अपने मन में जैसा सोचता है, विचारता है, समझता है, वैसा ही ज्ञान से बोलता है, कहता है। और जो कुछ बोलता है, वही समय पर करता भी है। और इसके विपरीत दुरात्मा, दुष्ट, नीच वह है, जो मन में सोचता कुछ और है, बोलता कुछ और है, और करता कुछ और ही है।

मन का काम है सोचना विचारना। वाणी का काम है बोलना-कहना। और शेष जीवन का काम है, हस्तपादादि का काम है, जो कुछ सोचा और बोला गया है, उसे कार्य का रूप देना, अमली जामा पहनाना। महान् आत्माओं में इन तीनों का सामंजस्य होता है, मेल होता है, और एकता होती है। उनके मन, वाणी और कर्म में एक ही बात पाई जाती है, ज़रा भी अन्तर नहीं होता। न उन्हें दुनिया का धन पथ-भ्रष्ट कर सकता है और न मान अमान ही। लोग खुश होते हैं या नाराज़, कुछ परवाह नहीं। जीवन है या मरण, कुछ चिन्ता नहीं। भले ही दुनिया इधर से उधर हो जाय, फूलों की चर्पा हो या जलते

अंगारों की ! किसी भी प्रकार के आतंक, भय, प्रेम, प्रलोभन, हानि, लाभ भगन् आत्माओं को डिगा नहीं सकते, बदल नहीं सकते । ये हिमालय के समान प्रबल, अटल, निर्भय, निर्द्वन्द्व रहते हैं । मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी एक ही बात सोचना, वाचना और करना, उनका पवित्र आदर्श है । संसार की कोई भी मनी या बुरी शक्ति, उन्हें झुका नहीं सकती उनके जीवन के दुक्के नहीं कर सकती ।

परन्तु जो लोग दुर्बल हैं, दुर्गन्ध हैं, वे कदापि अपने जीवन की एकरूपता को सुगतिन नहीं रख सकते । उनका मन, वाणी और कर्म तीनों तीन तट पर खड़े हैं । जय-सा भय, जय-सा प्रेम, जय-सी हानि, जय-सा लाभ भी उनके कदम उखाड़ देता है । वे एक क्षण में कुछ हैं तो दूसरे क्षण में कुछ । परिस्थितियों के बहाव में बह जाना, हवा के अनुसार अपनी चाल बदल लेना, उनके लिए साधारण-सी बात है । साधारण प्रलोभनों से ऊपर उठकर देखना, उन्हें आता ही नहीं । उनका धर्म, पुण्य, ईश्वर, परमात्मा सब कुछ एकाग्र है, मगलम है । वे जैसे और जितने आदमी मिलेंगे, वैसी ही उतनी ही वाणी बोलेंगे । और जैसे जितने भी प्रसंग मिलेंगे, वैसे ही उतने ही काम करेंगे । अर रहा, सोचना सो बुझिए नहीं । समुद्र के किनारे रखे होकर जितनी तरंगें आप देव सकते हैं, उतनी ही उनके मन की तरंगें होती हैं । उनकी आत्मा इतनी पवित्र और दुर्बल होती है कि आठ बात के यातावरण का—भय, विरोध और प्रलोभन आदि का उन पर लक्ष्य लक्ष में भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता रहता है ।

अब आपको विचार करना है कि आपको क्या होना है, महात्मा अथवा दुर्गन्ध ? मैं समझता हूँ आप दुर्गन्ध नहीं होना चाहेंगे । दुर्गन्ध शब्द ही भद्र और बुरे मालूम होता है । हाँ, आप महात्मा ही बनना चाहेंगे । परन्तु मालूम है, महात्मा बनने के लिए आपको अपने जीवन की एक रूपता करनी होगी । मन, वाणी और कर्म का द्वैत मिटाना होगा । यह भी कदा जीवन कि आपके हवाय मन-हो, हवाय

जवान हों और हजार ही हाथ पैर । आप हर आदमी के सामने अलग-अलग मन बदलें, जवान बदलें और बर्मे बदलें । मानव-जीवन के तीन दुवटे अलग अलग करके डाल देने में कौन-सी भलाई है ? विभिन्न रूपों और दुरुद्धों में बँटा हुआ अव्यवस्थित जीवन, जीवन नहीं होता, लाश होता है । मैं समझता हूँ, आप फ़िली भी दश में जीवन की अखंडता को समाप्त नहीं करना चाहेंगे, मुरदा नहीं होना चाहेंगे ।

भगवान् महावीर जीवन की एकरूपता पर बहुत अधिक बल देते थे । साधक के सामने सब से पहली पूनी करने योग्य शर्त ही यह थी कि वह हर हालत में जीवन की एक रूपता को बनाए रखेगा, उसकी वाणी मन का अनुसरण करेगी तो उसकी चर्चा मन-वाणी का अनुधावन !

जैन संस्कृति ने जीवन में बहुरूपिया होना, निन्द्य माना है । आदि काल से मानव जीवन की एकरूपता, एकरूपता और अखण्डता ही जैन संस्कृति का अमर आदर्श रहा है । उसके विचार में जितना कलह, जितना द्वन्द्व, जितना पतन है, वह सब जीवन की विपम गति में ही है । ज्योंही जीवन में समगति आएगी, जीवन का संगीत समताल पर मुखरित होगा, त्योंही संसार में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जायगा, अविश्वास विश्वास में बदलेगा और आपस के वैरविरोध विश्वस्त प्रेम एवं सहयोग में परिणत हो जायेंगे ! भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से मानव की मंत्रन्त आत्मा स्वर्गीय दिव्य भावों में पहुँच जायगी ।

जीवन की एक रूपता के लिए, देखिए, जैन साहित्य क्या कहता है ? दशवैकालिक सूत्र का चतुर्थ अध्यायन हमारे सामने है :—

“से भिक्खु वा भिक्खुणी वा संजय विरय-पडिहयपञ्चक्खायपावकम्मे दिश्या वा, राशो वा, एगेशो वा, परिसागथो वा, सुत्ते वा, जागर-साणे वा.....।”

ऊपर के लम्बे पाठ का भावार्थ यह है कि दिन हो या रात, अकेला हो या हजारों की सभा में, सोता हो या जागता साधक अपने

आत्मीयता एवं सत्य की गंधा में लगी रहते। उन के जीवन का धर्म दिन में अन्न, रात में श्रम, छठेने में अन्न, गन्त में श्रम, गाने में श्रम, जागने में श्रम, किसी भी दशा में कभी श्रम श्रम नहीं हो महान्। मन्त्रे गन्धर्व चेत, बाव और दात को देव कर सह नहीं बर्णन करते। वे अपने में भी ठाने ही मन्त्रे और पति रहेगे, दिने कि हन्ने-मन्त्रों की मीठ में। केन भी एकान्त हो, हैनी भी मित्र। अगुह्य हो, वे जीवन पथ से एक कदम भी हटा उधर नहीं हने।

जैन धर्म का प्रतिमण, पूरी जीवन की एक श्रम का सङ्क पड़ा है। यह जीवन एक गमन है, संपन्न है। दिन और रात आगम गति से जीवन की दौड़ पूरा चल रही है। नाशपानी गते हुए भी मन, पाणी और कर्म में विभिन्नता का जानी है, अलम्बनता हो जानी है। अस्तु, दिन में होने वाली अनेकता का मायकाय के प्रतिमण के समय एक काना ही जानी है और रात में होने वाली अनेकता का प्रातःकालीन प्रतिक्रमण के समान। माधर गुहदेव या भगवान् की लाही से अपनी मटकी हुई आत्मा को रिपर काना है, भूनों का ध्यान में लाता है, मन, पाणी और धर्म का पर्याहार की आग में डाल कर निलारता है, एक एक दाग का सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से देखता है और धो डालता है। प्रतिमण करने वालों की वस्तु में न जाने किने ऐसे महान् साधक हो गए हैं, जो सार्वभौमिक आदि के पवित्र प्रसंगों पर हजारों जनता के सामने अपने एक एक दागों का सङ्क मात्र से करते चले गए हैं, मन के छुपे जहर को उगलते चले गए हैं। लज्जा और शर्म किने करते हैं, कुछ परवाद ही नहीं। धन है, ये, जो इस प्रकार जीवन की एक कृता को बनाए रख सकते हैं।

* मन का कोना-कोना छान डालना, उनके लिए साधना का परम लक्ष्य है। वे अपने जीवन को अपने लभने गन्धर्व उसी प्रकार कटोम्ता से चीरफाड़ करते हैं, देखभाल करते हैं, निम्न प्रकार एक डाक्टर शन

की परीक्षा करता है। जब तक इतना साहस न हो, मन का विश्लेषण करने की धुन न हो, जीवन का शव के समान निर्दय परीक्षण न हो, तब तक साधक जीवन की एक रूपता को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। जैन संस्कृति का प्रतिक्रमण मन, वाणी और कर्म के सन्तुलन को कदापि अव्यवस्थित नहीं होने देता। वह पश्चात्ताप के प्रवाह में पिछले सब दोषों को धोकर आगे के लिए कठोर दृढ़ता के सुन्दर और शुद्ध जीवन का एक नया अध्याय खोलता है। प्रतिक्रमण का स्वर एक ही स्वर है, जो हजारों-लाखों वर्षों से श्रमण संस्कृति की अन्तर्वाणी पर भङ्कृत होता आया है—छूट्टेँ पिछला पाप से, नया न बाँधू कोय ।’

जैन संस्कृति के अमर साधकों ने मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी कभी अपनी राह न बदली, जीवन की एकरूपता भंग न की, प्रतिक्रमण द्वारा प्राप्त होने वाली पवित्र प्रेरणा विस्मृत न की।

श्रावक अर्हन्तक के सामने देवता खड़ा है, जहाज को एक ही झटके में समुद्र के अतल गर्भ में फँक देने को तैयार है। कह रहा है—‘अपना धर्म छोड़ दो, अन्यथा परलोक यात्रा के लिए तैयार हो जाओ। छोड़ूंगा नहीं, समझ लो, क्या उत्तर देना है, हाँ या ना? ‘हाँ’ में जीवन है तो ‘ना’ में मृत्यु।’

जीवन की एकरूपता का, प्रतिक्रमण की विराट साधना का वह महान् साधक हँसता है, मुसकराता है। उसकी मुसकराहट, वह मुसकराहट है, जिसके सामने मृत्यु की विभीषिका भी हतप्रभ हो जाती है। वह कहता है—“अरे धर्म भी क्या कोई छोड़ने की चीज है? धर्म तो मेरे अणु-अणु में रम गया है, मैं छोड़ना चाहूँ तो भी वह नहीं छुट सकता। और यह मृत्यु! इसका भी कुछ डर है? तेरी शक्ति, संभव है, शरीर को दल सके। परन्तु आत्मा! अरे वहाँ तो तेरे जैसे लाखों-करोड़ों देव भी कुछ नहीं कर सकते। आत्मा अजर है, अमर है, अखण्ड है। तू अनन्त जन्म ले तब भी मेरी आत्मा का कुछ विग्रह नहीं सकता। तब मैं

तुम्ह से और तेरी ओर से दी जाने वाली मृत्यु से डरूँ तो क्यों डरूँ ?”

देवता सजाटे में आ गया । आज उसे दिवालय की चट्टान से टारना पड़ रहा था । फिर भी यह मर्कट-विभीषिण दिवाण जा रहा था ! पास के लोगों ने भयान्तर हो कर अर्हन्तर से कहा—“सठ ! तू झूठ-मूड ही जगन से कह दे कि मैंने धर्म छोड़ा । देवता चला जायगा । फिर जो तू चाहे करेगा । तेरा क्या विगस्ता है ?”

अर्हन्तर लोगों की बात समझ रहा था । झूठ-मूड के लिए ही कह दो, क्या बला है, ध्यान म न ला रहा । उठने कहा—“जो मेरे मन में नहीं है, उनका भित्त मेरी वाणी कैसे हों मेरे ? झूठ-मूड के लिए कुछ कहना, मैंने सीखा ही कहाँ है ? मेरे धर्म की यह भाषा ही नहीं है । जा पानी कुँए में है वही तो डोंच में आया । कुँए में और पानी हो, और डोल में कुछ और ही पानी ले आऊँ, यह बला न मुझे आती है और न मुझे पसन्द ही है । मेरे धर्म ने मुझे वही सिखाया है कि जो साँचो, वही कहो, और वो कहो, वही करो । अब क्याओ, मैं मन में सोची बात से भिन्न रूप में कुछ कहूँ तो कैसे कहूँ ? प्राण दे सकता हूँ, अपना सर्वस्व लुप्त करता हूँ, परन्तु मैं अपने मन, वाणी और कर्म तीनों के तीन दुम्के फंदारि नहीं कर सकता ।”

यह है प्रतिक्रमण की साधना के अमर साधनों की जीवनकला ! जिस दिन विश्व की भूनी भटकी हुई मानव जाति प्रतिक्रमण की साधना अनाएगी, जीवन की एक रूढ़ता के महान् आदर्श को सफल बनाएगी, उस दिन विश्व में क्या मीलिक और क्या आध्यात्मिक सभी प्रकार से नैरीन जीवन का प्रकाश होगा, सबों का अन्न होगा और होगा—विश्व विभूतियों का अन्न, अन्न, अन्न साधन्य !

: २२ :

प्रतिक्रमण : जीवन की डायरी

मनुष्य अपनी उन्नति चाहता है, प्रगति चाहता है। वह जीवन की दौड़ में हर कहीं बढ़ जाना चाहता है ! साधना के क्षेत्र में भी वह तप करता है, जप करता है, संयम पालता है, एक से एक कठोर आचरण में उतरता है और चाहता है कि अपने बन्धनों को तोड़ डालूँ, आत्मा को कर्मों के अधिकार से स्वतन्त्र करा लूँ। परन्तु सफलता क्यों नहीं मिल रही है ? तब कुत्त करने पर भी टोटा क्यों है ? लाभ क्यों नहीं ?

चात यह है कि किसी भी प्रकार की उन्नति करने से पूर्व, अपनी वर्तमान अवस्था का पूरा ज्ञान प्राप्त करना, आवश्यक है। आप बढ़ते तो हैं परन्तु बढ़ने की धुन में जितना मार्ग तै कर पाया है, उस पर नजर नहीं डालते। वह सेना विजय का क्या आनन्द उठा सकेगी, जो आगे ही आगे आक्रमण करती जाती है, किन्तु पीछे की व्यवस्था पर, दुर्बलता पर, भूलों पर कोई ध्यान नहीं देती। वह व्यापारी, क्या लाभ उठाएगा, जो अवाधुन्य व्यापार तो करता जाता है, परन्तु बहीखाते की जाँच-पड़ताल करके यह नहीं देखता कि क्या लेना-देना है, क्या हानि-लाभ है ? अच्छा व्यापारी, दूसरे दिन की विक्री उसी समय प्रारम्भ करता है, जब कि पहले दिन की आय-व्यय की विधि मिला चुकता है ! जिसको अपनी पूँजी का और हानि-लाभ का पता ही नहीं, वह क्या खाक व्यापार करेगा ? और उस अन्धे व्यापार से होगा भी क्या ? अंधी बुद्धि या चक्की पर आटा पीसती है ! इधर पीसती है, और उधर

मुत्ता सुनचाप आया गागा जा रहा है। बुडिया को क्या पत्ते पड़ेगा ? केवल धन, कष्ट, चिन्ता और शोक ! और कुछ नहीं !

जीन संस्कृति का प्रतिमण यही जीवनशैली यही की जाँच पड़ताल है। साधक को प्रति दिन प्रातःकाल और सायंकाल यह देखना होता है कि उसने क्या पाया है और क्या खोया है ? अहिंसा, सत्य, और मयम की साधना में यह कहीं तक आगे बढ़ा है ? कहीं तक भूला भटका है ? कहीं क्या रोका अटक रहा है ? दशवैकालिक सून की स्थिति में इसी महान् भाव को लेकर कहा गया है कि साधक ! तू प्रतिदिन विचार कर कि मैंने क्या कर लिया है और अब आगे क्या करना शेष रहा है ? 'किं मे कुरुं किं न मे किञ्चसेत्तं ?'

वैदिक धर्म के महान् उगनिर्गद् ग्रन्थ ईशावास्य में भी यही कहा है कि 'कृतं स्मर ।' अर्थात् अपने किए को याद कर । जब साधक अपने किए को याद करता है, अपनी अतीत अवस्था पर दृष्टि डालता है तो उसे पता लग जाता है कि—कहीं क्या शिथिलता है ? कीन सी घुटियाँ हैं और वे क्यों हैं ? आलस्य आगे नहीं बढ़ने देता ? या समाज का भय उठने नहीं देता ? या अन्दर की बातनाएँ ही साधना-मत्पशु की जड़ों को खोलला कर रही हैं ? प्रतिमण कहिए, या अपने किए हुए को याद करना कहिए, साधक जीवन के लिए यह एक अत्यन्त आवश्यक क्रिया है । इसके करने से जीवन का भला घुस पन स्पष्टतः आँखों के सामने झलक उठता है । दुर्बल से दुर्बल और सबल से सबल साधक को भी तदर्थ भाव से अलग सा सड़ा होकर अपने जीवन को देखने का, अपनी आत्मा को विश्लेषण करने का अवसर मिलता है । यदि कोई सच्चे मन से चहे तो उक्त प्रतिमण की क्रिया द्वारा अपनी सपना को भूनों का खरक कर सकता है और अपने आपसे पथ भ्रष्ट होने से बचा सकता है ।

कहते हैं, गंधार देश के सुगन्धि विचारक मँकलिन ने अपने जीवन को डायरी से सुगन्ध था । वह अपने जीवन की हर घटना को

डायरी में लिख छोड़ता था और फिर उस पर चिन्तन-मनन किया करता था। प्रति सप्ताह जोड़ लगाया करता था कि इस सप्ताह में पहले सप्ताह की अपेक्षा भूलें अधिक हुई हैं या कम ? इस प्रकार उसने प्रति सप्ताह भूलों को जाँचने का, उनको दूर करने का और पूर्व की अपेक्षा आगे कुछ अधिक उन्नति करने का अभ्यास चालू रखा था। इसका यह परिणाम हुआ कि वह अपने युग का एक श्रेष्ठ, सदाचारी एवं पवित्र पुरुष माना गया ! उस की डायरी से हमारा प्रतिक्रमण कहीं अधिक श्रेष्ठ है ! यह आज से नहीं, हजारों-लाखों वर्षों से जीवन की डायरी का मार्ग चला आ रहा है ! एक दो नहीं, हजारों-लाखों साधकों ने प्रतिक्रमणरूप जीवन-डायरी के द्वारा अपने आपको सुधारा है, पशुत्व से ऊँचा उठाया है, वासनाओं पर विजय प्राप्त कर अन्त में भगवत्पद प्राप्त किया है ! आवश्यकता है, सच्चे मन से जीवन की डायरी के पन्ने लिखने की और उन्हें जाँचने परखने की।

: २३ :

प्रतिक्रमण : आत्मपरीक्षण

आत्मा एक यात्री है। आज कल का नहीं, पचास-सौ वर्ष का नहीं; हजार दो हजार और लाख-दस लाख वर्ष का भी नहीं, अनन्त कालका है, अनादिनालना है। आज तक नहीं यह रेखाँची रूप में जमकर नहीं बैठा है, घूमता ही रहा है। क्यों और कब होगी यह यात्रा पूरी ? अभी कुछ पता नहीं।

यह यात्रा क्यों नहीं पूरी हो रही है ? क्यों नहीं मानव आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुँच पा रहा है ? कारण है इसका। बिना कारण के तो कोई भी कार्य कथमपि नहीं हो सकता।

आप जानना चाहेंगे, यह कारण क्या है ? उत्तर के लिए एक रूपक है, जरा सावधानी के साथ इस पर ध्यान आरको परलिय और परलिय अपनी साधना को भी। जैन धर्म का सर्वस्व इस एक रूपक में आजाता है, यदि हम अपनी चिन्तन शक्ति का ठीक ठीक उपयोग कर सकें।

जन कभी युक्त प्रान्त के देहाती क्षेत्र में विहार करने का प्रसंग पड़ता है, तब देखा करते हैं कि सैकड़ों देहाती यात्री इधर से उधर आ जा रहे हैं और उनके कंधों पर पड़े हुए हैं बैले, जिन्हें वे अपनी भाषा में खुरजी कहते हैं। एक दो कपड़े, पानी पीने के लिए लोय डोर, और भी दो चार छोटी मोटी आवश्यक चीजें बैले में डाली हुई होती हैं, कुछ आगे की ओर तो कुछ पीछे की ओर।

लम्बी चाप न फटा । सारा ही भूमिका तैयार हो गई है । हमारा आत्मा भी उसी प्रकार युक्त प्रान्तर दे सकती वाली है । हमने भी अपने विचारों की खुरजी गंधे पर चाल रखी है । आत्मा के सेवा और शत्रु पर आदि क्या है, इस प्रश्न में मन उलझता है । मैं पहले ही बता चुका हूँ यह एक स्वरूप है ।

हाँ, तो उस खुरजी में भरा क्या है ? आगे की ओर उसमें भर रखे हैं अपने गुण और दुर्गुणों के दोष । 'मैं कितना गुणवान् हूँ ? कितनी जमा, दया और परोपकार की वृत्ति है मुझ में ? मैं तपस्वी हूँ, शानी हूँ, विचारक हूँ । कौनसा वह गुण है, जो मुझमें नहीं है ? मैंने अमुक की अमुक संकट कालमें सहायता की थी । मैं ही था, जो उस समय सहायता कर सका, सेवा कर सका, अन्यथा वह समाप्त हो गया होता । माता-पिता, पति-पत्नी, बाल-बच्चे, नाते-रिश्तेदार, मित्र-परिजन, अर्द्धांगी-पड़ोसी सब मेरे उपाकार के ऋणी हैं । परन्तु ये सब लोग कितने नालायक निकले हैं ? कोई भी तो कृतज्ञता की अनुभूति नहीं रखता । सब दुष्ट हैं, वैश्यान् हैं, शैतान हैं । मतलबी कुत्ते ! वह देखो; कितना झूठ बोलता है ? कितना अत्याचार करता है ? उसके आस-पास सौ-सौ कोस तक दया की भावना नहीं है । पापचार के सिवा उसके पास क्या है ? अकेला बही क्या, आज तो सारा संसार नरक की राह पर चल रहा है ।' ऐसा ही कुछ अंटे-संठ भरा रक्खा है आगे की ओर । अतएव हर दम दृष्टि रहती है अपने सद्गुणों और दूसरों के दोषों पर, अपनी अच्छाइयों और दूसरों की बुराइयों पर ।

हाँ, तो पीठ पीछे की ओर क्या डाल रक्खा है ? आखिर खुरजी के पीठ पीछे के भाग में भी तो कुछ भर रक्खा होगा ? हाँ, वह भी ठसाठस भरा हुआ है अपने दोषों और दूसरों के गुणों से । अपने असत्य, अत्याचार, पापचार आदि जो कुछ भी दोष हैं, दुर्गुण हैं, सब को पीठ पीछे के ओर डाल रक्खा है । वहाँ तक आँखें नहीं पहुँचती । पता ही नहीं चलता कि आखिर मुझमें भी कुछ बुराइयों हैं, या सबकी सब

भलाइयाँ ही हैं ? मैं भी तो भूँड़ खोजता हूँ, दमन करता हूँ, छोटी करता हूँ, और आस पास के दुर्गन्धों को अस्थायी चकरी में पीछा हूँ। क्या मैं अभी क्रोध नहीं करता, अभिमान नहीं करता, माया नहीं करता, लोभ नहीं करता ? मुझ में भी पापाचार की भर्षर दुर्गन्ध है। दुर्भाग्य से आनेदार पीछे की आर डाल रखते हैं, अतः आत्मा उन्हें देख ही नहीं पाता, विचार ही नहीं पाता। अपने दोषों के साथ दूसरों के के गुण भी पीछे की आर ही डाल रखते हैं, अतः उनकी ओर भी दृष्टि नही जाती। यह ससार है, इसमें जहाँ भुरे हैं, वहाँ अच्छे भी तो हैं। जहाँ अपने साथ भुगड़े करने वाले हैं, वहाँ मलाई करने वाले भी तो हैं। परन्तु यह यात्री दूसरों के गुण, दूसरों की अच्छाइयाँ क्यों देखता है ? दूसरों की दया, उपकार, सेवा और परित्रता सब कुछ भुजा दी गई है। याद है वेबल उनके दोष। धर्मस्थान हो, सार्वजनिक सभा हो, उत्तर हो, अकेला हो, घर हो, बाहर हो, सर्वत्र दूसरों के दोषों का दिग्गोचर पीछता है। अब अवकाश मिलना है सभी बिचारता है, याद करता है, कहीं भूल न जाय।

यह भर्षर है यात्री। हम ने खुशी इस दंग से डाली है कि यह आर भी परमाद हो रहा है, शान्ति नहीं पा रहा है। इसके मन, वाणी और कर्म में जहर भरा हुआ है। सब ओर पूर्ण एव विद्वेप के निप कण फैल रहा है। आदरबुद्धि है एक मात्र आत्मी और, अन्ध नहीं। खुशी गहन करने की पद्धति इतनी भरी है कि उसके कारण अपने को देना समझता है और दूसरों को पक्ष। अब पताइए, ऐसे यात्री को स्वाधीनता में निश्राम मिले तो कैसे मिले ? यात्रा पूरी हो तो कैसे हो ? मटकना समाप्त हो तो कैसे हो ?

जैनधर्म और जैन संस्कृति ने प्रस्तुत यात्री के कल्पाधार्य अत्यन्त सुन्दर विचार डालियत किए हैं। जैन धर्म के अनन्तानन्त तीर्थंकरों ने कहा है—“आत्मन् ! कुछ खोजो, समझो, विचार करो। जिस दंग में तुम चल रहे हो, जीवन पथ पर आगे बढ़ रहे हो, यह तुम्हारे लिए

हितकर नहीं है। हमारी बात सुनो, तुम्हारा कल्याण होगा। बात कुछ कठिन नहीं है, बिल्कुल सीधी-सी है। यह मत समझो कि पता नहीं हम से क्या करना चाहते हैं? हम तुमसे कुछ भी कठिन और कठोर काम नहीं चाहते। हम चाहते हैं, बस छोटा-सा और सीधा-सा काम! क्या तुम कर सकोगे? क्यों न कर सकोगे, आखिर तुम चैतन्य हो, आत्मा हो, जड़ तो नहीं। हाँ, यों करो कि यह खुरजी आगे से पीछे की ओर डाल दो और पीछे से आगे की ओर! तुम समझ गए न? जरा और स्पष्टता से समझलो! अपने गुण और दूसरों के दोष पीठ पीछे की ओर डाल दो। बस उनकी ओर देखो भी, विचारो भी नहीं। तुम्हारे गुण तुम्हारे अपने लिए विचारने और कहने को नहीं हैं। वे जनता के लिए हैं। यदि उनमें कुछ वास्तविकता है, श्रेष्ठता और पवित्रता है तो संसार अपने आप उनका आदर सत्कार करेगा, कीर्तन अनुकीर्तन करेगा। फूल को महकने से काम है। वह महकने के गौरव की चिन्ता में नहीं घुलता। ज्योंही वह खिलता है, महकता है, पवनदेव दूर-दूर तक उसका यशोगान करता चला जाता है। बिना किसी निमंत्रण के भ्रमर-मंडलियाँ अपने-आप चली आती हैं और गुन-गुन की मधुर ध्वनि से सहसा सारे वातावरण को मुखरित कर देती हैं।”

—“और दूसरों के दोषों की तुम्हें क्या चिन्ता पड़ी है? जो जैसा करेगा, वैसा पावेगा। तुम्हारा काम यदि किसी की कोई भूल देखो तो उसे प्रेमपूर्वक समझा देने का है। यदि वह नहीं मानता है तो तुम्हारी क्या हानि है? तुम व्यर्थ ही उसकी ओर से घृणा और द्वेष का जहर भर कर अपने मन को अशुद्ध क्यों करते हो? इस प्रकार घृणा रखने से कुछ लाभ है? नहीं, अणुमात्र भी नहीं। हमारा मार्ग पाप से घृणा करना सिखाता है, पापी से नहीं। पाप कभी अच्छा नहीं हो सकता; परन्तु पापी तो पाप का परित्याग करने के बाद अच्छा हो जाता है, भला हो जाता है। क्या चोर चोरी छोड़ने के बाद पवित्रता का सम्मान नहीं पाता? क्या शराबी शराब का त्याग करने के बाद

जन समाज में आदर की दृष्टि से नहीं देख्य जाता ? अग, ध्यान भिन से घृणा करते हो, क्या वे अपने दुर्गुणों का परित्याग करने के बाद कभी अच्छे नहीं हो सकते हैं ? अवश्य हो सकते हैं । आणव्य तुम धार से घृणा करो, पापी से नहीं ।”

—“एक क्षीर और पान में रखो । दूसरों के प्रति उदार बनो, अनुदार नहीं । जब कभी दूसरों के सम्बन्ध में सोचो, उनके गुण और उनकी अच्छाईयों ही सोचो । गुणदर्शन की उदार दृष्टि रखने से दूसरों के प्रति सम्मानना का वातावरण पैदा होगा । यह वातावरण धर्म का होगा, शिव का नहीं । सद्भावना तुम्हें कभी भ्रष्ट बना देती है । क्या समार में सब कुछ ही है, सम्मान कोई नहीं । कितना समय तुम दुष्टों की कुदृष्टा के विचार में लगाते हो, उनका समय सम्बन्धों की सम्मानता के विचार में लगाओ न ? जो जेबों का चिन्तन करता है, यह पैसा बन जाता है । दुष्टों का विचार एक दिन अपने को भी कुछ बना सकता है । घृणा का वातावरण अन्ततोगत्ता यही परिणाम लाता है । और हाँ, दुष्टों में भी क्या कोई सद्गुण नहीं है ? नीच से नीच आदमी में भी कोई छोटी मोटी अच्छाई हो सकती है । अतएव तुम उसकी सुराई के प्रति दृष्टि न डाल कर अच्छाई की ओर देखो । दो साथी राग में घूमते हुए गुनाह के पास पहुँच गए । गुनाह के सुन्दर फूल मिले हुए थे और आस पास के वातावरण में अपनी मादक सुगन्ध बिखेर रहे थे । पहले साथी हँस-मन हो उठा और बोला—अहा कितने सुन्दर एवं सुगन्धित फूल हैं ! दूसरे साथी ने कहा—अरे देखो, कितने नुसीले काटे हैं ? यह है दृष्टि भेद । वताओ, तुम क्या होना चाहते हो ? पहले साथी बोले, अथवा दूसरे ? हमारी बात मान सकते हो तो तुम भूल कर भी दूसरे का मार्ग न पकड़ना । तुम गुनाह के फूल देखो, काटे क्यों देखने हो ? जिसकी दृष्टि काँटों की ओर होती है, कभी कभी वे बिना काँटों के भी काँटे देखने लगते हैं ।”

—“जब कभी दुर्गुण एवं दोष देखने हो, अपने अन्दर में देखो ।

आज तक अपने दोषों को तुमने पीठ पीछे डाल रखवा था, अब तुम उन्हें आगे की ओर आँखों के सामने लाओ। अपने दोषों को देखने वाला सुधरता है, संवरता है। और अपने गुणों को देखने वाला विगड़ता है, पतित होता है। स्वदोष-दर्शन अन्तर्विवेक जागृत करता है, फलतः दोषों को दूर कर सद्गुणों की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। इसके विपरीत स्वगुणदर्शन अहंकार को प्रेरणा देता है। फलतः साधक अपने को सहसा उच्च स्थिति पर पहुँचा हुआ समझ लेता है, जिसका परिणाम है प्रगति का रुक जाना, मार्ग का अन्धकाराच्छन्न हो जाना। स्वदोष-दर्शन ही तुम्हें साधक की विनम्र भूमिका पर पहुँचाएगा। भूल यदि भूल के रूप में समझली जाय तो साधक का साधना क्षेत्र सम्यग् ज्ञान के उज्ज्वल आलोक से आलोकित हो उठता है, अज्ञानान्धकार सहसा छिन्न-भिन्न हो जाता है। हाँ, तो अपने आपको परखो और जाँचो। मन का एक-एक कोना छान डालो, देखो, कहाँ क्या भरा हुआ है? छोटी से छोटी भूल को भी बारीकी से पकड़ो। प्रमेह-दशा की छोटी सी फुन्सी भी कितनी विप्राक्त एवं भयंकर होती है? जरा भी उपेक्षा हुई कि वस जीवन से हाथ धो लेने पड़ते हैं। अपनी भूलों के प्रति उपेक्षित रहना, साधक के लिए महापाप है। वह साधक ही क्या, जो अपने मन के कोने-कोने को झाड़बुहार कर साफ न करे। जैन धर्म का प्रतिक्रमण इसी सिद्धान्त पर आधारित है। स्वदोष-दर्शन ही आगमिक भाषा में प्रतिक्रमण है। अतएव नित्य प्रतिक्रमण करो, प्रातः सायं हर रोज प्रतिक्रमण करो। अपने दोषों की जो जितनी कठोरता से आलोचना करेगा, वह उतना ही सच्चा प्रतिक्रमण करेगा।”

घात कुछ लम्बी कर गया हूँ। अब जरा समेट लूँ तो ठीक रहेगा न? क्या पर्युषण पर्व आदि पर प्रतिक्रमण करने वाले साथी मेरी बात पर कुछ लक्ष्य देंगे। यह मेरी अपनी बात नहीं है। यह बात है जैन धर्म की और जैन धर्म के अनन्तान्त तीर्थंकरों की। मैं समझता हूँ, आप में से बहुतों ने वह खुस्जी पलट ली होगी, आगे की पीछे और

पीछे की आगे कर ली होगी । क्या कि आगे वयो से प्रतिनमण करते आ रहे हैं । और वह प्रतिनमण है क्या ? उसी अनादि काल से लादी हुई खुरदी को यथोक्त पद्धति के रूप में उलट लेना । यदि अब तक वह न उलटी गई हो तो अब वह अवश्य उलट लीजिए । यदि अब भी न उलट सके तो फिर क्या उलटेंगे ? समय आ गया है अब हम सब मिल कर अपनी-अपनी खुरदी उलट लें और सच्चे मन से सच्चा प्रतिनमण कर लें ।

: २४ :

प्रतिक्रमण : तीसरी औषध

आचार्य हरिभद्र आदि ने प्रतिक्रमण के महत्त्व का वर्णन करते हुए एक कथा का उल्लेख किया है। वह कथा बड़ी ही सुन्दर, विचार-प्रधान तथा प्रतिक्रमण के आवश्यकत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करने वाली है।

पुराने युग में नितिप्रतिष्ठ एक नगरी थी और जितशत्रु उसके राजा थे। राजा को दलती हुई आयु में पुत्र का लाभ हुआ तो उस पर अत्यन्त स्नेह करने लगे। सदैव उसके स्वास्थ्य की ही चिन्ता रहने लगी। पुत्र कभी भी बीमार न हो, इस सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए अपने देश के तीन सुप्रसिद्ध वैद्य बुलवाए और उनसे कहा कि कोई ऐसी औषध बताइए, जो मेरे पुत्र के लिए सब प्रकार से लाभकारी हो।

तीनों वैद्यों ने अपनी-अपनी औषधियों के गुण-दोष, इस प्रकार बतलाए।

पहले वैद्य ने कहा—मेरी औषधि बड़ी ही श्रेष्ठ है। यदि पहले से कोई रोग हो तो मेरी औषधि तुरन्त प्रभाव डालेगी और रोग को नष्ट कर देगी। परन्तु यदि कोई रोग न हो, और औषधि खा ली जाय तो फिर अवश्य ही नया रोग पैदा होगा, और वह रोगी मृत्यु से बच न सकेगा।

राजा ने कहा—बक, आप तो कृपा रखिए । अग्ने हाथों मृत्यु का निमन्त्रण फौज दे ? यह तो शान्ति में बैठे हुए पेट भगल कर दर्द पैदा करना है ।

दूसरे वैद्य ने कहा—यवन् ! मेरी आपधि ठीक रहेगी । यदि कोई रोग होगा तो उसे नष्ट कर देगी, और यदि रोग न हुआ तो न कुछ लाभ होगा, न कुछ हानि ।

राजा ने कहा—आपकी औषधि तो यत्न में ही ढालने जैसी है । यदि आपकी औषधि भी मुझे नहीं चाहिए ।

तासरे वैद्य ने कहा—महायव ! आप के पुत्र के लिए तो मेरी औषधि ठीक रहेगी । मेरी औषधि आप प्रतिदिन नियमित रूप से पिलाते रहिए । यदि कोई रोग होगा तो वह शीघ्र ही उसे नष्ट कर देगी । और यदि कोई रोग न हुआ तो भविष्य में तथा रोग न होने देगी, प्रत्युत शरीर की कान्ति, शक्ति और स्वस्थता में नित्य नई अभिवृद्धि करती रहेगी ।

राजा ने तीसरे वैद्य की औषधि पसन्द की । राजपुत्र उस औषधि के नियमित सेवन से स्वस्थ, सशक्त और तेजस्वी होता चला गया ।

उक्त कथानक के द्वारा आचार्यों ने यह शिक्षा दी है कि प्रतिक्रमण प्रातः और सायंकाल में प्रति दिन आवश्यक है, दोष लगा हो तब भी और दोष न लगा हो तब भी । यदि कोई समय जीवन में शिक्षा अस्तर आदि का अनिचार लग जाए तो प्रतिक्रमण करने से वह दाय दूर हो जाएगा और साधक पुनः अग्नी पहले जैसी पवित्र अवस्था प्राप्त कर लेगा । दास एक रोग है, और प्रतिक्रमण उसकी सिद्ध अचूक औषधि है । और यदि कोई दोष न लगा हो, तब भी प्रतिक्रमण करना आवश्यक है । उस दशा में दासों के प्रति घृणा करी रहेगी, समय के प्रति साधन धानता मद न पड़ेगी, जीवन आश्रय रहेगा, स्वीकृत चारित्र्य निरन्तर शुद्ध, परिण, निर्मल होता चला जायगा, पतल भविष्य में भूत होने की सम्भावना कम हो जायगी ।

यह कथानक उन लोगों के समाधान के लिए है, 'जो यह कहते हैं हम जिस दिन कोई पाप ही न करें, तो फिर उस दिन प्रतिक्रमण करने क्या आवश्यकता है ? व्यर्थ ही प्रतिक्रमण के पाठों को बोलने से लाभ है ? यह समय का अपव्यय नहीं तो और क्या है ?'

प्रथम तो जब तक मनुष्य हृद्मस्थ है एवं प्रमादी है, तब तक कोई प लगे ही नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है ? मन, वचन, शरीर का ग परित्यंदात्मक है और उसमें जहाँ भी कहीं कपाय भाव का मिश्रण था कि फिर दोष लगे बिना नहीं रह सकता । दिन और रात मन की ति धर्म की ओर ही अभिमुख रहे, जरा भी इधर-उधर न झुके, यह यथार्थ का दावा है, जो प्रमादी दशा में किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं हो सकता । परन्तु तुल्यतु दुर्जनन्याय से यदि थोड़ी देर के लिए यह मान ली लिया जाय, तब भी प्रतिक्रमण की माधना तीसरी औपधि के समान है । वह केवल पुराने दोषों को दूर करने के लिए ही नहीं है, अपितु भविष्य में दोषों की सम्भावना को कम करने के लिए भी है । प्रतिक्रमण करते समय जो भावविशुद्धि होगी, वह साधक के संयम को शक्तिशाली एवं तेजस्वी बनाएगी । पापाचरण के प्रति घृणा व्यक्त करना ही प्रतिक्रमण का उद्देश्य है । पाप किया हो, या न किया हो, साधक के लिए यह प्रश्न मुख्य नहीं है । साधक के लिए तो सब से बड़ा प्रश्न यही हल करना है कि वह पाप के प्रति घृणा व्यक्त कर सकता है या नहीं ? यदि घृणा व्यक्त कर सकता है तो वह अपने-आप में स्वयं एक बड़ी माधना है । पापों को विद्वारना ही पापों को समाप्त करना है । यह लोक-नियम है कि जिसके प्रति जितनी घृणा होगी, उससे उतनी ही दृढ़ता से अलग रहा जायगा, एक दिन उसका सर्वनाश कर दिया जायगा । प्रति दिन के प्रतिक्रमण में जब हम पापों के प्रति घृणा व्यक्त करेंगे, उन्हें परभाव मानेंगे, उन्हें अपना विरोधी मानेंगे, आत्मस्वरूप के वातक समझेंगे तो फिर उनका जीवन में कभी भी सत्कार न करेंगे । सदैव उनसे दूर रह कर अपने को बचाए रखने का सतत प्रयत्न करेंगे ।

इस प्रकार प्रतिदिन का प्रतिक्रमण केवल भूतकाल के दोनों को ही साफ नहीं करता है, अपितु भविष्य में भी साधक को पापों से बचाता है।

दूसरी बात यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते रहने से साधक में अप्रमत्त भाव की स्मृति बनी रहती है। प्रतिक्रमण के समय पवित्र भावना का प्रकाश मन के कोने-कोने पर जगमगाने लगता है, और समभाव का अमृत प्रवाह अन्तर के मल को बहाकर साफ कर देता है। पाप हुए हों या न हुए हों, परन्तु प्रतिक्रमण के समय सामाधिक, चतुर्विंशतिस्तम, बन्दन, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान की साधना तो हो ही जाती है। और यह साधना भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। छह अंश में से पाँच अंश की उपेक्षा किस न्याय पर की जा सकती है ? अतएव अधिक चर्चा में न उतर कर हम आचार्य हरिभद्र एवं जिनदास के शब्दों में यही कहना चाहते हैं कि प्रतिक्रमण सीखी औषधि है। पूर्व पाप होंगे तो वे दूर होंगे, और यदि पूर्व पाप न हों, तो भी संभ्रम की साधना के लिए प्रसन्न मिलेगा, स्मृति मिलेगी। की हुई साधना किसी भी अंश में निष्फल नहीं होती।

: २५ :

प्रतिक्रमण : मिच्छामि दुक्कडं

'मिच्छामि दुक्कडं' जैन संस्कृति की बहुत महत्वपूर्ण देन है। जैन धर्म का समस्त साधनासाहित्य मिच्छामि दुक्कडं से भरा हुआ है। साधक अग्नी भूल के लिए मिच्छामि दुक्कडं देता है और पाप-मल को भीतर पवित्र बन जाता है। भूल हो जाने के बाद, यदि साधक मिच्छामि दुक्कडं दे लेता है, तो वह आराधक कहा जाता है। और यदि अभिमानवश अग्नी भूल नहीं स्वीकार करता एवं मिच्छामि दुक्कडं नहीं देता, तो वह धर्म का विगंधक रहता है, आराधक नहीं।

मन में किसी के प्रति द्वेष आए तो मिच्छामि दुक्कडं करना चाहिए। लोभ या छल की दुर्भावना आए तो मिच्छामि दुक्कडं करना चाहिए। विचार में कालिमा हो, वाणी में मलिनता हो, आचरण क्लृप्तता हो, अर्थात् खाने में, पीने में, जाने में, आने में, बैठने में, सोने में, धोने में, सोचने में, कहीं भी कोई भूल धर्म का साधक मिच्छामि दुक्कडं का आश्रय लेता है 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना, प्रतिक्रमण-रूप^१ प्रायश्चित्त^२ साधना को पवित्र, निर्मल, स्वच्छ तथा शुद्ध बनाता

१—'मिच्छादुक्कटानिधानाधमि०' ५०

पाठक विचार करते होंगे कि क्या मिच्छामि दुक्कड कहने से ही सब पाप उन्मूलित होने हैं ? यह क्या कोई छुमतर है ? जो मिच्छामि दुक्कड कहा और सब पाप दवा हो गए । समाधान है कि केवल स्थान मात्र से ही पाप दूर हो जाते हों, यह बात नहीं है । शब्द में स्वयं कोई पवित्र अथवा अपवित्र करने की शक्ति नहीं है । वह बड़ है, क्या किसी का पवित्र बनाएगा । वस्तु शब्द के पीछे रहा हुआ मनका भाव ही करने वाली शक्ति है । वाली को मन का प्रतीक माना गया है । अतः 'मिच्छामि दुक्कड' महावाक्य के पीछे जो आन्तरिक पश्चात्ताप का भाव रहा हुआ होता है उसी में शक्ति है और वह बहुत बड़ी शक्ति है । पश्चात्ताप का दम्य निर्भर आत्मा पर लगे पाप मल को उखाड़ साफ कर देता है । यदि साधक परमरागत निःप्राण रुद्धि के फेर में न पड़कर, सच्चे मन से पापाचार के प्रति घृणा व्यक्त करे, पश्चात्ताप करे, तो वह पाप कालिमा को सहज ही धोकर साफ कर सकता है । आन्तरिक अपराध के लिए दिया जाने वाला तपश्चरण या अन्य किसी तरह का दण्ड भी तो मूल में पश्चात्ताप ही है । यदि मन में पश्चात्ताप न हो, और कठोर से कठोर प्रायश्चित्त ग्राह्य में ग्रहण कर भी लिया जाय तो क्या आत्मशुद्धि हो सकती है ? हाँ नहीं । दण्ड का उद्देश्य वेद दण्ड नहीं है, अपितु मनका दण्ड है । और मन का दण्ड क्या है ? अपनी भूल स्वीकार कर लेना, पश्चात्ताप कर लेना । यही कारण है कि लैन या अन्य भारतीय साहित्य में साधना के नेत्र में पाप के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है, दण्ड का नहीं । दण्ड प्रायः ग्राह्य अटक कर रह जाता है, अन्तर्गम में प्रवेश नहीं कर पाता, पश्चात्ताप का करना नहीं पड़ता । दण्ड में दण्डदाता की आर से वनात्कर की प्रधानता होती है । और प्रायश्चित्त साधक की स्वयं अपनी सैवारी है । यह अन्तर्हृदय में अपने स्वयं के पाप को खोजने करने के लिए उद्यत है । अतः वह अपराधों को पश्चात्ताप के द्वारा भातुक बनाता है, विनीत

‘ सरल एवं निष्काट बनाता है, दण्ड पाने वाले के समान भूत

नहीं। हाँ, तो मिच्छामि 'दुक्कडं' भी एक प्रायश्चित्त है। इसके मूल में पश्चात्ताप की भावना है, यदि वह सच्चे मनसे हो तो ?

ऊपर के लेखन में बार-बार सच्चे मन और पश्चात्ताप की भावना का उल्लेख किया गया है। उसका कारण यह है कि आजकल जैनों का 'मिच्छामि दुक्कडं' काफी बदनाम हो चुका है। आज के 'साधकों' की साधना के लिए, आत्म-शुद्धि के लिए तैयारी तो होती नहीं है। प्रतिक्रमण का मूल आशय समझा तो जाता नहीं है। अथवा समझकर भी नैतिक दुर्बलता के कारण उस विकाश तक नहीं पहुँचा जाता है। अतः वह लोभ रूढ़ि के कारण प्रतिक्रमण तो करता है, मिच्छामि दुक्कडं भी देता है, परन्तु फिर उसी पाप को करता रहता है, उससे निवृत्त नहीं होता है। पाप करना, और मिच्छामि दुक्कडं देना, फिर पाप करना और फिर मिच्छामि दुक्कडं देना, यह सिलसिला जीवन के अन्त तक चलता रहता है, परन्तु इससे आत्म शुद्धि के पथपर ज़रा भी प्रगति नहीं हो पाती।

जैन-धर्म इस प्रकार की बाह्य-साधना को द्रव्य-साधना कहता है। वह केवल बाह्यी से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना, और फिर उस पाप को करते रहना, ठीक नहीं समझता है। मन के मैल को साफ किए बिना और पुनः उस पाप को नहीं करने का दृढ़ निश्चय किए बिना, खाली ऊपर-ऊपर से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने का कुछ अर्थ नहीं है। एक ओर दूसरों का दिल दुखाने का काम करते रहें, हिंसा करते रहें, झूठ बोलते रहें, अन्याय अत्याचार करते रहें, और दूसरी ओर मिच्छामि दुक्कडं की रट लगाते रहें, तो यह साधना का मजाक नहीं तो और क्या है ? यह माया है, साधना नहीं। इस प्रकार की 'मिच्छामि दुक्कडं' पर जैन-धर्म ने कठोर आलोचना की है। इसके लिए आवश्यक चूर्ण में आचार्य जिनदास कुम्हार के पात्र फोड़ने वाले शिष्य का उदाहरण देते हैं।

एक बार एक आचार्य किसी गाँव में पहुँचे और कुम्हार के पड़ोस में ठहरे। आचार्य का एक छोटा शिष्य बड़ी चंचल प्रकृति का खिलाड़ी

शक्ति या । कुम्हार ऋषीही चाक पर से पात्र उतार कर भूमि पर रखे,
और वह शिप कंकर का निगाहा मार कर उसे तोड़ दे । कुम्हार ने
शिष्यायत की तो मिच्छामि दुःखदं कहने लगा । परन्तु वह क्या नर्हा,
बार बार मिच्छामि दुःखदं देता रहा और पात्र तोड़ता रहा । आतुर
कुम्हार को आदेश आ गया, उसने कंकर उठाकर चुल्लूक के धान पर
रख ऋषीही की ओर से दयावा तो वह पीड़ा से तिलमिला उठा । उसने
कहा, अरे यह क्या कर रहा है ? कुम्हार ने कहा—‘मिच्छामि दुःखदं’ ।
दयाता जाता और मिच्छामि दुःखदं कहता जाता, अतः चुल्लूक
को अपने मिच्छामि दुःखदं की भूल स्वीकार करनी पनी ।

जब तक परचाताप न हो, तब तक केवल वाणी की ‘मिच्छामि दुःखदं’
कुम्हार की मिच्छामि दुःखदं है । यह मिच्छामि दुःखदं आत्मा को
शुद्ध तो क्या, प्रत्युत और अधिक अशुद्ध बना देती है । यह मार्ग पाप
के प्रतिकार का नहीं, अपितु पाप के प्रचार का है । इसलिए, आचार्य
भद्रबाहु, इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं —

जहं यः पठिष्वसमिच्छत्,

अवस्स पाउण पापय वग्ग ।

तं चेहं न कायत्थं,

तो होइ पण पठिस्सकतो ॥६८३॥

—पाप कर्म करने ने पश्चात् अत्र प्रतिनमण अनर्थ करणीय है,
तब सरल मार्ग तो यह है कि वह पाप कर्म निषा ही न जाय । आध्या-
त्मिक दृष्टि से वस्तुतः यही सच्चा प्रतिनमण है ।

जं दुक्खदं ति मिच्छा,

तं मुञ्चो कारण अपूरेतो ।

सिखिद्रेण पठिस्सकर्ता,

वरस खनु दुक्खदं मिच्छा ॥६८४॥

— १) या उक्त विविध योद्ध से प्रतिक्रमण करता है, जिस पाप के नि-

मिच्छामि दुक्कडं दे देता है फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है, वस्तुतः उसी का दुष्कृत मिथ्या अर्थात् निष्फल होता है।

जं दुक्कडं ति मिच्छा,

तं चेव निसेवए पुणो पार्व ।

पच्चक्ख - मुस्सावाई,

मायानियडो - पसंगो य ॥६८५॥

—साधक एक बार मिच्छामि दुक्कडं देकर भी यदि फिर उस पापाचरण का सेवन करता है तो वह प्रत्यन्तः झूठ बोलता है, दंभ का जाल बुनता है।^१

आचार्य धर्मदास तो उपदेश माला में इस प्रकार के धर्म-ध्वजी एवं वक्तृत्ति लोगों के लिए घड़ी ही कठोर भर्त्सना करता है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहता है।

जो जहवायं न कुणइ,

मिच्छादिद्वी तउ हु को अनो ?

बुड्डेइ य मिच्छत्तं,

परस्स संकं जणेमाणो ॥५०६॥

—जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि भविष्य में वैसा करता नहीं है तो उससे बढ़कर मिथ्या दृष्टि और कौन होगा ? वह दूसरे भद्र लोगों के

१—जैनजगत के महान् दार्शनिक वाचक यशोविजय भी अपनी गुर्जर भाषा में इसी भावना को व्यक्त कर रहे हैं—

‘मूल पदे पढिकमणू भाख्यूं, पापतणुं अणकरू’ ।

मिच्छा दुक्कड देई पातक,

ते भावे जे सेवेरे ।

आवश्यक साखे ते परगट,

माया मोसो सेवेरे ॥’

मन में शंका पैदा करता है और इस रूप में मिथ्यात्व की वृद्धि ही करता है ।

आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी, आवश्यक नियुक्ति में, 'मिच्छा मि दुक्कड' के ऐसे अक्षर का अर्थ ही इस रूप में करते हैं कि यदि साधक मिच्छा मि दुक्कड बन्ता हुआ उस पर विचार कर ले तो फिर पाप चरण करे ही नहीं ।

‘मि’ ति मिउमदुदयत्ते,

‘छ’ ति य दोसाण छायेणे होइ ।

‘मि’ ति य मेराए ठिण्णो,

‘दु’ ति दुगुंछामि अण्णाण ॥६८६॥

‘क’ ति षड मे पाव,

‘ड’ ति य डेवेमि तं उवसमेण ।

एसो मिच्छा दुक्कड,—

पयक्खरत्थो समासेण ॥६८७॥

—‘मि’ का अर्थ मृदुता और मार्दवता है । काय नम्रता को मृदुता कहते हैं और भावनम्रता को मार्दवता । ‘छ’ का अर्थ असवमयोग रूप दोनों को छादन करना है, अर्थात् रोक देना है । ‘मि’ का अर्थ मर्यादा है, अर्थात् मैं चारित्र्यरूप मर्यादा में स्थित हूँ । ‘दु’ का अर्थ निन्दा है । ‘मैं दुष्कृत करने वाले भूतपूर्व आत्ममर्यादा की निन्दा करता हूँ ।’ ‘क’ का भाव पापकर्म की स्वीकृति है, अर्थात् मैंने पाप किया है, इस रूप में अपने पापों को स्वीकार करना । ‘ड’ का अर्थ उग्रशम भाव के द्वारा पाप कर्म का प्रतिनिमण करना है, पापक्षेत्र को छोड़ जाना है । यह सबैय में मिच्छामि दुक्कड पद का अक्षरार्थ है ।

हैं तो समय यात्रा के पथ पर प्रगति करते हुए यदि कहीं साधक से भूत हो जाय, तो सर्वप्रथम उसके लिए अच्छे मन से पश्चात्तन होता चाहिए, फिर से उस भूत की आहूति न होने देने के लिए सतत सक्रिय प्रयत्न भी चानू हो जाना चाहिए । मन का साध

होना अत्यन्त आवश्यक है। दिल में हुंड़ी रखकर दृष्टि भी सफाई नहीं मिल सकती। इस प्रकार परवाना के उद्घाटन प्रकाश में यदि मन, वाणी और कर्म से मिष्टानि धुपपट्ट दिया जाय तो वह कदापि निष्फल नहीं हो सकता। वह तब ही कामकाज को भोगगा, और अवश्य भोगगा।

: २६ :

मुद्रा

साधक के लिए आसनवक आदि निम्न करते समय वहाँ अन्तरंग में मन की एकाग्रता अपेक्षित है, वहाँ गहर में शरीर की एकाग्रता भी कम महत्त्व की नहीं है। उद्द्रव्य आसन है, परन्तु भाव के लिए अत्यन्त अपेक्षित है। सैनिक में वहाँ दीप्ति का गुण अपेक्षित है, वहाँ बाहर का व्यायाम और उपायद का कुछ कम मूल्य रखते हैं ? नहीं, ये शरीर की सुदृढ़, स्थितिमान, और विरोधी आत्ममय से घबने के योग बनाते हैं। यही कारण है कि भारतीय धर्मों में आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आसन और मुद्रा आदि का बहुत उच्च महत्त्व माना गया है।

शरीर के अव्यवस्थित रूप में रहने वाले आनयनों को अनुकूल विशेष आकृति में व्यवस्थित करना, सामान्य रूप से मुद्रा कहा जाता है। मुद्रा, साधक में नयचेतना पैदा करती है और भावना का उल्लास जगा देती है। यों ही किसी विशेष मुद्रा के करने का प्रसंग आता है, यों ही साधक जाग्रत हो जाता है और उसका भूना भटका मन सहसा केन्द्र में आ लड़ा होता है। मन्द और क्षीण हुई धर्म चेतना, मुद्रा का प्रसंग पर वर पुनः उद्दीप्त हो उठती है, फलतः साधक नई स्फूर्ति के साथ साधना के पथपर अग्रसर हो जाता है।^१

१—मुद्रा के लिए आचार्य नेमिचन्द्र प्रयत्न सारो द्वार में कहते हैं कि मुद्रासे अशुभ मन, वचन, काय योग का निरोध होता है और उनकी शुभ में प्रवृत्ति होती है। 'कायमनोवचननिरोद्धयं च त्रिविधं च परिहाणम्' १७१। 'कायमनोवचनानामङ्गुलजखपायाः निरोधनं—
अर्धं, दृमानां च तेषां करणमिति।

जैन साहित्य में इस प्रकार की तीन मुद्राएँ मानी गई हैं— (१) योग मुद्रा, (२) जिन मुद्रा, और (३) मुक्ताशुक्ति मुद्रा ।

एक हाथ की अंगुलियों को दूसरे हाथ की अंगुलियों में डाल कर कमल-डोडा के आकार से हाथ जोड़ना, दोनों हाथों के अंगुठों को मुख के आगे नासिका पर लगाना, और दोनों हाथों की कुहनियों को पेट पर रखना, योग मुद्रा है । यह मुद्रा घुटने टेक कर, अथवा गोदुह आसन से उकड़ बैठकर की जाती है ।

जिनेश्वर देव जब कायोत्तमर्ग करते हैं, तब दोनों चरणों के बीच अंगुठों के भाग में चार अंगुल जितना और पीछे के भाग में एड़ी की ओर चार अंगुल से कुछ कम साठे तीन अंगुल जितना अंतर रखते हैं । और उक्त दशा में दाहिना हाथ दाहिनी जंघा के पास एवं बायाँ हाथ बाईं जंघा के पास लटकता रहता है । दोनों हाथों की हथेलियाँ आगे की ओर चित्त खुली हुई होती हैं । यह जिनमुद्रा है । यह मुद्रा दण्डायमान सीधे खड़े होकर की जाती है ।

तीसरी मुक्ताशुक्ति मुद्रा का यह प्रकार है कि कमल-डोडा के समान दोनों हाथों को बीच में पोल रख कर जोड़ना और मस्तक पर लगाना, अथवा मस्तक से कुछ दूर रखना । मुक्ता का अर्थ है मोती, और शुक्ति का अर्थ है सीरा । अस्तु मुक्ताशुक्ति के समान मिली हुई मुद्रा, मुक्ताशुक्ति मुद्रा कहलाती है । यह मुद्रा भी घुटनों को भूमि पर टेक कर, अथवा गोदुह आसन से उकड़ बैठकर की जाती है ।

अन्तोऽन्नंतर अंगुलि,

कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं ।

पेटोपरि कुण्ठर-संठेहिं,

तह लोग-उद्दत्ति ॥७४॥

चत्तारि

अगुलाइं,

पुरओ जत्थ पच्छिमओ

पापाणं उदसगो,
 एसा पुण होइ त्रिणमुददा ॥७५॥
 मुभासुत्ता मुददा,
 सभा जहि दोवि गच्छियया हस्था ।
 ने पुण निंलाड - देसे,
 लगा छाएणे अलग्गति ॥७६॥

—प्रवचन सरोदार । १ द्वार ।

चतुर्विंशतिस्तव आदि स्तुति पाठ प्रायः योग मुद्रा से किए जाते हैं । वदन करने की क्रिया एवं वायोत्सर्ग में ध्यान मुद्रा का प्रयोग होता है । वन्दन के लिए मुक्ताशुक्ति मुद्रा का भी विधान है । इस सम्बन्ध में मैं इस समय अधिक लिखने की स्थिति में नहीं हूँ । विद्वानों से विचार विमर्श करने के बाद ही इस दिशा में कुछ अधिक लिखना उचित होगा ।

: २७ :

प्रतिक्रमण पर जन-चिन्तन

पापाचरण एक शल्य है, जो उसे बाहर न निकाल कर मन में ही छिपाए रहता है, वह अन्दर अन्दर पीड़ित रहता है, बर्बाद होता है।

×

×

×

प्रतिक्रमण संयम के छेदों को बन्द करने के लिए है। प्रतिक्रमण से आश्रय सकता है, संयम में मावधानता होती है, फलतः चारित्र की विशुद्धि होती है।

×

×

×

सरलहृदय निष्कपट साधक ही शुद्ध हो सकता है। शुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण में ही धर्म ठहर सकता है। शुद्ध हृदय साधक, धी से सिंचित अग्नि की तरह शुद्ध होकर परम निर्वाण अर्थात् उक्तष्ट शान्ति को प्राप्त होता है।

×

×

×

आत्म-दोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भट्टी-सुलगती है। और उस पश्चात्ताप की, भट्टी में सब दोषों को जलाने के बाद साधक परम वीतराग भाव को प्राप्त करता है।

∴

—भगवान् महावीर

तू अपने किए पापों से अपने को ही मलिन बना रहा है। पाप छोड़ दे तो स्वयं ही शुद्ध हो जायगा। शुद्धि और अशुद्धि अपने ही हैं। अन्य मनुष्य अन्य मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

×

×

×

यदि शून्य से मनुष्य विधा हुआ है तो यह भगदौड़ मचायगा ही। र यदि वह अन्तर में विधा हुआ वायु सींच कर निष्कल लिया जाय, तो यह शान्ति से चुन बैठ जायगा।

+

+

+

जो मनुष्य समस्त पापों को हृदय से निकाल बाहर कर देता है, जो विमल, समदिन, और स्थितात्मा होकर ससार-सागर को लौंर जाता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

—तथाम्बु बुद्ध

जो मनुष्य जितना ही अन्तर्मुख होगा, और जितनी ही उठती वृत्ति सात्विक व निर्मल होगी, उतनी ॥ दूर की वह सोच सकेगा और उनसे ही दूर के परिणाम वह देख सकेगा।

+

+

+

कर्म दूषित हो गया हो तो अज्ञान धरणने की बात नहीं, वृत्ति दूषित न होने दा। वृत्ति को दूषित होने से उचाने का उपाय है मन को भी दोषों से बचाने का प्रयत्न करना।

X

X

X

पाप को पेट में मत रख, उगल दे। जहर तो पेट में रख लेने से शरीर को ही मारता है, किन्तु पाप तो सारे सभ्य को ही मिटा देता है।

X

X

X

जहाँ गुनता है वहाँ कोई गुणई अवरण है। गुणई को क्षिपाना, गुणई को बढाना है।

X

X

X

भिन्न, चोरी की तरह, गायिल मनुष्य के घर में ही सेंब लगाते हैं। जागरूकता उनके हमले से उचाव की समसे उड़ी ढाल है।

X

X

X

.. प्रसन्न जज्ञाव का कनान अरनी नोट मुक में याथा तथा

जहाज सम्बन्धी बातें लिखता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष भाव से प्रतिदिन अपने दैनिक कार्य-क्रम के बारे में लिखना चाहिए और अगले दिन उसे सोचना चाहिए कि उसके काम में जो त्रुटियाँ और दोष रह गए हैं, उनके दूर करने में वह कहाँ तक सफल हुआ ?

+

+

+

पाप विनारा की वंशी है, जिसके कोंटे का ज्ञान मछली को लीलते समय नहीं, बल्कि मरते समय होता है ।

x

x

x

पतन में परिणाम का अज्ञान होता है । भावावेश में जो कुछ होता है, वह मूर्छित दशा में होता है, और मूर्छा उतर जाने पर हुआ पश्चात्ताप उसे शुद्ध करके आगे बढ़ाता है ।

x

x

x

यदि तूने अपनी कोई गलती महसूस की है तो तू अपनी तरफ से उसे फौरन पोंछ डाल । दूसरे की गलती या अन्याय को उसके इन्साफ पर छोड़ दे ।

x

x

x

गुप्तता का दूसरा पहलू है असंयम । जितना ही अधिक संयम, उतना ही अधिक खुली पुस्तक का-सा जीवन ।

x

x

x

जब तुम अपने को पढ़ने लागोगे तो देखोगे कि कैसे-कैसे विस्मय-जनक पृष्ठ व दृश्य सामने आते हैं ।

अपने को पहचानने के लिए मनुष्य को अपने से बाहर निकल कर तटस्थ बनकर अपने को देखना है ।

x

x

x

यह कितनी गलत बात है कि हम मैले रहें और दूसरों को साफ रहने की सलाह दें !

x

x

x

मनुष्य जीवन और पशुजीवन में फरक क्या है ? इसका सम्पूर्ण-विचार करने से हमारी सभी सुगीयों हल होती हैं ।

×

×

×

×

मनुष्य जब अपनी हृद से बाहर जाना है, हृद से बाहर काम करता है, हृद से बाहर विचार भी करता है, तब उसे व्याधि हो सकती है, मोघ या मक्का है ।

×

×

×

×

हमारी मन्दगी हमने जब बाहर नहीं निमाली है, जब तक प्रभु की प्रार्थना करने का हमें कुछ ठक है क्या ?

×

×

×

×

गुनाह क्षिप्त नहीं रहता । वह मनुष्य के मुख पर लिखा रहता है । उम शस्त्र की हम पूरे तौर से नहीं जानते, लेकिन गलत साफ है ।

×

×

×

×

गलती, तब गलती मिटती है जब उसकी दुबली कर लेते हैं । गलती जब दना देते हैं, तब वह फोड़े की तरह फूटती है और भयंकर रक्कन ले लेती है ।

×

×

+

×

आत्मा को पहचानने से, उसका ध्यान करने से और उसके गुणों का अनुसरण करने से मनुष्य ऊँचे जाता है । बलदा करने से नीचे जाता है ।

×

×

×

×

अन्धा वह नहीं जिसकी आँखें फूट गई हैं । अन्धा वह है जो आने दोर दौड़ता है ।

×

×

×

×

क्यों नारक दूसरों के ऐंग डूटने चलते हो ? माना कि सभी पापी हैं, सभी अन्धे हैं, सभी गुनहगार हैं । लेकिन, तुम दूसरों को क्या

उपदेश दे रहे हो ? जन आपसे भीतर तो भौंक कर देंगे कि पक्ष सुधार की कोई सुझाव है या नहीं ? अगर है तो फिर तुम्हारे सामने शायी जरूरी काम मौजूद है । मन्ने पढ़ने हमी पर ध्यान दो । सबसे पहले करना सुधार करें । और जब तक तुम खुद मीने हो, तब तक उन्हें दूसरों को उपदेश देने का क्या अधिकार है ?

* * * *

पर शिक्षाव्यवस्था को अपेक्षा आत्मनिर्गच्छ मानवता है
किरी के आगप को भुनना और चमा कर देना मानवता है ।
घरला सेना नहीं, देना मानवता है ।

—महात्मा गांधी

प्रत्येक व्यक्ति को सुधार से संबंध करने के लिए अपनी शक्ति पर विश्वास होना चाहिए ।

* * * *

सुझाव और कितने ही दुर्गुण हो सकते हैं, परन्तु एक दुर्गुण नहीं है कि 'झिंकर परदे के पीछे कुछ करना' ।

* * * *

हमें अपने आपको लोगों में वैसा ही जाहिर करना चाहिए, जैसे कि हम वास्तव में हैं । कोरी नुमाइश करना ठीक नहीं है ।

—जवाहरलाल नेहरू

अपनी मर्यादा को ठीक कायम रखने से ही हम अपने शब्द के भगवान् का साक्षात्कार कर सकते हैं ।

—पद्मभिषीतारमैय्या

हमारे लिए धर्म हमेशा से ही कट्टर मतों का पिढारा नहीं, बल्कि आत्मा की खोज का साधन रहा है ।

—राजगोपालाचार्य

धर्म जीवन ही साधना करते हुए अपने आपसे पूछा कि कहीं तुमने ऐसा काम तो नही किया है, जो घणा का हो, द्वेष का हो, अथवा शत्रुता की भावना को बढ़ाने वाला हो। इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिले तो सम्भ्रान्त चाहिये कि प्रार्थना का, धर्माचरण का आनन्द पर कोई असर नकर हो रहा है, अथवा हुआ है।

—मन्त तुम्हको जी

मन का सभी मैल धुन जाने पर ईश्वर का दर्शन होता है। मन मानो मिट्टी से लिपटी हुई एक लादे की मुई है, ईश्वर है चुम्बक। मिट्टी के रहते चुम्बक के साथ मयोग नहीं होता। रोते रोते (शुद्ध हृदय से परचाचार करते) मुई की मिट्टी धुन जाती है। मुई की मिट्टी यानी काम, क्रोध, लोभ, पाप बुद्धि, विषयबुद्धि आदि। मिट्टी के धुन जाने पर मुई को चुम्बक सींच लेगा, अर्थात् ईश्वर दर्शन होगा।

x

x

x

x

पर म यदि दीर्घ न जले तो वह दारिद्र्य का चिह्न है। हृदय में ज्ञान का दीर्घ जलाना चाहिए। हृदय में ज्ञान का दीर्घ जलाना उषको देखो।

—धीरामहर्ष्य परमहंस

मेरी सनभक्त न, हम लोगो को ऐसा होना चाहिए कि यदि सब कार्य ऐसे ही तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन जाय।

—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

जिनका हृदय शुद्ध है वे धन्य हैं, क्योंकि उन्हें परमात्मा की प्राप्ति अनवरत ही होगी। अतएव यदि तुम शुद्ध नहीं हो तो फिर चाहे दुनिया का सारा विज्ञान तुम्हें अगम्य हो, परन्तु फिर भी उसका कुछ उपयोग न होगा।

x

x

x

x

अगर शुद्ध हृदय और बुद्धि में भग्नता पड़े तो तुम अपने शुद्ध

हृदय ही की सुनो । शुद्ध हृदय ही सत्य के प्रतिबिम्ब के लिए सर्वोत्तम दर्पण है ।

X X X X

हृदय को सर्वदा अधिकाधिक पवित्र बनाओ, क्योंकि भगवान् के कार्य हृदय द्वारा ही होते हैं । अगर तुम्हारा हृदय काफी शुद्ध होगा तो दुनिया के सारे सत्य उसमें आविर्भूत हो जायेंगे ।

X X X X

हम दुर्बल हैं—इस कारण गलती करते हैं और हम अज्ञानी हैं, इसलिए दुर्बल हैं । हमें अज्ञानी कौन बनाता है ? हम स्वयं ही । हम अपनी आँखों को अपने हाथों से ढँक लेते हैं और अंधेरा है—कहकर रोते हैं ।

—स्वामी विवेकानन्द

धर्म का सार सत्य है, अपने ऊपर से परदे का हटाना, अर्थात् अपने आपका रहस्य जानना ।

X X X X

अपने प्रति सच्चे ब्राने, और संसार की अन्य किसी बात की ओर ध्यान न दीजिए ।

X X X X

संसार में व्यथा का प्रधान कारण यह है कि हम लोग अपने भीतर नहीं देखते ।

X X X X

अपने आपको दूसरों की आँखों से मत देखो । वरन् सदा अपने अन्दर देखो ।

X X X X

मौलम आलोचना यह है, जो बाहर से अनुभव करने के बदले सोचो को बड़ी अनुभव भीतर म करा देती है ।

x x x x

आत्मा से बाहर मा भयों, आने ही केन्द्र में स्थित रहो ।

—स्वामी रामतीर्थ

यदि एक तरफ से या अपने एक ही में तुम सत्य के सम्मुख होना हो और दूसरी तरफ से आत्मी शक्ति के लिए अपने द्वार पर खोलते जा रहे हो तो यह आशा करना अर्थ है कि भगवत्प्रसाद शक्ति तुम्हारा साथ देगी । तुम्हें अपना मन्दिर स्वच्छ रखना होगा, यदि तुम्हें चाहते हो कि भाग्यश्री शक्ति जागृत कर से हमें प्रसन्न हो ।

x x x x

पहले यह डूँठ निराशों कि तुम्हारे अन्दर कौनसी चीज है, जो भिन्ना या तमोप्रसन्न है और उसका कलत त्याग करो ।

x x x x

यह सब समझो कि मत्स्य और भिन्ना, प्रकाश और अन्धकार समर्पण और स्वार्थ साधन एक साथ उभार में रहने दिए जायेंगे, जो एक भगवान् को निवेदित किया गया हो ।

—श्री परमहंस योगी

विद्वत् जगतक गंगाजल की तरह निर्मल व प्रशान्त नहीं हो जाता, तमस्क निरामता नहीं आ सज्जी । अन्तर्मय—भीतर व बाहर दोनों एक होना चाहिए ।

+ + +

निर्मल कोई बड़ा दोष है, ऐसा किसी को मालूम ही नहीं होता ; परन्तु विस्मृति प्रमाण के लिए नाशक हो जाती है । व्यवहार में भी विस्मृति से हानि ही होती है, इसीलिए भाग्यन बन बनने के लिए

मञ्चुषी पदं ।' अर्थात् प्रमाद—विस्मरण—मानो मृत्यु ही है । एक-एक क्षण का हिंसाव रखाए तो फिर प्रमाद को घुसने की जगह ही नहीं रहेगी । इस रीति से सारे तमोगुण को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए ।

—आचार्य विनोबा भावे

कुछ लोग दूसरों के दोषों की ओर ही नजर फेंकते रहते हैं, लेकिन उन्हें अपने दोष देखने की फुर्सत ही नहीं मिलती । हमें अक्सर अपने मित्रों की बुराइयों को कहने और सुनने का जरूरत से ज्यादा शौक होता है । अपनी ओर देखना बहुत कम लोग जानते हैं ।

+

+

+

दूसरों को बुरा भनाने से हम खुद बुरे बन जाते हैं, क्योंकि हम अपने दोषों को दूर करने के बजाय उन्हें भूलने का प्रयत्न करते हैं ।

+

+

+

सुख और शान्ति का भरना हमारे अन्दर ही है । अगर हम अपने मन और हृदय को पवित्र कर सकें तो फिर तीर्थों में भटकने की जरूरत नहीं रहेगी ।

—श्रीमन्नारायण

आजकल हम लोगों को अपने वृद्ध आत्मा की मुक्ति की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी कि जगत के सुधार की ।

+

+

+

हमारी सम्यक्ता और उसके मूल तत्त्वों का अच्छी तरह से विश्लेषण और बिना किसी सोच-संकोच के आलोचन हो जाना, आगे होने वाले सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि सच्चाई के साथ अपनी भूल को स्वीकार करना, सब प्रकार के सुधार का मूलारंभ है ।

—डा० एस० राधाकृष्णन्

जीवन में असफल होने वालों की समाधि पर असावधानों और लापरवाही आदि शब्द लिखे जाते हैं।

—ह्येट मार्टेन

पानी जैसी चंचलता से मनुष्य ऊँचा नहीं उठ सकता।

—वर्क

जो व्यक्ति अपने हृदय में दुर्गुणों पर इतना विजयी हो गया है कि दुर्गुणों के प्रकार और उनके उद्गम को जान सके तो वह किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करेगा, किसी भी प्राणी का तिरस्कार नहीं करेगा।

+

+

+

शान्ति उसे ही प्राप्त होती है, जो अपने ऊपर विजय प्राप्त करता है, जो प्रतिदिन अभिनाथिक आत्मसंयम और मस्तिष्क को अपने अधि-कार में रखने का शान्तिपूर्ण उद्योग करता है।

+

+

+

मनुष्य बुरे स्वभाव, घृणा, स्वार्थ, तथा अरलील और गदित विनोदों के द्वारा अपना संहार करता है और फिर जीवन को क्षोभ देता है। उसे स्वयं अपने आपको क्षोभ देना चाहिए।

+

+

+

आप जैसा चाहें वैसा अपना जीवन बना सकते हैं, यदि आप हठता के साथ अपनी मोतरी वृत्तियों को ठीक करें।

—जेम्स एलम

परनाशक के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पिछले पापों पर सच्चे मन से लज्जित हो, और फिर कभी पाप करने का प्रयत्न न करे।

—संत अबूबकर

जब तक कोई कड़ाई के साथ अपनी परमा न करेगा, तब तक वह अपने मन की पूर्वाग्रहों को न समझ सकेगा।

—कनकयुगियर

मोने से पहले तीन चीजों का हिसाब अवश्य कर लेना चाहिए ।
पहली बात यह सोचो कि आज के दिन मुझ से कोई पाप तो नहीं हुआ
है । दूसरी बात यह सोचो कि आज कोई उत्तम कार्य किया है या नहीं ?
तीसरी बात यह सोचो कि कोई करने योग्य काम मुझ से छूट गया है
या नहीं ?

—शफलातून

यदि हम यह कहते हैं कि हम में कोई पाप नहीं है तो हम अपने को
धोखा देते हैं और सत्य से हाथ धोते हैं ।

—जान

मित्र दे अपनी शफलत फिर जगा अरवाव शफलत को,
उन्हें सोने दे पहले ख्वाब से वेदार तू होजा ।

—सीमाव अकबरावादी

यदि जग में है ईश्वरता,
तो है मनुष्यता में ही ।
है धर्म तत्त्व अन्तर्हित,
मन की पवित्रता में ही ॥

× × × ×
शठता प्रकट जिससे अपनी सदैव हो,
उचित नहीं है कभी ऐसी हठ ठानना ।
यदि होगई हो अपने से कभी कोई भूल,
चाहिए तुरन्त हमें वह भूल मानना ॥
अहंमन्यता है जड़ सारी कमजोरियों की,
वस यह जानना है सब कुछ जानना ।
जितना कठिन अपने को पहचानना है,
उतना नहीं है दूसरों को पहचानना ॥

—ठा० गोपालशरण सिंह

ऐव कसों मनिगरो यहसाने गेश;
दादा फेरोवर धगरी वाने गेश ।

अर्थात् दूसरों के दोषों और अपने गुणों को मत देगो। जब दूसरों के दोषों की तरफ दृष्टि जाय, अपने को देखो ।

—फरीदुद्दीन अत्तार

जो हस्ता ता सुयद पाकी यरो रौन,
ने आयद इन्मे आरिफ सूखे ऐन ।

अर्थात् जब तक जीवन का एक भी घन्टा रोप रहता है, तब तक शानी का ज्ञान वास्तविक नहीं कहा जा सकता ।

—रायसठरी

दुनिया भर के पाप दूर हो सकते हैं, यदि उनके लिए सच्चे दिल से अफसोस फरसे ।

—मुहम्मद सादक

जब तू पथ में भलि देने जाय, तब तुझे याद आए कि तेरे और तेरे भाई के बीच घेर है, तो यापस हो जा और समझौता कर ।

×

×

×

×

हे पिता ! इनको (मुझे सजी पर खदाने वालों को) क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं ?

—ईसा मसीह



: २८ :

प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—प्रतिक्रमण तो आवश्यक का एक अङ्ग विशेष है, फिर क्या कारण है कि आज कल समस्त आवश्यक क्रिया को ही प्रतिक्रमण कहते हैं ?

उत्तर—यद्यपि प्रतिक्रमण आवश्यक का विशेष अङ्ग है। तथापि सामान्यतः सम्पूर्ण आवश्यक को जो प्रतिक्रमण कहा जाता है, वह रूढ़ि को लेकर है। आज कल प्रतिक्रमण शब्द सम्पूर्ण आवश्यक के लिए रूढ़ हो गया है। सामायिक आदि आवश्यकों की शुद्धि प्रतिक्रमण के बिना होती नहीं है, अतः प्रतिक्रमण मुख्य होने से वही आवश्यक रूप में प्रचलित है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण प्राकृत भाषा में ही क्यों हो ? यदि प्रचलित लोकभाषा में अनुवाद पड़ा जाय तो अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह हो सकता है ?

उत्तर—प्राचीन प्राकृत पाठों में इतनी गम्भीरता और उच्च भावना है कि वह आज के अनुवाद में पूर्णतया उतर नहीं सकती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मूलभावना का स्पर्श भी नहीं हो पाता। दूसरी बात यह है कि लोक भाषाओं में हुए अनुवादों को साधना का अङ्ग बनाने से धार्मिक क्रिया की एकरूपता नष्ट हो जाती है। सांवत्सरिक आदि पर्वविशेष पर यदि सामूहिक रूप में विभिन्न भाषा-भाषी प्रतिक्रमण करने

पेड़ों को तो क्या निर्धारा दागी ? यदि कुछ रोमेगा तो कोई कुछ ! हमारे
मूल प्रभु तो ही तो गुणों का समस्त आधारक है। हाँ, उनका जो अर्थ
न पसन्दा करने के लिए अनुशासकों का माथन आधारक है। परन्तु
यदि यान अथ मनमाने के लिए हो, मूल विषय में उन्हें स्थान नहीं देना
चाहिए।

प्रश्न—प्रतिमण का क्या इतिहास है ? यह कब और कहाँ कि
होना प्रचलित रहा है ?

उत्तर—प्रतिमण का इतिहास यही है कि जब से धर्म है,
जब से माधु और भावों की माध्या है, तभी से प्रतिमण भी है।
साधना की शुद्धि के लिए ही तो प्रतिमण है। अतः जब से साधना,
तभी से उसकी शुद्धि भी है। इन दृष्टि से प्रतिमण अनादि है।

वर्तमान काल चक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। अतः प्रथम और
अन्तिम तीर्थंकर के काल में साधक अधिक जागरूक न थे अतः उनके
लिए दोष लगे या न लगे, नियमेन प्रतिमण का विधान होने में
भ्रम प्रतिमण है। परन्तु जीव के २२ तीर्थंकरों के काल में साधकों
के अतीव शिष्टकर्म एवं जागरूक होने के कारण दोष लगने पर ही
प्रतिमण किया जाता था, अतः इनके शासन का अभ्रम प्रतिमण
है। इसके लिए भगवती सूत्र, स्थानांगसूत्र एवं कला सूत्र वृत्ति आदि
द्रष्टव्य हैं। आचार्य मद्रास ने भी आश्रयक निर्मुक्त में ऐसा ही
कहा है—

सपट्टिकमणो धर्मो,

पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।

मज्झिमयाण जिणार्ष,

कारणजाण पट्टिकमण ॥ १०४४ ॥

कुछ आचार्यों का कथन है कि दैविक, रात्रिक, पार्थिक, चातु
र्मासिक एवं सावात्मरिक उक्त पाँच प्रतिमणों में से यदि तोषकरों के

काल में दैवसिक एवं रात्रिक दो ही प्रतिक्रमण होते थे, शेष नहीं।
अतः सप्ततिस्थानक ग्रन्थ में कहा है :—

देवसिय, राइय, पक्खिय,
चउमासिय वच्छरिय नामाओ ।

दुएहं पण पडिक्कमणा,
मज्झिमगाणं तु दो पढमा ॥

उक्त दो प्रतिक्रमणों के लिए कुछ सज्जन यह सोचते हैं कि प्रातः और सायं नियमेन प्रतिक्रमण किया जाता होगा। परन्तु यह बात नहीं है। इसका आशय इतना ही है कि दिन और रात में जब भी जिस क्षण भी दोष लगता था, उसी समय प्रतिक्रमण कर लिया जाता था। उभय काल का प्रतिक्रमण नहीं होता था। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासन में भी दोष काल में ही ईर्यापथ एवं गोचरी आदि के प्रतिक्रमण के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। फिर भी साधक असावधान हैं। अतः सम्भव है समय पर कभी जागृत न हो सके, इसलिए उभय काल में भी नियमेन प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। परन्तु ब्राईस तीर्थंकरों के शासन में साधक की स्थिति अतीव उच्च एवं विवेकनिष्ठ थी, अतः तत्काल प्रतिक्रमण के द्वारा ही नियमेन शुद्धि कर ली जाती थी। जीवन की गति पर हर क्षण कड़ी नजर रखने वालों के लिए प्रथम तो भूल का अवकाश नहीं है। और यदि कभी भूल हो भी जाए तो तत्क्षण उसकी शुद्धि का मार्ग तैयार रहता है। आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्ण में इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—“पुरिम पडिक्कमण्हि उभयो कालं पडिक्कमितव्वं, इरियावहियमाणतेहि उच्चार पासवण आहारादीण वा विवेगं-काऊण, पदोसपच्चूसेसु, अतियारो हो तु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितव्वं एतेहि चेव ठाणेहि । मज्झिमगाणं तित्थे जदि अतियारो अथि तो दिवसो हो तु रत्ती वा, पुण्वयो, अवरणहो, मज्झणहो, पुण्वरत्तोवरत्तं वा, अड्ढरत्तो वा ताहे चेव पडिक्कमन्ति । नथि तो न पडिक्कमन्ति ।

चेष्टा ते असदा पयसाधन्ता परिष्णामगा, न च पमाटबहुलो, तेषां तेषि एव भवति ॥

मनविदेह क्षेत्र में हमारी परम्परा के अनुमान मन्त्राल २२ तीर्थकरा के समान ही त्रिज्यासन है, अतः वहाँ भी दोष लगते ही प्रतिनमण होना है, उभय कान आदि नहीं ।

आधको व प्रतिनमण के सम्बन्ध में क्या स्थिति थी, यह अभी समझना संभव नहीं है । परन्तु अभी ऐसा ही कहा जा सकता है कि माधुश्री के समान आधको का भी अपने अपने त्रिज्यासन में यथाफल भ्रुव एवं अध्रुव प्रतिनमण होना होगा ।

प्रश्न—प्रतिनमण की क्या विधि है ? कौन से पाठ कब और कहाँ पढ़ने चाहिएँ ?

उत्तर—आयुर्वेद विभिन्न ग्रन्थों की लम्बी-चौड़ी विभिन्न परम्पराएँ प्रचलित हैं । अतः, आयुर्वेद की परम्पराओं के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते । हाँ उत्तमग्रन्थवन सूत्र में समाचारी नामक छद्मीमर्त्य ग्रन्थवन में प्रतिनमण विधि की एक साक्ष्य रूप रेखा है, यह इस प्रकार है—

(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में दैवसिद्धि ज्ञान दर्शन चरित्र सम्प्रधी अतिचरों का चिन्तन करना चाहिएँ । (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करन

१—अतः चार चिन्तन के लिए आयुर्वेद हिन्दी गुणगती भाषा में कुछ पाठ प्रचलित हैं । परन्तु पुराने काल में ऐसा कुछ नहीं था और न होना ही चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रवाह अलग-अलग बहता है, अतः प्रत्येक को अतिचार भी परिस्थिति वश अलग-अलग लगते हैं, मला उन सब विभिन्न दोषों के लिए कोई एक निश्चित पाठ कैसे हो सकता है ? साधक को अतिचार सम्प्रधी कायोत्सर्ग में यह विचारना चाहिये कि अमुक दोष, अमुक समय विशेष में, अमुक परिस्थिति वश लगा है ? कब, कहाँ, किस के साथ क्रोध, अभिमान, छल या राग का व्यवहार किया है ? कब, कहाँ, कौनसा विकार मन बाँधी एवं कर्म के

गुरुदेव के चरणों में वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए । (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना चाहिए । (४) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरुदेव को वन्दन तथा स्तुति मंगल करना चाहिए । यह दिवस प्रतिक्रमण की विधि है । यहाँ आवश्यक के अन्त में प्रत्याख्यान का विधान नहीं है ।

रात्रिक प्रतिक्रमण का क्रम इस प्रकार निरूपण किया है—(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में रात्रि सम्बन्धी, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए । (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरुदेव को वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये । (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद गुरु का वन्दन और तदनन्तर दुबारा कायोत्सर्ग करना चाहिए । (४) इस कायोत्सर्ग में अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल ग्रहण करने योग्य तप-रूप प्रत्याख्यान का विचार करना चाहिए । (५) कायोत्सर्ग पूर्ण करने

क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है ? यह सोचना ही अतिचार चिन्तन है । बंधे हुए पाठों के द्वारा यह आत्म प्रकाश नहीं मिल सकता है ।

१—उत्तराव्ययन सूत्र में यह नहीं कहा गया कि कायोत्सर्ग में क्या विचारना चाहिए ? कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त स्वरूप है अतः वह अपने आप में स्वयं एक व्युत्सर्ग तप है । जो कष्ट हो उन्हें समभाव से सहना ही कायोत्सर्ग का ध्येय है । कायोत्सर्ग में समभाव का चिन्तन ही मुख्य है । इसलिए मूल सूत्र में कायोत्सर्ग में पठनीय पाठ विशेष का उल्लेख नहीं है । परन्तु समा साधक इंस उच्च स्थिति में नहीं होते, इस कारण बाद में 'लोगस्स' पढ़ने की परम्परा चालू हो गई, जो आज भी प्रचलित है ।

२—आज भगड़ा है कि कायोत्सर्ग में कितने लोगस्स का पाठ करना चाहिए ? परन्तु आप देख सकते हैं कि मूलसूत्र में लोगस्स का

य अद गुरु को उन्दन पूर्व उनका प्रत्यक्षानुसर लेना चाहिए । (६)
अन्त में अद गुरु ने य द्वारा आवरण की समाप्ति होनी चाहिए ।

यह उत्तराध्याय गुरु की तीन संज्ञित विषय समग्र है । दुर्भाग्य में
आम्र इनका गह्र यह पोछा है कि कुछ मार्ग ही नहीं मिलता है ।
कोन क्या कर रहा है, इस पर कर्तव्य ही हीन दिग्दर्शी की बात ।

प्रश्न—आवरण अर्थात् प्रतिमण्डल किस समय करना चाहिए ?

उत्तर—दिन की समाप्ति पर दैनिक प्रतिमण्डल होता है और रात्रि
की समाप्ति पर रात्रिक । महीने में २१ बार पार्थिव प्रतिमण्डल होता है,
पञ्च कृष्णपक्ष की समाप्ति पर तो दूधरा शुक्लपक्ष की समाप्ति पर । यह
पार्थिव प्रतिमण्डल पाल्क दिन की समाप्ति पर ही होता है प्रातः नहीं ।
आनुमानिक प्रतिमण्डल वर्ष में तीन होते हैं, एक आषाढ़ी पूर्णिमा के
दिन, दूसरा पार्थिव पूर्णिमा के दिन और तीसरा पाल्गुन पूर्णिमा के
दिन । यह प्रतिमण्डल भी आनुमानिक दिन की समाप्ति पर ही होता है ।
मासिक प्रतिमण्डल वर्ष में एक बार भाद्रपद शुक्ल पंचमी के दिन
सम्पन्न समय होता है ।

दिन की समाप्ति पर सम्पन्न समय किया जाने वाला प्रतिमण्डल दिन
के चौथे पहर के चौथे भाग में^१, अर्थात् लगभग दो घड़ी दिन शेष
रहते अर्धरात्रि और उषार भूमि की प्रतिनिधित्व करने के परचात
प्रारंभ कर देना चाहिए । समाप्ति के समय का मूल आगम में उल्लेख
नहीं है । परन्तु उपदेशप्रामाण्य आदि ग्रन्थों का कहना है कि सूर्य ऋषिसे समय
अथवा आशय में प्रथम सारक दर्शन होने समय आवरणक पूर्तिस्वरूप
वही भी उल्लेख नही है, वहाँ तो छूटे आवश्यक के रूप में ग्रहण करने
योग्य तब ये सम्बन्ध में विचार करने का विधान है । परन्तु साधक जब
स्थूल हो गया तो चिन्तन आता रहा, फलतः उसे लोगस का पाठ पढ़ा
दिया । 'न' होने से कुछ होना अच्छा है ।

१. देखिए, उत्तराध्यायन २६ । २८, २९ ।

प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए। यह प्राचीनकाल की परंपरा है। परन्तु आजकल सूर्य के अस्त होने पर प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका कारण सन्ध्या समय के आहार की प्रथा है। उत्तराध्ययन सूत्र आदि के अनुसार जबतक साधु-जीवन में दिन के तीसरे पहर में केवल एक बार आहार करने की परंपरा रही, तबतक तो वह प्राचीन काल मर्यादा निभती रही, परन्तु ज्यों ही शाम को दुबारा आहार का प्रारंभ हुआ तो प्रतिक्रमण की कालसीमा आगे बढ़ी और वह सूर्यास्त पर पहुँच गई। समाप्ति का स्थान प्रारंभ ने ले लिया।

प्रातःकाल के प्रतिक्रमण का समय भी रात्रि के चार्थे पहर का चार्था भाग ही बताया है^१। सूर्योदय के समय प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रातःकाल की परंपरा आज भी गायः उसी भाँति चल रही है।

क्या प्रातःकाल के समान दैवसिक प्रतिक्रमण का भी अपना वह पुराना कालमान अपनाया जायगा? क्यों नहीं, यदि सायंकालीन आहार के सम्बन्ध में कोई उचित निर्णय हो जाय तो।

प्रश्न—आवश्यक सूत्र-पाठ का निर्माणकाल क्या है? वर्तमान आगम साहित्य में इसका क्या स्थान है? इसके रचयिता कौन हैं?

उत्तर—यह प्रश्न बहुत गंभीर है। इस पर मुझ जैसा लेखक स्पष्टतः 'हाँ या ना' कुछ नहीं कह सकता। फिर भी कुछ विचार उपस्थित किए जाते हैं।

जैन आगम साहित्य को दो भागों में बाँटा गया है—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। अङ्ग प्रविष्ट के आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बाह्य भेद हैं। अङ्ग बाह्य के मूल में दो भेद हैं आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि छह भेद हैं, और आवश्यक व्यतिरिक्त के दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। यह विभाग नन्दी-सूत्र के श्रुताधिकार में आज भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विभाग पर से यह प्रतिकूलित होता है कि 'आवश्यक' श्रंग अर्थात् मूल आगम नहीं है, 'श्रंगवास' शब्द ही इस बात को स्पष्ट कर देता है। श्रंगप्रविष्ट और श्रंगवास की व्याख्या भी यही है कि जो गणधर रचित हो, वह श्रंग-प्रविष्ट। और जो गणधरों के बाद होने वाले स्थविर मुनियों के द्वारा प्राचीन मूल आगमों का आधार लेकर बड़ी शब्दशः तो बड़ी अर्थशः निमित्त हो, वह श्रंग वास। देखिए, आचार्य जिनदास आवश्यक पृष्ठि में यही व्याख्या करते हैं। "जे भरइते हि भगवन्ते हि अईपायीमयवइमाणदठखेचडाअमात्रयावदित-दसीहि अरथा परुविया ते गणहरेहि परममुद्रि सधियागुणभम्भेहि सर्व येव तित्थगरसमासाओ उवखभिऊणं सठवसत्ताणं दित्ठद्वयाणं मुत्तनेण उदयिबद्धा तं अंगपविट्ठं, आचाराह दुवाणसविहं। जं पुण अण्येहि विसुखामममुद्रितुत्तेहि येरेहि अण्णाकयाणं मणुषाणं अप्प-बुद्धिसतीणं च दुग्गाहणं ति काऊण तं येव आचाराह सुययाणं परम्परागतं अत्थो गंधतो च अतिवट्ठं ति काऊण अण्णकपानिभिंसं दसवेतालियमादि परुवियं तं अण्येगमेणं अण्णपविट्ठं।"

श्रंग प्रविष्ट और श्रंगवास की यही व्याख्या उमास्वातिवृत्त सत्यार्थ भाष्य, भगवत्कृत राजवार्तिक आदि प्रायः सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में है। इस व्याख्या पर से मालूम होता है कि प्राचीन जैन परम्परा में आवश्यक को श्रीसुवर्मा स्वामी आदि गणधरों की रचना नहीं माना जाता था। अपितु स्थविरों की कृति माना जाता था।

अब प्रश्न रह जाता है कि किस काल के किन स्थविरों की कृति है? इसका स्पष्ट उत्तर अभी तक अमने प्राप्त नहीं है। हाँ, आवश्यक सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु की नियुक्ति है, तो उनसे बहुत पहले ही कभी दून पाटो का निर्माण हुआ होगा। वर्तमान आगम साहित्य के सर्व प्रथम लेखन काल में आवश्यक सूत्र विद्यमान था, तभी तो भगवती सूत्र आदि में उसका उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों को देखकर कुछ लोग कहते हैं, कि आवश्यक आदि भी गणधर-कृत ही हैं, तभी तो मूल आगम में

उनका उल्लेख है। परन्तु वह उल्लेख देवद्विगणी द्वाभाश्रमण के समय में एक सूत्र के विस्तृत लेख को दूसरे सूत्र के आधार पर संक्षिप्त कर देने के विचार से हुआ है। वह उल्लेख गणधरकृत कदापि नहीं है। पण्डित सुखलालजी ने आवश्यक की ऐतिहासिकता पर काफी सुन्दर एवं विस्तृत चर्चा की है। परन्तु यह चर्चा अभी और गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा रखती है।

पाठक एक प्रश्न और कर सकते हैं कि आवश्यक सूत्रपाठ के निर्माण से पहले साधक आवश्यक क्रिया कैसे करते होंगे? प्रतिक्रमण आदि की क्या स्थिति होगी? उत्तर में निवेदन है कि नवकार मन्त्र, सामायिक सूत्र आदि कुछ पाठ तो अतीव प्राचीन काल से प्रचलित आ रहे थे। रहे शेष पाठ, सो पहले उनका अर्थरूप में चिन्तन किया जाता रहा होगा। बाद में जनसाधारण की कल्याण भावना से प्रेरित होकर उन पूर्व प्रचलित भावों को ही स्थविरों ने सूत्र का व्यवस्थित रूप दे दिया होगा। इस सम्बन्ध में लेखक अभी निश्चयपूर्वक कुछ कहने की स्थिति में नहीं है। अलम्।

प्रश्न—क्या जैन धर्म के समान अन्य धर्मों में भी प्रतिक्रमण का विधान है।

उत्तर—जैन धर्म में तो प्रतिक्रमण की एक महत्त्व पूर्ण एवं व्यवस्थित साधना है। इस प्रकार का व्यवस्थित एवं विधानात्मक रूप तो अन्यत्र नहीं है। परन्तु प्रतिक्रमण की मूल भावना की कुछ झलक अवश्य यत्र तत्र मिलती है।

बौद्ध धर्म में कहा है—

“पाणातिपाता चेरमणि सिक्खापदं समादियामि। अदिन्नादाना चेरमणि सिक्खापदं समादियामि। कामेसु मिच्छाचारा चेरमणि

१—सामायिक सूत्र की प्राचीनता के लिए अन्तकृददशांग आदि प्राचीन सूत्रों में एवं भगवान् नेमिकालीन प्राचीन मुनियों के लिए यह पाठ आया है कि—‘सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ।’

सिक्तापदं समादियामि । मुग्धावादा येरमणि सिक्तापदं समादि-
यामि । मुरामेरयमन्त्रमादृष्टाना येरमणं मिक्तापदं समादियामि ।”

—लघुगट, पंचगीत ।

“सुखिनो वा रोमिनो होन्तु सत्त्वं सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ।”

“मेत्तं च सच्चलोकस्मिन्,
मानसं भावये अपग्निमारु ।

यद्धं प्रभो च तिरियं च,
असत्ताथ अयेरं असत्तत्त ॥

—लघुगट, मेढमुत्त ।

वैदिक धर्म म कहा है—

“ममोपात्तदुहितव्याय धी परमेश्वर प्रीतये प्रतः सायं सम्पद्यो
पासरमहं वरिष्ये ।

—संख्यागत संनक्षयवाक्य

“ॐ स्वयंश्च मा मनुष्यश्च मनुष्यपरश्च मनुहुतेभ्यः पादोऽथो
रयन्ताम् । यद् राज्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पदभ्या-
मुदरेण शिरसा शानिस्तदमस्तुभ्यतु यद् किंचिद् दुरितं मयीदमहममृत-
योनौ सूर्ये उयोतिषि जुहोमि स्वाहाः ।”

—कृष्ण यजुर्वेद ।

वैदिक धर्म प्रार्थनाप्रधान धर्म है । उसके यहाँ परचात्ताप भी
प्राथना प्रधान ही होता है, परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए ही होता है ।
फिर भी सब पापों के प्रापरिचिच्छ की माधना का खोत पाया जाता है,
मनुष्य के अन्तःकरण के मूल भावों का प्रतिनिधित्व करता है ।

प्रश्न—आवकल आवश्यक साधना पूर्ण विधि से शुद्ध रूप में
नहीं हो पाती है, अतः अविधि एवं अशुद्ध विधि से ही करते रहें तो
क्या हानि है ? अविधि से करते रहेंगे, तब भी परम्परा तो सुदृष्टित
रहेगी ।

उत्तर—आपका प्रश्न बहुत सुन्दर है । जैन धर्म में विधि का

बहुत बड़ा महत्त्व है। उपयोग शून्य अविधि से की जाने वाली साधना केवल द्रव्य साधना है, वह अन्तर्हृदय में ज्ञानज्योति नहीं जगा सकती ! आचार्य हरिभद्र के शब्दों में इस प्रकार की उपयोगशून्य साधना केवल कायचेष्टा रूप है, अतः कायवासित एवं वागवासित है । तब तक साधना मनोवासित न हो, तब तक कुछ भी अच्छा परिणाम नहीं आता है। अच्छा परिणाम क्या, बुरा परिणाम ही आता है। मुख से पाठों को दुहराना, परन्तु तदनुसार आचरण न करना, यह तो स्पष्टतः मृषावाद है। और यह मृषावाद विपरीत फल देने वाला है।

कुछ लोग अविधि एवं अशुद्ध विधि के समर्थन में कहते हैं कि जैसा चलता है चलने दो ! न करने से कुछ करना अच्छा है। शुद्ध विधि के आग्रह में रहने से शुद्ध क्रिया का होना तो दुर्लभ है ही, और इधर थोड़ी बहुत अशुद्ध क्रिया चलती रहती है, वह भी छूट जायगी। और इस प्रकार प्राचीन धर्म परम्परा का लोप ही हो जायगा।

इसके उत्तर में कहना है कि धर्म परम्परा यदि शुद्ध है तब तो वह धर्म परम्परा है। यदि उपयोग शून्य भारस्वरूप अशुद्ध क्रिया को ही धर्म कहा जाता है, तब तो अनर्थ ही है। अशुद्ध परम्परा को चालू रखने से शास्त्र विरुद्ध विधान को बल मिलता है, और इसका यह परिणाम होता है कि आज एक अशुद्ध क्रिया चल रही है तो कल दूसरी अशुद्ध क्रिया चल पड़ेगी ! परसों कुछ और ही गड़बड़ हो जायगी। और इस प्रकार गन्दगी घटने की अपेक्षा निरन्तर बढ़ती जायगी, जो एक दिन सारे समाज को ही विकृत कर देगी। अस्तु साधक

१—इहंरा उ कायवासितपायं,

अहंवा महामुसावाओ ।

वा अणुस्वाणं चिय,

कायव्वो एस चिन्नासो ॥

—योगविंशिका १२।

के लिए आवश्यक है कि वह साधना की शुद्धता का अधिक ध्यान रखे। तब ब्रह्म कर भूल को अश्व देना पाप है।

कुछ भी न करने की अपेक्षा कुछ करने को शास्त्रकारों ने जो अच्छा कहा है उसका भाव यह है कि व्यक्ति दुर्बल है। वह प्रारम्भ से ही शुद्ध विधि के प्रति बहुमान रखता है और तदनुसार ही आचरण भी करना चाहता है, परन्तु प्रमादवश भूल हो जाती है और उचित रूप में तद्दोष नही कर पाता है। इस प्रकार के विवेकशील जगत् साधकों के लिए कहा जाता है कि जो कुछ बने करते आश्री, जीवन में सुख न सुख करते रहना चाहिए। भूल हो जाती है, इसलिए छोड़ बैठना ठीक नहीं है। प्राथमिक अभ्यास में भूल हो जाना सह्य है, परन्तु भूल सुधारने की दृष्टि हो, तदनुसार प्रयत्न भी हो तो वह भूल भी बालन में भूल नहीं है। यह अशुद्ध निरा, एक दिन शुद्ध निरा का कारण बन सकती है। जानबूझ कर पहले से ही अशुद्ध परम्परा का आलम्बन करना एक बात है, और शुद्ध पद्धति का लक्ष्य रखते हुए भी एक तदनुसार प्रयत्न करते हुए भी असाधवानी का भूल हो जाना दूसरी बात है। पहली बात का किसी भी दशा में समर्थन नहीं दिया जा सकता। हाँ, दूसरी बात का समर्थन हम निम्न निरा जाता है कि वह अतिमन जीवन की दुर्बलता है, सर्वे समाज की अशुद्ध परम्परा नहीं है। समाज में कौन सी अशुद्ध विधि विधानों की परम्परा का तो हट कर विचार करना चाहिए। हाँ, अक्रियता जीवन समाज की प्राथमिक अभ्यास की दुर्बलता निरन्तर मचेर रहने से एक दिन दूर हो सकती है। धनुर्विद्या के अभ्यास करने वाले यदि जायन चेतना से अभ्यास करने हैं तो उनसे पहले पहले कुछ भूलें भी होती हैं, परन्तु एक दिन धनुर्विद्या के पारंगत पण्डित हो जाते हैं। एक-एक जल बिंदु के पकड़ होने होते एक दिन सत्तर भर जाते हैं। प्राथमिक अभ्यासनाश्री से धनराज मंगल रहे हाना पहले मित्र की कायरता है। जो लोग असाधवानी के भय से कुछ भी नहीं करते हैं, उनकी अनेक वे अनेक

हैं, जो साधना करते हैं, असफल होते हैं, और फिर साधना करते हैं। इस प्रकार निरन्तर भूलों एवं अमफलताओं से संघर्ष करते हुए जाग्रत चेतना के सहारे एक दिन अवश्य ही सफलता प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार के साधकों को लक्ष्य में रखकर कहा है:—

अविधिकया वरमकृत्यं,

उत्सुग्न-मुतं भणंति गीयथा ।

पायन्तिष्ठतं जम्हा,

अकए गुरुयं काए लहुयं ॥

—अविधि से करने की अपेक्षा न करना अच्छा है, यह उत्सुग्न वचन है। क्योंकि धर्मानुष्ठान न करने वाले को गुरु प्रायश्चित्त आता है, और धर्मानुष्ठान करते हुए यदि कहीं प्रमादवश अविधि हो जाय तो लघुप्रायश्चित्त होता है।

प्रश्न—जो गृहस्थ देश विरति के रूप में किसी व्रत के धारक नहीं हैं, उनको प्रतिक्रमण करना चाहिए, या नहीं? जब व्रत ही नहीं है तो उनकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—व्रत हाँ, या न हाँ, फिर भी प्रतिक्रमण काशीय है। जिसको व्रत नहीं है, वह भी प्रतिक्रमण के लिए सामायिक करेगा, चतुर्विंशतिस्तव एवं वन्दना, क्षमापना आदि करेगा तो उसको भाव-विशुद्धि के द्वारा कर्मनिर्जरा होगी। और दूसरी बात यह है कि पातकमरण मिथ्या श्रद्धान और विषगीत प्ररुग्णा का भी होता है। अतः सम्यक्त्व-शुद्धि का प्रतिक्रमण भी जीवन-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण किस दिशा की ओर मुख करके करना चाहिए?

उत्तर—आगम साहित्य में पूर्व और उत्तर दिशा की ओर मुख करके प्रतिक्रमण करने का विधान है। पश्चात्कालीन आचार्य भी यह परम्परा मानते रहे हैं, पञ्च वस्तुक में लिखा है—‘पुन्याभि मुहा उक्त मुहा य आचक्षयं पकृञ्चति ।’ पूर्व और उत्तर दिशा का वैज्ञानिक-दृष्टि से क्या महत्त्व है, यह लेखक के सामायिक सूत्र में देखना चाहिए।

श्र म ण-सू त्र

[मूल, अर्थ, विवेचन]

: १ :

नमस्कार-सूत्र

नमो अरिहंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं,
नमो लोए सव्व-साहूणं ।

शब्दार्थ

नमो = नमस्कार हो

अरिहंताणं = अरिहंतों को

नमो = नमस्कार हो

सिद्धाणं = सिद्धों को

नमो = नमस्कार हो

आयरियाणं = आचार्यों को

नमो = नमस्कार हो

उवज्झायाणं = उपाध्यायों को

नमो = नमस्कार हो

लोए = लोक में

सव्व = सब

साहूणं = साधुओं को

भावार्थ

श्री अरिहंतों को नमस्कार हो, श्री सिद्धों को नमस्कार हो, श्री आचार्यों को नमस्कार हो, श्री उपाध्यायों को नमस्कार हो, और मानव संसार में वर्तमान समस्त साधुओं को नमस्कार हो ।

विवेचन

अग्ने से महान् पवित्र एवं निर्मल आमाशा की नमस्कार करने की परंपरा आज-कल से नहीं, अनादिकाल से चली आ रही है। महापुरुषों के पवित्र व्यक्तित्व का आकर्षण ही ऐसा है कि भक्तिशील माधक, अग्ने आप ही उनका चरण कमलों में भाक्त—गद्गद् हो जाता है, नमस्कार के रूप में सर्वत्र अंग्रेज करने के लिए तैयार हो जाता है। अध्यात्म माधना की यात्रा पर लगेले हुए माधक के हृदय में, आत्मनिष्ठ महापुरुषों के प्रति नमस्कार की अमर प्रेरणा, स्वयंसे उद्भूत होती है। तब अमर माधक उद्वेग नहीं कर लेता है, तबतर उसने अन्तर्मन में शान्ति नहीं हो पाती है। फलतः यही अज्ञान के साथ नमस्कार के लिए, मन्त्रक मुकाता है, तथा ही नीमन के कणकण में अनिर्वचनीय दिव्य शान्ति का स्वर्गीय निम्नर यह निरालता है। मन्त्र के तूराना से सुख हुआ हृदय एषागामी ही हल्कासा-भरभरा हो जाता है। इस पर से निश्चित है कि नमस्कार, मनुष्य का अज्ञान प्रकृतिमिद धर्म है, यह कुछ धार्मिक प्रयास के रूप में अथवा व्यावहारिक सम्पत्ति के रूप में ऊपर से लाया गया व्यर्थ का भार नहीं है।

जैन धर्म में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के पांच महान् आत्मा माने गए हैं। जहाँ-तहाँ धर्मशास्त्रों में इन्हीं के स्तुतिगान गाए गए हैं। जैसा कि कुछ अनजान साधु समझते हैं, ये किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं हैं, प्रत्युत आध्यात्मिक गुणों के विकास में प्राप्त होने वाले पाँच महान् आध्यात्मिक मयलमय पद हैं। इन पाँच जैन धर्म का ठेका नहीं है, दावा नहीं है कि ये अपने ही, साम्प्रदायिक दृष्टि से उसी मान्यता वाले ही महान् हो गए हैं, या हो सकते हैं। महा जैन धर्म विजय का धर्म है और वह विजय है इन्द्रियों पर, मन पर, विकारों पर, कामनाओं पर। जहाँ यह विजय है, वहीं जैन धर्म है। साम्प्रदायिक रूप विशेष की दृष्टि से भले ही वह वहाँ न हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह वहाँ सर्वत्र दिगमान है। जैन धर्म मोक्ष-प्राप्ति

में वेप या लिंग की किसी प्रकार की रोक नहीं लगाता है। उसके यहाँ पुरुष भी मुक्त हो सकते हैं, स्त्री भी मुक्त हो सकती है, तीर्थकर भी मुक्त हो सकते हैं, साधारण जन भी मुक्त हो सकते हैं, जैन-धर्म के साम्प्रदायिक रूढ़िवाले स्वर्लिंगी साधु भी मुक्त हो सकते हैं, अन्य सम्प्रदाय वाले अन्यलिंगी साधु भी मुक्त हो सकते हैं, और तो क्या गृहस्थ की वेप-भूषा में भी मुक्त हो सकते हैं। परन्तु इन सब के लिए एक ही शर्त है, वह है राग-द्वेष के विजय की। जिसने भी राग-द्वेष को जीता, मोह को मारा, वही जैन-धर्म में भगवान् हो गया। यही कारण है कि नमस्कार सूत्र में अरिहंतों को नमस्कार करते हुए नमो अरिहंताणं कहा गया है। नमो तित्थयराणं नहीं। तीर्थकर भी अरिहंत हैं, परन्तु सभी अरिहंत तीर्थकर नहीं होते। अरिहंतों के नमस्कार में तीर्थकरों को नमस्कार आ जाती है, परन्तु व्यक्ति विशेष स्वरूप तीर्थकरों के नमस्कार में अरिहंतों को नमस्कार नहीं आ सकती है। तीर्थकरत्व मुख्य नहीं है, अर्हद् भाव ही मुख्य है। तीर्थकरत्व, जैन-धर्म की भाषा में आदयिक प्रकृति है, कर्म का फल है। परन्तु अरिहंतदशा नायिक भाव है, वह किसी कर्म का फल नहीं, किन्तु कर्मों की निर्जरा का फल है। तीर्थकरों को नमस्कार भी अर्हद्भाव मुखेन है, स्वतन्त्र नहीं। यह है जैन-धर्म का विराट रूप। जैन-धर्म में व्यक्तिपूजा के लिए जग भी स्थान नहीं है। जो कुल भी है वह सब, एकमात्र गुण पूजा ही है। 'गुणाः पूजा-स्थानं गुणेषु न च लिंगं न च वयः' यह है जैन-धर्म का गम्भीर घोष, जो अनन्तकाल से विश्व ब्रह्माण्ड में गूँजता चला आ रहा है। जैनधर्म में जहाँ कहीं व्यक्तिपूजा को जगह मिली भी है, वह वहाँ व्यक्ति में रहने वाले आदरास्पद गुणों को ध्यान में रखकर ही है, स्वतन्त्र नहीं। अतएव जैन-धर्म अपने लिए बड़ी निर्भयता के साथ सार्वभौम धर्म होने का दावा रखता है और कहता है कि अखिल संसार का हर कोई मनुष्य, फिर भले ही वह किसी भी जाति का हो, किसी भी देश का हो, किसी भी धर्म का हो, अपने आध्यात्मिक गुणों के विकास

भासना प्राप्त कर आम्हें उन मरना है, जैन धर्म में पुरुषार्थों अभि-
 वन्दनीय महात्मा तथा परमात्मा ॥ मरना है । यही कारण है कि प्रभु
 नमस्कार गुरु में व्यक्तियों का नाम न लेकर केवल आध्यात्मिक
 भूमिकाओं का ॥ नाम लिया गया है । वषट्कार नमस्कार मंत्र के द्वारा
 अनन्त अनन्त अविद्या, मित्र, आचार्य, उपाध्याय, और माधुर्यों को
 नमस्कार किया गया है । विद्वान् भक्त एव विराट् भावना है ! इति में
 समष्टि उपासना का किना मुन्दर भावना भक्त निष्ठा है !

नमस्कार गुरु व निष्ठा एक प्रकार उदा कर्मा है, यह ईश्वर
 की भावना में सत्ता है । जब जैन धर्म की मान्यता के अनुसार कर्मा
 या ईश्वर नहीं है, कि नमस्कार में क्या लाभ है ? अब गुरु अविद्या
 आदि महात्मा आत्मा, वे भी महात्मा या परित्त जो कुछ भी है आत्मा
 निष्ठा है, हमारे लिए तो कुछ करने-कराने नहीं है, मोक्ष या स्वर्ग के कुछ
 देने नहीं है, तब फिर उनको नमस्कार करने से भी क्या लाभ ?

उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि नमस्कार मनुष्य का स्वभाव
 मित्र धर्म है । अपने आदर्श महात्मा आत्माओं को नमस्कार करना
 हृदय का स्वतन्त्र अङ्ग भाव है, उसमें सौदेशिकी का क्या अर्थ ? यह
 नमस्कार 'गुणित प्रमोद' का अमर स्वर है, गुणी जनों की देव हृदय
 में मेरे प्रेम उमड़ आये' का दिव्य राग है । यहाँ क्यों और क्या के
 लिए ध्यान ही नहीं है । फिर भी कुछ जानना अपेक्षित हो तो यह
 यह है कि गुणीजनों को नमस्कार करने से साधक अत्यन्त ही उन गुणों
 की ओर स्नेहाकुल होता है, स्वयं वेसा बनना चाहता है, फलतः धर्म
 धर्म अपने उपासक के आदर्शों को जीवन में उतारने लगता है,
 अन्तर्गत प्येशानुसार ध्यान भी उन्नी भक्त में परिवर्तित हो जाता
 है । यह है भक्त से भगवान् होने का, आत्मा से परमात्मा बनने का
 मार्ग । बनने का मार्ग है, बनने का नहीं । नमस्कार भाव—निशुद्धि
 के लिए, पवित्र भावना व निष्ठा, एवं आदर्श स्थिर करने के लिए
 किया जाता है । जैसा आदर्श हो, यदि वैसी ही भावना जाग्रत रखनी

जाय, निष्क्रिय न बैठकर, आदर्शपूर्ति के लिए सतत प्रेरणा प्राप्त की जाय, तो जीवन का कल्याण स्वयं सिद्ध है। यह नमस्कार का आन्तरिक भाव है, जो नमस्कार सूत्र के द्वारा पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। महाराणा प्रताप की चर्चा चलने पर बहुतांश की वीरता के आवेश में मूँछें ऐंठते देखा है, तो क्या महाराणा खुद आकर मूँछें ऐंठ जाते हैं या वीरता के भाव भर जाते हैं? नहीं, यह सब कुछ नहीं है। महाराणा का जीता जागता आदर्श वीर जीवन ही स्मृति में उतर कर कायर से कायर हृदय में भी वीरता की विजली भर देता है। जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा बन जाता है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' शेर का बच्चा गड़रिये ने पाल लिया, बस अपने को वह भेड़ बकरी ही समझने लग गया। परन्तु एक दिन जंगल में शेर को देखा तो अपने स्वरूप का भान हो आया, बकरीभन न मालूम कहाँ भाग गया, शेर, शेर हो गया। यही भाव नमस्कार मन्त्र का है। हम सब आत्माएँ मूल में अर्हत्स्वरूप, सिद्धस्वरूप हैं। परन्तु अनादि कालीन मोहमाया का ग्रन्थकार उक्त शुद्ध स्वरूप का भान नहीं होने देता है। परन्तु ज्यों ही आत्म स्वरूप-प्राप्त अरिहन्त आदि का, अथवा स्वरूप प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील साधु आदि का चिन्तन होता है तो साधक आत्माओं को अपने शुद्ध स्वरूप का भान हो उठता है। उपाध्याय देवचन्द्रजी का स्वर इस सम्बन्ध में सुनने योग्य है:—

अज-कुल-गत केशरी लहै रे,

निज पद सिंह निहाल ।

तिम प्रभु भक्ते भवी लहै रे,

आत्म - शक्ति संभाल ॥

नमस्कार सुगुण में भेद महान् आत्माओं को मिल जाता है।
 मगध में अनन्त अनन्त आत्माएँ हैं। चार गति और चाँगी लाल
 योनिश में आन्त जीम सा अनन्त मगध आने सुन दुःख की भोग
 यात्रा कर रहा है। और अनन्त आत्माएँ ये हैं, जो मगध यात्रा को
 समाप्त कर अजर अमर माउथाम में पहुँच कर मुक्त हो चुके हैं। इस
 प्रकार उच्च और मुक्त अनन्त आत्माओं में आध्यात्मिक इति से पॉन
 प्रसार न आत्मा ही महान् है, भेद है। इनक अनिष्टि म कोई
 पवित्र है, न कोई महान् है। इसीलिए पुनर्ने प्रस्था की भाषा में
 इनका पक्ष परमेजी कहा जाता है। परमे तिष्ठतीति परमेष्टी, त्र्यम्ब
 का आत्माण परम = शुद्ध पवित्र दशात्म उच्च स्वरा में, दीपक
 भाव का सम भाव म ही = रहते हैं, वे परमेजी कहलाते हैं। मगध के
 अन्य माधारण धामनामम आत्माओं की अपेक्षा आध्यात्मिक विभाग
 के उच्च स्वरा में पहुँचे हुए अरिहन्, सिद्ध, आचार्य, उग्राचार और
 गार्ध्व ही पक्ष परमेजी हैं। मगध की वही से उनी भौतिक विभूति
 पाए हुए चक्रवर्ति सम्राट् और इन्द्र भी इन पाँच आत्माओं के समस्त
 तुल्य हैं, हीन हैं। वे विश्व की ऊँची से ऊँची भूमिकाओं पर पहुँचे
 हुए हैं, वही कारण है कि स्वर्ग व इन्द्र भी इनके भी चरणों में
 मस्तक टेकते हैं। स्वर्ग के ग्राम दश देवी देवताओं पर शासन करने
 वाला इन्द्र अन्यत्र कहीं नहीं झुकता है। भौतिक जगत् का यह सबसे
 उच्च प्रतिनिधि, जैन दर्शन की परमता व अनुपम एक मात्र त्वाग
 न चरणा म ही झुकता है। इस विराट् ससार म त्वाग के प्रतिनिधि
 ये पाँच ही महान् आत्मा हैं। नमस्कार मन्त्र में उक्त पाँच परमेजी
 आत्माओं को नमस्कार किया जाता है, अतः नमस्कार मन्त्र का दूसरा
 नाम परमेजी मन्त्र भी है।

नमस्कार के द्वारा नमस्करणीय पाँच महान् पवित्र आत्माएँ, परमेजी
 क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर पाँच पदों की मूल व्युत्पत्ति से ही मिल
 जाता है। जैन साहित्य म पाँच पदों का उद्दे विस्तार से वर्णन है।

परन्तु यहाँ विस्तार का प्रसंग नहीं है, मञ्जेप में ही अग्निहन्त आदि के मूल स्वरूप का परिचय दिया जाता है।

प्रथम पद अग्निहन्त का है। अग्निहन्त में दो शब्द हैं अग्नि और हन्त। अग्नि का अर्थ है, राग द्वेष आदि अन्दर के शत्रु, और हन्त का अर्थ है, नाश करने वाला। अतः फलितार्थ यह हुआ कि जो महान् आत्मा, आध्यात्मिक साधना के बल पर, मन के विकारों से लड़ते हैं, वामनाओं से संघर्ष करते हैं, राग द्वेष से छुटकर लेते हैं, और अन्त में इनको पूर्णरूप से मदा के लिए नष्ट कर डालते हैं, वे अग्निहन्त कहलाते हैं। अग्निहन्त होने पर ही अर्हन्त होते हैं—सुर, नर, मुनिजन द्वारा वन्दनीय होते हैं—तीन लोक की प्रभुता प्राप्त करते हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य, अनन्त शक्ति रूप अनन्त चतुष्टय के भाग्य होते हैं—अखिल विश्व के ज्ञाता द्रष्टा होते हैं—मंसार सागर के अन्तिम तट पर पहुँचने वाले होते हैं। अग्निहन्त की भूमिका, समभाव की सबसे उत्कृष्ट भूमिका है। सुन्दर पर राग और असुन्दर पर द्वेष, यहाँ विलकुल नहीं होता है। सुख, दुःख, हानि, लाभ, जीवन, मरण आदि विरोधी द्वन्द्वों पर एक रस दृष्टि रहती है। शत्रु मित्र सबके लिए, अनन्तानन्त प्राणियों के लिए, कल्याण भावना का कभी न बंद होनेवाला अनन्त निर्भर उनके कण-कण में प्रवाहित होता रहता है। मन, वाणी और कर्म कपायभाव से अलित रहते हैं।

अग्निहन्त की भूमिका में तीर्थंकर अग्निहन्त भी आ जाते हैं, और दूसरे सब अग्निहन्त भी। तीर्थंकर और दूसरे केवली अग्निहन्तों में आत्म-विकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है। सब अग्निहन्त अन्तरंग में एक ही भूमिका पर होते हैं। सबका ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और वीर्य समान ही होता है। सबके सब अग्निहन्त क्षीण मोह की भूमिका पार करने के बाद तेरहवें गुण स्थान में होते हैं, न कोई एक इंच आगे और न कोई एक इंच पीछे। ज्ञातिक भाव में तरतमता का भेद नहीं होता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने अपने सात सौ शिष्यों को, जो केवल ज्ञानी अग्निहन्त हो गए

ये, अने ममान जानास है । उन्हेने-उनमे कन्दन भी नहीं बगता । प्रयेह तीर्नेकर अग्निहन्त भगवद्-महद् का मयोररि नेता होता है, परन्तु यद् अग्निहन्त दशा प्राप्त माधवा से कन्दन नहीं बगता । यद् वद् भूमिका है, जो आध्यात्मिक विरास की दृष्टि से ज्ञान की भूमिका है । अतएव अब हम नमो अग्निहन्ताण कहते हैं, नर रूपभेदेन महाधीर गामी आदि गर तीर्थेसरा को, गर हनुमान् आदि गर अर्द्धमात्र प्राप्त महापुरुषों को, गान्धिगी अग्निहन्तों को, अन्धान्धिगी अग्निहन्तों को, गहनिगी अग्निहन्तों को, ली अग्निहन्तों को, पुदर अग्निहन्ता को, भूनरुडल पर के अनीर, अनागत, वर्तमान अनन्तानन्त अग्निहन्तों का नमस्कार हो जाती है । नमस्कार कता की दृष्टि से शब्द का नमस्कार एक है, परन्तु नमस्कारणीय अग्निहन्ता की एक मात्र की दृष्टि से वद् अनन्त हो जाती है ।

दूसरा पद सिद्ध का है । सिद्ध का अर्थ पूर्ण है । जो गमद्वेग कर शत्रुओं को भीतर, अग्निहन्त बनकर, चौदहवें गुण स्थान की भूमिका को भी पार कर, महा के लिए अन्तमरण से रहित होकर, शरीर और शरीर सम्बन्धी सुख दुःखा को पारकर, अनन्त एकरम आत्मन्वकर में स्थित हो गए हैं, द्रव्य और भाव दोनों ही प्रसार के कर्मों से अलित होकर निरादुल आनन्दमय शुद्ध स्वभाव में परिणत हो गए हैं, ये सिद्ध कहलाते हैं । सिद्ध दशा मुक्त दशा है, यहाँ एकमात्र आत्मा ही आत्मा है, पर द्रव्य और पदपरिणति कुछ नहीं है । यहाँ कर्म नहीं, और कर्मबन्ध के कारण भी नहीं, अतएव यहाँ से लौटकर मगार में जाना नहीं है, जन्म मरण जाना नहीं है । सिद्ध लोक के अग्रभाग में विराजमान है । जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध हैं ; प्रकाश में प्रकाश मिला हुआ है । 'नमो सिद्धाण' के पदद्वारा विचालकनीं अनन्त-अनन्त सिद्धों को नमस्कार की जाती है । माधक सम्पत्त्य की भूमिका से, चतुर्थ गुण स्थान से विकाश करना हुआ जीवमुक्त-अखिल बनता है, और उसके बाद विदेहमुक्त सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार सिद्ध आत्मविकाश की अन्तिम कोटि पर है, उनमें आगे और कोई विकाश भूमिका नहीं है । यह है

साधक से साधना द्वारा सिद्ध होने की श्रम यात्रा । जैन संस्कृति का अन्तिम ध्येय सिद्धत्व है ।

तीसरा पद आचार्य का है । आचार्य को धर्म-प्रधान श्रमण संघ का पिता कहा है । 'आचार्यः परमः पिता ।' वह अहिंसा, सत्य आदि आचार का स्वयं दृढ़ता से पालन करता है, पर परिणति से दृढ़कर स्वपरिणति में रमण करता है, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है, साधु धर्म का उत्कृष्ट रूप अपने आचार व्यवहार पर से प्रमाणित करता है, तीव्रकषाय के उदय का अभाव होने से प्रशान्त, क्षमाशील, विनम्र, सरल एवं आत्म-सन्तुष्ट रहता है । आचार्य, संघ का शासन, धर्म-शासन के लिए करता है । वह पद अधिकार का नहीं, साधकों के जीवन-निर्माण का पद है । श्रावक अथवा साधु जब संयम यात्रा करते हुए भटक जाते हैं, अयुक्त आचरण कर बैठते हैं, तब आचार्य ही उनको सही मार्ग पर लाता है, योग्य प्रायश्चित्त देकर आत्मा की शुद्धि करता है । वह साधकों की आत्मा का चिकित्सक है । न वह स्वयं भटकता है, और न दूसरों को भटकने देता है । वह अरिहंत की भूमिका की ओर बढ़ने वाला वह महा-प्रकाश है, जो अपने पीछे चलने वाले चतुर्विध संघ का पथ प्रदर्शन करता है । आचार्य को दीपक कहा है, जो ज्योति से ज्योति जलाता हुआ दूसरे आत्म-दीपों को भी प्रदीप्त कर देता है । 'नमो आयरियाण' के पद द्वारा अनन्त-अनन्त भूत, वर्तमान एवं अनागत आचार्यों को नमस्कार किया जाता है ।

चौथा पद उपाध्याय का है । यह पद भी बहुत महत्त्वपूर्ण है । साधक जीवन में ज्ञान-प्रकाश का होना अत्यन्त अपेक्षित है । विवेकी ज्ञान-निष्ठ साधक ही साधना के वास्तविक स्वरूप को समझ सकता है, उत्थान और पतन के कारणों की विवेचना कर सकता है, धर्म और अधर्म में भेद-रेखा खींच सकता है, संसार और मोक्ष के मार्ग का पृथक्-करण कर सकता है । अज्ञानी साधक क्या जानेगा ? वह अध्या

के योग से। हिंसा अमृत्य आदि का दुर्भाव-न मन में रखना होता है, न वचन में, और न शरीर में। इतनी बड़ी पवित्रता है, साधु जीवन की! जैन धर्म व्यक्ति और वेप को महत्त्व नहीं देता, वह देता है महत्त्व, गुणों को। जिस व्यक्ति में भी ये गुण हों, वह जैन धर्म का साधु है। यह साधुत्व भाव गृहस्थ वेप में रहे हुए व्यक्ति को भी आ सकता है, अन्य मतमतान्तरों के भिक्षुओं को भी आ सकता है, किसी को भी आ सकता है। अतएव पाँचवें पद में 'नमो लोण सच्चसाहूण' कहते हुए 'लोण' और 'सच्च' शब्द जोड़े गए हैं, इसका भाव है कि केवल गच्छादि में रहनेवाले अपने वेप के साधु ही नहीं, अपितु मानव-लोक में सब साधुओं को नमस्कार करता हूँ। आचार्य अभयदेव भगवती सूत्र की टीका के प्रारंभ में ही महामन्य नमस्कार की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'लोके=मनुष्यलोके, न तु गच्छादौ, ये सर्वसाध-विस्तेभ्यो नमः।' अतएव 'नमो लोण सच्च साहूण' के पंचम पद द्वारा अतीत, अनागत और वर्तमान अनन्तानन्त साधुओं को नमस्कार किया जाता है।

अग्रिहंत आदि पाँचों पदों का मूल स्वरूप 'वीतराग विज्ञानता' है। यह वीतराग विज्ञानता ही है, जो अग्रिहंत आदि को त्रिभुवन के पूज्य बनाती है। जीवत्व भाव की दृष्टि से तो सब जीव बराबर ही हैं, बद्ध भी और मुक्त भी। परन्तु जो जीव ज्ञान से हीन हैं और राग द्वेषादि से महान् हैं, वे आध्यात्मिक क्षेत्र में निन्दनीय हैं। परन्तु जो ज्ञान से महान् हैं और राग द्वेषादि से हीन हैं, वे वीतराग आत्मा तीन लोक के वन्दनीय हैं। अग्रिहंत और सिद्ध पूर्णरूप से रागादि से हीन हैं, तथा ज्ञानादि से महान् हैं, अतः उनमें पूर्ण वीतराग भाव और पूर्ण ही ज्ञान भाव स्पष्टतः सिद्ध है। परन्तु आचार्य, उपाध्याय और साधु अभी साधक ही हैं, अपूर्ण ही हैं। वीतराग भाव और ज्ञान भाव की साधना चल रही है, अभी मज्जित पर नहीं पहुँची है। अतः इनमें एक देशेन रागादि की हीनता और ज्ञानादि की विशेषता होने से एकांश में वीतराग भाव और

विज्ञान भाव सिद्ध है। पाँचा ही पद बीतराग भाव के पद हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु, जहाँ साधक बीतराग है तो वहाँ अरिहत और सिद्ध, सिद्ध बीतराग है। कोई भी पद ऐसा नहीं है जो बीतराग भावना से शून्य हो। बीतराग भावना जैन धर्म का प्राण है और वह पाँच पदों में स्पष्ट अभिव्यक्त रहती है।

जैन धर्म का मूल तत्त्व तीन हैं—देव, गुरु और धर्म। तीनों ही नमस्कार मन्त्र में परिलक्षित हैं। अरिहत जीन्मुक्त रूप में और सिद्ध विदेहमुक्त रूप में, आत्मविकास की पूर्ण तथा परमात्मदशा पर पहुँचे हुए हैं, अतः पूर्ण रूप से पूज्य होने के कारण देवता कीटि में गिने जाते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु आत्मविकास की अपूर्ण अवस्था में हैं, परन्तु पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हैं, अतः अग्ने से निम्नश्रेणी के साधक आत्माओं के पूज्य और अग्ने से उच्चश्रेणी के अरिहत सिद्ध स्वरूप देवता भाव के पूज्य होने से गुरु कीटि में सम्मिलित किए गए हैं। सर्वत्र व्यक्ति से भाव में लक्षणा है, अतः अर्हद् भाव, सिद्ध भाव, आचार्यभाव, उपाध्याय भाव, साधुभाव का महत्त्व लिया जाता है। अरिहनों को क्या नमस्कार? अर्हद् भाव को नमस्कार है। साधुओं को क्या नमस्कार? साधुत्व भाव को नमस्कार है। इसी प्रकार अचर भी भाव ही नमस्कार का लक्षण बिन्दु है। और यह भाव ही धर्म है। अहिंसा और सत्य आदि आत्मभाव पाँच पदों के प्राण हैं। अतः नमस्कार मन्त्र में धर्म का अन्तर्भाग भी हो जाता है, उसे भी नमस्कार कर लिया जाता है।

पाँच पदों में सबसे महान् सिद्ध पद है। अतः सर्व प्रथम नमस्कार सिद्धा को ही निग जाना चाहिये था, परन्तु किया गया है अरिहन्तों को। यह क्या बात है? समाधान है कि सिद्धा से पहले अरिहन्ता को नमस्कार व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता है। सिद्धा के स्वरूप को बताने वाले तीन हैं। अरिहत। मिथ्यात्व के अन्धकार में मटकते मानव समाज को मार्ग की अगस्त्य ज्योति के दर्शन कराने वाले तीन हैं।

अरिहंत । अरिहंत हमारे परमोत्कारी हैं, उन्होंने केवल ज्ञान के द्वारा बन्ध और मोक्ष का रहस्य जानकर वरुणा-दृष्टि से हमें बताया । आचार्य, उपाध्याय, माधु और श्रावक आदि जितने भी साधक हैं, सब उन्हीं के बताए मार्ग पर चल रहे हैं, अतः सर्व प्रथम नमस्कार उनको न हो तो और किनको हो ?

नमस्कार मंत्र को मंत्र क्यों कहते हैं ? मंत्र का अर्थ आजकल भूत-प्रेत आदि का आह्वान हो गया है; जादू टोना हो गया है; अतः ऊपर का प्रश्न, इसी विचारधारा को आगे लेकर आया है । परन्तु मंत्र का मूल अर्थ है—मनन करने से ज्ञान = रक्षा करने वाला । जो मनन करने से, चिन्तन करने से भक्त को दुःखों से ज्ञान देता है, रक्षा करता है, वह मंत्र होता है । 'मंत्रः परमो ज्ञेयो मनन-ज्ञानेन ह्यतो नियमात् ।' नमस्कार मंत्र पर यह मंत्रत्व पूर्ण रूप से ठीक उतरता है । महान् पवित्र वीतराग आत्माओं के प्रति नमस्कार आदि के रूप में अखण्ड श्रद्धा भक्ति व्यक्त करने से मन का अन्धकार दूर होता है, संशय का नाश होता है, आत्मशक्ति का विकास होता है, आत्मशक्ति का विकास होने से दुःखों का नाश स्वयं सिद्ध है । प्रत्येक दुःख का मूल संशय में है, अज्ञान में है, और आत्मिक दुर्बलता में है । और जब ये सब न होंगे, तब दुःख कैसा ?

नमस्कार सूत्र के दो भाग हैं । पहला भाग मूल 'नमस्कार' सूत्र है, जिसका उल्लेख पाँच पदों के रूप में मूल पाठ में किया गया है । जप अथवा अन्य किसी मंगलाचरण के स्थान में उक्त पञ्च पद स्वरूप नमस्कार सूत्र का ही प्रयोग किया जाता है । दूसरा भाग चूलिका अर्थात् परिशिष्टरूप है, जिसमें नमस्कार का फल तथा माहात्म्य सूचित किया गया है । एक वस्तु कितनी ही क्यों न महत्त्वपूर्ण हो, परन्तु जब तक उसका व्यवस्थित रूप से निरूपण न हो तब तक वह नायक उद्देश्य को आकृष्ट नहीं कर सकती । चूलिका इसी उद्देश्य

की पूर्ति' व लिए हैं। चूलिका का मूल पाठ चार भागार्थ इस प्रकार है.—

एमो पंच - नमोस्कारो,
सव्य-पाव - प्यणामणो ।
मंगलाणं च सव्येसि,
पढमं हवइ मंगलं ॥

—यह पाँच पदाँ का किया गया नमस्कार, मत्र पापाँ का पूर्ण रूप से नाश करने वाला है और सब मंगलाँ में श्रेष्ठ मंगल है ।

यह नमस्कार सूत्र समस्त जैन आगधनाओं का केन्द्र है । भानक अभय माधु पात काल उठते ही, शॉन खुलते ही सर्वप्रथम नमस्कार सूत्र पढ़ते हैं । किसी भी समय कोई भी शुभ कार्य करना हो तो पहले नमस्कार सूत्र पढ़ा जाता है । रात्रि के समय शौच पर लोते हुए भी नमस्कार सूत्र पढ़कर ही रात्रि किया जाता है । स्वाध्याय करते समय, प्रतिक्रमण करते समय, विहार और गौचरचर्या आदि के समय, सर्वत्र नमस्कार सूत्र की मंगलध्वनि गूँजती रहती है । भमण सूत्र के प्रारम्भ में भी यह मंगलार्थ प्रयुक्त हुआ है ! अति हत आदि पाँच पद हम सब साधनों के लिए आराध्य हैं, अतः प्रारम्भ में सर्वप्रथम इन्हीं व भी चरणाँ में भद्राङ्गलि अर्पित की जाती है ।

नमस्कारसूत्र का प्रत्येक नमस्कारपद एक एक अवयव है और सम्पूर्ण सूत्र एक महान् श्रुतरत्न है । तथापि नन्दीसूत्र आदि में नमस्कार सूत्र का सूत्रत्वेन स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया है । कारण यह है कि नमस्कारसूत्र मंगलाचरण के रूप में समस्त सूत्रों के प्रारम्भ में अङ्कित किया हुआ है, अतः वह उन्हीं सूत्रों के अन्तर्गत मान लिया गया है । आचार्य अमरदेव भगवती सूत्र की टीका में ऐसा ही उल्लेख

करते हैं—'अथ समस्तश्रुतकण्धानामाद्याधुपादीयते, अतएव चायं
तेषामभ्यन्तरतयाऽभिधीयते ।'

नमस्कार सूत्र का विस्तार बहुत बड़ा है । हमारा प्राचीन जैन
साहित्य यत्र-तत्र सर्वत्र नमस्कार सूत्र की महिमा से अंकित है । अधिक
विस्तार में न जाकर मञ्जेश्वर में ही कुछ भावना स्पष्ट की है । अधिक
जिज्ञासा हो तो लेखक की महामञ्जरी नवकार और सामायिक सूत्र
नामक पुस्तकों से लाभ उठाया जा सकता है ।

: २ :

सामायिक-सूत्र

करोमि भंते ! सामाख्यं
सख्यं सावज्जं जोगं पचक्खामि
जावज्जीवारं
तिविहं तिविहेणं
मण्णं, वायारं, काण्णं
न करोमि, न कारवेमि,
करंतपि अन्नं नं समणुजाणामि
तस्स भंते !
पडिकमामि, निंदामि, गरिहामि,
अप्पार्यं वोत्तिरामि ।

शब्दार्थ

भंते = भगवन् !

सामाख्यं = सामायिक

करोमि = करता हूँ

(कैसी सामायिक ?)

सख्यं = सब प्रकार के

सावज्जं = पाप सन्नि

जोग = छयापा

पचक्खामि = हूँ

(स्वयं के लिए ?)	परमं = करते हुए
उपजीवात् = यावज्जीवन,	अत्रापि = दूसरों को भी
जीवनपर्यन्त	न = नहीं
(किम नियम से ?)	समस्तुजायामि = शब्दा समझूँगा
निन्देण = तीन प्रकार के योग से	(उपमोक्ष)
निन्दितं = तीन प्रकार का त्याग	भवे = हो भगवन् !
करता हूँ	तस्य = उस पूर्व पाप से
(यह कैसे ?)	पापकामि = निवृत्त होता हूँ
मनोगं = मन से	निद्रामि = उसकी निन्दा करता हूँ
वाचात् = वचन से	गहिषामि = गद्गद करता हूँ
कायात् = काय से	आपाशं = आत्मा को, पाप कर्मकारी
न करमि = न करूँगा (स्वयं कर्म)	अतीत आत्मा को
न काम्येमि = न कराऊँगा	शोभिरामि = श्यामता हूँ

भाषार्थ

भन्ते ! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ । (राग द्वेष का अभय अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र का लाभ ही सामायिक है) अतः साधय = पाप कर्म वाले व्यापारों का त्याग करता हूँ ।

जीवन पर्यन्त मन, वचन और शरीर—इन तीन योगों से पाप कर्म न मैं स्वयं करूँगा, न दूसरों से कराऊँगा, और न स्वयं पाप कर्म करने वाले दूसरों का अनुमोदन ही करूँगा ।

भन्ते ! पूर्वकृत पाप से मैं निवृत्त होता हूँ, स्वयं अपने हृदय में उस पाप को बुरा समझता हूँ, आपकी साक्षी से उसको गद्गद-निन्दा करता हूँ ; आत्मा की जो पाप कर्म करने वाली अतीत प्रवस्था है, उसका पूर्ण रूप से त्याग करता हूँ ।

विवेचन

यह सामायिक सूत्र, वह प्रतिज्ञा सूत्र है, जो मुनि दीक्षा ग्रहण करते

ममता बोना जाता है। प्रस्तुत पाठ को शब्द रूप में नहीं, किन्तु अर्थ रूप में अनाद्वैत से स्वीकार कर लेने के बाद माधव उमी लागू गुरुत्व की कोटि से निरन्तर कर साधुता की कोटि में आ जाता है। निरन्तर हितकर भाँ के पद पर पहुँचने के लिए सामाजिक मूल का आत्मध्वन लेना, जैन धर्मशास्त्र के अनुसार न्यायमय है।

यद मूल केरम वेग परिवर्तन करने के लिए नहीं है। अतः यद जीवन-परिवर्तन का आदर्श लेकर आया है। उच्च विचार और उच्च आचार का जीवन आनाना ही सामाजिक मूल का दुन्दुभिनाश है। जहाँ हम अपने पड़ोसी सम्प्रदायों में टीका देते समय 'ऊँ' शिवाय नमः' अथवा 'ऊँ विष्णवे नमः' मंत्रों की पुँक को ही गरी गरी देगने है, यहाँ हथ 'जैनधर्म' में जीवन का भोगविभाग के पथ पर मे हटाकर धैर्य के उद्दीप्त पथ पर अग्रसर करना ही टीका का आदर्श समझा जाता है। किन्हीं मंत्रों के अक्षर भवण मात्र से जीवन परिवर्तन के निदान्त में 'जैनधर्म' का कमी भी विश्वास नहीं रहा। सामाजिक मूल का अत्यन्त शब्द ही शेष और वैराग्य के आदर्श से रंगा हुआ है। भूतमान की हथारों शताब्दियों इसके प्रकाश से चमक रही हैं। लाखों मुनि और आर्षाचार्य के जीवन इसी के आलोक में अगमगाते रहे हैं। भगवान् आदिनाथ से लेकर आज तक का हमारा कोटि-कोटि वर्षों का इतिहास सामाजिक मूल की इस नदी की शब्दावली से जुड़ा हुआ है। करोड़ों वर्ष पहले भगवान् आदिनाथ भी श्रृंगमदेर भी इसी मूल की लेकर मयन के उग्रपथ पर अग्रसर हुए हैं, और करोड़ों वर्ष बाद भगवान् महावीर भी यही 'करोमि सामादथ' बोवते हुए माधना के महान् पथ पर आरुढ़ हुए हैं। कोटि-कोटि साधकों के जीवन का पल-पल इसी मूल की छत्रछाया में सुखा है। एक शब्द में कहूँ तो यह 'जैनधर्म' का प्राण है। विशाल जैन साहित्य इसी नन्हे से मूल की प्रदक्षिणा करता आ रहा है।

सामाजिक एक उद्भूत माधना है। जिस प्रकार आनाथ समस्त

चर-अचर वस्तुओं का आधारभूत है, उसी प्रकार अन्य सब साधनाओं = धर्म क्रियाओं का आधार सामायिक है। विना आधार के किसी भी चीज का रहना जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार सामायिक के विना कोई भी गुण आत्मा में नहीं रह सकता। वह सब गुणों के लिए वैसे ही है, जैसे मधुमत्तिकाओं में मधुकर राजा, जिसके रहते सब मत्तिकाएँ रहती हैं, और जिसके चले जाने पर सभी मत्तिकाएँ साथ ही चली जाती हैं।

सामायिक का अर्थ समता है। बाह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मनिरीक्षण में मन को जोड़ना, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर होना, राग-द्वेष के पथ से हटकर सर्वत्र सर्वदा करुणा एवं प्रेम के पथ पर विचरना, सांसारिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझ कर उन पर से ममता एवं आसक्ति का भाव हटाना, और ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूप आत्मस्वरूप में रमण करना सामायिक है, समता है, त्याग है, वैराग्य है। अन्धकारपूर्ण जीवन को अलोकित करने का इससे अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं हो सकता।

सामायिक का पथ आसान नहीं है, यह तलवार की धार पर धावन है। जबतक निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान में, हानि-लाभ में, स्वजन-परजन में, एकत्व बुद्धि, समत्व बुद्धि नहीं हो जाती, तब तक सामायिक का पूर्ण आनन्द नहीं उठाया जा सकता। प्राणिमात्र पर, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, मित्र हो या शत्रु हो, समभाव रखना कितना ऊँचा आदर्श है, कितनी ऊँची साधुता है ! जबतक यह साधुता न हो तबतक खाली वेप लेकर जनवंचन से क्या लाभ ?

जो समो सब्वभूत्तु, तसेसु थावरेसु य ;
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ।

—अनुयोग द्वार

दूर क्यों जाएँ ? सामायिक क्या है—इस प्रश्न का उत्तर हमें प्रस्तुत

सूत्र के द्वारा ही मिल जाता है। आइए, जरा विशेष शब्दों पर ध्यान देते चले : -

सर्वप्रथम 'करेमि भंते' शब्द हमारे समक्ष आता है। गुरुदेव के प्रति कितनी श्रद्धा और भक्ति के सुधारस से रना हुआ शब्द है यह ! 'भदि कश्चाणे सुखे च' वाच्य से भन्ते = भदन्त शब्द बना है। भदन्त का अर्थ कल्याणकारी एव सुखकारी होता है। गुरुदेव से बढकर संसार जन्म बुध्न से नाश देने वाला और कौन है ? भंते के भवान्त तथा भयान्त ये दो सस्कृत रूपान्तर भी मिल जाते हैं। भवान्त और भयान्त का अर्थ स्पष्ट है—भय = संसार का अन्त करने वाले, तथा भय = डर का अन्त करने वाले। गुरुदेव की शरण में पहुँचने के बाद भय और भय का क्या अस्तित्व ?

आगे चलिए, सामायिक शब्द है। इसके निर्वचनों की कोई हयत्ता नहीं है। अनेकों विशेषावश्यक भाष्य में ही दश-चारह हजार श्लोकात्मक ग्रन्थ इस शब्द पर लिखा गया है। आचार्य नमि निर्वचन करते हैं कि—आत्मा के समान ही दूसरों के दुःख को भी समझना और उसे न करना साम है, साम ही स्वार्थिक बण् होने पर सामायिक हो जाता है। (२) राग द्वेष से सर्वथा तटस्थ रहना सम है, वही आवादेश एव बण् होने पर सामायिक कहलाता है। (३) राग द्वेष रहित सम की प्राप्ति ही सामायिक है —

(१) आत्मोपमया परदुःखाकरणं साम, तदेव सामायिकम्।

(२) राग-द्वेषान्तरालमर्तित्वं समं, तदेव सामायिकम्।

(३) समस्य = अरक्तद्विष्टस्याऽऽयः समायः, तदेव सामायिकम्।

एकास्तोपशान्ति-गमनमित्यर्थः।

—प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति

तीसरा शब्द 'साधञ्ज' है, जो सम्पूर्ण पापों का एकमात्र नाशक हार पाव सन्ति योगा—व्यापना का बोध कराता है। अतएव 'साध' शब्द

सावज्जं जोगं पच्चखामि' इस वाक्य के द्वारा सूत्रकार ने सामायिक का पूर्ण लक्षण हमारे सामने रख दिया है ! जबतक समस्त पाप कर्मों का त्याग न हो, तबतक उच्चकोटि की साधुता वाली सामायिक नहीं होती ।

कुछ मज्जन ऐसे मिल सकते हैं, जो कुछ देर के लिए सब पापों को त्याग करने के लिए तैयार हो जायें । किन्तु यहाँ तो 'जावज्जीवाए' की शर्त है । साधु होने के लिए सामायिक जीवनपर्यन्त धारण की जाती है । सांसारिक वासनाओं का सदा के लिए त्याग कर वैराग्य रंग में रँगना होता है, अन्तःशत्रुओं से जूझना होता है । यह हिमालय जैसा भार समस्त जीवन शिर पर उठाए रखना, वीरों का काम है, कायरों का नहीं ।

पापों का त्याग कुछ स्थूलरूप से नहीं किया जाता । बहुत गहराई में उतर कर पापों का एक-एक दरवाजा बंद करने पर ही सच्ची साधुता प्राप्त होती है । साधु की सामायिक सर्व विरति है, अतः तीन करण तथा तीन योग से, अर्थात् नौ प्रकार से पाप-कर्मों का यावज्जीवन के लिए त्याग किया जाता है । इसी बात को लक्ष्य में रख कर प्रतिज्ञा-पाठ में कहा है कि 'तिविहं तिविहेणं' । मन, वचन और काय से न पाप करूँगा, न कराऊँगा, न करने वालों का अनुमोदन करूँगा । तीन करण तथा तीन योग के संमिश्रण से सामायिक प्रत्याख्यान के नौ भेद होते हैं:—

- (१) मन से करूँ नहीं ।
- (२) मन से कराऊँ नहीं ।
- (३) मन से अनुमोदूँ नहीं ।

- (१) वचन से करूँ नहीं ।
- (२) वचन से कराऊँ नहीं ।
- (३) वचन से अनुमोदूँ नहीं ।

- (१) काय से करूँ नहीं ।

(२) पाप से कराऊँ नहीं ।

(३) पाप से अनुमादू नहीं ।

शास्त्रीय परिभाषा में उक्त नौ प्रकारों का नरकालि ने नाम से उल्लेख किया है । वही नरकालि अतीत, अनागत, वर्तमानकाल के सम्बन्ध से सप्तविंशति कोट रूप बन जाती है । मुनि पाप कर्मों का त्याग तीनों काल के लिए करता है । न वर्तमान में करना न भविष्य में करना और न अतीत में । अतीत में न करना का अर्थ है कि पूर्व कृत कर्मों से पूरातया अपना समर्थन हटा लेना ।

निन्दा और गहा में क्या अन्तर है ? लोक में तो दोनों एकार्थ ही माने जा रहे हैं ? उत्तर है कि आगम की भाषा में निन्दा और गहा भिन्नार्थ माने गए हैं । आत्मसाक्षी से अपने आर पापों से दूशा करना निन्दा है, और गुरुसाक्षी से बिना किसी दूसरे योग्य व्यक्ति की साक्षी के पापों की आलोचना करना गहा है । 'आत्मसाक्षिकी निन्दा, गुरुसाक्षिकी गहा'—आचार्य हरिमद्र ।

अन्तिम शब्द 'अभ्यार्ष बोधिराशि' है । सक्षिप्त अर्थ है—'आत्मा को त्यागना ?' प्रश्न है, आत्मा को कैसे त्यागना ? क्या आत्मा त्यागी जा सकती है ? आत्मा से अभिप्राय पूर्व जीवन से है । पापकर्मों ने दूषित पूर्व जीवन को त्यागना ही आत्मा को त्यागना है । 'आत्मानम् = असीतसावययोगकारिणमश्लाघ्यम् ऋतुवृषामि'—आचार्यनभि । किन्ती ऊँची उड़ान है ? किन्ती मध्य करुणा है ? पुराना सदा-गला गदा मलिन जीवन त्यागकर नवीन स्वच्छ एवं मध्य जीवन को अपनाएँ, माया का पाश सदा के लिए छिन्न भिन्न हो जायगा ।

यह सब कुछ तो सुन्दर है, सुचारु है, प्राण्य है, किन्तु एक प्रश्न अड़ता है, उसका भी समाधान हो जाना चाहिए । प्रश्न है—मायाविक्रम प्रतिभा गढ़ है, अतः दीक्षित होते समय इसका जानना ठीक था, किन्तु अर प्रीतिदिन प्रतिमग्न के समय इसने दुःखने से क्या लाभ ?

नित्य नई प्रतिज्ञा तो नहीं ली जाती, वह तो यावज्जीवन के लिए एक बार ही ली जाती है ?

प्रश्न सुन्दर है; उत्तर सुनिष्ट । मानवजीवन में प्रतिज्ञा का महत्त्व बड़ा भारी है । साधारण से साधारण प्रतिज्ञा के लिए भी बहुत कुछ साहस, उत्साह एवं शक्ति की आवश्यकता होती है । प्रतिज्ञा वही मनुष्य ले सकता है और पाल सकता है, जो शेर का सा मजबूत दिल और हौसला रखता हो, जिसके विचार सुमेरु के समान कभी न झुकने वाले हों । आज के दंभपूर्ण युग में प्रतिज्ञा ले लेना तो हँसी खेल हो गया है; परन्तु उसका निभा ले जाना बड़ी उलझी हुई पहेली बन गया है । येन केन प्रकारेण वाणी तो दंभ की दासी बन सकती है, परन्तु हृदय का क्या होगा ? वहाँ तो दो पड़त नहीं हो सकते ? यह याद रखने की बात है कि प्रतिज्ञा पर मात्र वाणी की मुहर काफी नहीं है । जब तक हृदय की मुहर न लगे, तब तक कुछ भी नहीं । और आप जानते हैं, हृदय की मुहर लगाने के लिए किन कठिनाइयों में से गुजरना होता है ?

आप तो दूर चले जा रहे हैं । हमारे प्रश्न से इस चर्चा का क्या सम्बन्ध ? दूर नहीं, पास आ रहा हूँ । मेरे कहने का यह भाव है कि जब साधारण प्रतिज्ञाओं का पालन भी कठिन पड़ता है, तब साधुत्व की प्रतिज्ञा के पालन की कठिनाई का तो कहना ही क्या ? वह तो जीते जी मरजाने के संकल्प पर ही निभ सकती है । अस्तु प्रतिज्ञापूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्रतिज्ञा का हर समय ध्यान रखा जाय । वह सर्वदा हमारे हृदय पर अंकित रहे । अतएव प्रतिज्ञा सूत्र को दुहराते रहने की परंपरा, भारत की प्राचीन परंपरा है । सामायिक सूत्र प्रतिज्ञासूत्र है, अतः इसका भी प्रतिब्रमण के समय प्रातः सायं दुहराना आवश्यक है । गृहीत प्रतिज्ञा को इस प्रकार सुबह शाम दुहराते रहने से कर्तव्यपालन का जोश कभी ठंडा नहीं पड़ता, सदैव प्रतिज्ञा के लक्ष्य का भान बना रहता है, अन्तर्हृदय साहस से भरता रहता है; फलतः मानसिक दुर्बलताएँ मायिक प्रवादी नहीं होने पाती ।

दूसरे प्रतिज्ञा पाठ के बोलने का यह भी भाव है कि माधू को मरते पड़ले करने महण किए हुए मन का सफल आना चाहिए कि मैंने यह आर्ययोग सिमण गन कर, कैमे, निम रूप में और अतक के लिए स्वीकार किया है। इसके बाद ही प्रतिमण में यह विचारना शीघ्र हो सकता है कि कर, कैमे और निम रूप में मेरा यह मन दुर्गि हुआ है। अतः तब लिए हुए मा के स्वप्न का ही सफल न होगा, तब तक उमम लगने वाले दोरा का करा गक सफल आणगा। हम दृष्टि से भी प्रतिमण से पड़ले प्रस्तुत प्रतिज्ञापाठ का स्मरण कर लेना, आवश्यक है।

: ३ :

मङ्गल-सूत्र

चत्वारि मंगलं—
अरिहंता मंगलं,
सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं,
केवलि-पणत्तो
धम्मो मंगलं ।

शब्दार्थ

चत्वारि = चार

मंगलं = मङ्गल हैं

अरिहंता = अरिहंत

मंगलं = मङ्गल हैं

सिद्धा = सिद्ध

मंगलं = मङ्गल हैं

साहू = साधू

मंगलं = मङ्गल हैं

केवलि = केवली का

पणत्तो = कहा हुआ

धम्मो = धर्म

मंगलं = मङ्गल है

भावार्थ

संसार में चार मङ्गल हैं:—

अरिहंत भगवान् मङ्गल हैं ।

सिद्ध भगवान् मङ्गल हैं ।

विभूति, मंसार का ऐश्वर्य, मंगल नहीं है। आप दुनिया की किमी भी वस्तु को मंगल समझ कर तदर्थ प्रयत्न करेंगे तो आपको अमंगल ही हाथ आयगा। सामारिक उलझनों से भरे लौकिक मंगलों से न आज तक किमी ने शान्ति पाई और न भविष्य में ही कोई पा सकेगा। लौकिक मंगलों के ऊँचे से ऊँचे साधनों पर पहुँचकर फिर मनुष्य टोकर खा गया है। वह अभ्युदय = उत्थान नहीं, अपितु उन्नति है। उन्नति का अर्थ है—उत् + नति अर्थात् उठकर गिरना।

ऊपर की कण्टिकाओं को पढ़ कर निराश न बनिए। वह न समझिए कि अब हमारे उड्डार का कोई मार्ग ही नहीं है? हमें इसी प्रकार टोंकरें खाते अनन्तकाल व्यतीत करना होगा? मंगल की प्राप्ति कभी हमें होगी ही नहीं? हमारे अध्यात्म-ज्ञानी पूर्वजों ने दुनियावी मंगलों से पृथक् अलाकिक मंगलों की शोच की है। यह मंगल, वह मंगल है, जो कभी अमंगल नहीं होता।

भगवान् अरिहन्त देव, भगवान् सिद्ध देव, त्यागी साधू और सर्वज्ञ-प्ररूपित अहिंसा धर्म अलौकिक = लोकोत्तर मंगल हैं। आत्मकल्याण के लिए इनसे बढ़ कर कोई अन्य मंगल नहीं हो सकता। यह वह प्रकाश है, जो हजारों आँधियों के तूफान में भी धुँधला नहीं हो सकता। कैसा ही बिकट समय हो, कैसी ही भीषण परिस्थितियाँ हों; इनकी ओर से मंगल-वृष्टि होनी ही रहेगी। हृदय के अनन्तकाल से सोये हुए बोमल भावों को जागृत करो, श्रद्धा के उजड़े और सूखे हुए उम्वन को हरा-भरा करो, मंगलचतुष्टयी की ओर अपने को सर्वात्मना अभिमुख करो; तुम्हें अमर-शान्ति प्राप्ति होगी, जिसे पाकर तुम धन्य-धन्य हो जाओगे!

प्रस्तुत मंगल चतुष्टयी में प्रथम के दो मंगल आदर्शरूप हैं। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमशः अरिहन्त और सिद्ध भगवान् हैं। अरिहन्त पद में जीवन को सर्वथा राग द्वेष से रहित बनाया जाता है और सिद्ध पद में जीवन की पूर्णता को, सिद्धता को प्राप्त कर लिया जाता

है। श्रमिन्, सिद्ध का स्मरण करते ही हमें अपने गम्य लक्ष्य का ध्यान आ जाता है।

साधुमगल हमारे जीवन का अनुमती गायी गुरु मार्ग-प्रदर्शक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्र सीधा प्रकाश इन्हीं से मिलता है। हमारे सामने जबकि अरिहन्त सिद्ध पूर्ण निदता के आदर्श मगल है, तब साधु साधकता के आदर्श मगल हैं। साधु पद में आचार्य, उगध्याय और मुनि तीनों का प्रदण होता है।

धर्म मगल सबसे अन्न म है। परन्तु हमका यह अर्थ नहीं कि वह गोण मगल है। यदि वास्तविकता को देख्य जाय तो पूज्य तीनों मगलों का निर्माण धर्म के द्वारा ही होता है। बिना धर्म के साधु क्या, और बिना साधना किए अरिहन्त और सिद्ध की निदता क्या? सूत्रकार ने अन्त में धर्म का उल्लेख करके इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि धर्म ही मगल मगलों का मूल है। यदि पुत्र में सुगन्ध न हो, मिटरी में मिठास न हो, अग्नि में उष्णता न हो तो उनका क्या स्वरूप बन्ध रहेगा? कुछ भी नहीं। ठीक यही दशा धर्म हीन मानव की है। 'धर्मोऽस्मादः पशुभिः समाना ।'

धर्म की शक्ति बहुत बड़ी है। भानुजी दीक्षित कहते हैं—'धरति विश्वमिति धर्मे'—जो धरति को धारण करता है वह धर्म है। आचार्य हरिमद्र दशवैशालिक सूत्र के प्रथम अध्यायन की टीका में लिखते हैं—'दुर्गती प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मे'—जो दुर्गति में पड़ते हुए आत्माओं को धारण करता है, नीचे नहीं गिरने देता है, ऊपर ही ऊपर उठाए रखता है, वह धर्म है। अस्तु धर्म से बढ कर मगल और कोन हो सकता है? यही 'सर्वेण्यगच्छमाह्वयं, सर्वं कथयामकारणम्' है।

धर्म शब्द से कोनसा धर्म ग्राह्य है? इस सम्बन्ध में महती विप्रति पत्तियाँ हैं। उन्हीं और सम्प्रदायों के चक्र में पड़कर यह गरीब शब्द एक प्रकार से अपना स्वरूप ही खो बैठा है। न मालूम कौन सा वह दुर्माण का दिन था, जिस दिन धर्म शब्द को सम्प्रदाय के अर्थ में

प्रयुक्त किया गया। भगवान् महावीर ने दृढ़ता के साथ यह संप्रदाय-वाद का खोल उतार फेंका और स्पष्ट रूप से धर्म का वास्तविक चित्र जनता के सामने रखवा। दशवैकालिक सूत्र के प्रथम ही अव्ययन में कहा है—‘अहिंसा, संजमो तवो।’—‘अहिंसा, संयम और तप धर्म हैं।’ मैं समझता हूँ धर्म का यह निर्वचन साम्प्रदायिक हृदयंदी से सर्वथा ऊपर है।

धर्म के लिए ‘केवलिपण्णत्तो’ विशेषण दिया है। यह बहुत गंभीर एवं रहस्यपूर्ण है। अहिंसा, संयम और तप धर्म हैं, यह हम कैसे मानें? दूसरे हिंसा-प्रधान अनुष्ठान धर्म क्यों नहीं? इसी का उत्तर यह विशेषण देता है। विशेषण का भाव है, केवल-ज्ञानी सर्वज्ञों द्वारा कहा हुआ धर्म ही धर्म होता है। जो केवल ज्ञानी नहीं हैं, वे अनात हैं। अनात का कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अतः एव धर्म के प्रवक्ता सर्वज्ञ होने चाहिएँ, साक्षाद् द्रष्टा होने चाहिएँ। आत्मा में संपूर्ण पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने का पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में अज्ञानरूप मल से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, परन्तु जब अज्ञान का पूर्णतया नाश एवं क्षय हो जाता है, तब आत्म-ज्योति के समान कोई भी पदार्थ दुर्ज्ञेय अथवा अज्ञेय नहीं रहता। ज्ञान, आत्मा का अना वास्तविक स्वभाव है। जब उत्कृष्ट साधना के द्वारा दोष और आवरण का समूल क्षय हो जाता है, तब दर्पण तल-पर पदार्थ-समूह की तरह समस्त पदार्थ-जात आत्मदर्पण में झलकने लगते हैं। धर्म और अधर्म का वास्तविक स्वरूप इनसे छुपा नहीं रहता। अतः धर्म की प्रामाणिकता के लिए यह आवश्यक है कि धर्म, रागद्वेष के मल से रहित पूर्ण सर्वज्ञों द्वारा कहा हुआ हो! आज भी हम श्रोता की अपेक्षा साक्षाद् द्रष्टा पर अधिक विश्वास करते हैं। कल्पना करो, आपके पास दो आदमी आते हैं। एक कहता है—अमुक बटना मैंने सुनी है, पर आप उस पर विश्वस्त नहीं होने। दूसरा कहता है—मैंने साक्षात् वह बटना देखी है, आप भटपट विश्वास कर लेते हैं। वह है साक्षाद् द्रष्टा का महत्त्व! अतएव धर्म भी साक्षाद् द्रष्टा केवल-

शानी का रस दुखा हमे अधिक भडासद होगा है। उनके साथ मत्त की जगति अधिक सुदृढ़ होती है।

मगण शब्द के निर्मलन अनेक प्रकार से किए हैं। आन्तरिक नियुक्ति तथा श्री विनम्र गणीकृत विशेषावरण के आधार पर आचार्य हरिमद्र दशवैशालिव टीका में निम्नलिखित हैं—‘मङ्गलपतेऽभिगम्यते हितमनेनेति मङ्गलम्’—अगमते हित की प्राप्ति हो वह मङ्गल है। ‘मां गाक्षयति मयादिति मङ्गलं-संसारदुःखनश्यति’—जो मत्तदवाच्य आत्मा को संसार से अलग करता है वह मङ्गल है। विशेषावरण भाव्य के टीकाकार मत्तधारी हेमचन्द्र कहते हैं—‘मङ्गलपतेऽभिगम्यतेऽनेनेति मङ्गलम्’—अगमते आत्मा शोभायमान हो, वह मङ्गल है। ‘मोक्षस्तेऽनेनेति मङ्गलम्’ अगमते आनन्द तथा हर्ष प्राप्त होता है वह मङ्गल है। ‘मद्यस्ते = पूज्यस्तेऽनेनेति मङ्गलम्’—निमके द्वारा आत्मा पूज्य = विभिन्य होता है, वह मङ्गल है। प्रत्येक व्युत्पत्ति लौकिक मङ्गल की महत्ता न बताकर उन्मुक्त लोकोत्तर मङ्गल की ही अद्वितीय महत्ता को प्रकट करती है। अतः साधक का कर्तव्य है कि लौकिक मङ्गलों की धार से मन को हटाकर उसे इ-ही मङ्गलों के प्रति सर्वोत्तमा आर्पण करना चाहिए।

: ४ :

उत्तम-सूत्र

चत्तारि लोगुत्तमा—
अरिहंता लोगुत्तमा,
सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवलि-परणत्तो
धम्मो लोगुत्तमो ।

शब्दार्थ

चत्तारि = चार

लोगुत्तमा = लोक में उत्तम हैं

अरिहंता = अरिहन्त

लोगुत्तमा = लोक में उत्तम हैं

सिद्धा = सिद्ध

लोगुत्तमा = लोक में उत्तम हैं

साहू = साधु

लोगुत्तमा = लोक में उत्तम हैं

केवलि = केवली का

परणत्तो = हा हुआ

धम्मो = धर्म

लोगुत्तमो = लोक में उत्तम है

भावार्थ

चार लोक = संसार में उत्तम = श्रेष्ठ हैं :—

अरिहन्त भगवान् लोक में उत्तम हैं ।

मिद्ध भगवान् लोक में उत्तम है ।

साधु महाभारत लोक में उत्तम है ।

सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म लोक में उत्तम है ।

विवेचन

पूर्वसूत्र में भगवान् का निरूपण किया गया है । अब प्रश्न है—
भगवान् कौन हो सकता है ? अहिंसक, सिद्ध, साधु अथवा धर्म भगवान्
हैं पर क्या भगवान् हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर की श्रृंखला सकेत करते हुए
सूत्रकार कहते हैं कि चार उत्तम हैं । जो उत्तम होता है, वही भगवान्
होता है—यह शक्ति कथमपि विनाश नहीं हो सकती ।

ससार में निरंतर भी शक्ति, उत्तम की शक्ति है । युद्ध के मैदान
में उत्तम सैनिक प्रवेक्षित हैं, निगर्षों उत्तम मास्टर पर मुख हैं,
शास्त्रानुसार उत्तम नौकर को पार धन्य हैं, और तो क्या उत्तम
भाजन, उत्तम वस्त्र उत्तम घर पर मनुष्य सुखमय है । क्या सर्वसुख
ही धर्म उत्तम है ? उत्तर में आप नहीं तो मुझे ही 'न' लिखना
होगा । प्रतिदिन देखते हैं, आपका उत्तम सैनिक कल अनुत्तम हो
जाता है और दण्ड लगा जाता है । मास्टर साहब और नौकर की
उत्तमता भी स्थायी नहीं है, प्रारंभिक भोजन, वस्त्र और घर की
उत्तमता पर मानन पागल बना हुआ है, उनकी उत्तमता तो सर्वथा
स्थायी है । निगर्ष यह है । ससार में शक्ति भी तीन सर्वथा आर
सर्वत्र उत्तम नहीं है । आर का सर्वथा और सर्वदा उत्तम नहीं है, धर्म
उत्तम ही नहीं गली उत्तमता की शक्ति है । उत्तम का अर्थ है—
उँचा राजा मिश्र उँचा राजा, सर्वत्र उँचा होना । जिसका उँचा राजा
पुनः पुनः नहीं आता न जाय, और न अन्त स्त्री को पतन की आशा
लगाय, वही वस्तु उत्तम होता है । एतदर्थ उन् + तन् शब्द धर्म
शक्ति पर ही शान्तज्ञान में विचार कीजिए ।

हो तो उत्तम शक्ति भी शक्ति के अनुसार अहिंसक, मिद्ध, साधु

और धर्म ही उत्तम है। इनसे बढ़कर और कौन उत्तम है ? अनन्त-काल से भटकती हुई भव्य आत्माओं को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले ये ही चार उत्तम हैं। आत्मजाग्रति के क्षेत्र में हम इनकी दूसरी उपमा नहीं पाते। अपने जैसे ये बस आप ही हैं—“गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।” आकाश की उपमा देने के लिए क्या कोई दूसरा आकाश है ? समुद्र की उपमा बताने के लिए क्या कोई दूसरा जलाशय है ? अखिल त्रिलोकी में उत्तमता की शोध करते हुए हमारे पूर्व महर्षियों को ये चार ही अपनी जोड़ के आप ही उत्तम मंगल मिले। इस सम्वन्ध में मुझे पण्डितराज जगन्नाथ का एक पद्य याद आ रहा है, जो यहाँ पूर्ण आचित्र्य को लिए हुए हैः—

गाहितमखिलं गहनं,

परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे;

सहकार ! न प्रपेदे,

मधुपेन तयोपमा जगति !

—भामिनी-विलास १।२०

“भ्रमर ने सारा का सारा वन छान डाला, एक-एक करके सब वृक्षों को अच्छी तरह देख लिया; परन्तु हे आम्र वृक्ष ! उसे तेरे समान और कोई वृक्ष मिला ही नहीं।”

ठीक इसी प्रकार मुमुक्षु भ्रमरगण को सम्पूर्ण जड़ एवं चैतन्यरूप विश्व-चक्र को भली भाँति देखने पर भी उपर्युक्त उत्तम चतुष्टयी की तुलना में कोई नहीं मिल सका।

उक्त चार उत्तमों में अरिहंत और सिद्ध परमात्म-रूप में उत्तम हैं। कर्म मल को दूर करने के बाद शुद्ध आत्म-ज्योतिरूप हो जाना ही परमात्मा हो जाना है; और इस दृष्टि से अरिहंत और सिद्ध परम = उत्कृष्ट पवित्र आत्मा, परमात्मा हैं। साधुपद वाच्य आचार्य, उपाध्याय,

प्रारंभ में, महात्मा के रूप में उत्तम है। ये अभी परमात्मा नहीं बने, किन्तु परमात्मा के पथ पर महात्मा होकर अग्रसर हो रहे हैं, प्राण और वैराग्य के क्षेत्र में आत्मा को महान्, महत्तर, महत्तम बना रहे हैं, अन्तु इनकी शान का दूसरा साधन मिलना कठिन है। 'अप्र रहा धर्म', यह साधन के रूप में सर्वोत्तम है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने के लिए धर्म ही एक उत्कृष्ट साधन है। तत्कार की और मंत्र चीजे, आत्मा को पतन की ओर ले जाती हैं; बहुविध जाती हैं, और अस्तर दुःख-दायकाल में अनाश्रु निवृत्त कर देती हैं, जबकि धर्म दुर्गति में पड़ते हुए आत्माओं को धारण करने के कारण 'धारणाद् धर्मः' के निर्वचन की अग्रिमरीक्षा में पूर्णतया पुनः उठता है।

तत्प्राधान्यगम गुरु के भाष्य की सम्प्रदायिका में, पूर्व आचार्य उनाम्पानि, सम्पूर्ण मानव जगत को छह विभागों में विभक्त करते हैं—
अधमाधम, अधम, मिश्रम, मध्यम, उत्तम और उत्तमोत्तम।

१—अधमाधम मनुष्य वह है, जो लोक और परलोक दोनों को नष्ट करने वाले अत्यन्त नीच आचरण करता है। न उसे इस लोक की लाजा और प्रतिष्ठा का त्याग रहता है और न परलोक का ही। यह परले तारे का नास्तिक होता है। धर्म और अधर्म के विधि-निषेधों को वह दोग समझता है। वह उचित और अनुचित किसी भी पद्धति का त्याग किए बिना एकमात्र अन्त्या अभीष्ट स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। वह मनुष्य बेवशगामी, परस्त्री सेवन करनेवाला, मासाहारी, चोर, दुराचारी एवं सब चीजों को निर्दयतापूर्वक सताने वाला होता है। न वह इस लोक में सुख-शान्ति, प्रतिष्ठा और आनन्द प्राप्त करता है और न परलोक में ही अन्ते जीवन को सुखमय बना पाता है।

२—अधम मनुष्य वह है, जो उपर्युक्त अधमाधम मनुष्य की भौतिक परस्त्री गमन, चोरी आदि अत्यन्त नीच आचरण तो नहीं करता; परन्तु मिथ्याभक्ति का त्याग नहीं कर सकता। वह अभी सारी शक्ति लगा कर

इस लोक के ही सुन्दर सुखोपभोगों को प्राप्त करता है और उन्हें पाकर अपने को भाग्यशाली समझता है। यह जीवन, धर्म को लक्ष्य में रख कर प्रगति नहीं करता, प्रत्युत लोकलज्जा के कारण ही अत्यन्त नीच दुराचरणों से बचा रहता है। इस जीवन में भोगासक्ति इतनी तीव्र होती है कि धर्मान्चरण के प्रति किसी भी प्रकार की श्रद्धा-भक्ति जागृत ही नहीं होती।

३—विमध्यम मनुष्य वह है, जो लोक और परलोक दोनों को सुधारने का प्रयत्न करता है। यह आस्तिक जीवन का प्रथम सोपान है। यहाँ लोकलज्जा के द्वारा विधিনিषेध का प्रश्न हल नहीं किया जाता, प्रत्युत पाप-पुण्य के प्रकाश में जीवनयात्रा प्रगतिशील होती है। यह जीवन समय पर दान करता है, दूसरों की सेवा करता है, ताकि उसका परलोक भी सुन्दर हो। एक साधारण सदाचारी गृहस्थ का जीवन विमध्यम जीवन है। यह लोक और परलोक के दोनों घोड़ों पर सवारी करना चाहता है। परन्तु परलोक के सुखों के लिए, यदि इस लोक के सुख छोड़ने पड़े तो इसके लिए तैयार नहीं होता। यह सुन्दर भविष्य के लिए सुन्दर वर्तमान को निछावर नहीं कर सकता। यह दोनों और एक जैसा मोह रखता है, इसका सिद्धान्त है 'माल भी खाना, बैकुंठ भी जाना'।

४—मध्यम-मनुष्य का जीवन विमध्यम की अपेक्षा कुछ ऊँचा होता है। वह इस लोक की अपेक्षा परलोक के सुखों की अधिक चिन्ता करता है। यदि उसे परलोक को सुधारने के लिए इस लोक में कुछ कष्ट भी उठाना पड़े, सुख सुविधा भी छोड़नी पड़े तो इसके लिए सहर्ष तैयार रहेगा। वह परलोक के सुख की आसक्ति में इस लोक के सुख की आसक्ति का त्याग कर सकता है, परन्तु वीतराग भाव की साधना में दोनों ही प्रकार की सुखासक्ति का त्याग नहीं कर सकता। संसार की वर्तमान मोहमाया उसे भविष्य के प्रति लापरवाह नहीं बनाती। वह सुन्दर वर्तमान और सुन्दर भविष्य के चुनाव में सुन्दर भविष्य को चुनने

का ही अधिक प्रयत्न करेगा, परन्तु उनका वह सुन्दर भविष्य सुगमार्थक रूप होगा, अनासक्ति रूप नहीं ।

५—उत्तम साधक वह है, जिसकी सम्पूर्ण साधना लोक और परलोक दोनों की आसक्ति से सर्वथा दूर, निशुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए होती है । मोक्षिक मुक्त चाहे वर्तमान का हो अथवा भविष्य का, लोक का हो अथवा परलोक का, दोनों ही उसकी दृष्टि में हेतु हैं । यह लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी ॥ कुछ अन्तर नहीं समझता । उसने लिए दोनों ही बाधन-रूप हैं । उसका समग्र जीवन एकमात्र आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए, सर्वथा जन्ममोक्त होने के लिए गतिशील रहता है । ससार का भोग चाहे चक्रवर्ती पद का हो अथवा इन्द्रपद का, वह एकान्त निरुद्ध अनासक्त भाव से रहता है । ससार का कोई भी प्रबोधन उसे धीनगम भाव की साधना के पवित्र मार्ग से एक क्षण के लिए भी नहीं भ्रष्ट कर सकता । यह पद उत्तम साधक और उत्तम मुनि का है । मोक्षपद के ये दोनों ही यात्री अनासक्त जीवन के उच्च आदर्श हैं ।

६—अब रहा उत्तमोत्तम महामानव का पद । उसके लिए क्या परिभाषा उततार्थ ? वह सारी जीवों की सम्पूर्ण परिभाषाओं से ऊपर है । फिर भी परिचय की एक हलकी सी झलक के लिए यह सकते हैं कि जो आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रकाश पाकर स्वयं कृतकृत्य हो चुका हो, पूर्ण हो चुका हो, तथापि विश्वकल्याण की भावना से दूसरों को पूर्ण बनाने के लिए अहिंसा सत्य आदि उत्तम धर्म का उपदेश देता हो, वह उत्तमोत्तम मानव है । इस कोटि में अहिंसा भगवान् आते हैं । अहिंसा भगवान् केवल ज्ञान का प्रकाश पाकर निश्चिन्त नहीं हो जाते, प्रत्युत नि स्वार्थ भाव से जनता व प्रति परम धर्म का उपदेश देते हैं ।

कर्माहितमिह चासुतः,

चाधमतमो नरः समारभते ।

इह फलमेव त्वधर्मो,

विमध्यमस्तूभयफलार्थम् ॥४॥

परलोक - हितायैव,

प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।

मोक्षायैव तु घटते,

विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः ॥५॥

यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तम-

मवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति ।

नित्यं स उत्तमेभ्यो-

ऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥६॥

—तत्त्वार्थ भाष्य

प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि आप इधर-उधर व्यर्थ ही कहाँ भटक रहे हैं, उत्तम की शोध कर रहे हैं ? आत्मज्योति का प्रकाश हमें कहीं और उत्तमों से नहीं मिल सकता । आत्मतत्त्व रूप उत्तम सिद्ध पद की प्राप्ति के लिए एकमात्र साधन अहिंसा सत्य आदि उत्तम धर्म है । और वह उत्तम धर्म हमें उत्तम अरिहन्त भगवानों के द्वारा बताया गया है । आज अरिहन्त भगवान् हमारे समक्ष विद्यमान नहीं हैं, परन्तु उनके बताए हुए धर्म का आचरण करने वाले उत्तम साधु तो विद्यमान हैं । उत्तम साधु अरिहन्त भगवान् के प्रतिनिधि हैं, आचार्य कुन्दकुन्द की अलंकार-भाषा में कहें तो अरिहन्त भगवान् के प्रतिविम्ब हैं । अतः आइए, उनके चरणों में बैठ कर उत्तम धर्म का उपदेश ले और अन्त में उत्तमोत्तम पद की प्राप्ति करें ।

प्रस्तुत चार उत्तमों में धर्म का नंबर अन्तिम है । इसका भाव यह है कि वास्तविक उत्तमता धर्म में ही है । धर्म के द्वारा ही आदि के

का ही अधिक प्रयत्न करेगा, परन्तु उक्त वह सुन्दर भविष्य दुर्गमार्ग
रूप होगा, अनात्मनि रूप नहीं ।

५ — उत्तम माधव वह है जिसकी सम्पूर्ण माधना लोभ और पा-
लाह दोनों की आकांक्ष से सर्वथा दूर, निशुद्ध आत्मनस के प्रकाश के
लिए होती है । मौनव गुण चाहे वर्तमान का हो अथवा भविष्य का,
लोक का हो अथवा परलोक का, दोनों ही उसकी दृष्टि में देखे हैं । वह
लोभ की बेड़ी और लोभ की बेड़ी में कुछ अन्तर नहीं समझता ।
उसके लिए दोनों ही बंधन हैं । उसका समस्त जीवन एवमात्र
आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए, सर्वथा उपधनमुक्त होने के लिए गतिशील
रहता है । समार का भोग चाहे चक्रवर्ती पद का हो अथवा इन्द्रपद
का, वह पञ्चानन निरुद्ध अनात्म भाव से रहता है । समार का कोई भी
प्रलोभन उसे क्षीणता भाव की सोचना के विविध मार्गों से एक लक्ष्य के
लिए भी नहीं मटका सकता । वह पद उत्तम आर्य और उत्तम मुनि
का है । मोक्षपद के वे दोनों ही वात्री अनात्म जीवन के उद्योग आदर्श हैं ।

६ — अथ गदा उत्तमोत्तम महामानव का पद । उसके लिए क्या
पारमाणा प्रत्याशें ? वह उसारी शीशों की सम्पूर्ण परिभाषाओं से ऊपर
है । फिर भी परिचय की एक हलकी सी भलक के लिए वह सकते हैं
कि जो आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रकाश पाकर स्वयं वृत्तहृन्व हो चुका हो,
पूर्ण हो चुका हो, तथापि विश्वव्यापक की भावना से दूसरों की पूर्ण
बनाने के लिए अहिंसा सत्य आदि उत्तम धर्म का उद्देश देता हो, वह
उत्तमोत्तम मानव है । इस कोटि में अहिंसा भगवान् आते हैं । अहिंसा
भगवान् केवल-ज्ञान का प्रकाश पाकर निष्क्रिय नहीं हो जाते, प्रत्युत
नि ह्यर्थ भाव से बनना के प्रति परम धर्म का उद्देश देते हैं ।

कर्माहितमिह चासुः,

चावमत्तमो नरः समारभते ।

शरण-सूत्र

चत्तारि सरणं पवज्जामि—
अरिहंते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि,
साहू सरणं पवज्जामि,
केवलि-परणत्तं धम्मं
सरणं पवज्जामि ।

शब्दार्थ

चत्तारि = चार की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता हूँ

अरिहंते = अरिहन्तों की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता हूँ

सिद्धे = सिद्धों की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता हूँ

साहू = साधुओं की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता हूँ

केवलि = केवली के

परणत्तं = कहे हुए

धम्मं = धर्म की

सरणं = शरण

पवज्जामि = लेता

तीन पदों को उत्तमत्त्व प्राप्त है। जैन धर्म गुण-पूत्रा का पदापाती है। गुण के द्वारा ही गुणी का महत्त्व है, अन्यथा नहीं।

साधु पद में आचार्य और उपाध्याय पद का भी अन्तर्भाव हो जाता है। अतः चार म गल, चार उत्तम और चार शरणा में महामय परमेस्त्री के पाँच पदों का एक उक्त पदों को महत्त्व प्रदान करने वाले उत्तम धर्म का समावेश है। अरिहन्त, सिद्ध, साधु—(आचार्य, उपाध्याय, साधु) ये तीन गुणी हैं और केवल प्रवृत्ति धर्म गुण्य है। जैन धर्म गुणी आत्माओं को वन्दन करते समय साधु ही गुण को भी वन्दन करता है। यह भाग्यमय साधना का अद्वितीय आदर्श है।

मं अग्नि पर ही हो सकता है। इनके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है,
शरण नहीं है। ओ दुनिया के भूले मानव ! कहीं भटक रहा है ? क्यों
भटक रहा है ? आ, ओग जीवन में शीत आ। तेरे उद्धार का मार्ग
प्रशस्त है, तेरा भविष्य समुज्ज्वल है। तू अग्निहोतों की, मित्रों की, माधुष्यों
की ओर मर्षण-प्रवृत्ति धर्म की शरण क्यों नहीं लेना है ? गुरुवार
ने अगर कृपा कर के सहज ही में यह गुप्त रहस्य हमारे लिए प्रकट कर
दिया है। अब तुम जो चाहो सो पा सकते हो। दिशा बदलने ही दशा
बदल जाती है। जबतक उत्तम चतुष्टय की शरण में न आए, ये, तभी
तक दुःख, कष्ट, पीडा, व्यथा, अज्ञान, मोह सब कुछ था। पर अग्न ?
अब तो सर्वत्र शान्ति है, सुप्त ही सुप्त है।

सुप्त, शान्ति, आनन्द कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे अन्दर ही
है, बट में ही है। केवल अग्नी अज्ञानता ही हमें कष्ट देती रहती है।
चाहें उत्तमों की शरण लेने से वह अज्ञान दूर होता है, ज्ञान जाग्रत
होता है। हम अग्नी रक्षा करने में, अग्ने भाग्य के निर्माण में समर्थ
हो जाते हैं। प्रभु का प्रताप इतना ही है कि हमें प्रकाश मिला जाता
है, अग्नेयन का भान हो जाता है, आध्यात्मिक दरिद्रता चक्काचूर हो
जाती है, आत्मिक ऐश्वर्य की ज्योति सब ओर जगमगा उठती है।

एक दरिद्र था। उसके घर एक फकीर आया। आवाज लगाते ही
दरिद्र घर से बाहर आकर देखता है तो एक फकीर भिक्षा की प्रतीक्षा में
द्वार पर खड़ा है। दरिद्र बेचारा गिड़गिड़ा कर कहने लगा—'महात्मन् !
मेरा अगर सामाग्य है कि आप दया करके पधारे; पर घर में तो अन्न
का दाना भी नहीं है, काहे से सेवा करूँ ? दरिद्र हूँ, अग्ना ही पेट
भरना कठिन हो रहा है।' फकीर ने कहा—'अरे वह क्या ? तुम्हारे
समान तो संसार में कोई भाग्यवान ही नहीं है।' फकीर खुले दरवाजे से
अन्दर की ओर भाँक रहा था। अन्दर शिलाग्र पर एक लोड़ा रक्खा
हुआ था। पूछा—'वह क्या है ?' दरिद्र ने उत्तर दिया—'महाराज !
पत्थर है इससे चटनी पीसा करता हूँ।' सन्त ने —'नहीं, यह पत्थर

भाषार्थ

चार की शरण स्वीकार करता हूँ —

अग्निहोत्र की शरण स्वीकार करता हूँ ।

सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ ।

साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ ।

सर्वज्ञ-व्यवस्थित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

विवेचन

स सार दुःख की ज्वालाओं से चारों ओर जल रहा है, कहीं भी सुख नहीं, कहीं भी शान्ति नहीं । भोक्तारियों अपने बज्र में व्याकुल हैं तो स्वर्ण महल अपने दुःख में प्रवर्णित हैं । दरिद्र अपनी सीमा में दुःखी हैं तो नरेन्द्र भी अपनी सीमा में सुखी नहीं हैं । मानव-हृदय सर्वदा दुःखों की ज्वालाओं से धँस धँस करके जल रहा है । मनुष्य असहाय है, निम्नाय है, किस की शरण में जाय ?

स सार के जितने भी पदार्थ हैं, मनुष्य को शरण नहीं दे सकते । न धन, न राज्य, न ऐश्वर्य, न सेना, न परिवन, न मित्र, न शरीर, न शुद्ध, न और कुछ । जीवन के अन्तिम क्षणों का हरण हमारे सामने है । अज्ञानी मानव इस दुनिया से चिपटे रहने का कितना प्रयत्न करता है ? किन्तु मृत्यु कहीं छोड़ती है ? वह विचित्र जीवात्मा को बसीड़ कर ले ही जाती है । उस समय कौन शरण देता है ? कौन बचाता है ? कोई नहीं । धन तिसौरी में बंद पड़ा रह जाता है, पशु धन पाड़े में बंद खड़ा रहता है, स्त्री दस्त्वाने तक और भिर-परिवन शमसान तक । आगे जैसी करनी वैसी भरनी । हा हन्त ! फिर भी मनुष्य किन्तु पागल है, जो इन्हीं दुनिया की छँपेगी गलियों में तो मटक रहा है, किन्तु मैदान में आकर खरों के पूर्ण प्रदर्शन का दर्शन करता नही चाहता ।

अनादिकाल से भोक्तृमाया में व्याकुल जीवात्मा का यदि उद्धार हो सकता है वल्याण हो सकता है, तो पूर्णज्ञान चार उक्तियों की शरण

में आने पर ही हो सकता है। इनके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, शरण नहीं है। ओ दुनिया के भूले मानव ! कहाँ भटक रहा है ? क्यों भटक रहा है ? आ, और शीघ्र से शीघ्र आ। तेरे उद्धार का मार्ग प्रशस्त है, तेरा भविष्य समुज्ज्वल है। तू अरिहंतों की, सिद्धों की, साधुओं की और सर्वज्ञ-रूपित धर्म की शरण क्यों नहीं लेता है ? सूत्रकार ने अपार कृपा कर के सहज ही में यह गुप्त रहस्य हमारे लिए प्रकट कर दिया है। अब तुम जो चाहो सो पा सकते हो। दिशा बदलते ही दशा बदल जाती है। जयतक उत्तम-चतुष्टय की शरण में न आए, तभी तक दुःख, कष्ट, पीड़ा, व्यथा, अज्ञान, मोह सब कुछ था। पर अब ? अब तो सर्वत्र शान्ति है, सुख ही सुख है।

सुख, शान्ति, आनन्द कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे अन्दर ही है, घट में ही है। केवल अपनी अज्ञानता ही हमें कष्ट देती रहती है। चारों उत्तमों की शरण लेने से वह अज्ञान दूर होता है, ज्ञान जागृत होता है। हम अपनी रक्षा करने में, अपने भाग्य के निर्माण में समर्थ हो जाते हैं। प्रभु को प्रताप इतना ही है कि हमें प्रकाश मिल जाता है, अनेकन का भान हो जाता है, आध्यात्मिक दरिद्रता चकनाचूर हो जाती है, आत्मिक ऐश्वर्य की ज्योति सब ओर जगमगा उठती है।

एक दरिद्र था। उसके घर एक फकीर आया। आवाज लगाते ही दरिद्र घर से बाहर आकर देखता है तो एक फकीर भिक्षा की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ा है। दरिद्र बेचारा गिड़गिड़ा कर कहने लगा—'महात्मन् ! मेरा अगर सामान्य है कि आप दया करके पंचारे; पर घर में तो अन्न का दाना भी नहीं है, काहे से सेवा करूँ ? दरिद्र हूँ, अपना ही पेट भरना कठिन हो रहा है।' फकीर ने कहा—'अरे यह क्या ? तुम्हारे समान तो संसार में कोई भाग्यवान ही नहीं है।' फकीर खुले दरवाजे से अन्दर की ओर भाँक रहा था। अन्दर शिलायुट पर एक लोड़ा रक्खा हुआ था। पूछा—'वह क्या है ?' दरिद्र ने उत्तर दिया—'महाराज ! पत्थर है, इससे चटनी पीना करता हूँ।' सन्त ने कहा—'नहीं, वह पत्थर

नहीं है, यह तो पारम है ।' गरीज को कैसे विराम होता ? परन्तु ज्यों ही करीर ने दक्षि के तग, कच्छी, निमग आदि लोहे की चीजों को पारम से छूआ तो सब मोने व बन गए । अब क्या था, एक क्षण में ही उस गरीज की सारी दक्षिता मिट गई, आँसे खुल गई । ठीक वही दशा हमारी है । पारम रूप आत्मा से विषयभोग की चटनी पीन रहे हैं । परन्तु ज्यों ही मगल-चतुष्टय के उज्ज्वल प्रकाश से आँसे खुलती हैं तो एक ही क्षण म जीवन का नक्शा उदल जाता है । प्रभु शक्ति हमारे अन्दर ही है, वह माँगी हुई बाहर से नहीं मिलती । जैन धर्म का आदर्श बाहर से कुछ पाने का नहीं है । और न किसी से कुछ लेने का ही है । मगल चतुष्टय की शरणा हमें कुछ देती नहीं है, प्रत्युत हमें अपना मान करनी है, सुष शान-चेतना को आगम करनी है । 'बादरी माधना यस्य सिद्धिमवति ताप्ती'—न्याय के अनुसार, जो जैसा स्मरण करता है वह वैसा बन जाता है । ध्यान की महिमा आरंभार है ।

एक प्रश्न है, उस पर विचार कर ले । आकल लोग इतना नाम लेते हैं, प्रभु का स्मरण करते हैं, किन्तु उद्धार नहीं होता, यह क्या बात ? ठीक है, हमारा उद्धार इसलिए नहीं हो रहा है कि जिस प्रकार नाम लेना चाहिए वैसे नहीं लेते । केवल मला डालने के लिए, लोक दिखाने के लिए, सख्या-पूर्ति करने के लिए भगवान का नाम लिया जाता है । यदि आराध्य देव के प्रति हृदय में यथार्थ भद्रा हो, आकर्षण और प्रेम हो, आदर-सुद्धि हो, निष्काम भाव हो तो अवश्य ही शान की चिनगायी प्रचलित होगी । भद्रा का रस असीम होता है ।

प्रतिक्रमण आवश्यक के प्रारंभ में यह मगल, उत्तम, एवं शरण सूत्र इसलिए पड़ा जाता है कि साधक शान्त भाव से अपने मन का दृढ़, निश्चल, सरस एवं भद्रालु बना सके । प्रतिक्रमण के लिए आध्यात्मिक भूमिका तैयार करने के लिए ही यह विघ्नी यहाँ स्थान पाए हुए है । 'दसण सुद्धि-निमित्त' आवश्यक चूर्ण ।

: ६ :

संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं

जो मे देवसिओ अइयारो कओ,

काइओ, वाइओ, माणसिओ—

उस्सुत्तो, उम्मग्गो,

अकप्पो, अकरणिज्जो;

दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ,

अणायारो,

अणिच्छियव्वो,

असमण-पाउग्गो;

नाणे तह दंसणे चरित्ते

सुए सामाइए;

तिएहं गुत्तीणं, चउएहं कसायाणं,

पंचएहं महव्वयाणं, छएहं जीवनिकायाणं,

सत्तएहं पिंडेसणाणं, अठएहं पवयण-माउणां,

नयएहं वंमचेरगुत्तीणं,
दसहिंहे समणघम्मे समणायं जोगायं,
जं खंडियं जं विसहियं
तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

पटिक्कमिउ = प्रतिक्रमण करना

[ये अतिचार विविगयक होते हैं ?]

इच्छामि = चाहता हूँ

मे = मैंने

गे = जो

देउसिओ = दिवससम्बन्धी

अइयारे = अतिचार

कओ = किया हो

[कैसा अतिचार ?]

काइओ = काय-सम्बन्धी

याइओ = वचन-सम्बन्धी

मासुसिओ = मन-सम्बन्धी

[तीनों का विसदीकरण]

उसुतो = सूत्र-विरुद्ध

उम्मगो = मार्ग-विरुद्ध

अणो = आचार-विरुद्ध

अकरणिओ = न करने योग्य

दुम्मओ = दुष्परिणाम

दुमिचिनिओ = दुष्प्रवृत्तिरूप

अणायारे = न आचरने योग्य

अणिद्धिपत्ता = न चाहने योग्य

अत्तमणसउगो = माधु का अनुचित

नाणे = ज्ञान में

तह = तथा

दमणे = दर्शन में

चरिते = चरित्र में

[तीनों के भेद]

मुए = भुव ज्ञान में

सामारण = सामायिक चरित्र में

[उपसंहार]

तिह = तीन

गुत्तीण = गुहियों की

चउण्ह = चार

कमायाण = कथाओं के निषेधों की

पचउह = पंच

महवयाण = महाव्रतों की

छउह = छह

वीवनिक्कायाण = वीवनिक्कायों की

उचण्ह = सात

दिहेमणाण = विषद्वैराग्यों की

अण्ह = आठ

प्रवचणमाऊण = प्रवचन माताओं की	जं = जो
नवरहं = नौ	खंडियं = खण्डना की हो
ग्रंभचेरगुत्तीण = ब्रह्मचर्य गुप्तियोंकी	जं = जो
दसविहे = दश-विध	विराहियं = विराधना की हो
समणधम्मे = श्रमणधर्म में के	तस्स = उसका
समणाण = श्रमण सम्बन्धी	दुक्कडं = पाप
जोगाण = कर्तव्यों की	मे = मेरे लिए
	मिच्छा = मिथ्या हो

भगवाथ

मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अर्थात् श्रुतधर्म और सामायिक धर्म के विषय में, मैंने दिन में जो कायिक, वाचिक तथा मानसिक अतिचार = अपराध किया हो; उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

वह अतिचार सूत्र से विरुद्ध है, मार्ग = परंपरा से, विरुद्ध है, कल्प = आचार से विरुद्ध है, नहीं करने योग्य है, दुर्भ्यानि - आर्तप्लान रूप है, दुर्विचिन्तित = रौद्रध्यान रूप है, नहीं आचरने योग्य है, नहीं चाहने योग्य है, संक्षेपमें साधु-वृत्ति के सर्वथा विपरीत है—साधु को नहीं करने योग्य है।

तीन गुप्ति, चार कथायों की निवृत्ति, पाँच महाव्रत, छह पृथिवी, जज्ञ आदि जीवनक्रियाओं की रक्षा, सात पिण्डपूजा, आठ प्रवचन माता, नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति, दशविधश्रमण धर्म के श्रमणसम्बन्धी कर्तव्य, यदि खण्डित हुए हों अथवा विराधित हुए हों तो वह सब पाप मेरे लिए निष्फल हो।

विवेचन

मनुष्य देव भी है और गन्तव्य भी। देव, योंकि यदि वह सदाचार के मार्ग पर चले तो अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है, आस-पास के देश, जाति और समाज का कल्याण कर सकता है; यदि और

आगे बढ़े तो विश्व का कल्याण कर सकता है। नरक के समान दुःसाकुल संसार को स्वर्ग में परिणत कर देना उसके दायें दाय का सेन है।

शब्दस, वों कि यदि वह दुष्टाचार के कुमार्ग पर चले तो अग्नी भी शान्ति गोना है, दूमरों की भी शान्ति गोना है, और संसार में सब और आदि आदि मचा देना है। स्वर्ग के समान सुखी संसार को गिरन नरक की घोर यन्त्रयात्रों में पटक देना, उसका साधारण-सा हँसी खेल है।

मनुष्य के पास उसे देव और गन्धर्व जानने के लिए तीन महान् शक्तियाँ हैं—मन वचन, और शरीर। इनके दम पर वह मन्त्रा दुग को बाँधे कर सकता है। उक्त तीनों शक्तियों को विश्व के कल्याण में लगाया जाय तो उपर वारा न्यास है; और यदि अराध्याचार में लगा दिया जाय तो उपर सपाचट मैदान है। मनुष्य का भविष्य इन्हीं के अन्धेष्टेष्टे पन पर उना विगडा करता है। अतएव धर्मशास्त्रज्ञों ने जगह जाह इन पर अधिक से अधिक नियन्त्रण रखने का जोर दिया है।

माधु मुनिराज स्वर्गोद्धारक के रूप में संसार के रंगमंच पर अग्नीरों होते हैं; अतः उन्हें तो पद-पद पर मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ चेष्टाओं का ध्यान रखना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में जरा सी भी लापरवाही भयकर पतन के लिए हो सकती है। अस्तु, प्रस्तुत पाठ में इन्हीं तीनों शक्तियों से दिन रात में होने वाली भूचों का परिमात्रन किया जाता है और भविष्य में अधिक सावधान रहने की मुटङ्क शरणा देनाई जाती है।

यद प्रतिममण का प्रारम्भिक सामान्य भूत है। इसमें चक्षुर से आचार-विचार-सम्बन्धी भूचों का प्रतिममण किया जाता है। अगले पाठों में जो विन्तून प्रतिममण किया होने वाली हैं, उनकी यहाँ मात्र आधार शिला रखी गई है।

मग्नति, सूत्र में आए हुए कुछ विशेष शब्दों का स्वीकरण किया

जाता है। क्योंकि पारिभाषिक शब्दों का केवल शब्दार्थ के द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता।

उत्सुत्र

उत्सुत्र का अर्थ सूत्र-विरुद्ध आचरण है। सूत्र-मूल आगम को कहते हैं। वह अर्थों की सूचना करता है, अतः सूत्र कहलाता है। 'अर्थ-सूचनात्सुत्रम्'—वृहत्कल्प प्रथम उद्देश की मलयगिरि टीका। अथवा 'उत्सुतो' का संस्कृत रूप उत्सूक्त भी बनाया जाता है। सूक्त का निर्वचन है—अच्छीतरह कहा हुआ शास्त्र—'सुष्ठु उक्तमिति।' सूक्त-विरुद्ध उत्सूक्त होता है।

उन्मार्ग

उन्मार्ग का अर्थ है मार्ग के विरुद्ध आचरण करना। हरिभद्र आदि प्राचीन-टीकाकार ज्ञायोपशमिक भाव को मार्ग कहते हैं, और ज्ञायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में संक्रमण करना उन्मार्ग है। चारित्रावरण कर्म का जब ज्ञायोपशम होता है, तब चारित्र का आविर्भाव होता है। और जब चारित्रावरण कर्म का उदय होता है तब चारित्र का घात होता है। अतः साधक को प्रतिक्षण उदयभाव से ज्ञायोपशमिक भाव में संचरण करते रहना चाहिए।

उन्मार्ग का अर्थ, परंपरा के विरुद्ध आचरण करना भी किया जाता है। मार्ग का अर्थ परंपरा है। पूर्व-कालीन त्यागी पुरुषों द्वारा चला आने वाला पवित्र कर्तव्य-प्रवाह मार्ग है। 'मग्गो आगंसणीई, अहवा संविग्ग-बहुजणाइएण'—धर्मरत्न-प्रकरण।

अकल्प

चरण और करण रूप धर्म व्यापार का नाम कल्प है—आचार है। जो चरण करण के विरुद्ध आचरण किया जाता है, वह अकल्प है। चरण सत्तति और करण सत्तति का निरूपण परिशिष्ट में किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र

वहाँ ज्ञान से सम्पन्न ज्ञान का ग्रहण है, और दर्शन तथा चारित्र से

सम्पद् दर्शन एवं सम्पक् चारित्र्य का । यह जैन धर्म का राजमय रूप मोक्षमार्ग है । 'सम्पद् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य मोक्षमार्ग' । धी उमा-स्वाति रचित तत्त्वार्थसूत्र १ । १ ।

मूल में सम्पद् शब्द का उल्लेख नहीं है । परन्तु केवल, ज्ञान शब्द भी कुज्ञान का निरोधी होने से अपने अंदर सम्पक्त्व लिए हुए है । इसी प्रकार दर्शन, कुदर्शन की व्यावृत्ति करता है और चारित्र्य, कुचारित्र्य की ।

मूल पाठ है 'माणे सह दंदणे चरित्ते' । परन्तु आचार्य हरिभद्र ने यहाँ सह शब्द का उल्लेख नहीं किया है ।

भुत

भुत का अर्थ भुतज्ञान है । नीतयम तीर्थेकर देव के श्रीमुख से सुना हुआ होने से आगम साहित्य को भुत कहा जाता है । भुत, यह अन्य ज्ञानों का उपलक्षण है, अतः यह भी प्राज्ञ है । भुत का अविचार है-विपरीत भद्रा और विपरीत प्रवृत्ति ।

सामायिक

सामायिक का अर्थ समभान है । यह दो प्रकार से माना जाता है—सम्पक्त्व रूप और चारित्र्य रूप । चारित्र्य पौंच महाव्रत, पौंच समिति, तीन गुणि आदि है । और सम्पक्त्व जिन परवृत्ति सत्य-मार्ग पर भद्रा है । इसने दो भेद हैं—निर्माण और अभिगम्य । सामायिक में सम्पक्त्व और चारित्र्य दोनों का अन्तर्भाव होने से यह आक्षेप दूर हो जाता है कि—यहाँ ज्ञान और चारित्र्य के माध्य सम्पद् दर्शन का उल्लेख क्यों नहीं किया गया ?

चार कपाय

चार कपाय का वर्णन आगे कपादसूत्र में आने वाला है । यहाँ केवल इतना ही उक्त है कि—मूल-पाठ 'चउपहं कसायाण' है जिसका 'अं सदिषं अं विराहिषं' के साथ योग होने पर अर्थ होता है—यदि चार कपायों का संयोजन किया हो तो मिच्छानि दुक्कडं । आ

वेचन में होंगे, यह क्या उलटा अर्थ है ! कपायों का खण्डन तो इष्ट ही होता है, फिर अतिचार कैसा ? शंका सर्वथा उचित है । अतएव यहाँ 'कपाय' शब्द लक्षणा के द्वारा कपाय-निवृत्ति रूप माना जाता है । अतएव कपाय-निवृत्ति में यदि कहीं दुर्बलता की हो तो उस अतिचार की शुद्धि की जाती है । इसी प्रकार पञ्जीवनिकाय की भी पञ्जीवनिकाय के रक्षण में लक्षणा है ।

सात पिण्डैपणा

दोष-रहित शुद्ध प्रासुर अन्न जल ग्रहण करना 'एपणा' है । इसके दो भेद हैं—पिण्डैपणा और पानैपणा । आहार ग्रहण करने को पिण्डैपणा कहते हैं, और पानी ग्रहण करने को पानैपणा । पिण्डैपणा के सात प्रकार हैं:—

(१) असंसृष्टा = असंसृष्टा—देय भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना ।

(२) संसृष्टा = संसृष्टा—देय भोजन से सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना ।

(३) उद्धडा = उद्धृता—बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने अग्रने लिए जो भोजन निकाल रखा हो, वह लेना ।

(४) अप्लेवा = अप्लेपा—जिसमें चिकनाहट न हो, अतएव लेना न लग सके, इस प्रकार के भुने हुए चणे आदि ग्रहण करना ।

(५) अवगहीत्रा = अवगृहीता—भोजनकाल के समय भोजन-कर्त्ता ने भोजनार्थ थाली आदि में जो भोजन परोस रखा हो, किन्तु अभी भोजन शुरू न किया हो वह आहार लेना ।

(६) पगहीत्रा = प्रगृहीता—थाली आदि में परोसने के लिए चम्मच आदि से निकाला हुआ, किन्तु थाली में न डाला हुआ, बीच में ही ग्रहण कर लेना । अथवा थाली में भोजन कर्त्ता के द्वारा हाथ आदि से प्रथम बार तो प्रगृहीत हो चुका हो, पर दूसरी बार प्राप्त लेने के कारण झूठा न हुआ हो, वह आहार लेना ।

(७) उन्मिषधर्मा = उन्मिषधर्मा—जो आहार अधिक होने से प्रथम अन्य किसी कारण से फेंकने योग्य समझ कर डाला जा रहा हो, वह ग्रहण करना ।

आचार्य द्वितीय श्रुतस्मृत्य विरुद्धेषां अध्ययन में तथा स्थानाग्नयन में विरुद्धेषा का वर्णन आता है । यह उत्सृष्ट त्याग अग्न्या की निन्दा-सम्बन्धी भूमिमात्र है ।

आचार्य हरिभद्र पाठान्तर के रूप में 'सत्तण्ड विरुद्धेषाण' की जगह 'सत्तण्ड पाण्डेषाण' का उल्लेख भी करते हैं । ये मात्र पानैषणा विरुद्धेषा न समान ही हैं । 'सत्ताना पानैषणानाम् केचित् पठन्ति । ता अग्नि चैवभूता एव ।' —आचार्य हरिभद्र ।

आठ प्रवचन-माता

प्रवचन-माता, पाँच समिति और तीन गुप्ति का नाम है । प्रवचन-माता इनलिख कहते हैं कि द्वादशांग वाणी का जन्म इन्हीं से हुआ है । 'अर्थात् स पूर्ण' जैन वाङ्मय की आधार-भूमि पाँच समिति और तीन गुप्ति ही है । माता के समान साधक का हित करने के कारण भी इनको माता कहा जाता है । इनका विराट् वर्णन आगे यथास्थान किया जाने वाला है । दशविध अमर धर्म में आमर्य योग

अमर्य, साधु को कहते हैं । उसका ज्ञान्ति, मुक्ति आदि दशविध धर्म—विसर्ग वर्णन आगे किया जाने वाला है—अमर्यधर्म कहलाता है । दशविध अमर्यधर्म में आमर्य योग क्या है ? इसके लिए यह मत है कि अमर्य-सम्बन्धी योग = कर्तव्य को आमर्य योग कहते हैं । दशविध अमर्य धर्म में अमर्य का क्या कर्तव्य है ? कर्तव्य यह है कि घृणा आदि दश विध अमर्य धर्म का सम्यक् रूप से आचरण करना चाहिए, सम्यक् भक्षण = विश्राम रखना चाहिए और यथावसर मन्त्र्य प्रक्षरण = प्रतिपादन भी करना चाहिए । आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'आमर्ययोगानाम् = सम्यक् प्रतिसेवन-भक्षण-प्रक्षरण-क्षानां यत्प्रसिद्धम् ।'

खण्डित, विराधित

‘जं खंडियं जं विराहियं’ में जो खण्डित और विराधित शब्द आए हैं, उनका कुछ विद्वान यह अर्थ करते हैं कि—‘एकदेशेन खण्डना’ होती है और ‘सर्वदेशेन विराधना’ । परन्तु यह विराधना वाला अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता । यदि व्रत का पूर्णरूपेण सर्वदेशेन नाश ही हो गया तो फिर प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्धि किसकी की जाती है ? जब चक्षु नष्ट ही हो गया तो फिर उसके धोने का क्या प्रयत्न ? वास्तविक अर्थ यह है कि—अल्पांशेन खण्डना होती है और अधिकांशेन विराधना । अधिकांश का अर्थ अधिक मात्रा में नाश होना है, सर्वांश में पूर्णतया नाश नहीं । अधिकांश में नाश होने पर भी व्रत की सत्ता बनी रहती है, एकान्ततः अभाव नहीं होता, जहाँ कि—‘मूलं नास्ति कुतः शाखा’ वाला न्याय लग सके । आचार्य हरिभद्र भी इसी विचार से सहमत हैं—‘विराधितं सुतरां भग्नं, न पुनरेकान्ततोऽभावापादितम् ।’

प्रस्तुत सूत्र में ‘जं खंडियं जं विराहियं तस्स’ तक अतिचारो का क्रियाकाल बतलाया गया है; क्योंकि यहाँ अतिचार किस प्रकार किन व्रतों में हुए—यही बतलाया है, अभी तक उनकी शुद्धि का विधान नहीं किया । आगे चलकर ‘मिच्छामि दुक्कडं’ में अतिचारों का निष्ठा-काल है । निष्ठा का अर्थ है यहाँ समाप्ति, नाश, अन्त । हृदय के अन्तस्तल से जब अतिचारों के प्रति पश्चात्ताप कर लिया तो उनका नाश हो जाता है । यह रहस्य ध्यान में रखने योग्य है ।

जैनधर्म दिवाकर पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज अपने साधु-प्रतिक्रमण में ‘तस्स मिच्छामि दुक्कडं’ से पहले ‘जो मे देवसिओ अइयारो कओ’ यह अंश और जोड़ते हैं; परन्तु यह अर्थ-संगति में ठीक नहीं बैठता । सूत्र के प्रारंभ में जब ‘जो मे देवसिओ अइयारो कओ’ एक बार आ चुका है, तब व्यर्थ ही दूसरी बार पुनरुक्ति क्यों ? आचार्य हरिभद्र आदि भी यह अंश स्वीकार नहीं करते ।

: ७ :

ऐर्यापथिक-सूत्र

इच्छामि प्रडिक्कमिउं
इरियावहियाए विराहणाए
गमणागमणे पाणक्कमणे
वीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे,
ओसा-उत्तिग-पण्ण-दग्ग-
मट्ठी-मक्कडा-संताणा-संकमणे,
जे मे जीवा विराहिया,
एगिंदिया, तेइंदिया,
तेइंदिया, चउरिंदिया,
पंचिंदिया
अभिहया, वत्तिया
लेसिया, संघाइया
संघट्टिया,
परियाविया, किलामि

उद्दमिया,
 ठाणाओ ठाणं मंझमिया,
 जोरियाओ बरोरिया,
 तस्म
 मिच्छा मि दुस्कडं ।

शब्दार्थ

इच्छामि = चाहता हूँ ।

पटिकमिडं = प्रतिप्रमण करना,
 निवृत्त होना

(किस से ?)

हरियावहियाए = वेर्यापमिकसम्भवी
 निरादयाए = विराधना से हिंसा से
 (विराधना किस तरह होती है ?)

गमणागमणे = मार्ग में जाते, आते
 पाणकमणे = प्राणियों को कुच
 खने से

वीयकमणे = बीजों को कुचखने से
 हरियकमणे = हरित वनस्पति को
 कुचखने से

आमा = भोस को

उत्तिग = कीदीनाल या कीदी
 आदि के बलको

पणग = सेवाल, काई को

दग = सचित्त जल को

मटगी = सचित्त पृथ्वी को

मकहा स ताणा = मकड़ी के जालों
 को

संक्रमणे = कुचखने से, मसलने से
 जे - जो श्री

मे = मैंने

जीग = जीव

निरादिया = विराधित किए हों

(कौन और विराधित किए हों ?)

एमिदिया = पंचेन्द्रिय

वेर दिया = ह्रीन्द्रिय

तेर दिया = श्रीन्द्रिय

चउरिदिया = चतुरिन्द्रिय

पचिदिया = पंचेन्द्रिय

(निराधना के प्रकार)

अभिहता = सम्मुख आते हुए
 रोके हों

वतिया = धूलि आदि से ढाँपे हों

लेसिया = भूमि आदि पर मसले हों

संघाद्व्या = इकट्ठे कर पीड़ित किए हों	संक्रामिया = संक्रामित किए हों
मंघट्टिया = छू कर पीड़ित किए हों	जीवियाओ = जीवन से ही
परिताविया = परितापित किए हों	ववरोविया = रहित किए हों, मार डाले हों
किलामिया = अधमरे से किए हों	तस्स = तस्सम्बन्धी जो कुछ भी
उद्दविया = त्रस्त किए हों	दुक्कटं = दुष्कृत, पाप
ठाणाओ = एक स्थान से	मि = मेरे को लगा हो,
ठाण = दूसरे स्थान पर	मिच्छा = (वह सब) मिथ्या हो

भावाथे

प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, मार्ग में चलते हुए अथवा संयम धर्म का पालन करते हुए यदि असावधानता से किसी भी जीव की और किसी भी प्रकार की विराधना = हिंसा हुई हो तो मैं उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

(किन क्रियाओं से और किन जीवों की विराधना होती है ?)
मार्ग में कहीं गमनागमन करते हुए प्राणियों को पैरों के नीचे या और किसी तरह कुचला हो, सचित्त जौ, गेहूँ या और किसी भी तरह के बीजों को कुचला हो, दबाया हो। घास, शंकुर आदि हरित वनस्पति को मसला हो, दबाया हो। आकाश से रात्रि में गिरनेवाली ओस, चीटियों के धिल या नाल, पाँचों ही रंग की सेवाल—काई, सचित्त जल, सचित्त पृथ्वी और मकड़ी के सचित्त जालों को दबाया हो, मसला हो।

किं बहुना ? एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति) एकेन्द्रिय जीव, स्पर्शन और रसन दो इन्द्रिय वाले (कृमि, शंख, गिंडोआ आदि) द्वीन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन घ्राण तीन इन्द्रिय वाले (चींटी, मकौड़ा, कुंथुआ, खटमल आदि) त्रीन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु चार इन्द्रिय वाले (मक्खी, मच्छर

डॉस बिच्छू, चाँचड़, टीड, पनाग आदि) चतुरिन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र उग्र पाँच इन्द्रिय वाले (मझली, मेंढक आदि सम्पूर्ण तथा गमज तिर्यंच मनुष्य आदि) पञ्चेन्द्रिय जीव, इस प्रकार किसी भी प्राणी की मैंने विराधना की हो ।

[किस तरह की विराधना की हो ?] सामने आते हुएों को रोक कर स्वतंत्र गति में बाधा डाली हो, पूर आदि से ढँके हों, भूमि आदि पर मसले हों, समूह रूप में हकट्टे कर एक दूसरे को आपस में टकराया हो, टूट कर पीड़ित किए हों, परित्यापित=दुःखित किए हों, मरण-तुल्य अधमरे से किए हों प्रसूत=समयीत किए हों, एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर रले हों-बदले हों, किं बहुना, प्राण से रहित भी किए हों, तो मेरा यह सब अतिचारान्वय पाप मिथ्या हो, निष्कल हो ।

विराधन

मानस-जीवन म गमनागमन का बहुत उदा महत्व है । यह वह क्रिया है, जो प्रायः सब क्रियाओं से पहले होनी है, और सर्वत्र होती है । निहार करना हो, गाँची जाना हो, शौच जाना हो, लघुशंका करनी हो, धूँकना हो, अर्थात् कुछ भी इधर-उधर का काम करना हो ता पहले गमनागमन की ही क्रिया होनी है । शरीर की जो भी शयन या कर्मन रूप क्रिया है, वह मत्र गमनागमन म सम्मिलित हो जाती है । अतएव प्रतिश्रमण साधना म सर्वप्रथम गमनागमन क प्रतिश्रमण का ही विधान किया गया है ।

जब तक यह शरीर चैतन्य-सत्ता से युक्त है, तब तक शरीर को मास पिँड बनाकर एक कोने म ता नहीं डाला जा सकता ? यदि कुछ दिन क लिए ध्यान लगाकर बैठे, योगसाधना की समाधि लगाते, तब भी किन्ने पिन के लिए ? भगवान् महावीर छंद छंद मास क जायागर्ग करके पथर की चपन की तरह नि शयन्द पड़े हा आते थे, परन्तु आतिर

वे भी तब के बाद भिक्षा के लिए जाते थे और दधर उधर विहार करते थे। साधक के लिए यह असंभव है कि वह सारा जीवन निराहार रहकर एक स्थान में निस्पन्द पड़ा हुआ प्रतिपल मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे। और इस प्रकार का निष्क्रिय एवं निर्माल्य-जीवन यापन करना, स्वयं अपने आप में कोई साधना भी तो नहीं है। तीर्थकर अरिहन्त आध्यात्मिक साधना के ऊँचे से ऊँचे शिखर पर पहुँचे हुए भी, केवल ज्ञान केवल दर्शन पाकर कृतकृत्य होते हुए भी, जनकल्याण के लिए कितना भ्रमण करते हैं? गाँव-गाँव और नगर-नगर घूम-घूम कर किस प्रकार सत्य की दुन्दुभि बजाते हैं? श्री राहुल सांकृत्यायन भगवान् महावीर को भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ घुमकड़राज कहते हैं। घुमकड़राज, अर्थात् घुमकड़ों का, घूमने वालों का राजा। बहुत दूर न जाकर संक्षेत्र में कहीं कि जय तक जीवन है, गमनागमन के बिना कैसे रहा जा सकता है? गृहस्थ हो, साधु हो, तीर्थकर हो, सबको गमनागमन करना ही होता है। गृहस्थ तो घर बँधकर बैठा है, वह तो एक गाँव में बँधकर बैठा भी रहे। परन्तु साधु के लिए तो चार मास वर्षावास को छोड़कर शेष आठ महीने का काल विहार-काल ही माना गया है। कुछ विशेष कारण हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा सशक्त साधु के लिए शेष काल में विहार करते रहना आवश्यक है। यदि प्रमादवश विहार न करे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है। जैन धर्म में साधु के लिए मठ बँधकर बैठ जाना, सर्वथा निषिद्ध है। उसके लिए तो घुमकड़ी भी साधना का एक अंग है, अनासक्त जीवन की एक कमौठी है। वह साधु ही क्या जो घुमकड़ न हो। घुमकड़ साधु का जीवन निर्मल रहता है, विकारों में नहीं उलंभता है। उसे गंगा की धार की तरह बहते ही रहना चाहिए। बहती धार ही निर्मल रह सकती है। कहा है—'साधु तो रमता भला, पड़ा गँधीला होय।'

अब प्रश्न यह है कि गमनागमन की क्रिया में तो पाप लगता है, अतः साधु के लिए गमनागमन, विहारचर्या कैसे विहित हो सकती

है ? जिस क्रिया में पाप लगना हो, वह तो माधु को नहीं करनी चाहिए ?

उत्तर में निवेदन है कि जैनधर्म उपयोग का धर्म है, यतना का धर्म है । यहाँ गमनागमन, भोजन, भाषण आदि के रूप में जो भी क्रियाएँ हैं, उन सब में पाप बताया है । परन्तु वह, प्रमाद अवस्था में होता है । अप्रमत्त दशा में रहते हुए कोई पाप नहीं है । साधक यदि असावधान है, निवेकहीन है, राग द्वेष की परिणति में जँसा है, यतना का कुछ भी विचार नहीं रखता है, तो वह पाप-कर्म का बन्ध करता है । वह कोई क्रिया करे या न करे, उसका पाप लगता ही रहता है । कर्त्तव्यविधि प्रति उपेक्षा, अविवेक और प्रमाद अपने आप में स्वयं एक पाप है । और वह पाप ही है, जो क्रियाओं को पाप के रंग से रँगता है । यदि साधक अप्रमत्त है, निवेकशील है, यतना का विचार रखता है, समय की साधना में सतत जाग्रत रहता है, वह यदि कोई प्रवृत्ति करता भी है तो वह जाग्रत रहकर करता है, अतः उसे किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है । पाप या दोष क्रियाओं में नहीं, क्रियाओं की पृष्ठ भूमि में रहने वाले कारणात्मिक भाव में है, प्रमाद भाव में है । इसके लिए मैं कुछ प्राचीन उद्धरण आपके सामने रख रहा हूँ ।

भगवान् महावीर कहते हैं—

‘पमार्थं कम्ममाईसु

अण्णमार्थं तहावरं ।’

(सुनहृताग सूत्र ८।३)

—प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है, कर्म का अभाव है ।

‘जयं चरे जयं चिट्ठे,

जयमासे जयं सए ।

जयं भुजंतो भासंतो,

पाव-कृम्मं न बंधइ ॥'

(दशवै० ४ । ८)

—जो माधक यतना से चलता है, यतना से खड़ा होता है, यतना से बैठता है, यतना से मोता है, यतना से भोजन करता है और दोलता है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करना है ।

आचार्य शीलांक कहते हैं:—

‘अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वाद् अवन्यक्त एव ।’

(सूत्रकृतांगटीका १ । १ । २ । २६)

—जब माधक उपयोगपूर्वक चलता है, तब वह चलता हुआ भी अप्रमत्त भाव में है, अतः अवन्यक्त होता है ।

जैन संस्कृति में साधु के गमनागमन के लिए ईर्यासमिति शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है गमनागमन में सम्यक् प्रवृत्ति । यह समिति संवर है, पापाश्रव को रोकने वाली है, कर्मों की निर्जरा का कारण है, अपने आप में धर्म है । यहाँ निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति होती है, अतः असत्क्रिया का त्याग और सत् क्रिया का स्वीकार ही जैनधर्म की प्रवृत्ति का प्राण है ।

जैन-धर्म के आचार्यों का हजार-हजार वर्षों से सुनाया जानेवाला यह अमर स्वर क्या कभी मिथ्या ठहराया जा सकता है ? और क्या इसके रहते हुए जैन धर्म को अव्यवहार्य और उपहासास्पद बताया जा सकता है ? क्या अब भी विवेकानन्दजी का यह कहना सत्य है कि ‘जैन धर्म के लोग प्रवृत्ति से इतना घबराते हैं, कि लंबे-लंबे उपवासों के द्वारा अपना शरीर त्याग देते हैं ?’ यदि ये सब लोग जैन धर्म की यतना को समझते होते, अप्रमत्त भाव के विचार पर लक्ष्य देते होते तो क्या उपर्युक्त भ्रान्त-भावना व्यक्त करते ? जैन-धर्म का हृदय यतना है ।

यदि यत्ना है तो धर्म है, धर्म की गला है, तब है, सब प्रकार का सुख तथा आनन्द है। यत्ना पूर्णक उत्तिष्ठ प्रवृत्ति के क्षेत्र में तब का प्रवेश नहीं है। एक जैनानार्थ कहना है—

जयसेह धम्म-लक्षणी,

जयसा धम्मम्म पालिणी चर ।

तव - बुद्धिकरी जयसा,

एगंत - मुहावहा जयसा ॥

—यत्ना धर्म की जननी है, और यत्ना ही धर्म का रक्षण करने वाली है। यत्ना से तब की अभिवृद्धि होती है और वह एकान्त रूप में सुखापद = सुख देने वाली है।

अब प्रश्न यह है कि जब मानु गमन करता है, तब अप्रमत्त भाव के कारण उसे पाव तो लगता नहीं है, फिर वह ईर्ष्याधिक विषा का प्रतिक्रमण क्यों करता है? प्रत्युत ईर्ष्याधिक प्रतिक्रमण-पाठ की क्या आवश्यकता है?

समाधान है कि साधारण मनुष्य आखिर मनुष्य है, भूल का पुतना है। वह कितनी ही क्यों न सावधानी रखे, आखिर कभी न कभी लक्ष्य च्युत हो ही जाता है। जबतक मनुष्य पूर्ण सर्वज्ञ-बुद्ध का अधिकारी नहीं हो जाता, जबतक वह आध्यात्मिक उत्थान के पथ पर-अप्रसर होता हुआ, पूरी-पूरी सावधानी से कदम रखता हुआ भी, कभी छोटी-मोटी स्वल्पानार्थ कर ही बैठता है। लक्ष्य अस्थायी में 'मे पूर्ण' शुद्ध हूँ वह दावा करना सर्वथा अज्ञानता पूर्ण है, भ्रष्टता का सूचक है।

अतएव जानते या अजानते जो भी दूषण लगे, उन सबका प्रति क्रमण करना और मग्निय में अविकाधिक सावधानी से रहकर पापों से बचे रहने का हृदय सकारण गम्भिरा, प्रत्येक संयमी मुमुक्षु का आवश्यक कर्तव्य है। दोनों को स्वीकार कर लेना, अपने से थोड़ा पाए जीनों से

जमा माँग लेना, पाप कार्य के प्रति अन्तर्हृदय से घृणा व्यक्त करना, और उचित प्रायश्चित्त ले लेना ही आत्म-विशुद्धि का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

प्रस्तुत पाठ के द्वारा यही उपर्युक्त आत्म-विशुद्धि का मार्ग बताया गया है। जिस प्रकार वस्त्र में लगा हुआ दाग क्षार तथा साबुन से धोकर साफ किया जाता है, वस्त्र को स्वच्छ तथा श्वेत कर लिया जाता है, उसी प्रकार गमनागमनादि क्रियाएँ करते समय अशुभयोग, मन की चंचलता, अज्ञानता, या अविवेक आदि के कारण से पवित्र संयम-धर्म में किसी भी तरह का कुछ भी पापमल लगा हो, किसी भी जीव को किसी भी तरह का कष्ट पहुँचाया हो, तो वह सब पाप इस पाठ के पश्चात्तापमूलक चिन्तन द्वारा साफ किया जाता है, अर्थात् ऐर्यापथिक आलोचना के द्वारा अपने संयम-धर्म को पुनः स्वच्छ कर लिया जाता है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में 'पंच प्रतिक्रमण' के भाष्यकार श्रोतुत प्रभुदासजी ने लिखा है कि ऐर्यापथिक क्रिया तेरहवें गुणस्थान में अरिहन्त केवलज्ञानियों को भी लगती है, अतः वे भी ऐर्यापथिक क्रिया से लगे कर्म को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण करते हैं।

परन्तु बहुत कुछ विचार-विमर्श करने के बाद भी यह सिद्धान्त में नहीं समझ सका। यह ठीक है कि तेरहवें गुणस्थान में भी ऐर्यापथिक क्रिया लगती है और उससे केवल सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध केवल योग-परिस्पन्दन के कारण होता है, कषाय एवं प्रमाद तो वहाँ-ही ही नहीं। कर्म का स्थितिबन्ध तो कषाय-एवं प्रमाद के द्वारा ही होता है। अतः कषाय-रहित अप्रमत्त दशा में योग-परिस्पन्द रूप ऐर्यापथिक क्रिया से, पहले समय में कर्म बँधता है, दूसरे समय में उसका वेदन होता है और तीसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है। इसके बाद वह कर्म अकर्म हो जाता है। अत्र विचार कीजिए कि जो कर्म समयमात्र

ही वेदनमाल में रहा है, उमरा प्रणिमल केने होगा । पाठादि के गुण व्यनहार में ता अमरुन समर लग जाते हैं, तय तर तो यद यम, अरुम ही ॥ गया, आत्मा पर लगा ही न रहा । अतः बीतराग अर्हन्त केरलगन दशा में, अशुभ योग से शुभ योग में लौटने का ऐरांगिक प्रनिकमल, केसे हो सकता है ? हाँ, व्यनहार रत्ता के लिए यहा आव तो नन दूमरी है । इस पर भी निशानों को निचार करने की अपेक्षा है, क्योकि वे कुरुगतीन अवस्था में हैं । अतः व्यर्थ के व्यनहार से वैध हुर नही है ।

यह तो हुआ ऐरांगिक आलाचना का निशान । अत दुध मूल पाठ पर निवेदन करना है । पदला प्ररन नाम का ही है कि प्रस्तुत पाठ का ऐरांगिक क्या कहते हैं ? आचार्य नधि का ममाधान है कि ईरण = ईयां, गमनमित्थये । उग्रप्रधान. पन्था ईयांपिप, तप्रभवा ऐयांपिपि ।' अर्थात् ईयां का अर्थ गमन है, गमन प्रधान जो यथ = मार्ग, यह ईरांग्य कहलाता है । और ईरांग्य में होने वाली निपा ऐरांगिकि निपा होती है । मार्ग में इधर उधर आते जाते जो निपा होती है, यह ऐरांगिकि कहलाती है । आचार्य हेमचन्द्र अपने योग शास्त्र की स्वोच्छृति में ईरांग्य का अर्थ थोड़ा आचार करते हैं, और उहमें गमनागमनादि के कारण अभावधानता से जो दूषणरूप निपा हो जाती है, उसे ऐरांगिकि कहते हैं—'ईयांपिपः साप्ताचारः उग्रभवा ऐयांपिपि ।' अस्तु, उक्त ऐरांगिकि निपा की शुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्तरूप सूत्र बोधा आता है, वह भी ऐरांगिकि सूत्र कहलाता है ।

प्रस्तुत सूत्र एक गम्भीर निचार हमारे समक्ष रखता है । यह यह कि निमी बीन को धार देना ही, प्राणरहित कर देना ही, हिमा नहीं है । प्रस्तुत सूत्र या स्थूल बीन को निसी भी सूक्ष्म या स्थूल चेष्टा के माध्यम से, निसी भी प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल पीडा पहुँचाना भी हिमा है । आपस में टफणना, ऊपर तले इकठ्ठे कर देना, धूल आदि डालना, भूमि पर ममलना, टोकर लगाना, स्वान्त्र्यगति में दमावट

डालना, एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर बदलना, भयभीत करना, और तो क्या छूना भी हिंसा है। जैनधर्म का अहिंसा-दर्शन कितना सूक्ष्म है ! वह हिंसा और अहिंसा का विचार करते समय केवल ऊपर-ऊपर ही नहीं तैरता, अपितु गहराई में उतरता है।

जीव हिंसा का आगमों में, वैसे तो बहुत बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। परन्तु इतने विस्तार में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है। संक्षेप में ही अहिंसा के मूल-रूप कितने होते हैं ? केवल यह बता देना ही आवश्यक है।

सर्व प्रथम जीव-हिंसा के तीन रूप होते हैं—संरंभ, समारंभ, और आरंभ।

संरंभ—जीवों की हिंसा का संकल्प करना।

समारंभ—जीवों की हिंसा के लिए साधन जुटाना, प्रयत्न करना।

आरंभ—जीवों को किसी भी तरह का आघात पहुँचाना, घात कर डालना।

उक्त तीनों को क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों से गुणित करने पर $4 \times 3 = 12$ होते हैं। इन बारह भेदों को मन, वचन, काय रूप तीन योगों से गुणन करने पर ३६ भेद होते हैं। इन ३६ भेदों को कृत = करना, कारित = कराना, अनुमोदना = समर्थन करते हुए को अच्छा समझना, इन तीन से गुणन करने पर जीवाधिकरणी हिंसा के १०८ भेद बन जाते हैं। अहिंसा-महाव्रत के साधकों को पूर्ण अहिंसा के लिए इन सब हिंसा के भेदों से बचकर रहने की आवश्यकता है।

मूल पाठ में हिंसा के भेद बताते हुए कहा है कि जीवों को छूना भी हिंसा है, जीवों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदलना भी हिंसा है। इस सम्बन्ध में प्रश्न है कि कोई दुर्बल अंग पीड़ित जीव कहीं धूप या सरदी में पड़ा छुटपटा रहा है, मृत्यु के मुख में पहुँच रहा है तो क्या उसे छूना और दुःखप्रद स्थान से सुख प्रद स्थान में

उदलना भी हिंसा ही है ? यदि वह भी हिंसा ही है तो फिर दया और उपकार के लिए स्थान ही कहाँ रहेगा ?

उत्तर में निवेदन है कि मूल पाठ के स्थूल शब्दों पर दृष्टि न करवा कर भाव के गाम्भीर्य में उतरिए और शब्दों के पीछे रही हुई भाव की पृष्ठभूमि टटालिए । हिंसा के भाव से, कृपा का भाव से, निर्दयता के भाव से यदि किसी जीव को छुआ था या छुआ जा रहा था, तो तो हिंसा होती है । परन्तु यदि दया के भाव से रक्षा के भाव से किसी को छुना और अन्यत्र उदलना हो तो वह हिंसा नहीं है, अर्थात् सखर और निर्जरा रूप धर्म है । निया के पीछे भाव की देखना आवश्यक है । अन्यथा निर्यहीनता और जड़ता का राज्य स्थापित हो जायगा । साधक कहाँ का भी न रहेगा । यदि कोई चौंकी आदि जीव साधु के पात्र में गिर जाय तो क्या उसे छूएँ नहीं ? और अन्यत्र सुगन्धित स्थान में उदले नहीं ? यदि ऐसा करे तो क्या हिंसा होगी ? आप उत्तर देंगे, नहीं होगी ? क्या नहीं ? तो आप फिर उत्तर देंगे—‘क्योंकि कष्ट पहुँचाने का दुःसंकल्प नहीं है, अर्थात् रक्षा करने का परिणाम कल्याण है ।’ अतः इसी प्रकार जीव-दया के नाते जीवों को छूने और उदलने में रहे हुए अहिंसा दृष्टि की भी सम्मति लेना चाहिए ।

प्रस्तुत सूत्र के मुख्य रूप से तीन भाग हैं । ‘इच्छामि पटिकमिड इतिवावद्विषाय विराहयाप’ यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञा सूत्र है । इसमें गुरुदेव से ऐश्वर्यमय प्रतिजमण की आज्ञा ली जाती है । ‘इच्छामि’ शब्द से ज्ञात होता है कि साधक पर गहरा का कोई दयालु नहीं है, वह अपने आप ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिजमण करना चाहता है और इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा माँग रहा है । प्रायश्चित्त और दण्ड में यही तो भेद है । पार्श्वभित में अमराधी की दण्डा राज्य ही अपराध को स्वीकार करने और उसकी शुद्धि के लिए उचित प्रायश्चित्त लेने की होती है । दण्ड में दण्ड के लिए कोई स्थान नहीं है । वह तो मलात् हो जाता । दण्ड में दण्ड मुख्य है । अब प्रायश्चित्त जहाँ अमराधी

श्री आत्मा को ऊँचा उठाता है, वहाँ दण्ड उसे नीचे गिराता है। सामाजिक व्यवस्था में दण्ड से भले ही कुछ लाभ हो। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। यहाँ तो इच्छापूर्वक प्रसन्नता के साथ गुरुदेव के समस्त पहले पापों की आलोचना करना और फिर उसका प्रतिक्रमण करना, जीवन की पवित्रता का मार्ग है।

हाँ, जिन दूसरे पाठों में 'इच्छामि पडिक्कमिडं' न होकर केवल 'पडिक्कमामि' है, वहाँ पर भी 'पडिक्कमामि' क्रिया के गर्भ में 'इच्छामि' अवश्य रहा हुआ है। पडिक्कमामि का भावार्थ यही है कि 'मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् मैं अब प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, अतएव गुरुदेव ! आज्ञा दीजिए।'।

'गमणागमणे' से लेकर 'जीवियाओ ववरोविया' तक का अंश आलोचना-सूत्र है। आलोचना का अर्थ है—गुरुदेव के समस्त स्पष्ट हृदय से व्योरेवार अपराध का प्रकटीकरण, अर्थात् प्रकट करना। यह अंश भी कितना महत्त्वपूर्ण है ! अपने आप अपनी भूल को स्वीकार करना, साधारण बात नहीं है। साहसी वीर पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं। जब लजा और अहंकार के दुर्भाव को छोड़ा जाता है, प्रतिष्ठा के भय को भी दूर हटा दिया जाता है, आत्मशुद्धि का पवित्र भाव हृदय के कण-कण में उभर आता है, तब कहीं आलोचना होती है। आलोचना का साधना के क्षेत्र में बहुत बड़ा महत्त्व है।

इसके आगे 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' का अन्तिम अंश आता है। यह अंश प्रतिक्रमण सूत्र कहलाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—'मिच्छामि दुक्कडं' देना, अपराध के लिए क्षमा माँग लेना। जैनधर्म में आलोचना और प्रतिक्रमण, दश प्रायश्चित्त में से प्रथम के दो प्रायश्चित्त माने गए हैं।

इसीप्रकार अन्य प्रतिक्रमण के पाठों में भी उक्त तीन अंशों का परिज्ञान कर लेना चाहिए।

नून नून में 'उत्तिग' शब्द आया है, उसका अर्थ चींटियों का नाल या चींटियों का बिल किया है। आचार्य हरिभद्र 'गर्दभ की आकृति के जीव विशेष' अर्थ भी करते हैं। 'उत्तिगा गर्दभाकृतयो जीवा, कीटिकानगराणि वा।' आचार्य जिनदास महत्तर के उल्लेख से मालूम होता है कि यह भूमि में गड्ढा करने वाला जीव है, अतः सम्भव है, यह आज की भाषा में 'घुम्पू' हो। 'उत्तिगा नाम गर्दभाकृति जीवा, भूमीषु गड्ढयं करोति'—आचार्यक श्रुति।

'दग-महि' का अर्थ जल और पृथ्वी किया है। आचार्य हरिभद्र भी उक्त-शून के दोनों शब्दों को भिन्न भिन्न मान कर जल और पृथ्वी अर्थ करते हैं। परन्तु वे 'दग महि' शब्द को एक शब्द भी मानते हैं और उसका अर्थ करते हैं—'चिरपल अर्थात् कीचड़।' 'दकमृत्तिका चिरमलं, अथवा दकमदृशादपकायः, मृत्तिकाग्रहणादपृथ्वीकायः।'।

आचार्य हरिभद्र ने अभिहवा का अर्थ किया है—'अभिमुखागता हवा चरणेन पट्टिताः, उत्प्लव्य विता वा।' इगका भाष है—'वेर से दोहर लगाना, या उठाकर फेंक देना।'।

'वर्तिषा' का अर्थ—पुनः बनाना भी किया है। 'वर्तिताः पुन्री हताः, पुनरा वा स्थगिताः' आचार्य हरिभद्र।

सदुक्षिा का अर्थ सूना किया है, जिसके लिए आचार्य हरिभद्र का आधार है। 'सदुक्षिा ममाङ्क-शुद्धाः।'।

उत्तर के शब्दों के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र के शिष्य मन का उल्लेख किया गया है, ठीक वैसा ही आचार्य जिनदास महत्तर का भी मत है। इसके लिए आधार-श्रुति द्रश्य है।

: = :

शब्दा-सूत्र

इच्छामि पडिकमिउं—

पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए,

उव्वट्टणाए, परिवट्टणाए, आउंटणाए, पसारणाए,

छप्पइय-संघट्टणाए,

कूइए, कक्कराइए,

छीए, जंभाइए,

आमोसे, ससरव्वामोसे,

आउलमाउलाए, सोअणवत्तियाए,

इत्थीविप्परियासियाए, दिट्ठिविप्परियासियाए,

मण-विप्परियासियाए, पाणभोयण-विप्परियासियाए,—

जो मे देवसिओ अइयारो कओ,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

पडिकमिउं = प्रतिक्रमण करना

[किं विषयक ?]

इच्छामि = चाहता हूँ

पगामसिज्जाए = चिरकाल

सोने मे

१—‘आउंटण-पसारणाए’ इत्यपि पाठः ।

निगामभिज्ञाए = बार-बार चिर
काज तक सोने से

उचट्टणाए = करवट बढ़ाने से

परिचट्टणाए = बार-बार करवट
बढ़ाने से

आउ टणाए = हाथ पैर आदि को
संयुक्ति करने से

पकारणाए = हाथ पैर आदि को
फैलाने से

हृषादय = पटपट्टी घूँका आदि
को

न घट्टणाए = स्वरो करने से

वृहए = जलते हुए

पकराए = लम्बा के दोय कटते
हुए

छीए = चीकते हुए

अंभारए = बसासी लेते हुए

आमोसे = बिना पूँजे स्पर्श करते
हुए

सगरसंगमोसे = सविता रज से पुत्र
बल को देने हुए

आउनपाउताए = आकुल व्या-
कुलता से

साश्वयुक्तिगाए = स्वप्न के निमित्त
से

इंधी निगिरियामियाए = स्त्री संबंधी
विपर्यास से

दिदिठ निगिरियामियाए = दृष्टि के
विपर्यास से

मणुविगिरियासिशाए = मन के
विपर्यास से

पाणभोग्गए = पानी और मोहन क

निगिरियामियाए = विपर्यास से

जो = यदि कोई

मे = मैंने

देवसिधो = दिवस सम्बन्धी

अइयागे - अतिचार

कमो = किया हो तो

ॐ निर्याम का अर्थ निर्वय है । स्वप्न में स्त्री के द्वारा ब्रह्मचर्य की भावना में निर्वय हो जाना, स्त्री निर्यास है । विनयास महत्तर कहते हैं—'निर्यासो अन्नमचेर' । परन्तु केवल अन्नब्रह्मचर्य ही नहीं, निमी भी प्रभार की संयमविरुद्ध गति या प्रवृत्ति निर्याम है । आगे मनोनिर्याम और पानभोवननिर्यास आदि में यही अर्थ टीका बैठता है ।

स्त्री साधक 'इत्थी निगिरियासिशाए' के स्थान में 'पुरिसनिगिरियासि-
याए' पढ़े । उनके लिए पुरुष ही निर्याम का निमित्त है ।

तत्स = उसका

मि = मेरे लिए

दुकडं = पाप

मिच्छा = मिथ्या हो

भावार्थ

शयन-सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। शयनकाल में यदि बहुत देर तक सोता रहा हूँ, अथवा बार बार बहुत देर तक सोता रहा हूँ, अथवा के साथ एक बार करवट ली हो, अथवा बार बार करवट ली हो, हाथ पैर आदि अंग अथवा से समेटे हों अथवा पसारे हों, यूँ-जुँ आदि छुद्र जीवों को कठोर स्पर्श के द्वारा पीड़ा पहुँचाई हो—

बिना यतना के अथवा जोर से खाँसी ली हो, अथवा शब्द किया हो, यह शय्या बड़ी विषम तथा कठोर है—इत्यादि शय्या के दोष कहे हों; बिना यतना किए छींक एवं जँभाई ली हो, बिना प्रमार्जन किए शरीर को खुजलाया हो अथवा अन्य किसी वस्तु को छूँआ हो, सचित्त रज वाली वस्तु का स्पर्श किया हो—

[ऊपर शयनकालीन जागते समय के अतिचार बतलाए हैं; अब सोते समय के अतिचार कहे जाते हैं।] स्वप्न में विवाह युद्धादि के अवलोकन से आकुल व्याकुलता रही हो—स्वप्न में मन भ्रान्त हुआ हो, स्वप्न में स्त्री संग किया हो, स्वप्न में स्त्री को अनुराग भरी दृष्टि से देखा हो, स्वप्न में मन में विकार आया हो, स्वप्न दशा में रात्रि में भोजन-पान की इच्छा की हो या भोजन पान किया हो—

अर्थात् मैंने दिन में जो भी शयन-सम्बन्धी अतिचार किया हो, वह सब पाप मेरा मिथ्या = निष्फल हो।

विवेचन

जैन आचार शास्त्र बहुत ही सूक्ष्मताओं में उतरनेवाला है। साधक-जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म चेष्टाओं, भावनाओं एवं विकल्पों पर सावधानी तथा नियंत्रण रखना, यह महान उद्देश्य, इन सूक्ष्म चर्चाओं के पीछे रहा हुआ है। आज का उड़ाऊ चंचल मन भले ही इनको उपहास की

चीन समझे तथाच लट्टन न दे, किन्तु जिसको साधना की चिन्ता है, भूनों का पश्चात्ताप है, वह कमी भी इस ओर से उदासीन नहीं रह सकता ।

एक कठोद्वयति सेठ है । सुत ने बारह बज गए हैं, तथापि घड़ीघाते की जाँच-पड़ताल हो रही है । एक पाई गुम है, उसका मीजान नहीं मिल रहा है । आप कहेंगे—यह भी क्या ? पाई ही तो गुम हुई है, उसके लिए इतनी मिरदर्दी ? परन्तु आप अर्थशास्त्र पर ध्यान दीजिए । एक पाई का मूल्य भी कुछ कम नहीं है । 'जलविन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्णते घट' की उक्ति के अनुसार बूँद-बूँद से उट मर जाता है और पाई पाई जोड़ते हुए तिजोरी भर जाती है ।

धर्मसाधना के लिए भी ठीक यही बात है । साधारण साधक भी छोटी से छोटी साधनाओं पर लट्टन देते हुए एक दिन ऊँचा साधक बन जाता है । इसके निपटीत साधारण सी भूनों की उपेक्षा करते रहने से ऊँचे-से ऊँचा साधक भी पतन के पथ पर निमल पड़ता है । यही कारण है—जैनशास्त्रशास्त्र सूत्र-से-सूत्र भूला पर भी ध्यान रखने का आदेश देता है ।

प्रस्तुत सूत्र शून्य सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिनिमण करने के लिए है । सोते समय का मी शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक भूत हुए इस समय की सीमा से बाहर अनिक्मण हुआ हो, किसी भी तरह का नियंत्रण हुआ हो, उन सबके लिए पश्चात्ताप करने का, 'मिच्छा दुष्कट' देने का विधान प्रस्तुत सूत्र में किया गया है ।

आज की दुनिया, जब कि प्रत्यक्ष जाग्रत अवस्था में किए गए पाप का भी उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार नहीं है, तब जैनमुनि स्व अवस्था की भूना का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लिए हुए है । शयन तो एक प्रकार से स्थिर मृतदशा मानी जाती है । वहाँ का मन मनुष्य अपने वश में नहीं देता । अतः साधारण मनुष्य कह सकता है कि 'शे समय में क्या कर सकता था ? मैं तो साधारण था । मन ही भ्रान्त था ।

मैंने तो कुछ नहीं किया ?” परन्तु संयम पथ का श्रेष्ठ साधक ऐसा नहीं कह सकता । वह तो ज्ञात-अज्ञात सभी भूलों के प्रति अपना उत्तरदायित्व दृढ़ता से निभाता है । वह अपने साधना-जीवन के प्रति किसी भी अवस्था में बेग़व्वर नहीं रह सकता ।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो स्वप्न जगत हमारे जागृत जगत का ही प्रतिबिम्ब है । प्रायः जैसा जागृत होता है, वैसा ही स्वप्न होता है । यदि हम स्वप्न में भ्रान्त रहते हैं, संयम सीमा से बाहर भटक कर कुछ विपर्यास करते हैं तो इसका अर्थ है अभी हमारा जागृत भी सुदृढ़ नहीं है । स्वप्न की भूलें हमारी आध्यात्मिक दुर्बलताओं का संकेत करती हैं । यदि साधक अपने स्वप्न जगत पर बराबर लक्ष्य देता रहे तो वह अवश्य ही अपने जागृत को महान बना सकता है । जीवन के किस क्षेत्र में अधिक दुर्बलता है ? संयम का कौन-सा अंग अपरिपुष्ट है ?— इसकी सूचना स्वप्न से हमें मिलती रहेगी और हम जागृत दशा में उसी पर अधिक चिन्तन मनन का भार देकर उसे सबल एवं सशक्त बनाते रहेंगे । आदर्श के प्रति जागरूकता संसार की एक बहुत बड़ी शक्ति है । यदि साधक चाहे तो क्या जागृत और क्या स्वप्न प्रत्येक दशा में अपने आय को सदाचारी, संयमी एवं प्रतिज्ञात व्रत पर सुदृढ़ बनाए रख सकता है ।

प्रस्तुत सूत्र के प्रारंभ में सोते समय के कुछ प्रारंभिक दोष बतलाए हैं । बारबार करवटे बदलते रहना, बारबार हाथ पैर आदि को सिकोड़ते और फैलाते रहना—मन की व्याप्ति एवं अशान्त दशा की सूचना है । जिन लोगों का मन अधिक चंचल एवं इधर-उधर की बातों में अधिक उलझा रहता है, वह शय्या पर घंटों इधर-उधर करवटे बदलते रहते हैं, हाथ पैर आदि को बारबार सिकोड़ते-पसारते रहते हैं; बारबार आँखें बन्द कर सोने का उपक्रम करते हैं, फिर भी अच्छी तरह सो नहीं पाते । साधक जीवन के लिए मन की यह भूमिका अच्छी नहीं मानी जाती । साधक का कर्तव्य है कि सोने से पहले मन को संकल्प-विकल्पों

से पाली कर ले, ताकि सुषुप्ति दशा में उचित निद्रा आए, फलतः शरीर भलीभाँति निश्चेष्ट रह कर अम्लीय श्रान्ति मित्रा सके एवं समय क्षेत्र से गहर शरीर और मन का निश्वास भी न हो सके। सोने के लिए उड़ी सावधानी की आवश्यकता है, यदि अधिक चिन्तन के साथ कहीं तो जगृत अवस्था की अपेक्षा भी स्वप्नावस्था में जागरूक रहने का अधिक महत्त्व है।

प्रकामशय्या

'शय्या' शब्द शयनवाचक है और 'प्रकाम' अत्यन्त का सूचक है, अतः प्रकाम शय्या का अर्थ होना है—अत्यन्त आना, मर्यादा से अभिन्न सोना, चिरकाल तक सोना। यह, शब्दार्थ और भागार्थ में हम प्रष्ट कर आए हैं। हमके अनिरेक्त 'प्रकाम शय्या' का एक अर्थ और भी है। उनमें 'देरतेऽस्यामिति शय्या'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शय्या' शब्द से धारे का, निछोने का वाचक है, और 'प्रकाम' उत्कट अर्थ का वाचक है। इसका अर्थ होना है—'प्रमाण से गहर उड़ी एवं गहोदार कोमल गुदगुड़ी शय्या।' यह शय्या साधु के कठोर एवं कर्मठ जीवन के लिए उचित है। साधु आराम लेने के लिए नहीं सोता। प्रक्रियल के निरक्त जीवन में प्राम में उसे कहीं आराम की पुर्नत है। अतः अशक्य परिवार के नाते ही निद्रा लेनी होती है, आराम के लिए नहीं। यदि इस प्रकार की कोमल शय्या का उपयोग करेगा तो अधिक देर तक आलस्य में पड़ा रहेगा, ठीक समय पर जाग न भरेगा, फलतः दशाध्याय आदि धर्म नियामा का मन्त्री मूर्ति पालन न हो सकेगा।

निकाम शय्या

प्रकाम शय्या का ही बार-बार सेवन करना, अपना बार-बार अधिक काल तक लेत रहना, निकाम शय्या है। आचार्य हरिभद्र और नमि प्रकाम शय्या और निकाम शय्या के दोनों ही अर्थों का उल्लेख करते हैं। आचार्य विनयास महत्त्व का भी यही अभिप्रेत है।

उद्वर्तना और परिवर्तना

उद्वर्तना का अर्थ है एक-बार करवट बदलना, और परिवर्तना का अर्थ है बार-बार करवट बदलना । आचार्य जिनदास महत्तर आवश्यक चूर्णि में उद्वर्तन का अर्थ करते हैं—‘एक करवट से दूसरी करवट बदलना, त्रयीं करवट से दाहिनी करवट या दाहिनी से त्रयीं करवट बदलना ।’ और परिवर्तना का अर्थ करते हैं—‘पुनः वही पहले वाली करवट ले लेना ।’ ‘वामपासेण निवृत्तो संतो जं पल्लत्थत्ति, एतं उठवत्तणं । जं पुणो वामपासेण एव’ परियत्तणं ।’ आचार्य हरिभद्र भी ऐसा ही कहते हैं । परिवर्तना का प्राकृत मूलरूप ‘परियट्ठणा’ भी मिलता है ।

‘उव्वट्ठणाए’ से पहले संधारा शब्द का प्रयोग भी बहुत-सी प्रतियों में मिलता है । उसका अर्थ किया जाता है ‘संधारे पर करवट बदलना ।’ परन्तु जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्य उसका उल्लेख नहीं करते । अतः हमने भी मूल पाठ में इसको स्थान नहीं दिया है । वैसे भी कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं है । शय्या सूत्र यह स्वयं ही है । अतः करवट शय्या पर ही ली जायगी । उसके लिए शय्या पर करवट बदलना, यह कथन कुछ गम्भीर अर्थ नहीं रखता ।

कर्करायित

‘कर्करायित’ शब्द का अर्थ ‘कुड़कुड़ाना’ है । शय्या यदि विषम हो, कठोर हो तो साधू को शान्ति के साथ सब कष्ट सहन करना चाहिए । साधू का जीवन ही तितिक्षामय है । अतः उसे शय्या के दोष कहते हुए कुड़कुड़ाना नहीं चाहिए ।

स्वप्न-प्रत्यया

प्रस्तुत-सूत्र में ‘आउलमाउलाए’ के आगे ‘सोअणवत्तियाए’ पाठांश आता है । उसका अर्थ है—स्वप्नप्रत्यया, अर्थात् स्वप्न के प्रत्यय = निमित्त से होने वाली संयमविरुद्ध मानसिक क्रिया । आचार्य हरिभद्र ने इसका सम्बन्ध ‘आउलमाउलाए’ से जोड़ा है । प्रकरण की दृष्टि से आगे के शब्दों के साथ भी इसका सम्बन्ध है ।

एक प्रश्न

सूत्रों में दिवाशयन अर्थात् दिन में सोने का निषेध किया गया है। जय दिन में सोना ही नहीं है, तब माधू को इस सम्बन्ध में दैवमित्र अतिचार केमे लग सकना है।' प्रश्न टोक है। अतः जय उत्तर पर भी विचार कीजिए। जैनधर्म स्थापनादमय धर्म है। यहाँ एवान्त निषेध अथवा एवान्त विधान, किसी मिथ्यान्त का नहीं है। उल्लान्त और अन्तर्गत का चर घटकर चलता रहता है। अस्तु, दिवाशयन का निषेध श्रील्लान्त है और कारणवश उसका विधान आश्रयादिक है। विहास्याना की यकायक से तथा अन्य किसी कारण से अश्रयाद के रूप में यदि कभी दिन में सोना पड़ तो अस्तु ही सोना चाहिए। यदि नहीं कि अश्रयाद का आश्रय लेकर सर्वथा ही समय-सीमा का अतिव्रमण कर दिया जाय ! इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने प्रस्तुत शयनातिचारप्रतिव्रमण-सूत्र का दैवमित्र प्रतिव्रमण में भी विधान किया है। वस्तुतः उल्लान्तदृष्टि से यदि सूत्र, यदि प्रतिव्रमण का माना जाता है।

प्रस्तुत शयनासूत्रना, जय भी साधक सोकर उठे, अन्तरय पढ़ने का विधान है। और शयना-सूत्र पढ़ने के बाद किसी सम्प्रदाय में एक लोगस्त का तो किसी में चार लोगस्त पढ़ने की परम्परा है।

: ६ :

गोचरचर्या-सूत्र

पडिक्रमामि

गोंयरचरियाए, भिक्खायरियाए

उग्घाड-कवाड-उग्घाडणाए, साणा-वच्छा-दारासंवट्टणाए,

मंडी-पाहुडियाए, वलि-पाहुडियाए, ठवणापाहुडियाए,—

संकिए, 'सहसागारे, अणेसणाए,

पाणभोयणाए, वीयभोयणाए, हरियभोयणाए,

पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए,

अदिट्ठहडाए, दग-संसट्ठ-हडाए, रय-संसट्ठ-हडाए,

पारिसाडणियाए, पारिट्ठावणियाए, ओहासण-भिक्खाए

जं उग्गमेणं, उप्पायणेसणाए—

अपरिसुद्धं, परिग्गहियं, परिभुत्तं वा

जं न परिट्ठवियं,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं !

१—'सहसागारिण' ऐसा भी कुछ प्रतियों में पाठ है। परन्तु जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्यों ने 'सहसागारे' पाठ का ही उल्लेख किया है।

शब्दार्थ

पटिक्रमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

गोचरचरियाण = गोचर-चर्या में

भिक्षापरियाण = भिक्षा-चर्या में

[दोन कैमे लमे ?]

उग्गाड = घघमुले^१

कग्गाड = किशारों को

उग्गाडणाण = खोलने से

माणा = कुत्ते

वम्झा = बड़द

दाग = कपों का

न घट्टाण = संघटा करने से

म डी = अप्रतिष्ठ की^२

पाहुटियाण = भिक्षा से

बनि = बलिकर्म की^३

१—‘उग्गाड नाम किञ्चि वगित’ इति जिनदास महत्तयः ।

२—‘म’डीपाहुटिया नाम आदे साधू आगतो ताण म’डीण अण्ण’मि वा भायणे अग पिड उक्कडिट्ठाण सेसाओ देति ।’ इति जिनदास महत्तयः ।

३—‘बलि-पाहुटिया नाम अग्निमि हुमति, चउरिमि वा अचयित करेति, तादे साहुम्म देति ।’ इति जिनदास महत्तयः ।

[मण्डी प्रामृत्तिका और बलिप्रामृत्तिका के न लेने का यद् अभि-
प्राय है—‘प्राचीन काल में और बहुत से स्थानों में आजकल भी
लोकमान्यता है कि जब तक तैयार किये हुए भोजन में से बलि के रूप
में भोजन का कुछ अंश अलग निकाल कर नहीं रख दिया जाता, या
दिशाओं में नहीं डाल दिया जाता या अग्नि में आहुत नहीं कर दिया
जाता, तब तक वह भोजन अछूता रहता है, फलतः उसे उपयोग में
नहीं लाया जाता । बलि निकाल कर अलग न रखी हो और इतने में
साधु पहुँच जाए तो गृहस्थ पहले दूसरे पात्र में बलि निकाल कर रख
लेता है और फिर साधु को भोजन देना चाहता है । परन्तु यह भिक्षा
आत्म का निमित्त होने से ग्राह्य नहीं है । दूसरी बात यह है कि जब
तक बलि निशाली न थी, तब तक भोजन का उपयोग नहीं हो रहा
था । अब साधु के निमित्त से बलि निशाल ली तो दूसरे लोगों के

पाहुडियाए = भिक्षा से

ठवणा = स्थापना की

पाहुडियाए = भिक्षा से

संकिए = संकित आहार लेने से

सहसागारे = शीघ्रता में लेने से

अणोसणाए = बिना एषणा के लेने से

पाणभोयणाए = प्राणी वाले भोजन से

धीयभोयणाए = धीज वाले भोजन से

हरियभोयणाए = हरित वाले भोजन से

पच्छाकम्मियाए = पश्चात्कर्म से

पुरेकम्मियाए = पुरःकर्म से

अदिट्ठ = अदृष्ट वस्तु के

हटाए = लेने से

दग संसट्ठ = जल से संसृष्ट

हडाए = लेने से

रय संसट्ठ = रज से संसृष्ट

हडाए = लेने से

पारिसाटणियाए = पारिशाटनिकासे

पारिट्ठावणियाए = पारिष्ठापनिक से

ओहासण = उत्तम वस्तु माँग क

भिक्ष्याए = भिक्षा लेने से

जं = (और) जो

उग्गमेणं = आधाकर्मादि उद्गम दोषों से

उत्थायण = उत्पादन दोषों से

एसणाए = एषणा के दोषों से

अरिसुद्धं = अशुद्ध आहार

परिगाहियं = ग्रहण किया हो

वा = तथा

परिसुत्तं = भोगा हो

जं = (और) जो भूल से लिए

हुआ अशुद्ध

न = नहीं

परिट्ठवियं = परठा हो तो

तत्स = उसका

दुक्कडं = पाप

मि = मेरे लिए

मिच्छा - मिथ्या हो

भोजन के लिए भी छूट हो गई। यह प्रवृत्ति-दोष भी साधु के निमित्त ही होता है। अतः अहिंसा वी सूक्ष्म विचारणा के कारण इस प्रकार की भिक्षा जैन मुनि के लिए अग्राह्य है।]

भावार्थ

गोबरचर्चा रूप मिट्टाचर्चा में, यदि ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी रूप में जो भी अतिचार = दोष खया हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ = उस अतिचार से वापस लौटता हूँ ।

[कौन से अतिचार ?] अपसुले कियावों को सोलना; कुत्ते, बड़दे और बन्धों का संघटा = स्पर्श करना; मरहो प्राभृतिका = अभिषेक लेना; बलिप्राभृतिका = बलिकर्मादि तैयार किया हुआ भोजन लेना अथवा साधु के आने पर बलिकर्म करके दिया हुआ भोजन लेना । स्थापनाप्राभृतिका = भिक्षुओं को देने के उद्देश्य से अलग रखना हुआ भोजन लेना । शङ्कित = आधाकर्मादि दोषों की सका वाखा भोजन लेना; सहसाकार = होप्रता में आहार लेना; बिना एषणा = खान बिन किए लेना, प्राण्य भोजन = जिसमें कोई जीव पड़ा हो ऐसा भोजन लेना; बीज-भोजन = बीजों वाला भोजन लेना; हरि-तभोजन = सचित्त वमस्पति वाला भोजन लेना; पञ्चाकर्म = साधु को आहार देने के बाद तदर्थ सचित्त जल से हाथ या पात्रों को धोने के कारण जगने वाला दोष; पुर कर्म = साधु को आहार देने से पहले सचित्त जल से हाथ या पात्र के धोने से जगने वाला दोष; धरदाहुत = बिना देखा भोजन लेना; उदक संस्पृष्टाहुत = सचित्त जल के साथ स्पर्श वाली वस्तु लेना, रज संस्पृष्टाहुत = सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना, पारिशाट निका = देते समय मार्ग में गिरता-बिखरता हुआ आने वाला भोजन लेना, पारिष्ठापनिका = ' आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुए

१--कुछ अनुवादक पारिष्ठापनिका का 'परठने-योग्य कालातीत त्रयोप्य वस्तु ग्रहण करना' अथवा 'साधु को ग्रहण करने के बाद उभी पात्र में रहे हुए शेष भोजन को जहाँ दाता द्वारा फेंक देने की प्रथा हो, वहाँ ग्रहण करना की सम्भावना होते हुए भी आहार ले लेना' ऐसा अर्थ भी करते हैं।

परन्तु हमने जो अर्थ किया है, उस के लिए आचार्य जिनदाम महसर या प्राचीन आचार है—'पारिष्ठगणियाण तत्थ भायणे अरण' त्रिचि आसी, तादे तं पण्डितेषूण अरण' देति । आवश्यक चूर्णि ।

किसी भोजन को डाल कर, दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना; अवभाषण भिक्षा=विशिष्ट भोजन का माँगना अवभाषण है, सो अवभाषण के द्वारा भिक्षा लेना; उद्गम=आधा कर्म आदि १६ उद्गम दोषों से सहित भोजन लेना; उत्पादन=धात्री आदि १६ साधु की तर्फ से लगने वाले दोषों से सहित भोजन लेना । एषणा=ग्रहणपणा के शंका आदि १० दोषों से सहित भोजन लेना ।

उपयुक्त दोषों वाला अशुद्ध=साधुमर्यादा की दृष्टि से अशुद्ध आहर पानी ग्रहण किया हो, ग्रहण किया हुआ भोग लिया हो; किन्तु दूषित जानकर भी परछा न हो तो तत्तन्मय समस्त पाप मिथ्या हो ।

विवेचन

जीवनयात्रा के लिए मनुष्य को भोजन की आवश्यकता है । यदि मनुष्य भोजन न करे, सर्वदा और सर्वथा निराहार ही रहे तो मनुष्य का कोमल जीवन टिक नहीं सकता । और जीवन की अहिंसा, कृत्य आदि उच्च साधनाओं के लिए, कर्तव्य पूर्ति के लिए मनुष्य को जीवित रहना आवश्यक है । जीवन का महत्त्व संसार में किसी भी प्रकार से कम नहीं आँका जा सकता; परन्तु शर्त है कि वह शुभ उद्देश्य के लिए हो, स्व-पर के कल्याण के लिए हो; दुराचार या अत्याचार के लिए न हो । जैन धर्म जैसा कठोर निवृत्तिप्रधान धर्म भी जीवन के प्रति उपेक्षित रहने को नहीं कहता । आत्मघाती के लिए वह महापापी शब्द का प्रयोग करता है ।

भोजन आवश्यक है, इसके लिए कोई-दूसरा विकल्प हो ही नहीं सकता । परन्तु भोजन कैसा और किसलिए करना चाहिए ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । साधारण लोगों का खयाल है कि भोजन स्वादिष्ट होना चाहिए, फिर भले वह कैसा ही हो ? ये लोग जीवन की महत्ता को नहीं जानते । इनका जीवन-क्षेत्र केवल जिह्वा के चार अंगुल के टुकड़े पर ही केन्द्रित है । अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट चटनी, आचार, मुरब्बे,

निश्चाय आदि गान्धा और मन्त्र गाना, यही इनके जीवन का आदर्श रहता है। खादु भोजन के फेर में वे लोग धार्मिक मर्यादा का तो क्या त्याग कर लेते हैं? अपने स्वास्थ्य की भी चिन्ता नहीं करते और अरु-मरुत गान्धीन एक दिन अपने अमूल्य मानव जीवन को मिट्टी में मिला देते हैं। इनका आदर्श है—‘भोजन के लिए जीवन’; यथार्थ होना चाहिए—‘जीवन के लिए भोजन’।

दूसरी भेदी में वे लोग आते हैं जो खादु भोजन के फेर में तो नहीं पड़ते। परन्तु पुष्टिकर एवं शक्तिप्रद भोजन का मोह वे भी नहीं छोड़ सकें हैं। शरीर को मजबूत बनाने, बलिष्ठ पदचरान करने, और मनचाही ऐश करे, यही आदर्श इन लोगों के जीवन का है। इनके आगे का कोई भी उद्देश्य। चर इनकी आँखों के सम्मुख नहीं रहता। धर्म की मर्यादा से इनका भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। भोजन पुष्टिकर होना चाहिए, फिर भले वह कैसा ही हो और किसी भी तरह मिला हो।

तीसरी भेदी आत्मनस्य के पारस्वी साधक पुरुषों की है। वे लोग ‘जीवन के लिए भोजन’ का आदर्श रख कर कार्य-क्षेत्र में उतरते हैं। खादु भोजन तथा पुष्टिकर भोजन से इन्हें कुछ मतलब नहीं, इन्हें तो शरीर यात्रा के लिए जैसा भी रुका सूखा और जितना भी भोजन मिले, वही प्यास है। साधक को अपने आहार पर पूरा-पूरा कानू रखना चाहिए। वह जो कुछ भी खाए, वह केवल औषधि के रूप में शरीर रक्षा के लिए ही खाए, स्वाद के लिए कदापि नहीं।

साधक के भोजन का आदर्श है—हित, भित, पथ्य। भोजन ऐसा होना चाहिए, जो ग्रहण हो, स्वास्थ्यप्रद हो और धर्म की दृष्टि से भी उपयुक्त हो। मांस, मद्य अथवा अन्य धर्म विरुद्ध अभिन्न भोजन, वह कदापि नहीं करता। एतदर्थ वह जीवन से हाथ चोने के लिए तैयार रहता है, किन्तु अपवित्र मादक पदार्थों का सेवन किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। भोजन का मन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य जैसा अन्न खाता है, मन वैसा ही बन जाता है। शारीरिक भोजन करने वाले के

मन सात्त्विक होता है, और तामसिक भोजन करने वाले का मन तामसिक । जो साधक अहिंसा एवं सत्य मार्ग का पथिक है; उसे विकार-वर्द्धक उत्तेजक पदार्थों से सर्वथा अलग रहना चाहिए । यह भोजन की द्रव्य-शुद्धि है ।

दूसरी ओर भोजन का न्याय प्राप्त होना भी आवश्यक है । किसी को पीड़ा पहुँचा कर अथवा असत्य आदि का प्रयोग करके प्राप्त हुआ भोजन, आत्मा को तेजस्वी नहीं बना सकता । तेजस्वी बनाना तो दूर, प्रत्युत आत्मा का पतन करता है और कभी-कभी तो मनुष्यता तक से शून्य बना देता है ।

जैन संस्कृति में भोजन के ये दो ही प्रकार हैं, एक वह सात्त्विक होना चाहिए और दूसरे न्याय प्राप्त । एक तीसरा और विशेषण भी है, जो स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था के मानने वालों की ओर से लगाया जाता है । वह विशेषण है—भोजन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि उच्च कुल का होना चाहिए; शूद्र और अन्त्यज आदि का नहीं । जैन धर्म के तीर्थंकर उक्त तीसरे विशेषण में कोई सार नहीं देखते । मानव-मात्र की एक जाति है, उसमें ऊँच-नीच के भेद सर्वथा काल्पनिक हैं । केवल व्यापार-भेद, राष्ट्र-भेद अथवा रंग-भेद से मानव जाति में भेदबुद्धि पैदा करना और उसके बल पर आनस में घृणा और द्वेष की आग भड़काए रखना, संसार का सबसे भयंकर अपराध है । जैन-सूत्रों का आग्रह है—‘न दीसह जाइ-विसेस कोइ’—‘जन्म से जाति की कोई विशेषता नहीं देखी जाती’—उत्तराध्ययन । हम देखते हैं कि गौतम जैसे प्रतिष्ठित मुनि भी उत्तम, मध्यम और अधम तीनों कुलों में भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं । यद्यपि पश्चात्कालीन टीकाकारों ने स्पृश्या-स्पृश्यता के व्यामोह में पड़कर उत्तम मध्यमादि कुलों की व्याख्या, धनी और निर्धन के भेद पर की है; किन्तु यह व्याख्या स्पष्टतः मूल भावों का अनुसरण नहीं करती । मानवता के नाते केवल भोजन की स्वयं शुद्धता और न्याय प्राप्तता ही अपेक्षित है, फिर भले ही वह भोजन किसी का भी हो—ब्राह्मण का हो अथवा शूद्र का हो ।

साधु का जीवन, त्याग-चैतन्य का जीवन है। वह स्वयं साधारण कार्यों से सर्वथा अलग है। अतः वह स्वयं भोजन न बना कर भिक्षा पर ही जीवनयापन का निर्माण करता है। साधु की भिक्षा, साधारण भिक्षुओं जैसी नहीं होती। उसने भिक्षा पर भी इतने प्रबंध डाले हैं कि, इसका एक पृथक् साहित्य ही बन गया है। जैन आगम साहित्य का अधिभाग, जैन मुनि की गोचरचर्मा के नियमोपनियमों से ही परिपूर्ण है। किमी को किमी भी प्रसार की पीड़ा पहुँचाए बिना पूर्ण शुद्ध, सात्विक, उदर समाता भोजन लेना ही जैन भिक्षा का आदर्श है।

जैन भिक्षु के लिए नवकोटि परिशुद्ध आहार ग्रहण करने का विधान है। नव कोटि इस प्रकार है—न स्वयं पकाना, न अपने लिए दूसरों से कहकर पकवाना, न पकाते हुए का अनुमोदन करना, न खुद बना बनाया खरीदना, न ग्रहण किए खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना, न स्वयं किमी को पीडा देना, न दूसरे से पीडा दिलवाना और न पीडा देने वाले का अनुमोदन करना। उक्त नवकोटि के लिए, वैशिष्ट स्थानाग सूत्र का नवम स्थान।

आप देख सकते हैं—कितनी अधिक सूक्ष्म अहिंसा की मर्यादा का ध्यान रक्खा गया है। भिक्षा के लिए न स्वयं किमी तरह की पीडा देना, न दूसरे से दिलवाना, और यदि कोई स्वयं ही साधु को भिक्षा दिलाने के उद्देश्य से किमी को पीडा देने लगे तो उसका भी अनुमोदन न करना। हृदय की विशाल कामलता के लिए एवं भिक्षा की पवित्रता के लिए नैमल इतना सा ही अर्थ पर्याप्त है।

भगवन्नी सूत्र के नवमरे शतक के प्रथम उद्देश्य में भिक्षा के चार दोष उल्लेख हैं—क्षेयान्ध्रान्त, कालान्ध्रान्त, मार्गान्ध्रान्त और प्रमाणान्ध्रान्त।

१—क्षेयान्ध्रान्त दोष यह है कि सूर्यादयः से पहले ही आहार ग्रहण कर लेना और सूर्योदय होते ही खानेना। साधु के लिए नियम है

इके न रात में आहार ग्रहण करना और न रात में खाना । सूर्योदय होने के बाद जब तक आवश्यक स्वाध्याय न कर ले तब तक आहार नहीं ग्रहण किया जा सकता । यह नियम भोजन के संयम के लिए कितना आवश्यक है ?

२—कालातिक्रान्त दोष यह है कि—प्रथम प्रहर में लिया हुआ भोजन चतुर्थ प्रहर में खाना । भगवान् महावीर ने मर्यादा बाँधी है कि साधु अपने पास तीन प्रहर से अधिक काल तक भोजन नहीं रख सकता पहले प्रहर का लिया हुआ तीसरे प्रहर तक खा सकता है, यदि चतुर्थ प्रहर में खाए तो प्रायश्चित्त लेना होता है । यह नियम संग्रह वृत्ति को रोकने के लिए है । यदि संग्रह वृत्ति को न रोका जाय तो भिक्षा का पवित्र आदर्श ही नष्ट हो जाता है । अधिक से अधिक मॉगना और अधिक से अधिक काल तक संग्रह किए रखना, भगवान् महावीर को सर्वथा अनभीष्ट है । जैन साधु का भिक्षा संग्रह अधिक से अधिक तीन प्रहर तक है, कितना आदर्श त्याग है ?

३—सार्गातिक्रान्त दोष यह है कि अर्धयोजन से अधिक दूर त आहार ले जाना । साधु के लिए नियम है कि वह आवश्यकता पड़ने पर अधिक से अधिक अर्धयोजन अर्थात् दो कोस तक भोजन ले जा सकता है, इसके आगे नहीं । यह नियम भी अधिक संग्रह की वृत्ति को रोकने और भोजन की तृष्णा को घटाने के लिए है । अन्यथा भोजन ग्रहण साधु विहार यात्रा में भोजन से ही लदा हुआ फिरेगा, संयम का आदर्श कैसे पालेगा ?

४—प्रमाणातिक्रान्त दोष यह है कि—प्रमाण से अधिक भोजन करना । जैन मुनि, यदि भोजन अधिक काल तक रख नहीं सकता तो अधिक खा भी नहीं सकता । भोजन, शरीर निर्वाह के लिए है और वह वृत्तिसंग्रहों के द्वारा हो सकता है । अतः ३२ आसों से अधिक आहार करना, मुनि के लिए सर्वथा निषिद्ध है । यह नियम भी भिक्षा

क ममय अधिष्ठान मॉगने की प्रकृति को रोकने और हम गड़बड़ा के भाव को कम करने के लिए है ।

आचार्यगण सूत्र द्वितीय अनुसूत्र के द्वितीय अध्यायन ने हम उद्देश्य में दृढ़ता आता है कि साधु को रुखा सूरा जैसा भी भोजन मिले वैसा ही महार खाता चाहिए । यह नहीं कि अच्छा-अच्छा खा लिया और रुखा-सूरा डाल दिया । यदि ऐसा किया जाय तो उसके लिए निशीथ सूत्र में दण्ड का विधान है । यह नियम भी भिक्षा की शुद्धि के लिए परमावश्यक है । अन्यथा ऐसा होना है कि विशिष्ट भोजन की तलाश में मनुष्य इधर उधर देर तक मॉगता रहता है और फिर अधिक सम्राह करने के बाद अच्छा-अच्छा खाकर कुछ-कुछ केक देता है ।

वैश्वकालिक आदि सूत्रों में यह भी विधान है कि भिक्षा के लिए घनिष्ठ घरों की ही खोज में न रहे, ताकि स्वादु भोजन मिले । मार्ग में चलते हुए जो भी घर आ जायें सभी में बिना किसी शर्त गरीब के भेद के जाना चाहिए और अपनी विधि के अनुसार जैसा भी सुन्दर अथवा असुन्दर, किन्तु प्रकृति के अनुकूल भोजन मिले, ग्रहण करना चाहिए । भोजन के सम्बन्ध में स्वास्थ्य का ध्यान रखना तो आवश्यक है, किन्तु स्वाद का ध्यान कदाई नहीं रखना चाहिए । मगराज महावीर ने प्रत्येक नियम, मानव जीवन की दुर्दशाओं को लक्ष्य में रखते हुए ऐसा बनाया है, जिससे भिक्षा में किसी भी प्रकार की दुर्दशा का प्रवेश न कर सके और भिक्षा का आदर्श कलंकित न हो सके ।

दृष्टव्यमाद्य प्रथम उद्देश्य में भिक्षा के लिए जाने से पहले कार्योत्सर्ग करने का विधान है । इस कार्योत्सर्ग=ध्यान में विचार जाता है कि—आज मैंने कौन सा आचार्य अथवा निर्विकृति का मत ले रखा है और उसके लिए कितना और कैसा भोजन आवश्यक है ? यह कार्योत्सर्ग अपनी भूख की अन्तर्ध्वनि सुनने के लिए है, ताकि मर्यादित एवं आवश्यक भोजन ही लाया जाय, अमर्यादित तथा अनावश्यक नहीं ।

भोजन लाने के बाद जब तक गुरुचरणों में अथवा भगवान् की सादरी से गोचरचर्या का आलोचन अथ च प्रतिक्रमण नहीं कर लिया जाता, तब तक भोजन नहीं खाया जा सकता। यह नियम गुरुदेव के समक्ष गोचरचर्या की रिपोर्ट देने के लिए है कि—किसके यहाँ से, किस तरह से, कितना, और कैसा भोजन लिया गया है? यदि कहीं गोचरी में भूल मालूम पड़े तो उसके प्रतिकारस्वरूप प्रायश्चित्त ग्रहण करना होता है।

उपर्युक्त लम्बा विवेचन लिखने का मेरा उद्देश्य यह है कि जैनसाधु की भिक्षावृत्ति, भीख माँगना नहीं है। यहाँ भिक्षावृत्ति में जीवन के महान आदर्शों को भुलाया नहीं जाता; प्रत्युत उन्हें और अधिक दृढ़ किया जाता है। भिक्षा महान् आदर्श है—यदि उससे वास्तविक लाभ उठाया जाय तो। कौन घर कैसा है? उसका आचार विचार क्या है? जीवन की उच्च संस्कृति का उत्थान हो रहा है अथवा पतन? कौन व्यसन कहाँ किस रूप में घुसा हुआ है? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर साधु को भिक्षा के द्वारा मिल सकता है और यदि वह समर्थ हो तो तदनुसार उपदेश देकर जनता का कल्याण भी कर सकता है। जैनधर्म में भिक्षाचर्या स्वयं एक तपस्या है। वह जीवन की पवित्रता का महान मार्ग है।

आजकल भिक्षा के विरुद्ध जो आन्दोलन चल रहा है, उसके साथ यह भी विचार करना आवश्यक है कि—कौन किस तरह भिक्षा माँग रहा है? सन्नको एक लाठी से नहीं हँका जा सकता। यद्यपि यह ठीक है कि आज राष्ट्र में बेकार भिखमंगों का दल जोर पकड़ गया है; हजारों लाखों साधुनामधारी आज देश के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहे हैं। आचार्य हरिभद्र ऐसे मनुष्यों की भिक्षा को पौरुषघ्नी बतलाते हैं, वह अवश्य ही निषिद्ध भिक्षा है। भिक्षाष्टक में आचार्य ने तीन प्रकार की भिक्षा बतलाई है—सर्व सम्पत्करी, पौरुषघ्नी और वृत्तिभिक्षा। सर्व सम्पत्करी भिक्षा त्यागी विरगात्मा साधु मुनिराजों की होती है।

यह भिन्ना स्वयं साधक की आत्मा में, गण्ड म तथा समान में लक्षणों का प्रचण्ड तेज सञ्चार करने वाली है। दूसरी पौष्पमी भिन्ना है। जो मनुष्य आलस्यवश स्वयं पुरुषार्थ न करने साधुके पदन पर भिन्ना द्वारा आजीविका चलाता है, यह पौष्पमी भिन्ना है। हस्त-यज्ञ मन्त्रद्वारा आदमी, यदि केवल साधुता की भाषा स्वयं में उद्घाटित है तो वह अपने पौष्प का नष्ट करने के अतिरिक्त और क्या करता है? यह भिन्ना अमरव ही गण्ड के लिए घानक है। वाचक यशोविषय इनी मन्त्रव्यक्त कहते हैं —

दीक्षा-सरोधिनी भिन्ना,
पौष्पमी प्रकीर्तिता;
धर्मलाघवमेव स्यात्,
तथा पातस्य जीवतः ॥११॥

—शांति० ६

तीसरी वृत्तिभिन्ना यह है, जो तीन अन्य आदि असहाय मनुष्य स्वयं कुछ कार्य नहीं कर सकने के कारण भिन्ना मँगते हैं। जब तक राष्ट्र इन लोगों के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं कर देता, तब तक मानवता के नाते इन लोगों का भी भिन्ना मँगने का अधिकार है।

उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो गया है कि जैनमुनि की भिन्ना का क्या स्वरूप है? वह अन्य भिन्नाओं से किस प्रकार भिन्न है? यह गण्ड के लिए अथवा साधक के लिए घानक नहीं, प्रत्युत उपकारक है? अब कुछ प्रस्तुत पाठान्तर्गत विशेष शब्दों का स्वीकरण कर लेना भी आवश्यक है

गायत्र चर्या

कतना ऊँचा मात्र मय शब्द है? 'गोब्रह्मं गोचर चर्यं चर्या,

गोचर इव चर्यागोचर चर्या'—वह व्युत्पत्ति आचार्य हरिभद्र के द्वारा कथित है। इसका भावार्थ है—जिस प्रकार गाव वन में एक-एक घास का तिनका जड़ से न उखाड़ कर ऊपर से ही खाती हुई घूमती है, अपनी जुधा निवृत्ति कर लेती है और गोचरभूमि एवं वन की हरियाली को भी नष्ट नहीं करती है; उमी प्रकार मुनि भी किसी गृहस्थ को पीछा न देता हुआ थोड़ा थोड़ा भोजन ग्रहण करके अपनी जुधा निवृत्ति करता है। दशवैकालिक सूत्र में इसके लिए मधुकर = भ्रमर की उगमा दी है। भ्रमर भी फूलों को कुछ भी हानि पहुँचाए बिना थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है एवं उसी पर से आत्म वृत्ति कर लेता है।

भिक्षा चर्या

भिक्षाचर्या का मूलार्थ भिक्षा के लिए चर्या होता है। अर्थात् भिक्षा के लिए भ्रमण करना। आवश्यक के टीकाकार श्री हरिभद्र तथा स्थानांग सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव ऐसा ही अर्थ करते हैं। परन्तु प्रतिक्रमण के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक यहाँ भिक्षा अर्थ करते हैं और वह हृदय को लगता भी है। उनका कहना है—‘प्रथम गोचर चर्या में चर्या शब्द भ्रमणार्थक है और यहाँ भिक्षाचर्या में चर्या शब्द भुक्ति = भक्षण का वाचक है।’ अर्थ होगा—‘उपलब्ध भिक्षा का खाना’। भिक्षान्न खाते समय भोजन की निन्दा एवं एक भोजन को दूसरे भोजन में मिलाकर स्वादिष्ट बनाने से जो संयोजन आदि दोषों के अतिचार होते हैं, उनकी शुद्धि से तात्पर्य है। “आद्यश्चर्या शब्दो भ्रमणार्थः द्वितीयः पुनः भक्षणार्थः। भिक्षायाः चर्या = भुक्तिरित्यर्थः”—तिलकाचार्य।

कपाटोद्घाटन

साधारण रूप से भी यदि घर के द्वार के किवाड़ बंद हों तो उन्हें खोल कर भोजन लेना दोष है; क्योंकि इससे बिना प्रमार्जन किए उद्घाटन के द्वारा जीव विराधना दोष की सम्भावना रहती है। तथा इस प्रकार आहार लेने से असभ्यता भी प्रतीत होती है। संभव है गृहस्थ घर के अंदर किसी विशेष व्यापार में संलग्न हो और साधु अचानक किवाड़

गलतर अंदर जान तो अनुचित मालूम दे । यह उत्तमार्ग मार्ग है । यदि हमी विशेष कारण के लिए आवश्यक वस्तु लेनी हो और तदर्थ किगड़ लेने हो तो यतना के साथ समय गोले अथवा खुनगाय जा सकते हैं, यह अत्रवादमार्ग है । इस पर से जो लोग यह अर्थ निकालते हैं कि— 'साधु को किगड़ खोजने और बद नहीं करने चाहिए' के गलती पर हैं । इससे लिए दशवैकान्तिक सूत्र के पंचम अध्यायन की १८ वीं गाथा देखनी चाहिए, वहाँ रहस्य की आज्ञा लेकर किगड़ खोजने का विधान स्पष्टता उल्लिखित है ।

रत्नानादि संपट्टन

साधु को बहुत शान्ति और विवेक के साथ आहार ग्रहण करना चाहिए । मार्ग में रहे हुए उर्ता, उछटों और उथों के ऊपर पड़ते हुए भिक्षा लेना, लोकगम्यता और आगम दोनों गद्दी दृष्टियों से धर्मित है । और विराधना का दोष, इन प्रवृत्ति के द्वारा लगता है । मूल में दाग शब्द आता है, जिसका अर्थ ली और पालक दोनों होते हैं, यह ध्या में रहे । परन्तु टीकाकार जलक ही अर्थ ग्रहण करते हैं ।

मण्डी प्राभृतिका

मण्डी दुकन को तथा उपलब्ध से अन्य पात्र को कहते हैं । उनमें सैवार किए हुए भोजन के कुछ अन्न अंश को पुरोपाय निकालकर, जो रख दिया जाता है, वह अमपिण्ड कहलाता है । लोक रुढ़ि के कारण आधेय अमपिण्ड भी आचार अर्थात् मण्डीन्द वाच्य ही है । मण्डी की प्राभृतिका = भिक्षा, मण्डी प्राभृतिका कहलाती है । यह पुरोपाय होने से साधु के लिए निषिद्ध है । अपना साधु के आने पर पहले अप्रभोजन दूसरे पात्र में निकाल ले और फिर शेष में से दे तो वह भी मण्डी प्राभृतिका दोष है, क्योंकि इससे प्रवृत्ति दोष लगता है । आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज उक्त पद का अमपिण्ड अर्थ करते हैं, इसका रहस्य क्या है, यह अभी अज्ञात है । हाँ प्राचीन परम्परा में कहीं भी यह अर्थ नहीं देखा गया ।

बलि प्राभृतिका

देवता आदि के लिए पूजार्थ तैयार किया हुआ भोजन बलि कहलाता है। वह भिन्ना में नहीं ग्रहण करना चाहिए। यदि ग्रहण करले तो दोष होता है। अथवा साधु को दान देने से पहले दाता द्वारा सर्वप्रथम आवश्यक बलिकर्म करने के लिए बलि को चारों दिशाओं में फेंककर अथवा अग्नि में डाल कर पश्चात् जो भिन्ना दी जाती है, वह बलि प्राभृतिका है। ऐसा करने से साधु के निमित्त से अग्नि आदि जीवों की विराधना का दोष होता है।

स्थापना प्राभृतिका

साधु के उद्देश्य से पहले से रखवा हुआ भोजन लेना, स्थापना प्राभृतिका दोष है। अथवा अन्य भिक्षुओं के लिए अलग निकालकर रखे हुए भोजन में से भिन्ना लेना, स्थापना प्राभृतिका दोष होता है। ऐसा करने से अन्तराय दोष लगता है।

शङ्कित

आहार लेते समय यदि भोजन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के आश्वासनादि दोष की आशंका हो तो वह आहार कदापि न लेना चाहिए। भले ही दोष का एकान्ततः निश्चय न हो, केवल दोष की संभावना ही हो, तब भी आहार लेना शास्त्र में वर्जित है। साधना मार्ग में जरा-सी आशंका की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दोष की आशंका रहते हुए भी आहार ग्रहण कर लेना, बहुत बड़ी मानसिक दुर्बलता एवं आसक्ति का सूचक है।

सहसाकार

प्रत्येक कार्य विवेक और विचार पूर्वक होना चाहिए। शीघ्रता में कार्य करना, क्या लौबिक और क्या लोकोत्तर, दोनों ही दृष्टियों से अहितकर है। शीघ्रता करने से कार्य के गुण-दोष की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं रहता। शीघ्रता मनुष्य-हृदय के हलकेपन एवं छिछलेपन को प्रकट करती

है। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि यदि साधु शीघ्रता से आहार लेता है और तत्कालीन परिस्थिति पर कुछ भी गभीरतापूर्वक विचार नहीं करता है, तो वह सदस्यकार दोष माना जाना है।

पाणिसंज्ञाए

गृह्य-सी आधुनिक प्रतियाँ में अणुसंज्ञाए के आगे पाणिसंज्ञाए पाठ भी लिखा मिलता है। किन्तु रिती भी प्राचीन प्रति में इसका उल्लेख देने में नहीं आया। न हरिद्वार आदि प्राच्यन आचार्य ही आनन्दक सूत्र पर की ग्रन्थी टीकाओं में इस सम्बन्ध में कुछ कहते हैं। वैसे भी यह व्यर्थ-ना ही प्रतीत होता है। प्रस्तुत सूत्र में केवल गोचरचर्या सम्बन्धी लोगों की चर्चा है, यहाँ अन्न अथवा पानी की एण्डा के सम्बन्ध में कोई पृथक् संकेत नहीं है। जो भी गलत है, सर अन्न और जल दोनों पुर सामान्यतः से लगते हैं। पाणिसंज्ञाए का अर्थ होता है, पानी की एण्डा से। मैं नहीं समझता, पूरन भी आत्मागमजी मदारगज, किस आधार पर हम पद का यह अर्थ करते हैं कि—‘पानी की एण्डा पृण’ रीति में न की हो। ‘पाणिसंज्ञाए’ में वही भी तो ‘ज’ का प्रयोग नहीं है। एक और बात है—पूरन थीकी मूल पाठ में इस शब्द का उल्लेख नहीं करते, किन्तु व्याख्या करने हुए इस मूल पाठ मान कर अर्थ करते हैं। पता नहीं, मूल पाठ में न होते हुए भी यह शब्द व्याख्या में किस आधार पर मूल मान लिया गया ?

कुछ आधुनिक अशुद्ध प्रतियाँ में ‘पाणिसंज्ञाए’ भी है और उसके आगे ‘अणुभोजना’ पाठ भी है। परन्तु यह पाठ भी अर्थहीन है। म भय है, कुछ लोगों ने ‘पाणिसंज्ञाए’ से पानी और ‘अणुभोजनाए’ से अन्न भोजन समझा हो।

प्राणभोजना

मूल शब्द ‘प्राणभोजना’ है। इसका सरल रूप ‘प्राणभोजना’ बना कर कुछ विद्वान पानी और भोजन अर्थ करते हैं। परन्तु परंपरा के अनुसार प्राण भोजन के अर्थ में प्राण भोजन माना जाता है। प्राण

आदि आचार्यों की परंपरा के अनुसार यहाँ वही अर्थ उचित है, जो हमने शब्दार्थ तथा भावार्थ में प्रकट किया है। विकृत दधि तथा ओदन आदि भोजन में जो यदा-कदा रसज प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी विराधना जिस भिन्ना में होती है, वह भिन्ना प्राणभोजना कहलाती है। एक साधारण-सा प्रश्न यहाँ उठ सकता है। वह यह कि मूल शब्द में प्राणी नहीं, प्राण शब्द है, उसका अर्थ प्राणी किस प्रकार किया जा सकता है? उत्तर में कहना है कि अर्शाद्यच् प्रत्यय के द्वारा 'प्राणा अस्य सन्तीति प्राणः' इस प्रकार प्राणों वाला प्राणी भी प्राण शब्द वाच्य हो जाता है। ईर्यायिक आलोचना सूत्र में 'पाणकमणे' का अर्थ भी उक्त रीति से प्राणियों पर आक्रमण करना होता है। द्वादशावर्त वन्दन सूत्र दृच्छामि खमासमणों में 'कोहाए' आदि चार शब्द भी अर्शाद्यच् के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। 'कोहाए' = 'क्रोधया' का अर्थ होता है— 'क्रोधोऽस्य अस्तीति क्रोधा, तथा क्रोधवत्या क्रोधानुगतया।' जो आशा-तना क्रोध से युक्त हो वह क्रोधा कहलाती है। आगम में इस भाँति अर्शाद्यच् प्रत्यय का प्रयोग विपुल परिमाण में हुआ है। अतएव पाणभोयणा में भी पाण = प्राण शब्द प्राणी का वाचक ही माना जाता है।

अदृष्टादृष्टा

गृहस्थ के घर पर पहुँच कर, साधू को जो भी वस्तु लेनी हो, वह स्वयं जहाँ रक्खी हो, अपनी आँखों से देखकर लेनी चाहिए। यदि कोठे आदि में रक्खी हुई वस्तु, बिना देखे ही गृहस्थ के द्वारा लोई हुई ले ली जाती है तो वह अदृष्टादृष्ट दोष से दूषित होने के कारण अग्राह्य होती है। इस दोषोल्लेख के अन्तर में यह भाव है कि—देव वस्तु न मालूम किस सचित्त वस्तु पर रक्खी हुई हो? अतः उसके लेने में जीवविराधना दोष लगता है।

परिष्ठापनिका

परिष्ठापन से होने वाली भिन्ना, परिष्ठापनिका कहलाती है। पुण्यश्री

आत्मारामजी महाराज इसका अर्थ करते हैं—'बिना कारण आहार को परिष्ठापन करना = मेर देना।' मालूम होता है—पूज्यभी जी यहाँ परिष्ठापना समिति के भ्रम में हैं। परन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता। यहाँ ये सब शब्द नृसीयान्त तथा सप्तम्यन्त हैं और इनका सम्बन्ध अरिमुद्र परिगद्धि' से है। अतएव उक्त समय वाक्य-समूह का अर्थ होता है—कपाटोद्घाटन परिष्ठापनिका आदि दोगमहित भिक्षा के द्वारा जो अशुद्ध आहार ग्रहण किया हो तो वह पाप मिथ्या हो। अब आप देख सकते हैं कि परिष्ठापना समिति का यहाँ 'परिगृहीत' के साथ कैसे अन्वय हो सकता है? परिष्ठापना समिति का काम तो परिगृहीत = ग्रहण करने के बाद भुक्त भोज को डालते समय होता है? अतएव आचार्य नमि यहाँ परिष्ठापनिका शब्द का वही अर्थ करते हैं जो हमने शब्दार्थ और भावार्थ में किया है—'प्रदानमात्रमगत द्रव्यान्तरोग्गमनलक्षण परिष्ठापनम्, तेन निवृत्ता परिष्ठापनिका तथा।'।

अवभाषण भिक्षा

ग्रहण के घर पहुँच कर साधू का केवल भोजन और पानरूप साधारण भिक्षा ही माँगनी चाहिए। यदि वहाँ किसी विशिष्ट वस्तु की माँग करता है तो वह दोष माना जाता है। साधू को केवल उत्तर-पूर्वार्थ ही भोजन लेना है, फिर वह भले ही नाभारण हो या असाधारण। इस महान आदर्श को भूल कर यदि साधू सुन्दर आहार की प्रवचना में परा में अच्छा भोजन माँगता फिरता है तो वह साधुत्व से भी गिरता है साथ ही भ्रम की एव भ्रमण सच की अवहेलना भी करता है। हाँ अग्रजान रूप में किसी विशेष कारण पर यदि कोई विशिष्ट वस्तु किसी परिचित घर से माँगी जाय तो फिर कोई दोष नहीं होता।

उद्गम, उत्पादन, पण्य

गोचरचर्या में उपर्युक्त तीन शब्द उक्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। जबतक साधु उक्त तीनों शब्दों का वास्तविक परिचय न प्राप्त कर लें, तबतक गोचरचर्या की पूर्ण शुद्धि नहीं की जा सकती। पण्य समिति के तीन

भेद है—गवेषणैपणा, ग्रहणैपणा, परिभोगैपणा । गवेषणैपणा की शुद्धि के लिए १६ उद्गम दोष और १६ उत्पादन दोषों का परिहार करना चाहिए । उद्गम दोष गृहस्थ की ओर से लगते हैं और उत्पादन दोष साधु की ओर से । ग्रहणैपणा के साधू तथा गृहस्थ दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाले शंक्ति आदि १० दोष हैं । ये ४२ दोष हैं, जिनके कारण गृहीत आहार अशुद्ध माना जाता है । परिभोगैपणा के पाँच भेद हैं, जो माण्डले के दोषरूप में प्रसिद्ध हैं । ये दोष भोजन करते हुए लगते हैं । इन सबका वर्णन परिशिष्ट में देखिए ।

यह गोचरचर्या का पाठ गोचरी लाने और करने के बाद भी अवश्य पठनीय है ।

: १० :

काल-प्रतिलेखना-सूत्र

पठिक्कमामि

चाउक्कालं सज्जायस्म अकरणया२,
उमग्रोक्कालं भंडोऽगरणस्म अप्पडिलेहणा२,
दुप्पडिलेहणाए,
अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए,
अइक्कमे, षइक्कमे,
अइयारे, अणायारे,

जो मे देवसियो अइयारो कओ
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

श-वाचे

पठिक्कमामि=प्रतिक्रमण करती हूँ
चाउक्काल=चार काल में
सज्जायस्म=र गांध्याय के
अकरणयाए=न करने से
उमग्रोक्काल=दोनों काल में

भंडोऽगरणस्स=भारह तथा उष
वरण की
अप्पडिलेहणाए=अप्रतिलेखना से
दुप्पडिलेहणाए=दुष्प्रतिलेखना से
अप्पमज्जणाए=अप्रमार्जना से

दुष्प्रमज्जणाए = दुष्प्रमार्जना से
 अइक्कमे = अतिक्रम में
 वइक्कमे = व्यतिक्रम में
 अइयारे = अतिचार में
 अणायारे = अनाचार में
 जो = जो
 मे = मेने

देवसिओ = दिवस सम्बन्धी
 अइयारो = अतिचार = दोष
 कओ = किया हो
 तस्स = उसका
 दुक्कडं = पाप
 मि = मेरे लिए
 मिच्छा = मिथ्या हो

भावार्थ

स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हूँ। यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर-रूप चार^१ काल में स्वाध्याय न की हो, प्रातः तथा सन्ध्या दोनों काल में वस्त्र-पात्र आदि भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो, अच्छी तरह प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो, अच्छी तरह प्रमार्जना न की हो, फल-स्वरूप अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार सम्बन्धी जो भी दैवसिक अतिचार = दोष किया हो तो वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या = निष्फल हो।

विवेचन

संसार में काल की बड़ी महिमा है। जो मनुष्य, जो समाज, जो राष्ट्र समय को आदर करते हैं, उचित समय से लाभ उठाते हैं, वे अम्युदय के गौरव-शिखर पर पहुँच कर संसार को चमत्कृत कर देते हैं। इस के विपरीत जो आलस्यवश समयानुकूल प्रवृत्ति न कर सकने के

१—'दिया पढमचरिमासु, रत्तिपि पढमचरिमासु च पोरसीसु सज्जाओ अवत्स फातव्वो।' इति जिनदासमहत्तराः।

'चतुर्कालं-दिवसरजनी-प्रथम—चरमप्रहरेषु इत्यर्थः।' इति आचार्य हरिभद्राः।

कारण समय का लाभ नहीं उठा पाते, वे प्रगति की दौड़ में मर्धमा पीछे रह जाते हैं, उनके भाग्य में पश्चात्ताप के अनेकिक और बुद्ध नहीं रहता ।

मनुष्य का कर्तव्य है कि—यह योजना के अनुसार, प्राणाम के मुना-
दिक प्रगति करे । जिस कार्य के लिए जो समय निश्चित किया हो, उस
कार्य को उसी समय करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए । मनुष्य यह है,
जो दौड़ पड़ी की सुर्र की तरह पूर्ण नियमित दग से कार्य करता है ।
स्वीकृत योजना का परित्याग कर बरा भी इधर उधर हेर फेर से किया
जाने वाला कार्य रस प्रद एव शक्ति प्रद नहीं होता । दूर क्यों जाएँ, पाग
ही देखिए । जब मनुष्य को कड़ाके की भूल लगी हो और उस समय
ठंडा पानी पीने के लिए लाया जाय तो कैना रहेगा ? और जब मनु-
उप प्यास लगी हो तब मुन्दर मिष्ट भोजन उपस्थित किया जाय तो क्या
आनन्द आएगा ? प्रत्येक कार्य अपने समय पर ही ठीक होता है ।
समयविरुद्ध अन्धे से अच्छा कार्य भी अभद्र एवं अरुचिकर हो जाता है ।
मानव जीवन के लिए यह अनमोल समय मिला है । इसे व्यर्थ ही प्रमा-
दयश बर्बाद न करो । भगवान महावीर के उपदेशानुसार प्रत्येक सत्कर्म
को, उसके निश्चित समय पर ही करने के लिए तैयार रहो । किन्तु
ही भ्रम हो, गड़बड़ हो, किन्तु अपने निश्चित कर्तव्य से न चुरो ।
'काले काक समावरे'—उत्तराध्ययन सूत्र ।

लोकदृष्टि की भाँति लोकांतर दृष्टि में भी अलोकित किया का बड़ा
महत्त्व है । साधु का जीवन सर्वथा नियमित रूप से गति करता है । युद्ध
में चढ़े हुए सेनापति के लिए जिस प्रकार प्रत्येक क्षण अमूल्य होता है
उसी प्रकार कर्म शत्रुओं से युद्ध में सलग्न साधक भी जीवन का प्रत्ये
क्षण अमूल्य समझता है । कर्तव्य के प्रति जगन्नी भी उपेक्षा समक
योजनाओं को धूल में मिला देती है । योजना के अनुसार प्रगति न करने
से, मनुष्य, जीवन क्षेत्र में विछुड़ जाता है । जीवन की प्रगति के प्रत्ये
, अंग को अलोकित रखने के लिए काल की प्रतिरोधना करना, अती

आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्यायन में काल-प्रतिलेखना के सम्बन्ध में एक बहुत ही सुन्दर प्रश्नोत्तर है :—

कालपडिलेहण्याए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

कालपडिलेहण्याए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।

“भगवन् ! काल की प्रतिलेखना से क्या फल होना है ?”

“काल की प्रतिलेखना से ज्ञानावरण कर्म का ज्ञय होता है।”

उपयुक्त सूत्र कालप्रतिलेखना का है। सूत्रकार ने अपनी गंभीर भाषा में कालोचित क्रिया का महत्त्व बहुत ही सुन्दर दंग से वर्णन किया है। आगम में कथन है कि दिन के पूर्वाह्न तथा अपराह्न में तथैव रात्रि के पूर्व भाग तथा अपर भाग में—इस प्रकार दिन और रात्रि के चारों कालों में, नियमित स्वाध्याय करनी चाहिए। इसी प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल दिन के दोनों कालों में नियमित रूप से वस्त्र पात्र आदि की प्रतिलेखना भी आवश्यक है। यदि आलस्यवश उक्त दोनों आवश्यक कर्तव्यों में भूल हो जाय तो उसकी शुद्धि के लिए, प्रतिक्रमण करने का विधान है।

स्वाध्याय

भारतीय संस्कृति में स्वाध्याय का स्थान बहुत ऊँचा एवं पवित्र माना गया है। हमारे पूर्वजों ने जो भी ज्ञानराशि एकत्रित की है और जिसे देखकर आज समस्त संसार चमत्कृत है, वह स्वाध्याय के द्वारा ही प्राप्त हुई थी। भारत जब तक स्वाध्याय की ओर से उदासीन न हुआ तब तक वह ज्ञान के दिव्य प्रकाश से जगमगाता रहा।

पूर्वकाल में जब भारतीय विद्यार्थी गुरुकुल से शिक्षा समाप्त कर विदा होता था तो उस समय आशीर्वाद के रूप में आचार्य की ओर से यही महावाक्य मिलता था कि—‘स्वाध्यायान्मा प्रमदः।’ इसका अर्थ है—‘वत्स ! भूलकर भी स्वाध्याय करने में प्रमाद न करना।’ कितना सुन्दर उपदेश है ? स्वाध्याय के द्वारा ही हित और अहित का ज्ञान होता

है, वायु पुष्प का पत्रा नक्षत्र है, वनीय अर्चनेय का ज्ञान रक्षा है ।
 स्वाध्याय हमारे अन्धकारपूर्ण जीवन वष के लिए दीपक के समान है ।
 त्रिम प्रकाश दीपक के द्वारा हमें मार्ग के अंधे छोर की तरफ का पत्रा
 चलता है और तदनुसार गगन ऊपर-गोबर मार्ग की छोट का अंधे
 मार्ग सुनारे वष पर चलते हैं, दीपक उनी प्रकाश गायत्रि के द्वारा हम
 घन छोर अंधम का पत्रा लगा लेते हैं और त्रिम प्रकाश का आभार
 ले ले अंधम का छोड़कर धर्म के वष पर नक्षत्र जीवन यात्रा की
 प्रशस्त बना सकते हैं ।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दन वन की उमा ही है । त्रिम
 प्रकाश नन्दन वन में प्रत्येक दिशा की छोर धर्म से गगन हृदय, मन की
 आनन्दित करने के लिए होते हैं, यहाँ जाकर मनुष्य गगन प्रकाश की तुल्य
 बमेश गम्यन्धी भ्रमते भूष जाता है, उभी प्रकाश स्वाध्याय नन्दन
 वन में भी एक से एक सुन्दर एवं शिवा पर हरष देगने को मिलने हैं,
 तथा मन दुनियाधी भ्रमों में भ्रम होकर एक अलौकिक आनन्द-लोक
 में विचरण करने लगता है । स्वाध्याय करते समय कभी महापुरुषों के
 जीवन की परिण एवं दिव्य भौती आँखों के नामने आती है, कभी स्वर्ग
 और नरक के हरष धर्म तथा अधर्म का परिणाम दिखाने लगते हैं ।
 कभी महापुरुषों की अमृतनाली की पुनीत धारा नदनी हुई मिलती है,
 कभी तर्क विवर्ग की हाई उमान बुद्धि की बहुत ऊँचे अनन्त विचारकाश
 में उठा ले जाती है । और कभी कभी भद्रा, भक्ति एवं महाचार के
 ज्योतिर्मय आदर्श हृदय को सद्गद् कर देते हैं । शास्त्राचन हमारे लिए
 'यत् पिबेत् तद् ब्रह्मपिबेत्' का आदर्श उपस्थित करता है । अब कभी आपका
 हृदय सुभा हुआ हो, मुग्धभा हुआ हो, गुम्हें चारों ओर अन्धकार ही
 अन्धकार घिरा नजर आता हो, कदम-कदम पर विप्रगथाओं के जाल
 बिछे हुए हों तो आप किसी उच्चकोटि के परिण आध्यात्मिक ग्रन्थ का
 स्वाध्याय कीजिए । आप का हृदय ज्योतिर्मय हो जायगा, चारों ओर
 प्रकाश ही प्रकाश शिवा नजर आयगा, विप्रगथाई चूर-चूर होनी

मानूँगी, एक महान् दिव्य अलौकिक स्फूर्ति, तुम्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर करती हुई प्राप्त होगी ।

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास भी स्वाध्याय के आदर्श पुजारी हैं । आप परमात्म-ज्योति के दर्शन पाने का साधन एकमात्र स्वाध्याय ही बतलाते हैं—

स्वाध्यायाद् योगमासीत्,
योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याय—योगसंपत्त्या,
परमात्मा प्रकाशते ॥
(योग० १.१ २८—व्यासभाष्य)

—‘स्वाध्याय से ध्यान और ध्यान से स्वाध्याय की साधना होती है । जो साधक स्वाध्यायमूलक योग का अच्छी तरह अभ्यास कर लेता है, उसके सामने परमात्मा प्रकट हो जाता है ।’

भगवान् महावीर तो स्वाध्याय के केंद्र पक्षपाती हैं । बारह प्रकार की तपः साधना में स्वाध्याय का स्थान भी रक्खा गया है और स्वाध्याय तप को बहुत ऊँचा अन्तरंग तप माना गया है । अपने अन्तिम प्रवचनस्वरूप वर्णन किए गए उत्तराध्ययन-सूत्र में आप बतलाते हैं कि—‘सज्जापेणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेह ।’ ‘स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है, ज्ञान का अलौकिक प्रकाश जगमगा उठता है ।’ आप देखते हैं—जीवन में जो भी दुःख है, अज्ञान-जन्य ही है । जितने भी पाप, जितनी भी बुराइयाँ हो रही हैं, सबके मूल में अज्ञान ही छुपा बैठा है । अस्तु, यदि अज्ञान का नाश हो जाय तो फिर किस चीज़ की कमी रह जाती है ? मनुष्य ने जहाँ ज्ञान, विवेक, विचार की शक्ति का प्रकाश पाया, वहाँ उसने संसार का समस्त ऐश्वर्य भर पाया ।

तं श्रन्नाणीं कम्मं,

सुखेदं चट्ठयाहिं वामसोडीहिं ।

तं नाणीं तिहिं गुत्तो,

सुखेदं उप्पाममित्तेण ॥ ११३ ॥

—संघारसूत्रा

—‘श्रद्धाही मायक चराओ वयों की चटोर ताः मायना के द्वारा जिनने कर्म नष्ट करना है, जानी मायक मन, वचन और शरीर का वश में करता हुआ उनने ही कर्म एक क्षान मर में लय कर डालता है।’

स्वाध्याय धारणी की सम्म्या है । इसके द्वारा हृदय का मन धुलकर साफ हो जाता है । स्वाध्याय श्रन्तः मोक्षण है । हमी के श्रम्भ्याम मे गहन मे गुरुय आत्मोन्नति करते हुए महात्मा, परमात्मा हो गए हैं । श्रन्तर का ज्ञानदीपक बिना स्वाध्याय के प्रग्न्यस्तित हो ही नहीं सकता । -

यथाग्निर्दारुमध्यस्थो,

नात्तिष्ठेन्मयनं विना ।

विना धाम्भ्यामयोगेन,

ज्ञानदीपस्तथान हि ॥

—योग सिम्भारनिपट्

—‘जैसे लकड़ी में रखी हुई अग्नि मध्यम के बिना प्रकट नहीं होती, उभी प्रकार ज्ञानदीपक, जो हमारे भीतर ही निद्रमान है, स्वाध्याय के श्रम्भ्याम के बिना प्रदीप नहीं हो सकता ।’

अब यह विचार करना है कि स्वाध्याय क्या समु है ? स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ हैं —

‘अध्ययनं श्रम्भ्याय’, सोमनोऽध्याय स्वाध्याय ।—आन. ४ अ. १
सु + अध्यय अर्थान् सुदु अध्यय = अध्ययन का नाम स्वाध्याय है ।

निष्कर्ष यह है कि—आत्मकल्याणकारी श्रेष्ठ पठन-पाठनरूप अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है ।

स्थानांग-सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि स्वाध्याय का अर्थ करते हैं—सुष्ठु = भलीभाँति आ = मर्यादा के साथ अध्ययन करने का नाम स्वाध्याय है । 'सुष्ठु आ = मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः'—स्था० २ ठा० २३० ।

वैदिक विद्वान् स्वाध्याय का अर्थ करते हैं—'स्वयमभ्ययनम्'—किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं ही अध्ययन करना, अध्ययन किये हुए का मनन और निदिध्यासन करना । दूसरा अर्थ है—'स्वस्यात्मनोऽभ्ययनम्'—अपने आपका अध्ययन करना और देखभाल करते रहना कि अपना जीवन ऊँचा उठ रहा है या नहीं ?

जैन शास्त्रकारों ने स्वाध्याय के पाँच भेद बतलाए हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ।

गुरुमुख से सूत्र पाठ लेकर, सूत्र जैसा हों वैसा ही उच्चारण करना, वाचना है । वाचना के द्वारा सूत्र के शब्द-शरीर की पूर्ण-रूप से रक्षा की जाती है । अतएव हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, घोष हीन आदि दोषों से बचने की सावधानी रखनी चाहिए ।

स्वाध्याय का दूसरा भेद पृच्छना है—सूत्र पर जितना भी अपने से हो सके तर्क-वितर्क, चिन्तन, मनन करना चाहिए और ऐसा करते हुए जहाँ भी शंका हो गुरुदेव से समाधान के लिए पूछना चाहिए । हृदय में उत्पन्न हुई शंका को शंका के रूप में ही रखना ठीक नहीं होता ।

सूत्र-वाचना विस्मृत न हो जाय, एतदर्थ सूत्र की बार-बार गुणनिका = परिवर्तना करना, परिवर्तना है !

सूत्रवाचना के सम्बन्ध में तात्त्विक चिन्तन करना, अनुप्रेक्षा है । अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण अंग है । बिना अनुप्रेक्षा के ज्ञान चमक ही नहीं सकता ।

अथ हि सूत्र-वाचना, पृच्छना, परिर्त्तना और अनुप्रेक्षा के शब्द नम्र का सामानिक रूप सुन्द हो जाय, तब उन-वक्त्याय के लिए धर्मो पदेश करना धर्म कथा है ।

भगवान् महावीर ने किनना अधिग मुन्दर वैजानिक धर्म, स्वाध्याय का रक्ता है ? शास्त्रों के मुन्दर और अर्थ दोनों शरीरों की रक्षा के लिए भिन्नी मुन्दर योजना है ? यदि उपर्युक्त पद्धति से शास्त्रों का स्वाध्याय-अध्ययन किया जाय तो माधक अस्वस्थ ही ज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय प्रकाश पा सकता है । कुछ भी अध्ययन न करके धर्म कथा के मन्त्र पर पहुँचने वाले कथक्कट जग हम और नन्द दे नि धर्म कथा का नम्र र्त्तना है ?

आजकल स्वाध्याय के नाम पर नितुल अर्थहीन परंपरा चल रही है । आज के स्वाध्यायी लोग, स्वाध्याय का अभिप्राय यही समझते हैं कि किसी धर्म पुस्तक का निच कुछ पाठ कर लेना, और धर्म ! न शुद्ध उच्चारण की और ध्यान दिया जाता है और न अर्थ का ही कुछ चिन्तन मनन होता है । स्वाध्याय के लिए केवल शास्त्र के शब्द शरीर को धर्म कर लेने में ही काम नहीं चल सकता । यद्यपि शुद्ध उच्चारण मात्र से भी कुछ लाभ अवश्य होता है । क्योंकि शब्दों के उच्चारण से भी मानों का सज्जन तरंगित होता है और उसका जीवन पर प्रभाव पड़ता है । परन्तु हम पूरा लाभ तभी उठा सकेगे, जब कि पाठ करते समय पृच्छना, परिर्त्तना, अनुप्रेक्षा का भी ध्यान रखेंगे ।

स्वाध्याय में उन पैदा करने के लिए वर्तमान युग की भाषा में भी कुछ नियम ऐसे हैं, विन पर विचार करने की आवश्यकता है । यदि अच्छी तरह से निम्नोक्त नियमों पर ध्यान दिया जाय तो स्वाध्याय का अपूर्व आनन्द प्राप्त हो सकता है ।

(१) एकामता—जब हम स्वाध्याय कर रहे हों तो हमारा ध्यान चारों ओर से हटकर पुस्तक के शब्दों और अर्थों की ओर ही होना चाहिए । इसके लिए आवश्यक है कि जो कुछ हम सुल से पाठ करें,

उसे अपने कानों से भी ध्यान पूर्वक सुनते जायँ । जिह्वा और श्रोत्र दो इन्द्रियों के एक साथ काम करने से मन अवश्य एकाग्र हो जाता है । अच्छा हो, यदि पाठ करते समय प्रत्येक पंक्ति को ठहर-ठहर कर दो तीन बार पढ़ा जाय ।

(२) नैरन्तर्य—स्वाध्याय में जहाँ तक हो सके अन्तर (विच्छेप) नहीं होना चाहिए । थोड़ा-बहुत स्वाध्याय नित्य नियमपूर्वक करते ही रहना चाहिये । परंपरा की कड़ी टूटते ही स्वाध्याय की वही हालत होती है जैसी कि साँकल की कड़ी टूटने पर साँकल की होती है ।

(३) विषयोपरति—स्वाध्याय के लिए ग्रन्थों का चुनाव करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारा उद्देश्य सांसारिक विषयवासनाओं के जीवन से ऊपर उठना है । अतः रागद्वेष, घृणा शृंगार आदि की पुस्तकें न पढ़ कर सदाचार, भक्ति और कर्तव्य-सम्बन्धी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिएँ ।

(४) प्रकाश की उत्कण्ठा—स्वाध्याय करते समय मन में यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि पाठ के द्वारा हमारी अन्तःस्थ आत्मा में प्रकाश फैल रहा है । संकल्प का बल महान होता है, अतः स्वाध्याय के समय का शुद्ध संकल्प अवश्य ही अन्तर्ज्योति प्रदान करेगा ।

(५) स्वाध्याय का स्थान—स्वाध्याय के लिए पवित्र एवं शुद्ध वातावरण से सम्पन्न स्थान होना चाहिए । जो स्थान कोलाहल एवं गंदे दृश्यों वाला हो, वह स्वाध्याय के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होता है ।

प्रतिलेखना

साधु के पास जो भी वस्त्र पात्र आदि उपधि हो, उसकी दिन में दो बार-प्रातः और सायं-प्रतिलेखना करनी होती है । उपधि को बिना देखे-भाले उपयोग में लाने से हिंसा का दोष लगता है । उपधि में सूक्ष्म जीवों के उत्पन्न हो जाने की अथवा बाहर के जीवों के आश्रय लेने की संभावना रहती है; अतः प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए जीवों को देखना चाहिए, और यदि कोई जीव दृष्टिगत हो तो उसे

प्रमार्जन के द्वारा किसी भी प्रकार की बीजा पहुँचाए बिना एकान्त स्थान में धीरे से छोड़ देना चाहिए। प्रथम अहिमात्र की मित्रिणी अधिक सूक्ष्म माधना है। धर्म के प्रति मित्रिणी अधिक जागरूकता है। भगवान् महाश्री, अपने शिष्यों को, वर्तमान क्षेत्र में, यहाँ भी उपेक्षित नहीं होने देते।

कम्बुवाय आदि को अच्छी तरह गोलेपर चारों ओर से देवना, प्रति लेवना है और रजोहरण तथा पुँजणी के द्वारा अच्छी तरह माफ करना, प्रमार्जना है। पात्रादि को बिल्कुल ही न देवना, अप्रतिलेवना है। और इसी प्रकार बिल्कुल प्रमार्जन न करना, अप्रमार्जन है। आलम्ब्यश शीघ्रता में अधिधि से देवना, दुप्रतिलेवना है। और इसी प्रकार शीघ्रता में बिना विधि से उपयोग हीन दशा में प्रमार्जन करना, दुप्रमार्जन है। प्रतिलेवना के सम्बन्ध में जानकरी की इच्छा रखने वाले सज्जन उत्तराध्वरन सूत्र का समाचारी अध्ययन अवलोकन करे।

चार प्रकार के दोष

प्रत्येक मन में लगने वाले कितने भी दोष होते हैं, उनके चार प्रकार हैं—(१) अतिव्रत, (२) व्यतिव्रत, (३) अतिचार (४) अनाचार।

(१) अतिक्रम—ग्रहण किए हुए मन अथवा प्रतिज्ञा को भंग करने का सहस्र करना।

(२) व्यतिक्रम—व्रत भंग करने के लिए उद्यत होना।

(३) अतिचार—व्रत भंग करने के लिए साधन जुटा लेना तथा एक देश से मन किंवा प्रतिज्ञा को खण्डित करना।

(४) अनाचार—व्रत को सर्वथा भंग करना।

उदाहरण के लिए आधानर्मा आहार का उदाहरण अधिक स्पष्ट है इस पर से दोनों की कल्पना ठीक तरह समझ में आ सकती है।

—जहाँ अनुसूची मनु आपाकर्मों आहार तैयार कर साधु नमस्कार दे और नाम जानते हुए भी उस निमन्त्रण को स्वीकार कर

आधाकर्मों-आहार लेने की इच्छा करे और पात्र लेकर उठ खड़ा हो, तो वहाँ तक अतिक्रम दोष होता है। आधाकर्मों आहार लेने के लिए उपाश्रय से बाहर पैर रखने से लेकर घर में प्रवेश करने, भोली-खोलकर फैलाने तक व्यतिक्रम दोष है। आधाकर्मों आहार ग्रहण करने से लेकर उपाश्रय में आकर खाने की तैयारी करने तथा ग्रास हाथ में उठाने तक अतिचार दोष है। और ग्रास मुख में डालने तथा खा लेने पर अनाचार दोष लगता है। इन चारों ही दोषों में उत्तरोत्तर दोष की अधिकता है।

अतिक्रमादि के लिए, ऊपर आधाकर्मदूषित आहार के ग्रहण का जो उदाहरण दिया है, उसके लिए जिनदास महत्तर-कृत आविश्य चूर्णि देखनी चाहिये। वहाँ विस्तार से अतिक्रमादि के स्वरूप व अनिरूपण किया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने भी जिनदास महत्तर के उल्लेखानुसार अतिक्रमादि का विवेचन किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक प्राचीन प्राकृत-गाथा उद्धृत की है, जो सञ्ज्ञेऋत्विजिशासु के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है। लेखक भी उसको उद्धृत करने का भाव संवर नहीं कर सकता।

“आधाकम्म-निमन्तण,

पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ।

पय-भेयाइ यइक्कम,

गहिए तइए यरो गलिए ॥”

[आधाकर्म-निमन्त्रणे,

प्रतिश्रयवति अतिक्रमो भवति ।

पद-भेदादि व्यतिक्रमो,

गृहीते तृतीय इतरो गिलिते ॥]

अहिमा, सत्य आदि महान्न रूप मूल गुणों में अनिष्टम, व्यनिष्टम तथा अतिचार ने कारण मलिनाता आती है, अर्थात् चारित्र्य का मूल रूप दूषित हो जाता है परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं होता, अतः उसकी शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण के द्वारा करने का विधान है। परन्तु यदि मूल गुणों में जान बूझ कर अनाचार का दोष लग जाए तो चारित्र्य का मूल रूप ही नष्ट हो जाता है। अतः उक्त दोष की शुद्धि के लिए केष न आलोचना एवं प्रतिक्रमण ही काफी नहीं है, प्रत्युत कठोर प्रायश्चित्त लेने का अथवा कुछ विशेष दुःप्रसंगों पर नष्ट सिरे से अतः प्रहण करने का विधान है।

परन्तु उत्तर गुणों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उत्तर गुणों में तो अतिक्रमादि चारों ही दोषों से चारित्र्य में मलिनाता आती है, परन्तु पूर्णतः चारित्र्य भग्न नहीं होता। स्वाध्याय और प्रतिलेखना उत्तर गुण है। अतः प्रत्युत काल प्रतिलेखना सूत्र के द्वारा चारों ही दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

शास्त्रोक्त समय पर स्वाध्याय या प्रतिलेखना न करना, शास्त्र निषिद्ध समय पर करना, स्वाध्याय एवं प्रतिलेखना पर श्रद्धा न करना, तथा इस सम्बन्ध में मिथ्या प्रकृष्टा करना या उचित विधि से न करना, इत्यादि रूप में स्वाध्याय और प्रतिलेखना सम्बन्धी अतिचार दोष होते हैं।

यह काल प्रतिलेखना सूत्र, स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना करने के राह भी पड़ा जाता है।

: ११ :

असंयम-सूत्र

पडिक्कमामि

एगविहे

असंजमे

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ, एगविहे = एक प्रकार के
निवृत्त होता हूँ असंजमे = असंयम से

भावार्थ

अविरतिरूप एक-विध असंयम^१ का आचरण करने से, जो भी
अतिचार = दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

विवेचन

मनुष्य क्या है ? इसका उत्तर कविता की भाषा में है—‘कामनाओं का
समुद्र ।’ संसारी मनुष्य की कामनाएँ अनन्त हैं । कौन क्या प्राप्त नहीं
करना चाहता ? जिस प्रकार समुद्र में हजारों, लाखों, करोड़ों तरंगों

१—‘संजमो सम्मं उवरमो ।’ इति निनदास महत्तराः ।

‘असंयमे अविरतलक्षणे सति प्रतिषिद्धकरणादिना यो मया देव-
सिकोऽतिचारः कृत इति गम्यते’ इत्याचार्य हरिभद्राः ।

उच्चावच भाव से इधर उधर सतत दोनायमान रहती है, उसी प्रकार मनुष्य के मन में भी कामनाओं की अनन्त तरंगें तूफान मचाए रहती हैं। किसी उर्बे कलमत्ते जैसे विशाल शहर के चौगड़े पर पड़ हो जाए, कामना समुद्र का प्रत्यक्ष हो जायगा। हजारों नमूण्ड पूर्ण से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व, दक्षिण से उत्तर, उत्तर से दक्षिण आ जा रहे हैं। सबकी अपनी-अपनी एक धुन है अपनी-अपनी एक कहना है। कौन इस नर मुण्डों के समुद्र को इधर से उधर, उधर से इधर प्रवारित कर रहा है ? उत्तर है—कामना। ये रेले इतनी तेज राज क्यों दौड़ाई जा रही हैं ? ये भीमपाथ अलयान समुद्र का यह स्थल चीरते हुए क्या चीले मार रहे हैं ? ये वायुयान क्या इतनी शीघ्रता से आकाश में दौड़ाये जा रहे हैं ? कहना पड़ेगा, 'कामना के लिए।' कामनाओं के कारण आज, आज क्या अनादि से स सार म भयकर उथल पुथल मच रही है। 'इच्छाद्वा आनाससमा अणुतिवा।' 'कामना हृदये वास, ससार इति कीर्तित।'।

परन्तु पक्ष है—मनुष्य को कामनाओं से क्या मिला ? सुख ? सुख नहीं दुःख ही मिला है। आज तक कोई भी मनुष्य, अपनी कामनाओं के अनुसार सुख नहीं पा सका। रक का भी देखा है, राजा को भी, सभी इच्छापूर्ति के अभाव में व्याकुल हैं। मनुष्य नाम धारी जीव, अपनी आशाओं की अधि का पार पाले, यह सर्वथा असम्भव है। और जब तक कामनाओं की पूर्ति न हो जाय, तब तक शान्ति कहाँ ? सुख कहाँ ? अतएव हमारे शीतराग महापुरुषों ने कामनाओं की पूर्ति में नहीं, कामनाओं के नियन्त्रण में ही, सुतोष में ही सुख माना है। कामनाओं के सम्मुख में किसी न किसी मर्यादा का आश्रय लिए चिन्ता काम चल ही नहीं सकती। शास्त्रीय परिभाषा में इन्हीं का नाम सयम है। 'स + यम अर्थोत् सावधानी के साथ मल्ली भौति इच्छाओं का नियमन करना। स यम मनुष्यता की कसौटी है। जिसमें जितना अधिक स यम उसमें उतनी ही अधिक मनुष्यता।

संयम का विरोधी असंयम है। यही समस्त सांसारिक दुःखों का मूल है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले रागद्वेष-रूप कषाय भाव का नाम असंयम है। असंयम के होने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में परिणति नहीं करता, सदाचार में प्रवृत्ति नहीं करता। असंयमी की दृष्टि बहिर्मुखी होती है, अतः वह पुद्गल-वासना को ही श्रेय समझने लगता है। अतएव प्रस्तुत सूत्र में असंयम के प्रति-क्रमण का यह भाव है कि—संयम-पथ पर चलते हुए यदि कहीं भी प्रमादवश असंयम हो गया हो, अन्तर्हृदय साधना पथ से भटक गया हो, तो वहाँ से हटाकर पुनः उसे आत्म-स्वरूप में केन्द्रित करता हूँ।

संग्रहनय की दृष्टि से सब प्रकार के असंयमों का सामान्यतः एक असंयम पद से ग्रहण कर लिया है। आगे आने वाले सूत्रों में विशेष रूप से असंयमों का नामोल्लेख किया गया है।

१. प्राचीन प्रतियों में एक विध असंयम से लेकर अन्तिम 'मिच्छामि दुःकण्डं' तक एक ही पाठ माना है। यह मानना है भी ठीक अतएव यहाँ से लेकर, सब सूत्रों का सम्बन्ध अन्तिम 'मिच्छामि दुःकण्ड' से किया जाता है। यहाँ पृथक् पृथक् सूत्रों का विभाग, केवल विप्रयावबोध की दृष्टि से किया गया है। सूत्र का क्रम-भंग करना अपना उद्देश्य नहीं है।

: १२ :

बन्धन-सूत्र

पट्टिकमामि

दोहिं बंधणेहि—

राग-बंधणेणं

दोम-बंधणेणं ।

शब्दार्थ

पट्टिकमामि = प्रति प्रमण करना है राग-बंधणेणं = राग के बन्धन से
दोहिं = दोनों दोम-बंधणेणं = द्वेष के बन्धन से
बंधणेहि = बन्धनों से

भावार्थ

दो प्रकार के बन्धनों से छगे दोषों का प्रतिक्रमण करता है, धर्मान् उनसे पीछे हटता है । (कौन से बन्धनों से ?) राग के बन्धन से, द्वेष के बन्धन से ।

विवेचन

जन्म-मरण रूप संसार विषय के दो ही जीव हैं—राग और द्वेष । राग आसक्ति को कहते हैं और द्वेष अप्रीति को । मनुष्य ने शरीर इन्द्रियों को ही मग बुझ माना हुआ है, इन्हीं की पंचिण्या में सर्वदय

निष्ठावर किया हुआ है। अतएव जब शरीर और इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली कोई इष्ट अवस्था होती है तो उससे राग करता है और जब शरीर और इन्द्रियों को अच्छी न लगने वाली कोई विषयीत अनिष्ट अवस्था होती है तो उससे द्वेष करता है। इस प्रकार कहीं राग तो कहीं द्वेष—इन्हीं दुर्विकल्पो में मानव जीवन की अमूल्य वस्तुएँ बर्बाद हो रही हैं। जब तक राग-द्वेष की मलिनता है, तब तक चारित्र की शुद्धता किसी भी तरह नहीं हो सकती। चारित्र की शुद्धता की क्या बात? कभी-कभी राग-द्वेष का आधिक्य तो चरित्र को मूल से ही नष्ट कर डालता है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति चारित्र-मोह के उदय से होती है, और चारित्र-मोह संयम-जीवन का दूषक एवं नाशक माना गया है।

यदि अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो राग-द्वेष हमारे दुर्बल मन की ही कल्पनाएँ हैं। किसी वस्तु के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वस्तु अपने स्वरूप में न कोई अच्छी है और न कोई बुरी। मनुष्य की कल्पना ही उन्हें अच्छी-बुरी माने हुए है। उदाहरण के लिए निशानाथ चन्द्र को ही लीजिए। आकाशमण्डल में चन्द्रमा के उदय होते ही चकोर हर्षोन्मत्त हो जाता है तो चकवा चकवी शोक से व्याकुल हो उठते हैं। चन्द्रमा का उदय देखकर चोर दुःखित होता है तो साहूकार

१. 'न काम-भोगा समयं उवेन्ति,

न यावि भोगा विगडं उवेन्ति।

जे तप्पओसी य परिग्गहीय

सो तेसु मोहा विगडं उवेह् ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२। १०१

—काम भोग अर्थात् मांसारिक पदार्थ अपने-आप न तो किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में राग-द्वेष रूप विकृति ही पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना विकल्प बनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

हर्षित । अथ स्तादृष्ट, चन्द्रमा दुःखरूप है अथवा सुखम् ? आप कहेंगे, दोनों में से एक भी नहीं । यदि वह दुःख रूप होता तो प्रत्येक का दुःख ही देता । और सुखरूप ही होता तो प्रत्येक को सुख ही देता । परन्तु ऐसा है क्यों ? वह तो एक ही समय में भिन्नभिन्न व्यक्तियों को भिन्नभिन्न रूप में सुख दुःख का जनक होता है । अतएव प० टोडरमल जी राग द्वेष करने को भिण्या भाव प्रस्ताते हैं । किसी वस्तु में उस वस्तु से निरपेक्ष भावना करना ही तो भिण्या भाव है और वहाँ पर द्रव्य में इष्टता तथा अनिष्टता कुछ भी नहीं है, परन्तु रागद्वेष के द्वारा उसमें वह भी जाती है । अतएव राग द्वेष, भिण्या नहीं तो क्या है ?

जैन धर्म का सम्पूर्ण साहित्य, राग द्वेष के विरोध में ही सज्जद किया गया है । जैन धर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है, फलतः उसने राग द्वेष की निवृत्ति पर अत्यधिक बल दिया है । रागद्वेष का घगए बिना तपश्चरण का, साधना का कुछ अर्थ नहीं रहता । आचार्य मुनिचन्द्र का एक श्लोक है—‘रागद्वेषौ यदि स्यातां तबला किं प्रयोजनम् ?’

प्रस्तुतग्रन्थ में रागद्वेष को बन्धन कहा है । रागद्वेष के द्वारा अग्निष्व कर्मों का ज्वन होता है, अतः वे बन्धन पदवाच्य हैं । ‘बद्धपतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद् बन्धनम्’—आचार्य नाम ।

आचार्य जिनदास महत्तरकृत रागद्वेष की व्याख्या का भाव यह है—जिसका द्वारा आत्मा कर्म से रंगा जाता है, वह मोह की परिणति राग है और जिस मोह की परिणति से किसी से शत्रुता, घृणा, शोध, अहंकार आदि किया जाता है वह द्वेष है । ‘रजनं रज्यते वाऽनेन जीव इति राग , राग एव बन्धनम् । द्वेषण द्विषत्यनेन इति वा द्वेष , द्वेष एव बन्धनम् ।’ आचार्य चूषि ।

आचार्य हरिमद्र, अपनी आवश्यक टीका में एक श्लोक उद्धृत करते हैं, जो रागद्वेष से होने वाले कर्मों पर अच्छा प्रकाश डालता है —

‘स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य,
रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
राग-द्वेषाक्लिन्नस्य,
कर्म - बन्धो भवत्येवम् ॥’

—अर्थात् जिस मनुष्य ने शरीर पर तेल चुपड़ रक्खा हो, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से जैसे नन जाता है, वैसे ही राग-द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए आत्मा पर कर्म-रज का बन्ध हो जाता है ।

: १३ :

दण्ड-सूत्र

पट्टिकमामि

तिहि दंडेहि—

मनदंडेण

वचनदंडेण,

कायदंडेण ।

शब्दार्थ

पट्टिकमामि = प्रति क्रमण करता हूँ मनदंडेण = मनदण्ड से
तिहि = तीनों वचनदंडेण = वचन दण्ड से
दंडेहि = दण्डों से कायदंडेण = कायदण्ड से

भावार्थ

तीन प्रकार के दण्डों से लगे दोषों का प्रति क्रमण करता हूँ ।
(कौन से दण्डों से ?) मनोदण्ड से, वचन-दण्ड से, काय-
दण्ड से ।

विवेचन

दुष्पयुक्त मन, वाणी और शरीर को आध्यात्मिक भाषा में दण्ड कहते हैं । जिसके द्वारा दण्डित हो, ऐश्वर्य का अपहार-नाश हो, वह दण्ड कहलाता है । लौकिक द्रव्य-दण्ड लाठी आदि हैं, उनसे द्वारा शरीर दण्डित होता है । और उभयुक्त दुष्पयुक्त मन आदि भाव-दण्डत्रय से

चारित्र्य आध्यात्मिक ऐश्वर्य का विनाश होने के कारण आत्मा दण्डित= धर्मभ्रष्ट होता है । 'दण्डयते चारित्र्यैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एमिरात्मेति दण्डाः द्रव्यभावभेदभिज्ञाः । भावदुर्दैरिहाधिकारः' मनः-प्रभृतिभिश्च दुष्प्रयुक्ते दण्डयते आत्मेति । आचार्य हरिभद्र ।

आगमकार उक्त दण्डों से बचने के लिए साधक को सर्वथा सावधान करते हैं । इस सम्बन्ध में जरा सी भूल भी आत्मा का पतन करने वाली है ।

मन, वचन, शरीर की अशुभ प्रवृत्ति दण्ड है । इस अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा ही अपने आप को तथा दूसरे प्राणियों को दुःख पहुँचता है । किस दण्ड से किस प्रकार दुःख पहुँचता है ? किस प्रकार श्रेष्ठ आचार मलिन होता है ? इसके लिए नीचे की तालिका पर दृष्टिपात कीजिए—

मनो-दण्ड

(१) विपाद करना, (२) निर्दय विचार करना, (३) व्यर्थ कल्पनाएँ करना, (४) मन को वश में न करके इधर-उधर भटकने देना, (५) दूषित और अपवित्र विचार रखना, (६) किसी के प्रति घृणा, द्वेष, अनिष्ट चिन्तन करना आदि-आदि ।

वचन-दण्ड

(१) असत्य=मिथ्या भाषण करना, (२) किसी की निन्दा घ चुगली करना, (३) कड़वा बोलना, गाली एवं शाय देना, (४) अपनी बड़ाई हाँकना, (५) व्यर्थ की बातें करना, (६) शास्त्रों के सम्बन्ध में मिथ्या प्ररूपणा करना, आदि ।

काय-दण्ड

(१) किसी को पीड़ा पहुँचाना, मार पीट करना, (२) व्यभिचार करना, (३) किसी की चीज चुराना, (४) अकड़ कर चलना, (५) व्यर्थ की चेष्टाएँ करना, (६) असावधानी से चलना, किसी चीज के उठाने-रखने में अयतना करना, आदि ।

: १४ :

गुप्ति-सूत्र

पडिक्कमामि
तिहि गुत्तीहि
मणगुत्तीए,
वयगुत्तीए
कायगुत्तीए ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिश्रमण करता है मणगुत्तीए = मनोगुप्ति से
तिहि = तीनो वयगुत्तीए = वचनगुप्ति से
गुत्तीहि = गुप्तियों से कायगुत्तीए = कायगुप्ति से

भावार्थ

तीन प्रकार की गुप्तियों से = अर्थात् उनका आचरण करते हुए प्रमादवश जो भी तत्सम्बन्धी विपरीताचरणरूप दोष लगे हों, उनका प्रतिश्रमण करता है । (किन गुप्तियों से ?) मनोगुप्ति से, वचनगुप्ति से, कायगुप्ति से ।

विवेचन

गुप्ति का अर्थ, रक्षा देना है—‘शोषनं गुप्तिः’ । अतएव मनोगुप्ति

मन की रक्षा वचनगुति, वचन की रक्षा, कायगुति-काय की रक्षा है। रक्षा का अर्थ नियंत्रण है आचार्य हरिभद्र के उल्लेखानुसार गुति प्रवीचार और अप्रवीचार उभय-रूपा होती है; अतः अशुभयोग से निवृत्त होकर शुभयोग में प्रवृत्ति^१ करना, गुति का स्पष्ट अर्थ है। अपने विशुद्ध आत्म-तत्त्व की रक्षा के लिए अशुभ योगों को रोकना, गुति का स्पष्टतर अर्थ है। आत्ममन्दिर में आने वाले कर्मरज को रोकना, गुति का स्पष्टतम अर्थ है।

मनोगुति

आरंभ तथा रौद्र ध्यान-विषयक मन से संरंभ, समारंभ तथा आरंभ सम्बन्धी संकल्प-विकल्प न करना; लोक-परलोक हितकारी धर्म ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना; मध्यस्थ-भाव रखना; मनोगुति है।

वचन-गुति

वचन के संरंभ, समारंभ, आरंभ सम्बन्धी व्यापार को रोकना, विकथा न करना; झूठ न बोलना; निन्द्य चुगली आदि न करना; मौन रहना; वचन गुति है।

१—जबकि गुति में भी अशुभ योग का निग्रह और शुभ योग का संग्रह, अर्थात् अशुभयोग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति होती है और इसी प्रकार समिति में भी अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति होती है; फिर दोनों में भेद क्या रहा? उत्तर है कि गुति में असत्किया का निषेध मुख्य है और समिति में सत्किया का प्रवर्तन मुख्य है। गुति अन्ततोगत्वा प्रवृत्ति रहित भी हो सकती है। परन्तु समिति कभी प्रवृत्ति-रहित नहीं हो सकती। वह प्रवीचार-प्रधान ही होती है। आवश्यक सूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र ने इसी सम्बन्ध में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

‘समिग्रो नियमा गुत्तो,

गुत्तो समियत्तणमि भद्दयत्तो।

कुमल-वड्डमुदीरितो,

जं वयगुत्तो वि संमिग्रो वि ॥,

शाय गुप्ति

शारीरिक त्रिधा सम्बन्धी नरम, समारम्भ, आरम्भ में प्रवृत्ति न करना उठने बैठने-हलने-चलने-गाने आदि में मध्यम रगता, अशुभ व्यासर्ग का परित्राग कर सना पूर्वक मत्प्रवृत्ति करना, शाय गुप्ति है।

समरम्भ समारम्भ आरम्भ

श्रिता आदि कार्यों के लिए प्रयत्न करने का सफल करना समरम्भ है। उभी न रहने एवं कार्य की पूर्ति के लिए साधन जुगना समारम्भ है। श्रित श्रान्त में उभ सफल का कार्य रूप में परिणत कर देना आरम्भ है। श्रिता आदि कार्य की, सफलतामय सूक्ष्म अवस्था में होकर उसको प्रकट रूप में पूरा कर देने तक, या तीन अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें ही अनुक्रम में समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ कहते हैं।

सत्सार्थ गूत्रकार उमास्वामिजी ने 'सम्बन्धयोगनिघ्नो गुप्ति' १४—इस गूत्र के द्वारा मन, उचन और शरीर के बाणों का जो प्रशस्त निघ्न किया जाता है, उसे गुप्ति कहा है। प्रशस्तनिघ्न का अर्थ है—विषय आग भेदा पूर्वक मन, उचन एवं शरीर का उन्मार्ग से रोकना और मन्मार्ग में लगाता। इस पर से पकित होता है वि-दृष्ट्याग आदि की प्रत्येकाद्या द्वारा किया जाने वाला योगनिघ्न गुप्ति मन्मिमित्त नहीं होता।

एक बात और। यहाँ गूत्र में गुप्तिवा से प्रतिमरण नहीं किया है, प्रवृत्त गुप्तिवा से होने वाला दोषों से अधिकमण किया है। यही कारण है कि 'गुर्त' में वनगी न करके दूसरे गुर्तीय विमति की है, विमता मन्म उ गुर्तेदुर्ग अनेवर्ग में है। गुर्त से अनेवार केम होने है? गुर्त का ठीक अनेवर्ग न करना, उसकी भेदा न करना, अथवा गुप्ति के मन्म में विमोत प्रवृत्त करना, गुर्तेदुर्ग अनेवार होने है।

१५

शल्य-सूत्र

पडिक्कमामि

तिहिं सल्लेहिं

माया-सल्लेणं,

नियाण-सल्लेणं,

मिच्छादंसण-सल्लेणं

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ नियाणसल्लेणं = निदान के
तिहिं = तीनों शल्य से

सल्लेहिं = शल्यों से

मिच्छा दंसण = मिथ्या दर्शन के

माया सल्लेणं = माया के शल्य से सल्लेणं = शल्य से

भावार्थ

तीन प्रकार के शल्यों से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। (किन शल्यों से ?) मायाशल्य से, निदानशल्य से, और मिथ्या-दर्शन शल्य से।

विवेचन

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के लेने मात्र से कोई सच्चा भक्ती नहीं बन

मरता । मुमती होने के लिये रुखे पहली एव मुख्य शर्त यह है कि—उसे शल्य-रहित होना चाहिए । इसी आदर्श को ध्यान में रख कर आचार्य उमास्वातिजी तन्मा र्ण सूत्र में कहते हैं—**त्रि शल्यो मती**—३।१३।

माया, निगान और मिथ्यादर्शन, उक्त तीनों दोष आगम की भाषा में शल्य कहलाते हैं । इनने कारण आत्मा स्वस्थ नहीं बन सकता, स्वीकृत व्रता के पालन में एकाग्र नहीं हो सकता ।

शल्य का अर्थ होता है—जिम्हने द्वारा अन्तर में गीहा खालती रहती हो, कमर-नी रहती हो वह तीर, माला, कोंग आदि । द्रु प और भाव शाना शल्य पर घटने वाली आचार्य हरिमद्र की शल्यव्युत्पत्ति यह है—**'शल्यतेऽनेनेति शल्यम् ।'** आध्यात्मिक क्षेत्र में माया, निदान और मिथ्या दर्शन को लक्षण वृत्ति के द्वारा शल्य समझाया कहा है कि—जिस प्रकार शरीर में किसी भाग में कोंग, कीच तथा तीर आदि लीक्षण वस्तु पुन जाय तो जैसे वह मनुष्य का लुब्ध मित्र रहती है, चैन नहीं लेने देती है उसी प्रकार लुब्ध शल्यवय भी अन्तर में रहे हुए भाव की अन्तरात्मा का शांति नहीं लेने देते हैं, मर्यादा व्याकुल एवं बेचैन मित्र रहते हैं । नीना ही शल्य, तान कर्म जन के हनु हैं, अतः दुःखो मदक होने के कारण शल्य है ।

माया-शल्य

माया का अर्थ वस्तु होता है । अतएव छल करना, दोंग रचना, गाने की वृत्ति रचना, दोंग लगा कर सुखदेय के गमन माया के कारण आलोचना न करता, अन्य रूप से मिथ्या आलोचना करना, तथा किसी पर भूँटा आशय लगाना इत्यादि माया शल्य है ।

निदान शल्य

धर्माचरण के द्वारा नाभारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा करना, निगान रहना होता है । उदाहरण के लिए देखिए । किसी राजा प्रथम देखा आदि का पैसा देय कर निज सुख कर नाम

यह संकल्प करना कि—ब्रह्मचर्य, तप आदि मेरे धर्म के फलस्वरूप मुझे भी ऐसा ही वैभव, समृद्धि प्राप्त हो; यह निदान शल्य है ।

मिथ्या दर्शन शल्य

सत्य पर श्रद्धा न लाना एवं असत्य का कटाग्रह रखना, मिथ्या-दर्शन शल्य होता है । यह शल्य बहुत ही भयंकर है । इसके कारण कभी भी सत्य के प्रति अभिरुचि नहीं होती । यह शल्य सम्यग्दर्शन का विरोधी है, दर्शन मोहनीय कर्म का फल है ।

: १६ :

गौरव-सूत्र

पट्टिकमामि

तिहि गारवेहि—

इड्डी-गारवेणं,

रस-गारवेणं

सायागारवेणं

शब्दार्थ

पट्टिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ इड्डीगारवेण = अडि गौरव से

तिहि = तीनों

रसगारवेण = रस गौरव से

गारवेहि = गौरवों से

सायागारवेण = साया गौरव से

भावार्थ

तीन प्रकार के गौरव = अशुभ भावनारूप भार से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ । [किन् गौरवों से ?] अडि के गौरव से, रस के गौरव से, और साया = सुख के गौरव से ।

विवेचन

गौरव का अर्थ गुस्त्र है । यह गौरव, द्रव्य और मात्र से दो प्रकार का होता है । पत्थर आदि की गुस्त्रा, द्रव्य गौरव है और अभिमान एवं

म के कारण होने वाला आत्मा का अशुभ भाव, भाव गौग्य है ।
 लुप्त मन्त्र में भाव गौग्य की चर्चा है । भाव गौग्य आत्मा को संभार
 अगर में दुशये रखता है, ऊपर उभरने नहीं देता ।

भाव गौग्य के तीन भेद हैं—ऋद्धि-गौग्य, रस गौग्य और साता-
 गौग्य । इनके स्पष्टीकरण के लिए नीचे देखिए ।

ऋद्धि-गौग्य

राजा आदि के द्वारा प्राप्त होने वाला उँचा पद एवं सत्कार
 सम्मान पाकर अभिमान करना, और प्राप्त न होने पर उसकी लालसा
 रखना, ऋद्धि गौग्य है । मञ्जेश-भाषा में सत्कार-सम्मान, वन्दन, उग्र
 व्रत, विद्या आदि का अभिमान करना, ऋद्धि गौग्य कहलाता है ।

रस-गौग्य

दूध, दही, घृत आदि मधुर एवं स्वादिष्ट रसों की इच्छानुसार प्राप्ति
 होने पर अभिमान करना, और प्राप्ति न होने पर उनकी लालसा रखना,
 रस गौग्य है । आचार्य जिनदास महत्तर रस-गौग्य के लिए जिह्वा-दण्ड
 शब्द का बहुत सुन्दर प्रयोग करते हैं । 'रसगारवे जिह्वादं डो ।'

साता-गौग्य

साता का अर्थ—आरोग्य एवं शारीरिक सुख है । अतएव आरोग्य,
 शारीरिक सुख तथा वस्त्र, पात्र, शयनासन आदि सुख के साधनों के
 मिलने पर अभिमान करना, और न मिलने पर उसकी लालसा = इच्छा
 करना, साता गौग्य है ।

: १७ :

विराधना-सूत्र

पडिक्कमामि

तिहिं विराहणाहिं

नाय-विराहणाए

दंमण-विराहणाए,

चरित्त-विराहणाए ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	दंमण = दर्शन की
तिहिं = हीनों	विराहणाए = विराधना से
विराहणाहिं = विराधनाओं से	चरित्त = चारित्र की
नाय = ज्ञान की	विराहणाए = विराधना से
विराहणाए = विराधना से	

भावार्थ

तीन प्रकार की विराधनाओं से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ । [कौनसी विराधनाओं से ?] ज्ञान की विराधना से, दर्शन की विराधना से, और चारित्र की विराधना से ।

विवेचन

किसी भी प्रकार का दोष न लगाते हुए चारित्र्य का विशुद्ध रूप से पालन करना आराधना होती है। और इसके विपरीत ज्ञानादि आचार का सम्यक् रूप से आराधन न करना, उनका खण्डन करना, उनमें दोष लगाना, विराधना है। 'विगता आराहणा विराहणा।' जिनदास महत्तर। 'कस्यचिद् वस्तुनः खण्डनं विराधनं, तदेव विराधना।' आचार्य हरिभद्र।

ज्ञान विराधना

ज्ञान की तथा ज्ञानी की निन्दा करना, गुरु आदि का अपलाप करना, आशातना करना, ज्ञानार्जन में आलस्य करना, दूसरे के अध्ययन में अन्तराय डालना, अकाल स्वाध्याय करना, इत्यादि ज्ञान विराधना है।

दर्शन विराधना

दर्शन से अभिप्राय सम्यग् दर्शन से है। सम्यग्दर्शन का अर्थ—'सम्यक्त्व' है। अतः सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्व धारी साधक की निन्दा करना, मिथ्यात्व एवं मिथ्यात्वी की प्रशंसा करना, 'पाखण्ड मत का आडंबर देखकर डगमगा जाना, दर्शन विराधना है।

चारित्र्य विराधना

चारित्र्य का अर्थ—'सञ्चरण' है। अहिंसा, सत्य आदि चारित्र्य का भली भाँति पालन न करना, उसमें दोष लगाना, उसका खण्डन करना, चारित्र्य विराधना है।

: १ = :

कपाय-सूत्र

पट्टिकमामि

चउहि कमाएहि—

कोह कयाएणं,
माणकयाएणं,
मायाकयाएणं,
लोभकयाएणं ।

शब्दार्थ

पट्टिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	माणकयाएणं = मानकयाय से
चउहि = चारों	मायाकयाएणं = मायाकयाय से
कमाएहि = करावों से	लोभकयाएणं = लोभकयाय से
कोहकयाएणं = कोहकयाय से	

भावार्थ

लोभ कयाय, मान कयाय, माया कयाय और लोभ कयाय—इन चारों कपायों के द्वारा होने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ = अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ ।



विवेचन

‘कपाय’ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। दो शब्द हैं—‘कप’ और ‘आय’। कप का अर्थ संसार होता है, क्योंकि इसमें प्राणी विविध दुःखों के द्वारा कष्ट पाते हैं, पीड़ित होते हैं। देखिए-नमि-कृत व्युत्पत्ति—‘कप्यते प्राणी विविधदुःखैरस्मिन्निति कपः संसारः।’ दूसरा शब्द ‘आय’ है जिसका अर्थ लाभ=प्राप्ति होता है। बहुव्रीहि समास के द्वारा दोनों शब्दों का सम्मिलित अर्थ होता है—जिनके द्वारा कप=संसार की आय=प्राप्ति हो, वे क्रोधादि चार कपाय-पदवाच्य हैं। ‘कपः संसारस्तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कपायाः।’

कपायों का वेग वस्तुतः बहुत प्रबल है। जन्म-मरणरूप यह संसार-वृत्त कपायों के द्वारा ही हराभरा रहता है। यदि कपाय न हों तो जन्म-मरण की परम्परा का विपवृत्त स्वयं ही सूखकर नष्ट हो जाय। दशवैकालिक-सूत्र में आचार्य शन्यम्भव ठीक ही कहते हैं कि—‘अनिगृहीत कपाय पुनर्भव के मूल को सींचते रहते हैं, उसे शुष्क नहीं होने देते।’ ‘सिंचन्ति मूलाङ्गं पुनर्भवस्तस्य।’

सूत्रकृतांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पष्ठ अध्ययन में कपायों को अव्यात्म-दोष बतलाया है। कपाय प्रकट और अप्रकट दोनों ही तरह से आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप शुद्धस्वरूप को मलिन करते हैं, कर्न रंग से आत्मा को रँग देते हैं और चिरकाल के लिए आत्मा की सुख-शान्ति को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जो साधक इन कपायों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही सच्चा साधक है। कपायविजयी साधक न स्वयं पाप कर्म करता है, न दूसरों से करवाता है, और न करने वालों का अनुमोदन ही करता है अतएव वह दुःखों से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है। कारण के अभाव में कार्य कैसे हो सकता है? कपाय ही तो कर्मों के उत्पादक हैं, और कर्मों से ही दुःख होता है। जब कपाय नहीं रहे तो कर्म नहीं, कर्म नहीं रहे तो दुःख नहीं रहा। कपायों की कर्मोत्पादकता के सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन के

धनला मन्त्र मे, देगिण, क्या बिगा है? 'दु गुरुस्य कर्मनेत्र ह्यनित
पञ्चपात्रुर्वन्ति इति कथाया'—'जो दु गुरुस्य धन्य को पैदा करने वाले
कर्मरुही मोन को कर्मणु करते है अर्थात् पनवाने करते है ये मोंध
मान आदि कथाय कहलाते है—।'

फोहो पीई पणासेइ, माणो विणय-नामणो;
माया मिच्छाणि नामेइ, लोहो सज्ज-विष्णामणो ।
उयममेण हये फोहं, माणं मदुदवपा जिणे,
मायमज्जन-भावेणं, लोभं संतोसमो जिणे ।

—दशवे० ८ । १८ १९ ।

'मोंध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है,
माया मिच्छा का नाश करती है और लोभ सभी गुणों का नाश
करता है ।'

'शान्ति से मोंध को, मृदुता से मान को, मरलता से माया को,
और शान्ति से लोभ को जीतना चाहिए ।'

प्रत्येक पापक को दशवेगानिक-गूढ की यह श्रमर वाली, हृदय
पट पर सदा अनित रहनी चाहिए । आचार्य शम्भुभद्र के ये श्रमर
वाक्य, अमर्य ही कथाय विषय स हमारे लिए गये भेष पय प्रदर्शक है ।

: १६ :

संज्ञा-सूत्र

पडिक्कमामि

चउहिं सन्नाहिं

आहार-सन्नाए

भय-सन्नाए

मेहुण-सन्नाए

परिग्रह-सन्नाए

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	भयसन्नाए = भय संज्ञा से
चउहिं = चारों	मेहुणसन्नाए = मैथुन संज्ञा से
सन्नाहिं = संज्ञार्थों से	परिग्रह = परिग्रह की
आहारसन्नाए = आहार संज्ञा से	सन्नाए = संज्ञा से

भावार्थ

आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा—इन चार प्रकार की संज्ञार्थों के द्वारा जो भी अतिचार = दोष लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

विवेचन

संज्ञा का अर्थ 'चेतना' होता है, 'संज्ञानं संज्ञा ।' किन्तु यहाँ यह

अर्थ अभीष्ट नहीं है। जेनागर्मा में संज्ञा शब्द एक विशेष अर्थ के लिए भी रूढ़ है। मोहनीय और असाक्षात् वेदनीय कर्म के उदय में जब चेतना शक्ति विभक्त हो जाती है, तब यह 'संज्ञा' पदवाच्य होती है। लोक भाषा में यदि आप संज्ञा का गीत-सादा स्पष्ट अर्थ करना चाहें तो यह कर सकते हैं कि = 'कमोदय के मातृत्व से होनेवाली अभिलाषा = इच्छा।'

यह शब्द कहने के लिए तो बहुत साधारण है। साधारण संज्ञा जीव इच्छा को बोध नहीं देते। उन लोगों का कहना है कि— 'कल इच्छा ही तो बड़ी है, और कुछ तो नहीं बचा? बाली इच्छा से क्या पाप होता है?' परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि मसार में इच्छा का मूल्य बहुत है। सत्त्वों के ऊपर मनुष्य के उदयान और पतन दोनों मार्गों का निर्माण होता है। सत्कारिण भोगों की इच्छा करते रहने से अक्षय ही आत्मा का पतन होगा। मन का विषय यदि बन्दा है तो उसका प्रतिबिम्ब आत्मा को दूषित किए बिना किसी भी हालत में नहीं रहेगा। साधक को मन के समुद्र में उठने वाली प्रत्येक वासना-तरंगों को ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें शान्त करने सम्बन्धी शास्त्र प्रतिपादित विधानों की जरा भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

आहार-संज्ञा

क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार की आवश्यकता होती है। यह समान्यतः आहार संज्ञा है। क्षुधा की पूर्ति के लिए भोजन करना पाप नहीं है। परन्तु मनुष्य की मानसिक धारा जब पेट पर ही केन्द्रित हो जाती है, तब आहार संज्ञा अग्नी मर्थादा को लौटने लगती है और साधक के लिए घातक होने लगती है। मोह का आश्रय पाकर यह संज्ञा जब अधिक प्रबल पकड़ लेती है, तब अधिक से अधिक सुन्दर स्वादु भोजन समझ भी मनुष्य समनुष्ट नहीं होता। अग्नि के समान आहार के लिए उसका दृष्ट्य धक्कना ही रहता है। निम्न आहार का स्मरण करने पर आहार संज्ञा मुझे से आहार संज्ञा पञ्चनित होती है।

भय संज्ञा

भय मोहनीय के उदय से आत्मा में जो त्रास का भाव पैदा होता है, वह भय संज्ञा है। भय आत्म-शक्ति का नाश करने वाला है। भयाकुल मनुष्य और तो क्या अपने सम्यग्दर्शन को भी सुरक्षित नहीं रख सकता। भय की बात सुनने, भयानक दृश्य देखने तथा भय के कारणों की बार-बार उद्भावन—चिन्तना करने से भयसंज्ञा उत्पन्न होती है।

मैथुन संज्ञा

वेदमोहोदय संवेदन यानी मैथुन की इच्छा, मैथुनसंज्ञा कहलाती है। कामवासना सभी पापों की जड़ है। काम से क्रोध, सम्मोह, स्मृति-भ्रंश, बुद्धिनाश और अन्त में मृत्यु के चक्र में मानव फँस जाता है। कामकथा के श्रवण से, सदैव मैथुन के संकल्प रखने आदि से मैथुन संज्ञा प्रबल होती है।

परिग्रह संज्ञा

लोभमोहनीय के उदय से मनुष्य की संग्रहवृत्ति जागृत होती है। परिग्रहसंज्ञा के फेर में पड़कर मनुष्य इधर-उधर जो भी चीज देखता है, उसी पर मुग्ध हो जाता है, उसे संग्रहीत करने की इच्छा करता है, सदैव मत्तृण रहता है। परिग्रह की बात सुनने, सुन्दर वस्तु देखने और बराबर संग्रह वृत्ति के चिन्तन आदि से परिग्रह संज्ञा बलवती होती है।

: २० :

विकथा-सूत्र

पट्टिकमामि

चउहि पिकहाहि—

इत्यो-कहाए

भक्त-कहाए

देस-कहाए

राय-कहाए

राज्वार्य

पट्टिकमामि = प्रतिक्रमण करता है कहाए = कथा से

चउहि = चारों देस = देश की

पिकहाहि = विकथाओं से कहाए = कथा से

इत्यो = छी की राय = राजा की

कहाए = कथा से कहाए = कथा से

भक्त = भोजन की

भावार्थ

छी-कथा, भक्त-कथा, देस-कथा, और राजकथा-इन चारों विकथाओं के द्वारा जो भी भविष्य जगा हो, उस का प्रतिक्रमण करता है ।

विवेचन

आध्यात्मिक अर्थात् संयम-जीवन को दूषित करने वाली विरुद्ध एवं भ्रष्ट कथा को विकथा कहते हैं। 'विरुद्धा विनष्टा चा कथा विकथा' आचार्य हरिभद्र। साधक को विकथाओं से उसी प्रकार दूर रहना चाहिए जिस प्रकार काल-सर्पिणी से दूर रखा जाता है। आगमों में विकथाओं को लेकर बड़ी लम्बी चर्चा की गयी है और इन्हें संयम को नष्ट करने वाली बताया गया है।

मानव जीवन की यह बहुत बड़ी दुर्बलता है कि वह व्यर्थ की चर्चाओं में अधिक रस लेता है। हजारों लोग इसी तरह गप्पों के फेर में पड़कर अपने महान् व्यक्तित्व के निर्माण में पश्चात्पद रह जाते हैं, और फिर सदा के लिए पछुताया करते हैं। साधना के उच्च जीवन की बात छोड़िए साधारण गृहस्थ की जिन्दगी पर भी विकथाओं का बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। विकथा के रस में पड़कर मानवता न इस लोक में यशस्विन होती है और न परलोक में। व्यर्थ ही रागद्वेष की गंदगी से अन्तर्हृदय दूषित होकर उभयतो भ्रष्ट हो जाता है।

आजकल चारों ओर से बेकारी की पुकार आ रही है। मनुष्य की कीमत पशुओं से भी नीचे गिर गयी है। हर जगह ठाली बैठा हुआ मानव, अपने अभ्युत्थान के सम्बन्ध में कुछ भी न सोच कर विकथा के द्राग जीवन नष्ट कर रहा है। आज जापान के इतने जहाज नष्ट हो गए, आज अमरीका का बेड़ा डूब गया, आज इतने हजार सैनिक खो रहे, आज सिनेमा संसार में रेणुका का नम्बर पहला है, वह बहुत मधुर गाने वाली एवं श्रेष्ठ नाचने वाली है, आज अमुक के यहाँ दावत खुली है, अमुकी हुई, इत्यादि वे सिर-पैर की अर्थहीन बातों में हमारे जन-समाज का अमूल्य समय बर्बाद हो रहा है। क्या गृहस्थ, क्या साधु दोनों ही वर्गों को इस विकथा की महामारी से बचने की आवश्यकता है।
 खी कथा—

अमुक देश और अमुक जाति की अमुक स्त्री सुन्दर है अथवा न

है। यह बहुत सुन्दर वस्त्र पहननी है। अमण्डल का गाना कोयल के गमान है। इत्यादि विचार अपना बर्ताना करना स्वीकृत है।

भक्त कथा—

भक्त का अर्थ भोजन है। अतः भोजन सम्बन्धी कथा, भक्त कथा कहलाती है। अमण्डल भोजन कहाँ, क्या, कैसा बनाया जाता है? लड्डू बनिया होने हैं या श्लेशियाँ? धी अधिक पुष्टिकर है या दूध? इत्यादि भोजन की चर्चा में ही व्यस्त रहना, विषय नहीं तो और क्या है?

वैशकथा—

वैशों की विविध वैश भूरा, शृंगार-रचना, भोजन-वदति, घर-निर्माण कला, रीति रिवाज आदि की प्रशंसा या निन्दा करना, वैशकथा है।

राजकथा—

राजाओं की सेना, रानियाँ, युद्ध-कला, भोग-विलास, वीरता आदि का वर्णन करना, राजकथा कहलाती है। राजकथा हिंसा और भोग-विलास के भावों को उत्तेजित करने वाली है, अतः सर्वथा हेय है।



: २१ :

ध्यान-सूत्र

पडिक्कमामि

चउहिं भाणेहिं—

अट्टेणं भाणेणं

रुदेणं भाणेणं

धम्मेणं भाणेणं

सुक्केणं भाणेणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ

चउहिं=चारों

भाणेहिं=ध्यानो से

अट्टेणं=आर्त

भाणेणं=ध्यान से

रुदेणं=रौद्र

भाणेणं=ध्यान से

धम्मेणं=धर्म

भाणेणं=ध्यान से

सुक्केणं=शुक्र

भाणेणं=ध्यान से

भावाथे

आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्र-ध्यान—इन चारों ध्यानो से अर्थात् आर्त, रौद्र ध्यान के करने से तथा धर्म, शुक्र ध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

विवेचन

निर्वाण स्थान में स्थिर दीर्घसिद्धि के समान निश्चल और शून्य
रूपका न मरुत के रहित केवल एक ही विषय का धारणाही चिन्तन,
ध्यान कहलाता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर अभ्यसमान एवं
मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं।

जीवस्स एवमपि जोगाभिखिण्णो माण्य ।

अतोमुहुत्त नीत्रयोगपरिणामस्य अदृष्टानमित्यर्थः ।'

—आचार्य जिनदास गयी

ध्यान, प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का होता है।
आर्त तथा रौद्र अप्रशस्त ध्यान है, शून्य रूप = स्थान्य है। धर्म तथा
शुद्ध प्रशस्त ध्यान है, शून्य उपादेय - आदर्शहीन है। अप्रशस्त ध्यान
करना और प्रशस्त ध्यान न करना दोष है, इसी का प्रतिनिमण प्रस्तुत
रूप में किया गया है।

आर्त ध्यान

आर्त का अर्थ दुःख, वज्र एवं पीडा होता है। आर्त के निमित्त
ले जो ध्यान होता है, वह आर्त ध्यान कहलाता है। अनिष्ट वस्तु पर
म योग से, दुःख वस्तु के विषय से, राग आदि के कारण से तथैव मोक्षा
की लालसा से जो मन में एक प्रकार की विकलता सी अर्थात् सतत धर्मक
की होती है, वह आर्त ध्यान है।

रौद्र ध्यान

हिंसा आदि क्रूर विचार रखने वाला व्यक्ति रुद्र कहलाता है। रुद्र
व्यक्ति के मनोभावों को रौद्र ध्यान कहा जाता है। हिंसा करने, झूठ
बोलने, चाली करने और प्रातः स्त्रियभोगों की संरक्षण वृत्ति से ही क्रूरता
का उद्गम होता है। अनपेक्ष हिंसा, असत्य आदि का अर्थात् छेदन
देन, मारपीट करना एवं भिक्षा मागण, कर्कश भाषण आदि कष्टों
प्रवृत्तियों का मूल चिन्तन करना, रौद्र ध्यान कहलाता है।

धर्म ध्यान

श्रुत एवं चारित्र की साधना को धर्म कहते हैं। अस्तु, जो चिन्तन, मनन धर्म के सम्बन्ध में किया जाता है वह धर्म ध्यान कहलाता है। और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो सूत्रार्थ की साधना करना, महा-व्रतों को धारण करना, बन्ध और मोक्ष के हेतुओं का विचार करना, पाँच इन्द्रियों के विषय से निवृत्त होना, प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखना; इत्यादि शुभ लक्ष्यों पर मन का एकाग्र होना धर्म ध्यान होता है।

शुक्ल ध्यान

कर्म मल को शोधन करने वाला तथा शुच = शोक को दूर करने वाला ध्यान, शुक्ल ध्यान होता है। 'शोधयत्यष्ट प्रकारकर्ममलं शुचं वा वलमयतीति शुक्लम्'—आचार्य नमि। धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का साधक है। शुक्ल ध्यान में पहुँच कर मन पूर्ण एकाग्र, स्थिर, निश्चल एवं निस्पन्द हो जाता है। साधक के सामने कितने ही क्यों न सुन्दर प्रलोभन हों, शरीर को तिल-तिल करने वाले कैसे ही क्यों न छेदन-भेदन हों, शुक्ल ध्यान के द्वारा स्थिर हुआ अचंचल चित्त लेशमात्र भी चलायमान नहीं होता। शुक्ल ध्यान की उत्कृष्टता, केवलज्ञान उत्पन्न करने वाली है और केवल ज्ञान की प्राप्ति सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाने वाली है।

आर्त आदि चारों ही ध्यानों का स्वरूप संक्षेप-भाषा में स्मृतिस्थ रह सके, इसके लिए हम यहाँ एक प्राचीन गाथा उद्धृत करते हैं। यह गाथा आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यक चूर्ण के प्रतिक्रमणाध्ययन में इसी प्रसंग पर 'उक्तंच' के रूप में उद्धृत की है। गाथा प्राकृत और संस्कृत भाषा में समिश्रित है और बड़ी ही सुन्दर है।

‘हिंसाणुरंजितं रौद्रं,

अदृष्टं कामाणुरंजितं ।

धम्माणुरंविषं धम्मं, मुक्कं भाणं निरंलणं ॥'

—दिसा ते अनुरञ्जित = रेंगा हुआ ध्यान रौद्र और काम से अनु-
ञ्जित ध्यान धर्म कहलाता है। धर्म से अनुरञ्जित ध्यान धर्म-ध्यान है
और शुक्ल ध्यान पूर्ण निरञ्जन होता है।

ध्यान का ध्यान बहुत विस्तृत है। यहाँ सत्त्वोदधि के कारण
अधिक चर्चा में नहीं उतर सके हैं। इस सम्बन्ध में अधिक जिज्ञासा
वाले सज्जन प्रवचन साधेदार, ध्यान शतक, तत्त्वार्थ-सूत्र, स्थानांग सूत्र
आदि का अवलोकन करने का कष्ट करें।

: २२ :

क्रिया-सूत्र

पण्डिकमामि

पंचहिं किरियाहिं—

काइआए

अहिगरणियाए

पाउसियाए

पारितावणियाए

पाणाइवाय किरियाए

शब्दार्थ

पण्डिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	पाउसियाए = प्राद्वेषिकी से
पंचहिं = पाँचों	पारितावणियाए = पारितापनिकी से
किरियाहिं = क्रियाओं से	पाणाइवायकिरियाए = प्राणातिपात
काइआए = कायिकी से	क्रिया से
अहिगरणियाए = आधिकरणिकी से	

भावार्थ

कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणाति-

गत-क्रिया—इन पाँचों क्रियाओं के द्वारा जो भी अनिष्टार लगा हो, उसका प्रतिफल करता है।

चिन्तेषु

कर्मबन्ध करने वाली चेष्टा, यहाँ किया शब्द का वाच्य अर्थ है। शब्द माया में—'द्विषाप्रधान दुष्ट व्यापार निरोध' को किया कहते हैं। आगमसाहित्य में क्रियाओं का बहुत विस्तृत वर्णन है। विस्तार-पट्टति में क्रिया के २५ भेद माने गए हैं। परन्तु अन्य समस्त क्रियाओं का सूत्रोक्त पाँच क्रियाओं में ही अन्तर्मात्र हो जाता है, अतः मूल क्रियाएँ पाँच ही मानी जाती हैं।

कायिकी

काय के द्वारा होने वाली क्रिया, कायिकी कहलाती है। इसके तीन भेद माने गए हैं—मिथ्या दृष्टि और अविरत सम्बन्ध दृष्टि की क्रिया अविरत कायिकी होती है, प्रमत्त संयमी मुनि की क्रिया दुष्प्रणिहित कायिकी होती है, और अप्रमत्त संयमी की क्रिया सावधयोग से उपरत होने के कारण उपरत कायिकी होती है।

आधिकरणिकी

जिनके द्वारा आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी होता है, यह दुर्गति आदि का अनुग्रह निरोध अथवा घातक शस्त्र आदि, अधिकरण कहलाता है। अधिकरण से निष्पन्न होने वाली क्रिया, आधिकरणिकी होती है।

प्राद्वेषिकी

प्रद्वेष का अर्थ 'भस्म, डाढ़, ईर्ष्या' होता है। यह अकुशल परिणाम कर्मबन्ध का प्रबल कारण माना जाता है। असु, जीव तथा अजीव किसी भी वस्तु के प्रति द्वेषभाव स्वभाव प्राद्वेषिकी क्रिया होती है।

पारितापनिकी

ताडन आदि के द्वारा दिया जाने वाला दुःख, पारितापन कहलाता

है। परितापन ने निष्पन्न होने वाली क्रिया, पागितापनिकी क्रिया कहलाती है। परितापन, अपने तथा दूसरे के शरीर पर किया जाता है, अतः स्व तथा पर के भेद से पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की होती है।

प्राणातिपातिकी

प्राणों का अतिपात = विनाश, प्राणानिपात कहलाता है। प्राणातिपात से होने वाली क्रिया, प्राणातिपातिकी कहलाती है। इसके दो भेद हैं—क्रोधादि कषायवश होकर अपनी हिंसा करना, स्वप्राणातिपातिकी क्रिया है, और इसी प्रकार कषायवश दूसरे की हिंसा करना, पर-प्राणातिपातिकी है।

: २३ :

काम-गुण-सूत्र

पट्टिकमामि

पंचहिं कामगुणेहि

सदेणं

रूपेणं

गंधेणं

रसेणं

कामेणं

- -

शब्दाथ

पट्टिकमामि = प्रतिक्रमण करता है

पंचहिं = पाँचों

कामगुणेहि = काम गुणों से

सदेणं = दृष्ट से

रूपेण = रूप से

गंधेण = गन्ध से

रसेण = रस से

कामेण = स्पर्श से

भावार्थ

शब्द, रूप, गन्ध, रस, और स्पर्श—इन पाँचों काम-गुणों के द्वारा जो भी अनिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता है।

विवेचन

काम का अर्थ है—‘विषयभोग’ । काम के साधनों को—रूप, रस आदि को—कामगुण कहते हैं । कामगुण में गुण शब्द श्रेष्ठता का वाचक न हो कर केवल बन्धन-हेतु वाचक है । काम के साधन शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श हैं, अतः ये सब काम गुणशब्दवाच्य हैं ।

‘कामगुण’ शब्द के पीछे रहे हुए भाव की स्पष्टता के लिए जगद्गुरु पर और विचार करले । आचार्य हरिभद्र आवश्यक सूत्र पर की अपनी शिष्यहिता टीका में कहते हैं कि संसारी जीवों के द्वारा शब्द, रूप आदि की कामना की जाती है. अतः वे काम कहलाते हैं और गुण का अर्थ है रस्ती । अस्तु, शब्दादि काम ही गुण रूप = बन्धन रूप होने से गुण हैं । शब्दादि कामों से बढ़कर संसारी जीव के लिए और कौन-सा बन्धन होगा ? सब जीव इसी बन्धन में बँधे पड़े हैं । ‘काम्यन्त इति कामाः शब्दादियस्त एव स्व-स्वरूपगुणबन्धहेतुत्वाद् गुणा इति ।’

आचार्य हरिभद्र की भावना को स्पष्ट करते हुए मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि ‘तेषां शब्दादिकामानां स्वकीयं यत्स्वरूपं तदेव गुण इव गुणो—द्वरकस्तेन यः प्राणिनां बन्धः—सङ्गस्तद् हेतुत्वाद् गुणाः उच्यन्ते प्राणिनां बन्ध-हेतुत्वेन रज्जव इति यावत् ।’

—हरिभद्रायावश्यक वृत्ति दीप्यणक

मानव जीवन में चारों ओर बन्धन का जाल बिछा हुआ है । कोई विरला सावधान साधक ही इस जाल को पार करके अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच सकता है । कहीं मनोहर सुरीले शब्दों का जाल है तो कहीं कर्कश कठोर उत्तेजक शब्दों का जाल है । कहीं नयन-विमोहक सुन्दर रूप का जाल बिछा है तो कहीं वभित्स भयानक कुरूप का जाल तना हुआ है । कहीं अगर, तगर, चन्दन, केशर कस्तूरी आदि की दिल खुश करने वाली सुगन्ध का जाल लगा हुआ है तो कहीं गंदी मोरी, कीचड़, सड़ते हुए तालाव आदि की वमन करा देने वाली दुर्गन्ध का जाल फँसाने को तैयार खड़ा है । कहीं सुन्दर मुगन्धित मधुर मिश्रण

रस का जाल ललचा रहा है तो वहीं कटु, तिक्त, रसा, चरवरा कुरम का जाल बेचैन मिष्ट हुए है । वहीं मृदुल सुकोमल स्पर्श का जाल शरीर में गुदगुदी पैदा कर रहा है तो वहीं कर्षण कठोर स्पर्श का जाल शरीर में कँपकँपी पैदा कर रहा है । विग्रहना, मनुष्य जिधर भी दृष्टि डालता है उधर ही कोई न कोई राग या द्वेष का जाल आत्मा को फँसाने के लिए विद्यमान है ।

आप विचार करते होंगे—“फिर तो मुक्ति का कोई मार्ग ही नहीं ?” क्यों नहीं, अवश्य है । सावधान रहने वाले साधक के लिए सत्तार में कोई भी जाल नहीं । कुछ भी सुन्दर असुन्दर कामगुण आए, आप उस पर राग अथवा द्वेष न बीजिए, तटस्थ रहिए । फिर कोई बन्धन नहीं, कोई जाल नहीं । बसु स्वयं बन्धक नहीं है । बन्धक है, मनुष्य का रागद्वेषाकुल मन । जब रागद्वेष करणों ही नहीं, सर्वथा तटस्थ ही रहोगे, फिर बन्धन कैसा ? जाल कैसा ?

प्रस्तुत सूत्र में यही उल्लेख है कि यदि संयम यात्रा करते हुए कहीं शब्दादि में मन भटक गया हो, तटस्थता को छोड़कर रागद्वेष युक्त हो गया हो, जाल में फँस गया हो तो उसे वहाँ से हटकर पुनः संयम पथ पर अग्रसर करना चाहिए । यही काम गुण से आत्मा का प्रतिनमण है ।

: २४ :

महाव्रत-सूत्र

पटिकमामि

पंचहिं महव्यएहिं—

सव्वाओ^१ पाणाइवायाओ वेरमणं,

सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं

सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं,

सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं,

सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

शब्दाथे

पटिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

पंचहिं = पाँचों

महव्यएहिं = महाव्रतों से

सव्वाओ = सब प्रकार के

पाणाइवायाओ = प्राणातिपात से

वेरमणं = विरमण, निवृत्ति

१ आचार्य जिनदास महत्तर और हरिभद्र ने 'सव्वाओ' का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु दशवैकालिक आदि के महाव्रताधिकार में प्रायः सर्वत्र 'सव्वाओ' का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए सव्वाओ का प्रयोग औचित्यपूर्ण है। वैसे प्राणातिपातविरमण में भी अन्तर्जल्पाकार रूप में सर्व का भाव है ही।

सञ्जाओ = सब प्रकार के

मुखावायाओ = मृषावाद से

वेरमण = विरमण

सञ्जाओ = सब प्रकार के

अदितादाणाओ = अदत्ता दान से

वेरमण = विरमण

सञ्जाओ = सब प्रकार के

मेहुणाओ = मैथुन से

वेरमण = विरमण

सञ्जाओ = सब प्रकार के

परिमिहाओ = परिग्रह से

वेरमण = विरमण

भाषार्थ

सर्वे प्राणतिपाते विरमण = अहिंसा, सर्वे-मृषावाद विरमण = सत्य, सर्वे-अदत्ता दान विरमण = अस्तेय, सर्वे-मैथुन विरमण = ब्रह्मचर्य, सर्वे-परिमिह विरमण = अपरिमिह—इन पाँचों महाव्रतों से अर्थात् पाँचों महाव्रतों को सम्बन्ध रूप से पालन न करने से जो भी अतिचार लगता हो उसका प्रतिक्रमण करता है।

विवेचन

अहिंसा, सत्य, अस्तेय = चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिमिह—ये चार मर्यादित = सीमित रूप में ग्रहण किए जाते हैं, तब अत्युन्नत कहलाते हैं। अत्युन्नत का अर्थकारी गृहस्थ होता है; क्योंकि गृहस्थ-अवस्था में रहने के कारण साधन, अहिंसा आदि की साधना के पथ पर पूर्णतया नष्ट चैन सकता, हिंसा आदि का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। इत-वह अहिंसा आदि व्रतों की उपागन्ता अपनी सद्वृत्ति सीमा के अन्दर रहकर ही करता है। मनु मानु का जीवन गृहस्थ के उत्तरादायित्व से सर्वथा मुक्त होता है, अतः वह पूर्ण आत्मबल के द्वारा संयम-गुण पर अग्रसर होता है और अहिंसा आदि व्रतों की नस्कोटि से सदा सर्वथा पूर्ण साधना करता है, पलन-साधु के अहिंसा आदि न महत्त्व कहनाते हैं।

योगदर्शनसार वैदिक श्रुति पञ्चालि ने भी महात्मन की व्याख्या सुन्दर ढंग से की है। योगदर्शन के दूसरे पाद का ३१ वाँ सूत्र है—
,ज्ञानि देवकालसमवाप्नवच्छिन्नाः मार्गभौमा महात्मनः।' सूत्र का

प्राणीय यह है कि—^१ जाति, देश, काल और समय = आचार अर्थात् कुलोचित कर्तव्य के बन्धन से रहित सार्वभौम = सर्व विषयक महाव्रत होते हैं। मत्स्य हिंसा के भिन्न अन्य हिंसा न करना, मच्छी मार की जात्यवच्छिन्ना अहिंसा है। अमुक तीर्थ आदि पर हिंसा नहीं करना देशावच्छिन्ना अहिंसा है। पूर्ण मासी आदि पर्व के दिन हिंसा न करना कालावच्छिन्ना अहिंसा है। जन्त्रियों की युद्ध के सिवा अन्य हिंसा न करने की प्रतिज्ञा समयावच्छिन्ना अहिंसा है। अहिंसा के समान ही सत्य आदि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। जो अहिंसा आदि व्रत उपर्युक्त जाति, देश काल, और समय की सीमा से सर्वथा मुक्त, असीम, निरवच्छिन्न तथा सर्वरूपेण हों वे महाव्रत पदवाच्य होते हैं।

महाव्रत, तीन करण और तीन योग से ग्रहण किए जाते हैं। किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करना, न दूसरे से कराना, न करने वालों का अनुमोदन करना, मन से, वचन से और काय से—यह अहिंसा महाव्रत है। इसी प्रकार अमत्य, स्तेय = चोरी, मैथुन = व्यभिचार, परिग्रह = धन धान्य आदि के त्याग के सम्बन्ध में भी नवकोटि की प्रतिज्ञा का भाव समझ लेना चाहिए।

पाँच महाव्रत साधु के पाँच मूल गुण कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त शेष आचार उत्तर गुण कहलाता है। उत्तर गुणों का आदर्श मूल गुणों की रक्षा में ही है, स्वयं स्वतन्त्र उनका कोई प्रयोजन नहीं।

१—जैन-धर्म में जात्यवच्छिन्ना अहिंसा आदि का कोई महत्व नहीं है। जैन गृहस्थ की सीमित अहिंसा भी जाति, देश, तीर्थ आदि के बन्धन से रहित होती है। गृहस्थ की हिंसा विरोधी से आत्मरक्षा या किसी अन्य आवश्यक सामाजिक उद्देश्य के लिए ही खुली रहती है। जाति, कुल, तीर्थ यात्रा आदि के नाम पर होने वाली हिंसा जैन गृहस्थ के लिए त्याज्य है। गृहस्थ का अणुव्रत भी जाति, देश, कुल, तीर्थयात्रादि से अवच्छिन्न नहीं होता। वह इन सबसे ऊपर होता है।

प्रस्तुत सूत्र में पाँच महाव्रतों से प्रतिक्रमण नहीं किया गया है, प्रतिनमण किया गया है महाव्रतों में शगद्देवादि के औदयिक भाव के कारण प्रमादवश लगे हुए दोषों से। यह ध्यान में रखिए, यहाँ हेत्वर्थः तृतीया है, पचमी नहीं। हेत्वर्थक तृतीया का सम्बन्ध अतिचारों से किया जाता है और फिर अतिचारों का पडिकमामि एव तस्म मिच्छा मि दुक्खं से सम्बन्ध होता है।

विशेष ज्ञातव्य—

प्रस्तुत महाव्रत सूत्र के पश्चात् प्रायः सभी प्राक्त प्रतियाँ और आनश्यक सूत्र के टीका-ग्रन्थों में समिति सूत्र का उल्लेख मिलता है। परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर ने 'पुण्य के वि अण्णं वि पठन्ति' अर्थात् यहाँ कुछ आचार्य दूसरे पाठ भी पढ़ते हैं—इस प्रकार प्रकारान्तर के रूप में पाँच आभय द्वार, पाँच अनाभय = संवर द्वार, और पाँच निर्जरा स्थान के प्रतिनमण का भी उल्लेख किया है। पाठ्यों की जानकारी के लिए हम उन सब पाठों को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"पडिकमामि पंचहि आसवदारेहि, मिच्छुत्त अविरति वमाद कसाय जोगेहि।

पंचहि अणासवदारेहि, सम्मत विरति अपमाद अकसायित अशोमितेहि।

एवहि निज्जा-शार्पेहि, माण दंसण चरित तव संजमेहि।"

: २५ :

समिति-सूत्र

पडिकमामि

पंचहिं समिईहिं

इरियासमिईए

भासासमिईए

एसणासमिईए

आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिईए

उच्चार-पासवणं-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिट्ठावणिया-
समिईए ।

शब्दार्थ

पडिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ समिईए = समिति से

पंचहिं = पाँचों

एसणा = पृषणा

समिईहिं = समितियों से

समिईए = समिति से

इरिया = इर्या

आयाण = आदान

समिईए = समिति से

भंडमत्त = भाण्डमात्र

भासा = भाषा

निक्खेवणा = निष्पणा

सामर्पण - समिति से
उच्चार = उच्चार, पुरीय
वासवण = प्रसवण, सूत्र
मल - श्लेष, कफ

चल = चलल, शरीर का मल
सिंघाण = नाक का मल
परिष्ठापणिया = इनको परठने की
सामर्पण = समिति से

भावार्थ

ईर्ष्यासमिति, मायासमिति, पुण्यासमिति, आटान-भाण्डमात्र-
निक्षेपणा समिति उच्चार-प्रसवण-श्लेष-मल-सिंघाण-परिष्ठापनिका
समिति—उक्त चारों समितियों से अर्थात् समितियों का सम्यक् पालन
न करने से जो भी क्षति-गार लगा हो उसका प्रतिवमण करना है।

विशेषण

दिवेन युक्तः हाकर प्रवृत्ति करना, समिति है। 'सम्प्रकीर्णभावेन
इति = प्रवृत्ति समिति, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः।' प्राचार्य नमि
षी उपयुक्त समिति की व्युत्पत्ति ही समिति के वास्तविक स्वरूप का
प्रकाश कर देती है। हिन्दी भाषा में उक्त संस्कृत व्युत्पत्ति का आशय
यह है कि—प्राणातिपात आदि पाप से निवृत्त रहने के लिए प्रशस्त
पराप्रता-पूर्ण की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति, नमिति
कहाती है।

समिति आर गुति में यह अन्तर है कि गुति, प्रवृत्ति पर निवृत्ति
उभय रूप है। आर समिति उक्त प्रवृत्ति रूप ही है। अतएव समिति
वाला नियमत गुति वाला होता है क्योंकि नमिति भी सत् प्रवृत्ति रूप
अशत गुति ही है। परन्तु जो गुति वाला है, वह विनल्पेन समिति
वाला होता है, अर्थात् समिति वाला हो भी, नहीं भी हो। क्योंकि
स प्रवृत्तिरार गुति के समय समिति पायी जाती है, पर अशत निवृत्ति रूप
गुति के समय समिति नहीं पायी जाती। 'प्रवीक्षणाप्रवीचाररूपा गुतयः ।
समितयः प्रवीचाररूपा एव।'—प्राचार्य हरिमद्र

ईर्ष्या समिति

गुण-पणिगण भूमि में अशत रिक्त से देगते हुए, जीर्ण को बचाते

हुए वतनापूर्वक गमनागमन करना, ईर्या समिति है। ईर्या का अर्थ गगन होता है, अतः गमन विषयक सत्प्रवृत्ति, ईर्या समिति होती है। 'ईर्यायां समितिः, ईर्या-समितिस्तथा। ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टनमित्यर्थः'

—आचार्य हरिभद्र।

भाषा समिति

आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए वतना-पूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना, फलतः हित, मित, सत्य, एवं स्पष्ट वचन कहना, भाषा समिति कहलाती है। 'भाषा समितिर्नाम हितमितासंदिग्धार्थ भाषणम्।'—आचार्य हरिभद्र।

एषणा समिति

गोचरी के ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार पानी तथा वस्त्र पात्र आदि उपधि ग्रहण करना, एषणा समिति है।

आदानभाण्डमात्र निक्षेपणा समिति

वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि भाण्डमात्र=उपकरणों को उपयोग पूर्वक आदान = ग्रहण करना एवं जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण = रखना, आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति होती है। 'आदानभाण्डमात्र निक्षेपणा समितिर्नाम भाण्डमात्रे आदान-निक्षेपविषया समितिः सुन्दर-चेष्टेत्यर्थः।'—आचार्य हरिभद्र।

पारिष्ठापनिका समिति

मल मूत्र आदि या भुक्तशेष भोजन तथा भग्नपात्र आदि परठने योग्य वस्तु जीवरहित एकान्त स्थण्डिलभूमि में परठना, जीवादि उत्पन्न न हों—एतदर्थ उचित यतना कर देना, पारिष्ठापनिका समिति होती है।

आचार्य हरिभद्र, आवश्यक सूत्र की शिष्यहिता टीका में पारिष्ठापनिका समिति का निर्वचन करते हुए कहते हैं—'परितः—सर्वैः प्रकारैः स्थापनम्—अपुनर्ग्रहणतया न्यासः, तेन निवृत्ता पारिष्ठापनिकी।' इसका भावार्थ यह है कि सब प्रकार से वस्तुओं को डाल देना, डाल देने

र राद पुन मरण न रुना, पारिग्रानिका समिति हे । आदान निजेर समिति म भी गतु का निजेर हे और पारिग्रानिका मे भी म्थापना रुन्देन निजेर ही हे । मर इतना ही हे कि आदान निजेर समिति में मर के लिए पस्तु का त्याग नहीं किया जाता, नेत्रन उचित स्थान में रक्खा जाता है । परन्तु पारिग्रानिका में मर के लिए त्याग कर दिया जाता है ।

पारिग्रानिका समिति के पाठ में जल के आगे मल शब्द का भी कुछ लोग प्रयोग करते हैं, यह अयुक्त है । जल का अर्थ ही मल है, फिर वपर्य ही द्विदक्ति क्यों की जाय ? आचार्य हरिमद्र आदि किसी भी प्राचीन आचार्य ने मल शब्द का उल्लेख नहीं किया है । पुन्यश्री आत्मारामजी महाराज ने मूल पाठ में तो मल का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु अर्थ में 'जल मल' पाठ बताकर कमश' जल, मल अर्थ किया है । 'मल' के लिए 'मल' शब्द किस भाषा में है ? कम से कम हम तो नहीं समझ सके । मल का अर्थ पहलवान तो होता है । और जल का कल अर्थ भी निश्चित ही है ।

: २६ :

जीवनिकाय-सूत्र

पडिक्कमामि

छहिं जीवनिकाएहिं—

पुढविकाएणं

आउकाएणं

तेउकाएणं

वाउकाएणं

वणस्सइकाएणं

तसकाएणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ	तेउकाएणं = तेजः काय से
छहिं = छहों	वाउकाएणं = वायुकाय से
जीवनिकाएहिं = जीवनिकायो से	वणस्सइ = वनस्पति
पुढवि काएणं = पृथिवीकाय से	काएणं = काय से
आउकाएणं = अप् काय से	तसकाएणं = त्रसकाय से

भावार्थ

पृथिवी, आप्=जल, तेजः = अग्नि, वायु, वनस्पति, और त्रस =

द्वीन्द्रिय आदि—इन छहों प्रकार के जीव निकायों से अर्थात् इन जीवों की हिंसा करने से जो भी अतिचार लगा हो, उस का प्रति क्रमण करता है ।

चिन्वेचन

‘जीवनिक्काय’ शब्द, जीव और निकाय—इन दो शब्दों से बना है । जीव का अर्थ है—चैतन्य = आत्मा और निकाय का अर्थ है—शरीर, अर्थात् समूह । जीवों की शक्ति को जीवनिक्काय कहते हैं । पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और वस—य छह जीव निक्काय हैं । इन्हें गृह नाम भी कहते हैं । शरीर नाम रज्जु से दाने वाली शरीर-रचना एवं शक्ति का कारण कहते हैं । ‘धीयते इति काय ।’

जिन जीवों का शरीर पृथिवी रूप है, वे पृथिवीकाय कहलाते हैं । जिन जीवों का शरीर जलरूप है, वे जलकाय कहलाते हैं । जिन जीवों का शरीर अग्निरूप है, वे तेजस्काय कहलाते हैं । जिन जीवों का शरीर वायुरूप है, वे वायुकाय कहलाते हैं । जिन जीवों का शरीर वनस्पतिरूप है, वे वनस्पतिकाय कहलाते हैं । वे पौध, स्थावरजन्तु आदि हैं । इन को केवल स्पर्शान्द्विन्द्रिय होती है । वसनामरज्जु के उदय से गतिशील शरीर का धारण करने वाले द्वीन्द्रिय = बड़ी आदि, त्रीन्द्रिय = सूक्ष्म पदमल आदि, चतुर्विन्द्रिय = मक्खनी मच्छर आदि, और पञ्चेन्द्रिय = पशु पक्षी मानव आदि जीव समझाये कहलाते हैं ।

ससार में चारों ओर मत्स्यम्याय चल रहा है । छोटे जीवों की हिंसा, बड़े जीवों के हाथ की चारही है । कहीं भी जीव का जीवन सुरक्षित नहीं है । नाना प्रकार के दुःख कष्ट में कैमसर प्राणी जीव हिंसा में लगा हुआ है । आचाराग सुख के प्रथम ध्रुव तक और प्रथम अध्ययन में जीवहित, न छह कारण बताए हैं (१) जीवन निर्वाह के लिए, (२) रोगों से शरीर आदि की रक्षा पाने के लिए, (३) सम्मान पाने लिए; (४) अन्नजन आदि का उत्तर पाने के लिए (५) धर्म अन्ति के कारण

जन्ममरण से मुक्ति पाने के लिए (६) आरोग्य, सुख तथा शांति पाने के लिए ।

जैन-मुनि के लिए सर्वथा जीवहिंसा का त्याग होता है । वह किसी जीव को किसी भी कारण से पीड़ा नहीं देता । एक बात और भी है । दूसरे धर्म, अहिंसा के केवल स्थूल रूप तक ही पहुँचे हैं, जब कि जैन-धर्म का मुनि धर्म अहिंसा की सूक्ष्म से सूक्ष्म तह तक पहुँचा है । पृथिवी, जल जैसे सूक्ष्म जीवों के प्रति भी वह उसी प्रकार सदैव रहता है, जिस प्रकार संसारी जीव प्रिय स्वजनों के प्रति । इस लिए मुनि को छद्म काय का पीहर कहा जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में वृहत् प्रकार के जीवसमूह को किसी भी प्रकार की प्रमाद वश पीड़ा पहुँचायी हो, उसका प्रतिक्रमण किया गया है । अहिंसा के प्रति कितनी अधिक जागरूकता है !

: २७ :

लेश्या-सूत्र

पङ्क्तिमामि

छर्हि लेसाहि—

किएइ-लेसाए,

नील-लेसाए,

काउलेसाए,

तेउलेसाए,

पम्हलेसाए,

सुकलेसाए ।

शब्दार्थ

पङ्क्तिमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

छर्हि = छहों

लेसाहि = लेश्याओं से

किएइलेसाए = कृष्ण लेश्या से

नील लेसाए = नील लेश्या से

काउलेसाए = कापोत लेश्या से

तेउलेसाए = तेजोलेश्या से

पम्हलेसाए = पद्मलेश्या से

सुकलेसाए = शुक्ल लेश्या से

भावार्थ

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजोनेश्या, पद्मलेश्या, और शुक्ल लेश्या—इन छहों लेश्याओं के द्वारा अर्थात् प्रथम तीन अधर्म-लेश्याओं का आचरण करने से और बाद की तीन धर्म-लेश्याओं का आचरण न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता है।

विवेचन

लेश्या' का संक्षिप्त अर्थ है—'मनोवृत्ति या विचार तरंग'। उत्तरा-ध्वयन सूत्र, भगवती सूत्र, कर्मग्रन्थ आदि में लेश्या के सम्बन्ध में काफी विस्तृत एवं सूक्ष्म रहस्यपूर्ण चर्चा की गई है। परन्तु यहाँ इतनी सूक्ष्मता में उतरने का न तो प्रसंग ही है, और न हमारे पास समय ही। हों जानकारी के नाते कुछ पंक्तियाँ अवश्य लिखी जा रही हैं, जो जिज्ञासापूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं तो कुछ उपादेय अवश्य होंगी।

१ 'लेश्या' की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदाम महत्तर कहते हैं कि आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों के द्वारा शुभाशुभ कर्म का संश्लेष होता है, वे परिणाम लेश्या कहलाते हैं। मन, वचन और कायरूप योग के परिणाम लेश्या पदवाच्य है।

'लेश्या संश्लेषणे' संश्लिष्यते आत्मा तैस्तैः परिणामान्तरैः। यथा श्लेषेण वर्ण-सम्बन्धो भवति एवं लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते। योग-परिणामो लेश्या। जम्हा अयोगि-केवली अलेस्सो।' आवश्यक-चूणि'

श्री जिनदास महत्तर के उल्लेखानुसार धर्मलेश्या भी शुभ-कर्म का बन्ध-हेतु है। फिर भी उसे जो उपादेय कहा है, उसका कारण यह है कि आत्मा की अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन परिणतियाँ होती हैं। शुद्ध सर्वोपरि श्रेष्ठ परिणति है। परन्तु जब तक शुद्ध में नहीं पहुँचा जाता है, जब तक पूर्णरूप से योगों का निरोध नहीं हो पाता है, तब तक साधक के लिए अशुभ योग से हटकर शुभ योग में परिणति करना, ही श्रेयस्कर है।

कृष्ण लेश्या

यह मनोवृत्ति सबसे जयन्त है। कृष्णलेश्या वाले के विचार अतीव लुब्ध, क्रूर, उदार एवं निर्दय होने हैं। अग्नि, मत्त आदि से इमे घृणा होती है। गुण और दोष का विचार किए बिना ही सहसा कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। लोक और परलोक दोनों के ही उसे परिणामों से नहीं धमकाता। यह सर्वथा अविनेन्द्रिय, भोगरिस्तामी प्राणी होता है। वह अपने सुख में मगलन रगता है। दूसरों के जीवन का दुःख भी हो—उसे कोई मतलब नहीं।

नील लेश्या

यह मनोवृत्ति पहली की छवें का दुःख डीक है, परन्तु उपादेय वह भी नहीं। यह आत्मा ईर्ष्या, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज, मदाचार, क्षत्य, रमलोत्तुर होता है। अपनी सुख-सुविधा में जरा भी कमी नहीं होने देता। परन्तु निज प्राणिमों के द्वारा सुख मिलता है, उनकी भी अन्वाराण न्याय के अनुसार कुछ माग में भाल कर लेता है।

धापोत लेश्या

यह मनोवृत्ति भी दुर्गन्ध है। यह व्यक्ति विचारने, जेलने और कार्य करने में रक्त होता है। अपने दोषों को दँकता है। कटोर-भायी होता है। परन्तु अपनी सुख सुविधा में मदारर होने वाले प्राणियों के प्रति रुद्धावस्था नहीं, किन्तु म्यार्थवश संरक्षण का भाव रखता है।

तेजोलेश्या

यह मनोवृत्ति पवित्र है। इसके होने पर मनुष्य नर, विचारशील, दण्डालु एवं धर्म में अभिरुचि रखने वाला होता है। अपनी सुख सुविधाओं को कम महत्त्व देता है और दूसरों के प्रति अधिक उदार-भावना रखता है।

पद्मलेश्या

पद्मलेश्या वाले मनुष्य का जीवन कमल के समान दूसरा का

सुगन्ध देने वाला होता है। इसका मन शान्त, निश्चल एवं अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने वाला होता है। पाप ने भय लाता है, मोह और शोक पर विजय प्राप्त करता है। क्रोध, मान आदि कण्ठ्य अधिकांश में क्षीण एवं शान्त हो जाते हैं। वह मितभाषी, सौम्य, जितेन्द्रिय होता है।

शुक्त लेश्या

यह मनोवृत्ति सर्वसं अधिक विशुद्ध होने के कारण शुक्त कहलाती है। यह अपने सुखों के प्रति लापरवाह होता है। शरीर निर्वाहमात्र आहार ग्रहण करता है। किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। आसक्ति-रहित होकर सतत समभाव रखता है। राग-द्वेष की परिणति हटाकर वीतराग भाव धारण करता है।

प्रथम की तीन वृत्तियाँ त्याज्य हैं और बाद की तीन वृत्तियाँ उपादेय हैं। अन्तिम शुक्त लेश्या के बिना आत्मविकाश की पूर्णता का होना असम्भव है। जीवन-शुद्धि के पथ में अधर्म लेश्याओं का आचरण किया हो और धर्मलेश्याओं का आचरण न किया हो तो प्रस्तुत-सूत्र के द्वारा उसका प्रतिक्रमण किया जाता है।

: २८ :

भयादि-सूत्र

पडिवरुमामि

सत्तहिं भयट्ठाणेहिं, अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं,
नरहिं वंमचेरगुत्तीहिं, दसगिहे समणधम्मे,—

एककारसहिं उवासण-पडिमाहिं, पारसहिं
भिवलु-पडिमाहिं, तेरसहिं किरियाठाणेहिं,
चउदसहिं भूयगामेहिं, पन्नरसहिं परमाहम्मिएहि
सोलसहिं गाहासोलसएहिं, सत्तरसगिहे असंजमे,
अट्ठारसगिहे अरंभे, एगूणगीसाए नायज्झयणेहिं,
वीसाए असमाहि-अणेहिं,—

इक्कगीसाए मरलेहिं, बागीसाए परीसहेहिं,
तेगीसाए सूर्यगडज्झयणेहिं, चउगीसाए देवेहिं,
पणगीसाए भायणाहिं, छव्वीसाए दसाअप्प-
वज्जहारणं उदेसणकालेहिं, सत्तागीसाए अणगार-
गुणेहिं, अट्ठागीमाए आयारप्परुप्पेहिं, एगूण-

तीसाए पावसुयप्पसंगेहिं, तीसाए महामोहणीय-
ङ्गाणेहिं,—

एगतीसाए सिद्धाङ्गुणेहिं, वत्तीसाए जोग-
संगेहिं, तेत्तीसाए आसायणाहिं, :—

(१) अरिहंताणं आसायणाए, (२) सिद्धाणं
आसायणाए, (३) आयरियाणं आसायणाए,
(४) उवज्झायाणं आसायणाए, (५) साहूणं
आसायणाए, (६) साहुणीणं आसायणाए,
(७) सावयाणं आसायणाए, (८) सावियाणं
आसायणाए, (९) - देवाणं आसायणाए,
(१०) देवीणं आसायणाए, (११) इहलोगस्स
आसायणाए, (१२) परलोगस्स आसायणाए,
(१३) केवलि-पन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए,
(१४) सदेव-मणुआऽसुरस्स लोगस्स आसाय-
णाए, (१५) सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसा-
यणाए, (१६) कालस्स आसायणाए, (१७)
सुअस्स आसायणाए, (१८) सुअदेवयाए आसाय-
णाए, (१९) वायणायरियस्स आसायणाए,—

(२०) जं वाइद्धं, (२१) चच्चाभेलियं,
(२२) हीणक्खरं (२३) अच्चक्खरं (२४) पय-
हीणं (२५) विणयहीणं, (२६) जोग-हीणं,

(२७) घौमहीणं, (२८) मुद्गु दिन्नं, (२९)
 दुद्गु पठिच्छियं, (३०) यकाले कयो
 सज्जमाओ, (३१) काले न कयो सज्जमाओ,
 (३२) असज्जमाए सज्जमाइयं, (३३) सज्जमाए
 न सज्जमाइयं,—

तम्म मिच्छा मि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = प्रतिजमण करता हूँ	मिरिया—क्रिया के
मत्तहि = सात	ठाणैहि—स्थानों से
मयट्ठाणैहि = मय के स्थानों से	चउत्तसहि—चौदह
अट्ठाहि = आठ	भूयगामैहि—जीव-समूहों से
मयट्ठाणैहि = मय के स्थानों से	पत्तरमाहि—पन्द्रह
नगहि—नौ	परमाहम्मिण्हि—परमाधार्मिकों में
बंभचेट—इक्षवर्ष की	मांलसहि—सोलह
गुत्तीहि—गुत्तियों से	गाहा सोलसण्हि—गाथा पौडसकों से
दमविहे—दश प्रकार के	सत्तरसविहे—सत्तरह प्रकार के
समण—साधु के	अम जमे—असंख्य में
धम्मे—धर्म में (सगरे दोनों से)	अट्ठासविहे—अठारह प्रकार के
एक्कारसहि—एकारह	अवमे—अत्रसंख्य में
उपासम—आयक की	एगूणवीणाए—उत्तीस
पडिमाहि—प्रतिमाओं से	नाय-भयपोहि—ज्ञाता सूत्र के
मारसहि—बारह	अप्ययनों से
भिक्षु—भिक्षु की	वीणाए = बीस
पडिमाहि—प्रतिमाओं से	असमाहि = असमाधि के
तेरमाहि—तेरह	

भगवद्-गीता = स्वाध्यायिक में

न = नहीं

भगवद्-गीता = स्वाध्याय की हो

नम = उसका

दुष्ट = पाप

मि = मेरे लिए

मिच्छा = मिथ्या हो

भावार्थ

प्रतिक्रमण करता हूँ [सात भय से लेकर तेनीस आशातनाओं तक जो अतिचार लगा हो उसका] सात भय के स्थानों = कारणां से, आठ मद के स्थानों से, नौ ब्रजचर्य की सुप्तियों से = उनका सम्यक् पालन न करने से, दशविध उमा आदि धमण-धर्म की विराधना से—

ग्यारह उपासक = श्रायक की प्रतिमा = प्रतिज्ञाओं से अर्थात् उनकी अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से, पारह भिष्ठ की प्रतिमाओं से = उनकी श्रद्धा प्ररूपणा तथा आसेचना अच्छी तरह न करने से, तेरह क्रिया के स्थानों से अर्थात् क्रियाओं के करने से, चौदह जीवों के समूह से अर्थात् उनकी हिंसा से, पंद्रह परमाधार्मिकों से अर्थात् उन जैसा भाव या आचरण करने से, सूरकृताङ्ग सूत्र के प्रथम ध्रुतकन्ध के गाथा अध्ययन-सहित सोलह अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, सत्तर प्रकार के असंयम में रहने से, अष्टारह प्रकार के वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों से अर्थात् तदनु-
न रहने से, बीस असमाधि के स्थानों से,—

से, बाईस परीषदों से अर्थात् उनको सहन न करने, सूत्र के तेईस अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न देवों से अर्थात् उनकी अघहेलना करने से, पाँच भावनाओं से अर्थात् उनका आचरण न करने से, दृढकल्प और व्यवहार-उक्त सूत्रत्रयी के छद्मीस से अर्थात् तदनुकूल आचरण न करने से, सत्ताईस साधु के उनको पूर्णतः धारण न करने से, आचार प्रकल्प = आचा-

देवीण = देवियों की
 आशायणाए = आशातना से
 दन्तागस्म = इस लोक की
 आसायणाए = आशातना से
 परन्तागस्म = परलोक की
 आसायणाए = आशातना से
 केवल = सर्वज्ञ द्वारा
 पन्नतन्मस = प्ररूपित
 धम्मन्त = धर्म की
 आसायणाए = आशातना से
 सदेव = देव सहित
 मणुआ = मनुष्य सहित
 भुरस्म = असुर सहित
 लोमस्म = समग्र लोक की
 आसायणाए = आशातना से
 सव्व = सब
 पाण = प्राणी
 भूत = भूत
 जीव = जीव
 सत्ताण = सबों की
 आसायणाए = आशातना से
 कालस्म = काल की
 आसायणाए = आशातना से
 सुपस्म = भुत की
 आसायणाए = आशातना से
 सुयदेवणाए = भुत देवता की
 आसायणाए = आशातना से

गयणायरिस्म = वाचनाचार्य की
 आसायणाए = आशातना से
 (जो दोष लगा हो)
 ज = और जो (आगम पढ़ते हुए)
 वादद् = वाद आगे पीछे मोड़ा हो
 यथामलिय = शून्य मन से कई बार
 बोला हो अथवा अन्य
 सूत्र का पाठ अन्य
 सूत्र में भिन्न किया हो
 हीनकर = अक्षर छोड़ दिए हो
 अक्षकर = अक्षर बढ़ा दिए हो
 पयहीण = पद छोड़ दिए हो
 विणयहीण = विनय न किया हो
 योगरीण = योग से हीन पढ़ा हो
 घोसहीण = घोष से रहित पढ़ा हो
 मुट्ठु = योग्यता से अधिक पाठ
 दिन्न = शिष्यों को दिया हो
 दुट्ठु = बुरे भाव से
 पडिच्छिय = ग्रहण किया हो
 अकाले = अकाल में
 सभायो = स्वाध्याय
 कथो = किया हो
 काले = काल में
 सभायो = स्वाध्याय
 न कथो = न किया हो
 अस्वभाइए = अस्वाध्यायिक में
 सज्जइय = स्वाध्याय की हो

संज्ञाइए = स्वाध्यायिक में

दुष्टं = पाप

न = नहीं

मि = मेरे लिए

संज्ञाइयं = स्वाध्याय की हो

मिच्छा = मिथ्या हो

तस्त = उसका

भावार्थ

प्रतिक्रमण करता हूँ [सात भय से लेकर तेतीस आशातनाश्यों तक जो अतिचार लगा हो उसका] सात भय के स्थानों = कारणों से, आठ मद के स्थानों से, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से = उनका सम्यक् पालन न करने से, दशविध क्षमा आदि श्रमण-धर्म की विराधना से—

ग्यारह उपासक = श्रावक की प्रतिमा = प्रतिज्ञाओं से अर्थात् उनकी श्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से, बारह भिक्षु की प्रतिमाओं से = उनकी श्रद्धा प्ररूपणा तथा आसेवना अच्छी तरह न करने से, तेरह क्रिया के स्थानों से अर्थात् क्रियाओं के करने से, चौदह जीवों के समूह से अर्थात् उनकी हिंसा से, पंद्रह परमाधार्मिकों से अर्थात् उन जैसा भाव या आचरण करने से, सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा अभ्ययन-सहित सोलह अभ्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, सत्तरह प्रकार के असंयम में रहने से, अट्ठारह प्रकार के अत्रहचर्य में वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अभ्ययनों से अर्थात् तदनुसार संयम में न रहने से, बीस असमाधि के स्थानों से,—

इक्कीस शबलों से, बाईस परीपहों से अर्थात् उनको सहन न करने से, सूत्र कृताङ्ग सूत्र के तेईस अभ्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, चौबीस देवों से अर्थात् उनकी अवहेलना करने से, पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं से अर्थात् उनका आचरण न करने से, दशा श्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार-उक्त सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देशनकालों से अर्थात् तदनुकूल आचरण न करने से, सत्ताईस साधु के गुणों से अर्थात् उनको पूर्णतः धारणा न करने से, आचार प्रकल्प = आचा-

रोग तथा निशीथ सूत्र ने अट्टाईस अध्यायनों से अर्थात् तदनुसार आचरणा न करने से, उनतीस पाप धृत के प्रसंगों से अर्थात् मज्ज आदि पाप-धृतों का प्रयोग करने से, महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों से—

सिद्धों के इच्छातीस आदि गुणों से अर्थात् उनकी उचित धर्मा तथा प्ररूपणा न करने से, यत्तीस योग स ग्रहों से अर्थात् इनका आचरणा न करने से, तेत्तीस आशातनाओं से [जो कोई प्रतिचार लगा हो उससे प्रतिक्रमणा करता है—उसका मिष्वामि दुक्क इता है]

[कौन-सी तेत्तीस आशातनाओं से ?] अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, आचक, आविका, दध, दधी, इहलोक, परलोक, केवल-प्ररूपित धर्म, दधमनुष्य असुरों सहित समग्र लोक, समस्त प्राणा—विकल त्रय, भूत—वनस्पति, जीव = पञ्चेन्द्रिय, सत्य = पृथिवी काय आदि चार स्थावर, तथैव काष्ठ, धृत = शास्त्र, धृत-देवता, वाचनाचार्य—इन सबकी आशातना से—

तथा आगमों का अभ्यास करते एवं करते हुए व्याविद्ध = सूत्र के पाठों को या सूत्र के अक्षरों को उच्छट-पुच्छट आने पीछे किया हो, व्याध्यात्रेडित = शून्य मन से कई बार पढ़ता ही रहा हो, अथवा अन्य सूत्रों के पकार्यक, विष्णु मूलत मिष्ट-मिष्ट पाठ अभ्य सूत्रों में मिला दिए हो, हीनावर = अक्षर छोड़ दिए हो, अववर = अक्षर बढ़ा दिए हो, पद हीन = अक्षर समूहात्मक पद छोड़ दिए हों, विनय हीन = शास्त्र एवं शास्त्राभ्यासक का समुचित विनय न किया हो, पोप हीन = उदात्तादि स्वरों से रहित पढ़ा हो, योगहीन = उपधानादि तपो-विशेष के बिना अथवा उपयोग के बिना पढ़ा हो, सुषुद्धत = अधिक प्रवृत्ति करने की योग्यता न रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, दुष्पु प्रतीक्षित = वाचनाचार्य के द्वारा दिए हुए आगम पाठ को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, अकाले स्वाध्याय = कालिक उत्कालिक सूत्रों को उनके निविद्ध काल में पढ़ा हो, कालेऽप्राध्याय = विहित काल में सूत्रों को न पढ़ा हो, अस्थाध्यायिने स्वाध्यायिन = अस्था-

याय की स्थिति में स्वाध्याय किया हो; स्वाध्यायिकेऽस्वाध्यायित =
वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो—उक्त प्रकार से श्रुत ज्ञान
की चौदह आशातनाओं से, सब मिला कर तेतीस आशातनाओं से
जो भी अतिचार लगा हो उसका दुष्कृत = पाप मेरे लिए मिथ्या हो ।

विवेचन

प्रस्तुत-सूत्र बहुत ही संक्षिप्त भाषा में, गंभीर अर्थों की सूचना
देता है । भय से लेकर आशातना तक के बोल कुछ उपादेय हैं, कुछ
ज्ञेय हैं, कुछ हेय हैं । यदि इसी प्रकार हेय, ज्ञेय, उपादेय पर दृष्टि
रखकर जीवन को साधना पथ पर प्रगतिशील बनाया जाय तो अवश्य
ही उत्तराध्ययन-सूत्र के अमर शब्दों में वह संसार के बन्धन में नहीं रह
सकता । 'से न अच्छह मंडले ।'

इसके विपरीत आचरण करने से अर्थात् हेय को उपादेय, उपादेय
को हेय और ज्ञेय को अज्ञेय रूप समझने से एवं 'तदनुकूल प्रवृत्ति
करने से अवश्य ही आत्मा कम' बन्धनों में बँध जाता है । ऊँचे से
ऊँचा साधक भी राग-द्वेष की मलिनता के चक्कर में आकर पतित
हुए बिना नहीं रह सकता । प्रस्तुत सूत्र में इसी विपरीत श्रद्धा, प्ररूपणा
तथा आचरण की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने का विधान है ।

सात भयस्थान

(१) इहलोकभय—अपनी ही जाति के प्राणी से डरना, इहलोक-
भय है । जैसे मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यँचका तिर्यँच से डरना ।

(२) परलोकभय—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना, परलोक
भय है । जैसे मनुष्य का देव से या तिर्यँच आदि से डरना ।

(३) आदानभय—अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से
डरना ।

(४) अकस्माद्भय—किसी बाह्य निमित्त के बिना अपने आप
ही सशंक होकर रात्रि आदि में अचानक डरने लगना ।

(१) आजीवनभय—दुर्भिक्ष आदि में जीवनयात्रा के लिए मोहन आदि की अप्राप्ति के दुर्भिक्ष से डरना ।

(६) मरणभय—मृत्यु से डरना ।

(७) अरक्षोक्मभय—अपराध की आशंसा से डरना ।

उक्त भय ममसाधन-सूत्र के अनुसार हैं ।

भय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के उद्वेगरूप परिणाम विशेष को भय कहते हैं । उसके उत्पुङ्क्त सात स्थान—कारण है । साधु को किसी भी भय के आगे अपने आप को नहीं मुकाना चाहिए । निर्भय होने का अर्थ है—‘न स्वयं भयभीत होना और न किसी दूसरे को भयभीत करना ।’ भय के द्वारा सँयम जीवन दूषित होता है, तदर्थ भय का प्रतिजमण किया जाता है ।

आठ मद स्थान^१

(१) जातिमद—ऊँची और श्रेष्ठ जाति का अभिमान ।

(२) कुलमद—ऊँचे कुल का अभिमान ।

(३) वलमद—झाले उल का घमण्ड करना ।

१ ‘स्थान’ शब्द का अर्थ हेतु अर्थात् कारण किया है । अतः जाति, कुल आदि जो आठ मद के कारण हैं, में उनका प्रतिजमण करता है । अमरदेव ममसाधन सूत्र की टीका में स्थान शब्द का अर्थ आश्रय अर्थात् आधार—कारण करते हैं । ‘मदस्य-अभिमानस्य स्थानानि = आश्रयाः मदस्थानानि ज्ञात्वादीनि ।’—ममसाधन वृत्ति ।

आचार्य जिनदान स्थान का अर्थ ‘पर्याय अर्थात् भेद’ करते हैं । “मदो नाम मानोद्वादात्मोक्त्यपरिणामः । स्थानानि—तस्यैव पर्याया भेदाः । “तानि च अष्टौ—जातिमद, कुलमद, वलमद—।”

—आमरयज्ञ चूले^२

आचार्य जिनदान के उक्त अभिमान को हस्तिमद और अमरदेव भी स्वीकार करते हैं ।

(४) रूपमद—आने रूप, सौन्दर्य का गर्व करना ।

(५) तपमद—उग्र तपस्वी होने का अभिमान ।

(६) श्रुतमद—शाम्बाभ्याम का अर्थात् पण्डित होने का अभिमान ।

(७) लाभमद—अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर अपने लाभ का अहंकार ।

(८) ऐश्वर्यमद—अपने ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व का अहंकार ।

ये आठमद समवायांग-सूत्र के उल्लेखानुसार हैं ।

मान मोहनीय कर्म के उदय से जन्य ये आठों ही मद सर्वथा त्याज्य हैं । यदि कभी प्रमादवश आठों मदों में से किसी भी मद का आसेवन कर लिया गया हो तो तदर्थ हादिक प्रतिक्रमण करना उचित है ।

नौ ब्रह्मचर्य-गुणि

(१) विविक्त-वसति-सेवन—स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न टहरे ।

(२) स्त्री कथा परिहार—स्त्रियों की कथा-चर्चा, सौन्दर्य आदि की चर्चा न करे ।

(३) निषथानुपवेशन—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे ।

(४) स्त्री-अंगोपांगादर्शन—स्त्रियों के मनोहर अंग उपांग न देखे । यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पड़ जाय तो सहसा हटा ले, फिर उसका ध्यान न करे ।

(५) कुड्यान्तर-शब्दश्रवणादि-वर्जन—दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, रस आदि न सुने और न देखे ।

(६) पूर्वभोगाऽस्मरण—पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे ।

(७) प्रणीत भोजन-त्याग—विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे ।

(८) अतिमात्रभोजन-त्याग—रूखा-सूखा भोजन भी अधिक न

करे। आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो भाग पानी के लिए और एक भाग दवा के लिए छोड़ दे।

(६) निभूत-परिवर्तन—अन्ने शरीर की निभूत = मत्तारट न करे।^१

ब्रह्म का अर्थ 'परमात्मा' है। आत्मा की परमात्मा बनाने के लिए जो चर्या = गमन किया जाता है, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जो गति आवश्यक है, वे जो ही गुतिगद वाच्य है। स्त्रियों को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उपयुक्त वर्णन में स्त्री के स्थान में पुरुष समझना चाहिए।

यदि साधना करते हुए वही भी धमादयस जो गुतियों का अति-वमण किया हो, अर्थात् प्रतिनिद्ध कायों का आचरण किया हो तो उसका प्रस्ता सूत्र के द्वारा प्रतिनिमण किया जाता है।

१ यह गुतियों का पणन, उत्तराध्ययन-सूत्र के १६ वे अध्यायन के अनुसार किया गया है। परन्तु समसायाग सूत्र में गुतियों का उल्लेख अल्प रूप में किया है। यहाँ क्या मेद है, यहाँ शब्द में बताया जाता है।
समसायाग सूत्र में तीसरी गुति, स्त्रियों के समुदाय के साथ निकट सम्पर्क रहना है। 'नो इधीय' गलाहं सेवित्ता मवह, १।'

समसायाग सूत्र में प्रलीनरस भोजन त्याग और अति भोजन त्याग गुति की मल्ल्या वमण पाँचवीं तथा छठी है। पूर्वभोग स्मरण का त्याग तथा शब्द-रुगानुगतिना आदि का त्याग साववे और आठवें नंबर पर है।

समसायाग सूत्र में, नीची गुति का स्वरूप, सामारिक सुखोपभोग की आसक्ति का त्याग है। यह निभूतानुगतिता से अधिक व्यापक है। किसी भी प्रकार के सुखोपभोग की कामना अब्रह्मचर्य है। 'नो साया-सोवस-स्त्रियदे वा वि मवह ५। ३।' समसायाग सूत्र नवम समसार।

दश श्रमण धर्म

(१) हान्ति = क्रोध न करना ।

(२) मार्दव = मृदु भाव रखना, जाति कुल आदि का अहंकार न करना ।

(३) आर्जव = ऋजुभाव-सरलता रखना, माया न करना ।

(४) मुक्ति = निर्लोभता रखना, लोभ न करना ।

(५) तप = अनशन आदि चारह प्रकार का तपश्चरणा करना ।

(६) संयम = हिंसा आदि आश्रवों का निरोध करना ।

(७) सत्य = सत्य भाषण करना, झूठ न बोलना ।

(८) शौच = संयम में दूषण न लगाना, संयम के प्रति निरुपलब्धता-पवित्रता रखना ।

(९) आर्किचन्य = परिग्रह न रखना ।

(१०) ब्रह्मचर्य = ब्रह्मचर्य का पालन करना ।

यह दशविध श्रमण धर्म, आचार्य हरिभद्र के द्वारा उद्धृत प्राचीन संग्रहणी गाथा के अनुसार है—

खंती य मद्वज्जव,

मुत्ती तव संजमे य वोद्धवे ।

सच्चं सोयं आर्किचणं च,

बंभं च जइ - धम्मो ॥

समवायांग सूत्र का उल्लेख इस प्रकार है—‘खंती, मुत्ती, अजवे, मद्वे, लाधवे, सच्चे, संजमे, तवे, चयाए, बंभचेरवासे ।’ स्थानांग सूत्र में भी ऐसा ही मूल पाठ है ।

आचार्य हरिभद्र ने ‘अन्ये त्वेव’ वदन्ति’ कहकर दशविध श्रमण-धर्म के लिए एक और प्राचीन गाथा मतान्तर के रूप में उद्धृत की है—

संती मुत्तो अज्जव,
 मद्व तह लाघवे तवे चेव;
 संजम चियागऽकिंचण,
 बोद्धव्ये वंमचेरे य ।

आचार्य हरिभद्र लाघव का अतिप्रसन्नता-अनासक्तता और त्याग का सधमी साधकों को यत्नादि का दान, ऐसा अर्थ करते हैं। 'लाघव'-अतिप्रसन्नता, त्याग-संयतेभ्यो घञादिदानम् ।' आदर्शक शिष्यदिता टीका ।

आचार्य भ्रमणवेद, समयायाग सूत्र की टीका में लाघव का अर्थ द्रव्य से अल्प उपधि रहना और भाव से गौरव का त्याग करना, करते हैं—'लाघव' द्रव्यतोऽल्पोपधिता, भावतो गौरव-त्यागः ।'

श्री भ्रमणवेद ने 'चियाण'-'त्याग' का अर्थ सर प्रकार के आसनों का त्याग अथवा साधुओं को दान करना, किया है। 'त्यागः सर्व-संज्ञानां, संविग्न मनोज्ञसाधुदानं वा ।'

स्थानांम सूत्र के दशम स्थान में दशविध भ्रमण धर्म की व्याख्या करते हुए श्री भ्रमणवेद ने 'चियाण' का केवल सामान्यतः दान अर्थ ही किया है 'चियाणसि त्यागो दानधर्म' इति ।'

आचार्य जिनदास, आचर्यक चूषि में भ्रमण धर्म का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—'उत्तमा क्षमा, मद्व', अज्जव', मुत्ती, सोव, सत्तो, संजमो, तवो, अकिंचणत्तण, वंमचेरमिति ।' आचार्य ने क्षमा से पूर्व उत्तम शब्द का प्रयोग बहुत सुन्दर किया है। उसका सम्बन्ध प्रत्येक धर्म से है, जैसे उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव आदि। क्षमा आदि धर्म तभी हो सकते हैं, जब कि ये उत्तम हों, शुद्धभावन से किए गए हों, उनमें किसी प्रकार से प्रवचना का भाव न हो। आचार्य श्री उमास्वाति भी तत्त्वार्थ सूत्र में क्षमा आदि से पूर्व उत्तम विशेषण का उल्लेख करते हैं।

आचार्य जिनदास शौच का अर्थ 'धर्मोपकरण में भी अनासक्त भावना' करते हैं। 'सोयं अलुब्धा धम्मोवगरणेसु वि।' अकिंचनत्व का अर्थ, अपने देहादि में भी निःसंगता रखना, किया है। 'नत्थि जरस्स किंचणं सो अकिंचणो, तस्स भावो आकिंचणियं।' 'सदेहादिसु वि निस्संगेण भवित्ठवं।' आवश्यक चूर्णि

दशविध श्रमण धर्म में मूल और उत्तर दोनों ही श्रमण-गुणों का समावेश हो जाता है। संयम = प्राणातिगत विरति, सत्य = मृपागाद विरति, अकिंचनत्व = अदत्तादान और परिग्रह से विरति, ब्रह्मचर्य = मैथुन से विरति। ये पंचमहाव्रत रूप मूल गुण हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, और तप—ये सब उत्तर गुण हैं।

आध्यात्मिक साधना में अहर्निश श्रम करने वाले सर्वविध साधक को श्रमण कहते हैं। श्रमण के 'धर्म' श्रमण-धर्म कहलाते हैं। उक्त दशविध मुनिधर्मों की उचित श्रद्धा, प्ररूपणा तथा आसेवना न की हो तो तज्जन्य दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

ग्यारह उपासक प्रतिमा

(१) दर्शन प्रतिमा—किमी भी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रखकर शुद्ध, निरतिचार, विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करना। यह प्रतिमा व्रतरहित दर्शन श्रावक की होती है। इसमें मिथ्यात्व रूप कदाग्रह का त्याग मुख्य है। 'सम्यग्दर्शनस्य शङ्कादिशल्परहितस्य अणुव्रतादि-गुणधिकलस्य योऽभ्युपगमः। सा प्रतिमा प्रथमेति।' अभयदेव, समवायांग वृत्ति। इस प्रतिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

(२) व्रत प्रतिमा—व्रती श्रावक सम्यक्त्व लाभ के बाद व्रतों की साधना करता है। पाँच अणुव्रत आदि व्रतों की प्रतिज्ञाओं को अच्छी तरह निभाता है, किन्तु सामायिक का यथासमय सम्यक् पालन नहीं करता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

(३) सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा में प्रातः और सायंकाल

गमाविरत मन की लक्षणा निर्निश्चय पालन करने लगता है, ममभार हट हो जाता है। किन्तु पर्यदिना में वीर्यधन का मन्त्र पालन नहीं कर पाना। यह प्रतिमा तीन मान की होती है।

(४) वीर्य प्रतिमा—अष्टमी, चतुर्दशी, अमास्या और पूर्णिमा आदि पर्यदिना में आहार, शरीर तत्कार, अन्नचर्य, और व्याहार का त्याग इन प्रकार चतुर्विध त्यागका प्रति पूर्ण वीर्य धन का पालन करना, वीर्य प्रतिमा है। यह प्रतिमा चार मान की होती है।

(५) नियम प्रतिमा—उपशुक्त सभी कर्तों का मनी मॉने पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा में निम्नोक्त शतें विंशति रूप से धारण करनी होती है—यह स्नान नहीं करता, रात्रि में चारों आहार का त्याग करता है। दिन में भी प्रसाशमोक्ष होता है। धोनी की साँग नहीं देता दिन में नमस्कारी रहता है, रात्रि में मैथुन की मर्यादा करता है। वीर्य होने पर रात्रि मैथुन का त्याग और रात्रि में वायोसर्ग करना होता है। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन आदि और अधिक से अधिक पौन मास तक होती है।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की काल मर्यादा अल्प एक रात्रि की और उत्कृष्ट छह मास की है।

(७) सचित्त त्याग प्रतिमा—सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना। यह प्रतिमा अधन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट काल मान से स्नात मास की होती है।

(८) आरम्भ त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में स्वयं आरम्भ नहीं करता, छः काय के जीजों की दया पालता है। इसकी काल मर्यादा अधन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास होती है।

(९) प्रेक्ष्य त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में दूसरों के द्वारा आरम्भ करने का भी त्याग होता है। यह स्वयं आरम्भ नहीं करता, न दूसरों से कराता है, किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नहीं होता। इस प्रतिमा का अधन्य काल एक, दो, तीन दिन है। और उत्कृष्ट काल नौ मास है।

(१०) उद्दिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा में उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग होता है। अर्थात् अपने निमित्त बनाया गया भोजन भी ग्रहण नहीं किया जाता। उस्तरे से सर्वथा शिरो मुण्डन करना होता है, या शिखामात्र रखनी होती है। किसी गृह-सम्बन्धी विषयों के पूछे जाने पर यदि जानता है तो जानता हूँ और यदि नहीं जानता है तो नहीं जानता हूँ—इतना मात्र कहे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की, उत्कृष्ट दश मास की होती है।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—इस प्रतिमा में श्रावक श्रमण तो नहीं किन्तु श्रमण भूत = मुनिसदृश हो जाता है। साधु के समान वेप बनाकर और साधु के योग्य ही भारडोपकरण धारण करके विचरता है। शक्ति हो तो लुञ्चन करता है, अन्यथा उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता है। साधु के समान ही निर्दोष गोचरी करके भिक्षावृत्ति से जीवन यात्रा चलाता है। इसका कालमान जघन्य एक रात्रि अर्थात् एक दिन रात और उत्कृष्ट ग्यारह मास होता है।

प्रतिमाओं के कालमान के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। आगमों के टीकाकार कुछ आचार्य कहते हैं कि सब प्रतिमाओं का जघन्यकाल एक, दो, तीन आदि का होता है और उत्कृष्ट काल क्रमशः एक मास, दो मास यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा का ग्यारह मास होता है। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में भावविजयजी लिखते हैं—‘इह या प्रतिमा यावत्-संख्या स्यात् सा उत्कर्षतस्तावन्मासमाना यावदेकादशी एकादशमास प्रमाणा। जघन्यतस्तु सर्वा अपि एकाहादिमानाः स्युः।’ उत्तराध्ययन ३१।११।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र में ग्यारह प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन है। परन्तु वहाँ पहली चार प्रतिमाओं के काल का उल्लेख नहीं है। हाँ पाँचवीं से ग्यारहवीं प्रतिमा तक के काल का उल्लेख वही है, जो हमने ऊपर लिखा है। अर्थात् जघन्य एक, दो, तीन दिन आदि और उत्कृष्ट क्रमशः पाँच, छह, सात यावत् ग्यारह मास। परन्तु आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज अपनी दशाश्रुत स्कन्ध की टीका में वही उल्लेख

करते हैं, जो हमने प्रतिमाओं के वर्णन में कालमान के सम्बन्ध में
 किया है। अर्थात् एक मास से लेकर यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा के ग्यारह
 मास। परन्तु इस मास-वृद्धि में वे पुनः की प्रतिमाओं के काल को मिलाने
 का उल्लेख करते हैं। ऐसे वे प्रत्येक प्रतिमा पर काल एक मास ही
 मानते हैं। उनके कथनानुसार, जैसा कि वे दूसरी प्रतिमा के वर्णन में
 लिखते हैं,—‘इस प्रतिमा के लिए दो मास समव अर्थात् एक मास
 पहली प्रतिमा का और एक मास इस प्रतिमा का निर्धारित किया है।’
 मग्न प्रतिमाओं का काल ग्यारह मास ही होना, चाहे। परन्तु आचार्य
 भी उक्त हार में सब प्रतिमाओं का पूर्णकाल साठे पाँच वर्ष लिखते
 हैं। यह दोहरे में भ्रम कैसे हुई? पूर्णरूप का विशेष संगति चाहता है।

प्रतिमाधारक भावन, प्रतिमा की पूर्ति के बाद संयम ग्रहण कर
 लेता है। यदि इसी बीच में मृत्यु हो जाए तो स्वर्गागोही बनता है।
 ‘तत्प्रतिपत्तेरन्तरमेकादिभिर्दिनेः संयमं प्रतिपत्त्या जीवितवयाद् वा।’
 भागवतत्रय, उत्तराखण्डन वृत्ति २२। १२।

परन्तु यह नियमन संयम ग्रहण करने का मत कुछ आचार्यों को
 समझी नहीं है। कार्तिक मेढ ने भी बार प्रतिमा ग्रहण की थी, ऐसा
 उल्लेख भी मिलता है।

पूरं पूरं प्रतिमाओं की चर्चा उत्तरोत्तर अर्थात् आगे की प्रतिमाओं
 में भी चालू रहती है। देखिए, भागवतत्रय की क्या लिखते हैं ?
 ‘प्रथमोक्तं च अनुष्ठानमपेक्षया सर्वं कार्यं यावदेकादरथा पूर्वे प्रतिमा-
 दर्शनादपि।’ उत्तराखण्डन २२। १२

उत्तराखण्ड का अर्थ भाग्यक होता है। और प्रतिमा का अर्थ—
 प्रतिमा = प्रतिपद है। उत्तराखण्ड की प्रतिमा, उत्तराखण्ड प्रतिमा कहलाती है।

ग्यारह उत्तराखण्ड प्रतिमाओं का मास के लिए अनेवार यह है कि
 इन पर भद्रा न करना, अथवा इनकी विशेष प्रशंसा करना। इसी
 अभद्रा एवं विपरीत प्रशंसा का यही प्रतिफल है।

वारह भिक्षु-प्रतिमा

(१) प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दिन अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना फलता है। साधु के पात्र में दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहे, उसका नाम दत्ति है। धारा खरिडत होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहाँ से लेना चाहिए, किन्तु जहाँ दो तीन आदि अधिक व्यक्तियों के लिए भोजन बना हो, वहाँ से नहीं लेना। इसका समय एक महीना है।

(२-७) दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। दो दत्ति आहार की, दो दत्ति पानी की लेनी। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमाओं में क्रमशः तीन, चार, पाँच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण की जाती हैं। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास है। केवल दत्तियों की वृद्धि के कारण ही ये क्रमशः द्विमासिकी, त्रिमासिकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी, षण्मासिकी, और सप्तमासिकी कहलाती हैं।

(८) यह आठवीं प्रतिमा सप्तरात्रि = सात दिन रात की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव के बाहर उत्तानसन (आकाश की ओर मुँह करके सीधा लेटना), पार्श्वगन (एक करवट से लेटना) अथवा निपद्यासन (पैरों को बराबर करके बैठना) से ध्यान लगाना चाहिए। उपसर्ग आए तो शान्त चित्त से सहन करना चाहिए।

(९) यह प्रतिमा भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेल-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लघुडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है।

(१०) यह भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेल-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर गोदोहनासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जामन से ध्यान किया जाता है।

(२) अनर्थ क्रिया—विना किसी प्रयोजन के किया जानेवाला पार कर्म अनर्थ क्रिया कहलाता है । व्यर्थ ही किसी को संताना, पीड़ा देना ।

(३) हिंसा क्रिया—असुक व्यक्ति मुझे अथवा मेरे स्नेहियों को कष्ट देता है, देगा, अथवा दिया है—यह सोच कर किसी प्राणी की हिंसा करना, हिंसा क्रिया है ।

(४) अकस्मात् क्रिया—शीघ्रतावश विना जाने हो जाने वाला पाप, अकस्मात् क्रिया कहलाता है । वाग्नादि से अन्य की हत्या करते हुए अन्नादिक ही अन्य किसी की हत्या हो जाना ।

(५) दृष्टि विपर्यास क्रिया—मतिभ्रम से होने वाला पाप । चौरादि के भ्रम में साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड दे देना ।

(६) मृषा क्रिया—भूठ बोलना ।

(७) अदत्तादान क्रिया—चोरी करना ।

(८) अभ्यात्म क्रिया—वाह्य निमित्त के यिना मन में होने वाला शोक आदि का दुर्भाव ।

(९) मान क्रिया—अपनी प्रशंसा करना, घमण्ड करना ॥

(१०) मित्र क्रिया—प्रियजनों को कठोर दण्ड देना ।

(११) माया क्रिया—दम्भ करना ।

(१२) लोभ क्रिया—लोभ करना ।

(१३) ईर्ष्यापथिकी क्रिया—अप्रमत्त विवेकी संयमी को गमना-गमन से लगने वाली क्रिया ।

चौदह भूतग्राम = जीवसमूह

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, वाय्वर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असेंजी पञ्चेन्द्रिय और संजी पञ्चेन्द्रिय । इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त—कुल चौदह भेद होते हैं । इनकी विराधना करना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना, अतिचार है ।

कुछ आचार्य भूतग्राम से चौदह गुण स्थानवर्ती जीव समूहों का उल्लेख करते हैं । देखिए—आवश्यक चूणि तथा हरिभद्र कृत आवश्यक टीका ।

पंदरह परमार्थमिक

(१) अथ (२) अम्बगी (३) रथाम (४) शत्रु (५) रद्र (६) उग्रौद्र (७) बाल (८) मत्तमाल (९) अमिष (१०) धनुः (११) कुम्भ (१२) बालुक (१३) वैरणि (१४) मत्सर (१५) मदागोप । ये परम अर्थमिक, पागचारी, नृप गुरु निर्दय असुर जालि के देर है । नारकीय जीरो को व्यर्थ ही, केवल मनोभिन्द के लिए यातना देते हैं । जिन संक्षिप्त रूप परिणामों से परमार्थमिकता होता है, उनमें प्रवृत्ति करना अनिवार है । उन अनिवारों का प्रविष्टमण यहाँ अभीष्ट है । 'एतज्जेहि परमार्थमिकत्तणु' भवति तेषु दाणेसु ज वट्ठिं ।'
—विनशत महत्तर ।

गाथा पौडशक

(१) मगमय पर ममय (२) पैगालीर (३) उग्रगा पण्डित (४) स्त्री परिका (५) नरक विपत्ति (६) वीर स्तुति (७) दुर्गलि

१—गाथा पौडशक का अर्थमिक यह है कि 'गाथा नामक सोलहों अध्ययन है जिनका, जे मूलकृतांग-सूत्र के प्रथम भुक्तमन्त्र के मोनह अध्ययन ।' आचार्य अमरदेव ममगापांग गुरु की टीका में उक्त शब्द पर विवेचन करते हुए लिखते हैं—'गाथाभिधान मध्ययन पौडशं येषां तानि गाथापौडशकानि ।' श्री भावविश्वजी भी उक्तअध्ययनान्तर्गत चरण विधि अध्ययन की व्याख्या में ऐसा ही अर्थ करते हैं । श्री विनशत महत्तर भी आम्शक चूणि में लिखते हैं—'गाथासह सोलह अन्कयणा तेषु, सुत्तमदपदमसुत्तमसंघ अन्कयणेषु इत्यर्थः ।'

परन्तु आचार्य श्री आम्मारामजी उत्तराध्ययन-सूत्र में उक्त शब्द का भावार्थ लिखते हैं कि 'गाथा नामक सोलहों अध्ययनमें ।'—उत्तराध्ययन ३१ । १३ । मालूम होता है आचार्यजी ने शब्दगत बहुवचन पर ध्यान नहीं दिया है, फलतः उन्हें बहुव्रीहि समास का ध्यान नहीं रहा ।

परिभाषा (८) वीर्य (९) धर्म (१०) समाधि (११) मार्ग (१२) समवसरण (१३) याथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) आदानीय (१६) गाथा ।

ये सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा षोडशक = सोलह अध्ययन हैं । अध्ययनोक्त आचार-विचार का भलीभाँति पालन न करना, अतिचार है ।

सत्तरह असंयम

(१-६) पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, और वनस्पति-काय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना, कराना, अनुमोदन करना ।

(१०) अजीव असंयम = अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के द्वारा असंयम होता है, उन बहुमूल्य वस्त्रपात्र आदि का ग्रहण करना अजीव असंयम है ।

(११) प्रेक्षा असंयम = जीव-सहित स्थान में उठना, बैठना, सोना आदि ।

(१२) उपेक्षा असंयम = गृहस्थ के पाप कर्मों का अनुमोदन करना ।

(१३) अपहृत्य असंयम = अविधि से परटना । इसे परिग्रहना असंयम भी कहते हैं ।

(१४) प्रमार्जना असंयम = वस्त्रपात्र आदि का प्रमार्जन न करना ।

(१५) मनः असंयम = मन में दुर्भाव रखना ।

(१६) वचन असंयम = कुवचन बोलना ।

(१७) काय असंयम = गमनागमनादि में असावधान रहना ।

ये सत्तरह असंयम समवायांग सूत्र में कहे गए हैं ।

असंयम के अन्य भी सत्तरह प्रकार हैं—हिंसा, असत्य, अस्तेय, अन्नचर्च, परिग्रह, पाँचों इन्द्रियों की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति, चार कपाय और तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति ।

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक में 'असंजमे' के स्थान में

। जमे' का उल्लेख किया है। 'स जमे' का अर्थ मंथन है। संयम के । श्रुती काय-मंथन आदि सतरह भेद हैं।

छठारह अमरशब्द

देव सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काय से स्वयं सेवन करना, मरों से कराना, तथा करते हुए को मना जानना—इस प्रकार नौ त्रैलोक्य एतरे सम्बन्धी होते हैं। मनुष्य तथा तिर्यङ्ग सम्बन्धी त्रैलोक्य भोगों के भी इसी तरह नौ भेद समझ लेने चाहिए। कुल मन्थनर छठारह भेद होते हैं।

[समाप्ताग]

ताता धर्म कथा के १६ अंगवचन

(१) उल्लिखित अर्थात् मेरुदुमार, (२) संघाट (३) अरुद्ध (४) कुम्भ (५) शैलक (६) तुम्ब (७) सेहिली (८) मल्लरी (९) मास्त्री (१०) चन्द्रमा (११) शङ्कर (१२) उदक (१३) मरुद्वीप (१४) लेनलि (१५) नन्दी पत्त (१६) अरुद्ध पत्त (१७) आनीर्ण (१८) सुमुमादरिका (१९) पुण्डरीक । उक्त उन्नीस उदाहरणों के भागनुसार माधुर्यम की मायना न करना, अनिचार है।

बीस असमाधि

- (१) द्रुत द्रुत चरित्व = दलही दलही चलना ।
- (२) अग्रमृग्य चरित्व = गिरा पूँजे राखि आदि में चलना ।
- (३) दुष्प्रभृत् चरित्व = गिरा उपयोग के प्रभावसे करना ।
- (४) अतिरिक्त शब्दसन्निध्य = अमर्यादित शब्दों और आसन रचना ।
- (५) राजिक परामर्श = गुरुधना का अग्रमान करना ।
- (६) स्थविरौप्यत = स्थविरों का उपहनन = प्रवहेलना करना ।
- (७) भूतोपवात = भूत बीरों का उपहनन (हिमा) करना ।
- (८) संग्रहण = शक्तिशाली पानी गर गर कुद होना ।

- (९) दीर्घ कोष = चिरकाल तक बंध रखना ।
 (१०) पृष्ठ मांसिकत्व = पीठ पीछे निन्दा करना ।
 (११) अभिचूणावभाषण = मशक होने पर भी निश्चित भाषा बोलना ।
 (१२) नवाधिकरण करण = नित्य नए कलाह करना ।
 (१३) उपशान्तकलहोदीरण = शान्त कलाह को पुनः उत्तेजित करना ।
 (१४) अकालस्वाध्याय = अकाल में स्वाध्याय करना ।
 (१५) मरजस्कपाणि-भिन्नाग्रहण = सचित्तगज सहित हाथ आदि से भिन्ना लेना ।
 (१६) शब्दकरण = पदर रात धीमे विकाल में जोर से बोलना ।
 (१७) भङ्गाकरण = गण-भेदकारी अर्थात् संघ में फूट डालने वाले वचन बोलना ।
 (१८) कलह करण = आक्रोश आदि रूप कलह करना ।
 (१९) सूर्यप्रमाण भोजित्व = दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना ।
 (२०) एषणाऽसमित्व = एषणा समिति का उचित ध्यान न रखना ।

जिस मत्कार्य के करने से चित्त में शान्ति हो, आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग में अवस्थित रहे, उसे समाधि कहते हैं । और जिस कार्य से चित्त में अप्रशस्त एवं अशान्त भाव हो, ज्ञानादि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो उसे असमाधि कहते हैं । उपर्युक्त बीस कार्यों के आचरण से अपने और दूसरे जीवों को असमाधि भाव उत्पन्न होता है, साधक की आत्मा दूषित होती है, और उसका चारित्र मलिन होता है, अतः इन्हें असमाधि कहा जाता है ।

‘समाधानं समाधिः—चेतसः स्वास्थ्यं, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः । न समाधिरसमाधिस्तस्य स्थानानि—आध्रया भेदाः पर्याया असमाधि-स्थानानि ।’ आचार्य हरिभद्र

अमर-सूत्र-आना के आसेवन से जहाँ कहीं आत्मा मंथम भ्रष्ट हुआ हो, उसका प्रतिमण्डल प्रस्तुत पाठ के द्वारा किया जाता है।

इकोस शबल दोष

(१) हस्तकर्म = हस्त मैथुन करना।

(२) मैथुन = स्त्री स्पर्श आदि मैथुन करना।

(३) रात्रिभोजन = रात्रि में भोजन लेना और करना।

(४) आषाकर्म = साधु के निमित्त से उनाया गया भोजन लेना।

५) सागारिकविण्ड = गन्धान्तर अर्थात् स्थानदाता का आहार लेना।

(६) सौरेशिक = नाधु के या पाचका के निमित्त उनाया गया, मीन = खरीश हुआ आहार, आहुन = स्थान पर लाकर दिया हुआ, भमित्य = उपहार लाया हुआ, आच्छिन्न = छीन कर लाया हुआ आहार लेना।

(७) प्रदोषाभ्यास भग = नार-यार प्रत्याभ्यास भग करना।

(८) गणपरिवर्तन = छह मास में गण से गन्धान्तर में जाना।

(९) इक्षुक्ष लेष = एक मास में तीन बार नाभि या जघन प्रमाण जन में प्रवेश कर नंगे आदि पार करना।

(१०) मातृ स्थान = एक मास में तीन बार मातृ स्थान सेवन करना। अर्थात् मृत अमास्य छुग लेना।

(११) रामविण्ड = राजविण्ड ग्रहण करना।

(१२) आकुट्टया दिसा = जानबूझ कर दिसा करना।

(१३) आकुट्टया स्या = जानबूझ कर झूठ बोलना।

(१४) आकुट्टया अदोषादन = जानबूझ कर चोरी करना।

(१५) सचिग वृथिवी स्पर्श = जानबूझ कर सचित्त वृथिवी पर बैठना, खाना, लड़ होना।

(१६) इसी प्रकार सचिज जल से सस्निग्ध और सचित्त रज वाली वृथिवी, सचिज शिला अथवा मुर्ता वाली लकड़ी आदि पर बैठना, सेना, साधु-मार्ग आदि करना शक्य होय है।

(१७) जीवों वाले स्थान पर तथा प्राणी, वीज, हरित, क्रीड़ीनगरा, लीलनफूलन, पानी, कीचड़, और मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि करना शत्रुल दोष है ।

(१८) जानवृक्ष कर कन्द, मूल, छाल, प्रवाल, पुष्प, फूल, वीज, तथा हरितकाय का भोजन करना ।

(१९) वर्ष के अन्दर दम चार उदक लेय = नदी पार करना ।

(२०) वर्ष में दस माया स्थानों का सेवन करना ।

(२१) जानवृक्ष कर सचित्त जल वाले हाथ से तथा सचित्त जल सहित कड़ली आदि से दिया जानेवाला आहार ग्रहण करना ।

उपर्युक्त शत्रुल दोष साधु के लिए सर्वथा त्याज्य हैं । जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है, चारित्र मलक्लिन होने के कारण कर्बुर हो जाता है, उन्हें शत्रुल दोष कहते हैं । उक्त दोषों के सेवन करने वाले साधु भी शत्रुल कहलाते हैं । 'शत्रुलं-कर्बुरं चारित्र्यैः क्रियाविशेषैर्भवति ते शत्रुलास्तद्योगात्साधवोऽपि ।'

—अभयदेव समवा० टीका ।

उत्तरगुणों में अतिक्रमादि चारों दोषों का एवं मूल गुणों में अनाचार के सिवा तीन दोषों का सेवन करने से चारित्र शत्रुल होता है ।
बाईस परीपह

(१) क्षुधा = भूख (२) पिपासा = प्यास (३) शीत = ठंड (४) उष्ण = गर्मी (५) दंशमशक (६) अचेल = वस्त्राभांश का कट (७) अरति = कठिनाइयों से घबरा कर संयम के प्रति होने वाला उदासीनता (८) स्त्री परीपह (९) चर्या = विहार यात्रा में होने वाला गमनादि कष्ट (१०) नैपेक्षिणी = स्याध्याय भूमि आदि में होने वाले उपद्रव (११) शय्या = निवास स्थान की प्रतिकूलता (१२) आक्रोश = दुर्वचन (१३) वध = लकड़ी आदि की मार सहना (१४) याचना (१५) अलाम्ब (१६) रोग (१७) तृण स्पर्श (१८) जल्ल = मल का परीपह (१९) सत्कार पुरस्कार = पूजा प्रतिष्ठा (२०) प्रज्ञा = बुद्धि का गर्व (२१)

देव शब्द से चौबीस तीर्थङ्कर देवों का भी ग्रहण करते हैं। इस अर्थ के मानने पर अतिचार यह होगा कि—उनके प्रति आदर, श्रद्धाभाव न रखना; उनकी आज्ञानुसार न चलना, आदि आदि।

पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ

महाव्रतों का शुद्ध पालन करने के लिए शास्त्रों में प्रत्येक महाव्रत की पाँच भावना बतलाई गयी हैं। भावनाओं का स्वरूप बहुत ही हृदय-ग्राही एवं जीवनस्पर्शी हैं। श्रमण-धर्म शुद्ध पालन करने के लिए भावनाओं पर अवश्य ही लक्ष्य देना चाहिए।

प्रथम अहिंसा महाव्रत की ५ भावना

(१) ईर्यासमिति = उपयोग पूर्वक गमनागमन करे (२) आलोकित पान भोजन = देख भाल कर प्रकाशयुक्त स्थान में आहार करे (३) आदान निक्षेप समिति = विवेक पूर्वक पात्रादि उठाए तथा रखे (४) मनोगुप्ति = मन का संयम (५) वचनगुप्ति = वाणी का संयम।
द्वितीय सत्य महाव्रत की ५ भावना

(१) अनुविचिन्त्य भाषणता = विचार पूर्वक बोलना (२) क्रोध-विवेक = क्रोध का त्याग (३) लोभ-विवेक = लोभ का त्याग (४) भय-विवेक = भय का त्याग (५) हास्य-विवेक = हँसी मजाक का त्याग।

तृतीय अस्तेय महाव्रत की ५ भावना

(१) अवग्रहानुज्ञापना = अवग्रह अर्थात् वसति लेते समय उसके स्वामी को अच्छी तरह जानकर आज्ञा माँगना (२) अवग्रह सीमा-परिज्ञानता = अवग्रह के स्थान की सीमा का ज्ञान करना (३) अवग्रहानुग्रहणता = स्वयं अवग्रह की याचना करना अर्थात् वसतिस्थ तृण, पट्ट आदि अवग्रह-स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना (४) गुरुजनों तथा अन्य साधमियों की आज्ञा लेकर ही सबके संयुक्त भोजन में से भोजन करना (५) उपाश्रय में रहे हुए पूर्व साधमियों की आज्ञा लेकर ही वहाँ रहना तथा अन्य प्रवृत्ति करना।

अज्ञान=बुद्धिहीनता का दुःख (२२) दर्शन परीरह=सम्पत्ति भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मर्मा का मोहक वातावरण ।

हारमद्र आदि नितने ही आचार्य वैप्रेक्षिकी क रथा म निर्या परीरह मानते हैं आर उनका अर्थ दगति=स्थान करते हैं । इस स्थिति में उनर द्वारा अधिम शय्या परीरह का अर्थ—न स्तारक अर्थात् स थारो, रिश्रीना अर्थ किया गया है । श्री सा रर के निण पुनर परीरह है ।

सुग आदि रिभी भी कारण र द्वारा आपत्ति आने पर समय म स्थिर रहने र निण तथा कर्मों की निर्जग र लिण जा शारीरिक तभी मानामक कण, साधु को सहन करने चाहिँ, उन्हें परीरह कहते हैं । 'परीरहिन्ते इति परीरहा अहियासिज्जतिरि। पुंरुं भवति।'—(जिनगल महत्तर । परीरहा को भनी भाँति शुद्ध भाव से सहन न करना, परीरह सम्मधी अनिवार हाता है उनका प्रतिनमण प्रस्तुत सूत्र म किया गया है ।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के २३ अध्ययन

प्रथम भूतस्त्वन र सानह अध्ययन सानहव गोन म उतला आए है । द्वितीय भूतस्त्वन के अध्ययन ये है—(१७) चौथीक (१८) किया स्थान (१९) आहार परिगा (२०) प्रयात्तान किया (२१) आचार भूत (२२) अर्द्धकीर (२३) नालदीव । उक्त तेईस अध्ययना क कथनानुसार स यमी जीवन न हाता अतिगर है ।

चौबीस देव

अमुकुमार आदि दश भयनपा, भूत यन आर आठ द्यन्त, सूर्य चद्र आदि पाँच ज्योत्स्न, और वैमानिक देव—इस प्रकार कुल चौंसठ जाति क देव हैं । ममार मे भोगजीवन के ये सने से बडे प्रतिनिधि हैं । इनकी प्रशसा करना भागजीवन की प्रशसा करती है और निग करना दोष मान है, अत मुमुक्षु का तत्त्व मान ही रचना चाहिए । यदि कभी तत्त्वता का भग किया हा सो आतचार है ।

उत्तरारयन सूत्र के सुप्रसिद्ध गीतकार आचार्य शान्तिमुरि कहः

(१६) मन की शुभ प्रवृत्ति (१७) वचन की शुभ प्रवृत्ति (१८) काय की शुभ प्रवृत्ति (१९-२४) छह काय के जीवों की रक्षा (२५) संयमयोग-युक्तता (२६) वेदनाऽभिसहनता = तितित्वा अर्थात् शीतादि-कष्ट सहिष्णुता (२७) मारणान्तिक उदसर्ग को भी समभाव से सहता ।

उपर्युक्त सत्ताईस गुण, आचार्य हरिभद्र ने अपनी आवश्यकसूत्र की शिष्यहिता टीका में, संग्रहणीकार की एक प्राचीन गाथा के अनु-सार वर्णन किए हैं । परन्तु समवायांग-सूत्र में मुनि के सत्ताईस गुण कुछ भिन्न रूप में अंकित हैं—पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों का निरोध, चार कपायों का त्याग, भाव सत्य, करण सत्य, योग सत्य, क्षमा, विरागता, मनः समाहरणता, वचन समाहरणता, काय समाहरणता, ज्ञान-सम्पन्नता, दर्शन-सम्पन्नता, चारित्र सम्पन्नता, वेदनातिसहनता, मारणान्तिकातिसहनता ।

आचार्य हरिभद्र ने यहाँ 'सत्तावीसविहे अणगारचरित्ते', पाठ का उल्लेख किया है । इसका भावार्थ है—सत्ताईस प्रकार का अनगार-सम्बन्धी चारित्र । परन्तु आचार्य जिनदास आदि 'सत्तावीसाए अणगार गुणेहि' पाठ का ही उल्लेख करते हैं । समवायांग-सूत्र में भी अणगार-गुण ही है ।

उक्त सत्ताईस अनगार गुणों अर्थात् मुनिगुणों का शास्त्रानुसार भली भाँति पालन न करना, अतिचार है । उसकी शुद्धि के लिए मुनि गुणों का प्रतिक्रमण है, अर्थात् अतिचारों से वापस लौटकर मुनि-गुणों में आना ।

अट्ठाईस आचार-प्रकल्प

आचार-प्रकल्प की व्याख्या के सम्बन्ध में बहुत सी विभिन्न मान्यताएँ हैं । आचार्य हरिभद्र कहते हैं—आचार ही आचार-प्रकल्प कहलाना है 'आचार एव आचारप्रकल्पः ।'

आचार्य अभयदेव समवायांग-सूत्र की टीका में कहते हैं

चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत की २ भावना

(१) अतीव भिन्ध पौष्टिक आहार नहीं करना (२) पुरे सुक्त भोगों का स्मरण नहीं करना अथवा शरीर की विभूषा नहीं करना (३) स्विदा के अंग उराग नहीं देखना (४) स्त्री, पशु और नपु मर शाले स्थान में नहीं ठहरना (५) स्त्री विषयक चर्चा नहीं करना ।

पंचम अपरिमह महाव्रत की २ भावना

(१-५) पाँचो इन्द्रियों के विरत शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, रस और स्पर्श के इन्द्रियगोचर होने पर मनोज पर रागभाव तथा अमनोज पर द्वेषभाव न लाकर उदासीन भाव रखना । [समनायाम]

महाव्रत की माननाआ पर विशेष लक्ष्य देने की आवश्यकता है । महाव्रत की रक्षा उक्त भावनाआ के बिना हो ही नहीं सकती । यदि समय यात्रा में कहीं माननाआ के प्रति उपेक्षा भाव रक्खा हो तो प्रतिचार होता है, तदर्थ यहाँ प्रतिनमप का उत्स्तेग है ।

दशाभुत आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशनकास

दशाभुत सूत्र सूत्र के दश उद्देश, वृत्तला के छह उद्देश, और व्यवहार सूत्र के दश उद्देश—इस प्रकार सूत्रत्री के छद्गीठ उद्देश होते हैं । निम भुतगन्ध या अध्ययन के मिलने उद्देश होते हैं उनमें ही यहाँ उद्देशनमाल-अर्थात् भुतोपचार रूप उद्देशानसर होते हैं । उक्त सूत्रत्री में साधुजीवन सम्बन्धी आचार की चर्चा है । अतः तदनुसार आचरण न करना अतिचार होता है ।

सत्ताईस अन्नगार के गुण

(१-५) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपवित्र रूप पाँच महाव्रतों का सम्बन्ध पालन करना । (६) शनि मोचन का त्याग करना । (७-११) पाँचो इन्द्रिया को वश में रखना (१२) भावमत्त = अन्न-करण की शुद्धि (१३) करणसत्त = बह्य पाय आदि की भली भाँति प्रतिवेचना करना (१४) उन्मा (१५) नियमता = लोभ निग्रह

१) एक मास का प्रायश्चित्त (२) एक मास पाँच दिन का त (३) एक मास दश दिन का प्रायश्चित्त । इसी प्रकार पाँच ढाते हुए पाँच मास तक कहना चाहिए । इस प्रकार २५ हुए । उपवातिक-अनुपवातिक (२७) आरोमण और (२८) कृत्स्न-सम्पूर्ण, न-असंपूर्ण ।”

पूज्यश्रीजी के उपर्युक्त लेख की समवायांग सूत्र के मूल पाठ में नहीं बैठती । वहाँ मासिक आरोपणा के छह भेद किए हैं । इसी द्विमासिकी, त्रिमासिकी एवं चतुर्मासिकी आरोपणा के भी क्रमशः ३ भेद होते हैं । सब मिलकर आरोपणा के अवतक २४ भेद हुए हैं पूज्यश्रीजी २५ लिखते हैं । अब शेष चार भेद भी समवायांग के मूल पाठ में ही देख लीजिए ‘उपवाइया आरोवणा, अणुव ग आरोवणा, कसिणा आरोवणा, अकसिणा आरोवणा ।’ उक्त सूत्र के प्राकृत नामों का संस्कृत रूपान्तर है—उपवातिक आरोपणा, वातिक आरोपणा, कृत्स्न आरोपणा और अकृत्स्न आरोपणा ।

जो कुछ हमने ऊपर लिखा है, इसका समर्थन, समवायांग के मूल और अभयदेव-कृत वृत्ति से स्पष्ट हो जाता है । अस्तु, हमारे में हैं कि आचार्य श्री जी ने प्रथम के २४ भेदों को २५ कैसे गिना ? और बाद के चार भेदों के तीन ही भेद बना लिए । प्रथम के भेदों को मिलाकर एक भेद कर लिया । और आरोपणा, जो कि स्वयं भेद नहीं है, प्रत्युत सब के साथ विशेष्य रूप से व्यवहृत हुआ है, को सत्ताईसवें भेद के रूप में स्वतन्त्र भेद मान लिया है । और अन्तम दो भेदों का फिर अष्टाईसवें भेद के रूप में एकीकरण करा गया है । इस सम्बन्ध में अधिक न लिखकर संक्षेप में केवल चार सामग्री उपस्थित की है, ताकि सत्यार्थ के निर्णय के लिए तत्त्व-ज्ञासु कुछ विचार-विमर्श कर सकें ।

आचार-प्रकल्प के २८ अध्यायनों में वर्णित साध्याचार का सम्यक् रूप से आचरण न करना, अतिचार है ।

आचार का अर्थ प्रथम अंग सूत्र है। उसका प्रकल्प अर्थान् अध्ययन विशेष निरीक्ष गुरु आचार प्रकल्प कहलाता है। अथवा शानादि साधु-
आचार का प्रकल्प अर्थान् व्यवस्थापन आचार प्रकल्प कहा जाता है।
'आचारः इदमाह' सत्य प्रकल्पः अध्ययन विरेषो निरीक्षमिदपराभि-
धानम्। आचारस्य वा साध्याचारस्य वा नाद्विपर्ययस्य प्रकल्पो व्यवस्था-
पनमिति आचारप्रकल्पः।'

उत्तराध्ययन-सूत्र के चरण विधि अध्ययन में केवल प्रकल्प शब्द
ही आया है। अतः उक्त सूत्र के द्वारा आचार्य शान्तिसूरी प्रकल्प
का अर्थ करते हैं कि 'प्रहृष्ट = उत्तुष्ट फल = मुनि जीवन का आचार
वर्णित है जिस शास्त्र में वह आचारगम-सूत्र प्रकल्प कहा जाता है।'

प्राचारगम-सूत्र के शुद्ध परिभाषा आदि २५ अध्ययन हैं। और
निरीक्ष गुरु भी प्राचारगम-सूत्र की चूलिकास्वरूप माना जाता है, अतः
उनके तीन अध्ययन मिलकर प्राचारगम-सूत्र के सत्र अष्टादश अध्ययन
होते हैं—

(१) शुद्ध परिभाषा (२) लोक विजय (३) शीतोष्णीर (४)
सम्पत्त्व (५) लोकप्रार (६) धृताभ्यसन (७) महापरिभाषा (८) विमोह
(९) उपादानभुत (१०) निरुपेक्षा (११) शुद्ध (१२) ईर्ष्या
(१३) माया (१४) वरुपेक्षा (१५) पारुपेक्षा (१६) अप्रमह-
प्रतिभा (१६ + ३ = २३) मम स्थानादि सत्त्वैकता (२४) भावना
(२५) विमुक्ति (२६) उद्घात (२७) अनुद्घात (२८) और
आरोपण।

समवायगम-सूत्र में प्राचार प्रकल्प के अष्टादश भेद अन्यत्र में हैं।

शुद्ध श्री आत्मागमजी महाशय, उत्तराध्ययन सूत्र हिंदी पृष्ठ १८०१
पर इस समग्र में लिखते हैं—

'समवायगम सूत्र में २८ बार का आचारप्रकल्प इस प्रकार से
वर्णन किया है। यथा—

महामोहनीय के ३० स्थान

- (१) तस जीवों को पानी में डुबा कर मारना ।
- (२) तस जीवों को श्वास आदि रोक कर मारना ।
- (३) तस जीवों को मकान आदि में बंद कर के धुएँ से घोट कर मारना ।
- (४) तस जीवों को मस्तक पर दण्ड आदि का घातक प्रहार करके मारना ।
- (५) तस जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बाँध कर मारना ।
- (६) पथिकों को धोखा देकर लूटना ।
- (७) गुप्तीति से अनाचार का सेवन करना ।
- (८) दूसरे पर मिथ्या कलंक लगाना ।
- (९) सभा में जान-बूझ कर मिश्रभाषा = सत्य जैसा प्रतीत होने वाला झूठ बोलना ।
- (१०) राजा के राज्य का ध्वंस करना ।
- (११) बाल ब्रह्मचारी न होते हुए भी बाल ब्रह्मचारी कहलाना ।
- (१२) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का दाँग रचना ।
- (१३) आश्रयदाता का धन चुराना ।
- (१४) कृत उपकार को न मान कर कृतघ्नता करना ।
- (१५) गृहपति अथवा संघपति आदि की हत्या करना ।
- (१६) गण्डनेता की हत्या करना ।
- (१७) समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना ।
- (१८) दीक्षित साधु को संयम से भ्रष्ट करना ।
- (१९) केवल ज्ञानी की निन्दा करना ।
- (२०) अहिंसा आदि मोक्षमार्ग की बुराई करना ।
- (२१) आचार्य तथा उपाध्याय की निन्दा करना ।

पापधुत के २६ भेद

(१) मौम = भूमिपर आदि का फल उत्ताने वाला शास्त्र ।

(२) उतात = रुधिर वृष्टि, दिशाओं का लान होना इत्यादि का शुभाशुभ फल बनाने वाला निमित्त शास्त्र ।

(३) स्वप्न शास्त्र ।

(४) अन्तरिक्ष = आकाश में होने वाले ग्रहबंध आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र ।

(५) ग्रगशास्त्र = शरीर के रुन्दन आदि का फल कहने वाला शास्त्र ।

(६) स्तर शास्त्र ।

(७) व्यञ्जन शास्त्र = तिल, मय आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र ।

(८) लब्धय शास्त्र = स्त्री पुत्रों के लब्धयों का शुभाशुभ फल बनाने वाला शास्त्र ।

ये आठ ही सूत्र, वृत्ति, और सतिर्क के भेद से चौदह शास्त्र हो जाते हैं ।

(२५) विद्यानुयोग = अर्थ और काम के उपायों का बनाने वाले शास्त्र, जैसे वात्स्यायनकृत काम सूत्र आदि ।

(२६) विद्यानुयोग = रोहिणी आदि विद्याओं की सिद्धि के उपाय बनाने वाले शास्त्र ।

(२७) मन्त्रानुयोग = मन्त्र आदि के द्वारा कार्यसिद्धि बनाने वाले शास्त्र ।

(२८) योगानुयोग = बशीकरण आदि योग बनाने वाले शास्त्र ।

(२९) अन्यनीर्धनानुयोग = अन्यनीर्धकों द्वारा प्रवर्तित एवं अभिन्न दिना प्रधान आचार शास्त्र ।

का ही प्रयोग करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र, समवायांग सूत्र और दशाश्रुत-
स्कन्ध सूत्र में भी केवल मोहनीय स्थान कहा है। परन्तु भेदों का उल्लेख
करते हुए अवश्य महामोह शब्द का प्रयोग हुआ है। 'महामोहं पकुन्वह'।
सिद्धों के ३१ गुण

- (१) क्षीण-मतिज्ञानावरण (२) क्षीणश्रुतज्ञानावरण
(३) क्षीणअवधिज्ञानावरण (४) क्षीण मनःपर्ययज्ञानावरण
(५) क्षीण केवल ज्ञानावरण ।
(६) क्षीणचक्षुर्दर्शनावरण (७) क्षीणअचक्षुर्दर्शनावरण
(८) क्षीणअवधिदर्शनावरण (९) क्षीणकेवलदर्शनावरण
(१०) क्षीणनिद्रा (११) क्षीणनिद्रानिद्रा (१२) क्षीणप्रचला
(१३) क्षीणप्रचला प्रचला (१४) क्षीणत्यागगृद्धि ।
(१५) क्षीण सातावेदनीय (१६) क्षीण असातावेदनीय ।
(१७) क्षीण दर्शन मोहनीय (१८) क्षीण चारित्र मोहनीय ।
(१९) क्षीण नैरयिकायु २० क्षीण तिर्यञ्चायु (२१) क्षीण मनुष्यायु
(२२) क्षीण देवायु ।
(२३) क्षीण उच्च गोत्र (२४) क्षीण नीच गोत्र ।
(२५) क्षीण शुभ नाम (२६) क्षीण अशुभनाम ।
(२७) क्षीण दानान्तराय (२८) क्षीण लाभान्तराय । (२९) क्षीण
भोगान्तराय (३०) क्षीण उपभोगान्तराय (३१) क्षीण वीर्यान्तराय ।

[समवायांग]

सिद्धों के गुणों का एक प्रकार और भी है। पाँच संस्थान, पाँच
चरण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद, शरीर, आसक्ति और
पुनर्जन्म—इन सब इकतीस दोषों के क्षय से भी इकतीस गुण होते हैं ।

[आचारांग]

आदि गुण का अर्थ है—ये गुण सिद्धों में प्रारम्भ से ही होते
थे नहीं कि कालान्तर में होते हों। क्या सिद्धों की भूमिका
विकास की नहीं है। आचार्य श्री शान्ति

- (११) आचार्य तथा उपाध्याय की सेवा न करना ।
 (१२) बहुभुत न होते हुए भी बहुभुत = परिडत कहलाना ।
 (१४) तस्वी न होते हुए भी अपने को तस्वी कहना ।
 (१५) शक्ति होते हुए भी अपने आर्धित शूद्र, रोमी आदि की सेवा न करना ।
 (१६) दिसा तथा कामोत्सादक विरुपाद्या का गार गार प्रयोग करना ।
 (१७) जादू देना आदि करना ।
 (१८) कामभोग में अत्यधिक लित रहना, आसक्त रहना ।
 (१९) देवताओं की निन्दा करना ।
 (२०) देवदर्शन न होते हुए भी प्रतिष्ठा के मोह से देवदर्शन की बात कहना । [दशाभूत स्कन्ध]

जैन धर्म में आत्मा को आहृत करने वाले आठ कर्म माने गए हैं । सामान्यतः आठों ही कर्मों को मोहनीय कर्म कहा जाता है । परन्तु विशेषण चतुर्थ कर्म के लिए मोहनीय शब्द रूढ़ है । प्रस्तुत सूत्र में इमी से तात्पर्य है । आचार्य हरिभद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं—
 "सामान्येन एकप्रकृति कर्म मोहनीयमुच्यते । यत्नं च, अद्विष्टं च कर्म, भविष्य मोहोति ज समासेषुमित्यादि । विशेषेण चतुर्थी प्रकृति-मोहनीयमुच्यते तस्य स्थानानि—निमित्तानि भेदाः पर्याया मोहनीय-स्थानानि ।"

मोहनीय कर्म बन्ध के कारणों की कुछ श्रुति नहीं है । तथापि शास्त्रकारों ने विशेष रूप से मोहनीय कर्म-बन्ध के हेतुभूत कारणों के तीस भेदों का उल्लेख किया है । उल्लिखित कारणों में दुरध्ययमाय की तीव्रता एवं कूला इतनी अधिक होती है कि कभी-कभी महामोहनीय कर्म का बन्ध हो जाता है, जिससे अज्ञानी आत्मा उत्तर कोहा-कोही मागर तक ॥ वार में परिभ्रमण करता है, ॥ प उठाता है ।

प्रस्तुत सूत्र के मूल पाठ में प्रचलित महामोहनीय शब्द का प्रयोग ॥ १० ॥ परन्तु आचार्य हरिभद्र और जिनराय महत्तर केवल मोहनीय शब्द

प्रवृत्ति ही मंयम है । प्रस्तुत सूत्र में शुभ प्रवृत्ति रूप योग ही ग्राह्य है ।
उन्नी का संग्रह मंयमी जीवन की पवित्रता को अलुण्ण बनाए रख
सकता है ।

—‘युज्यन्ते इति योगाः मनोवाक्कायव्यापाराः, ते चेह प्रशस्ता एव
विवक्षिताः ।’ आचार्य अभयदेव, समवायांग टीका ।

प्रश्न है, आलोचनादि को संग्रह क्यों कहा गया है ? ये तो संग्रह के
निमित्त हो सकते हैं, स्वयं संग्रह नहीं । आप ठीक कहते हैं । यहाँ
संग्रह शब्द की संग्रह निमित्त में ही लक्षणा है । ‘प्रशस्तयोग संग्रहनि-
मित्तत्वादालोचनादय एव तथोच्यन्ते ।’—अभयदेव, समवायांग टीका ।

योग संग्रह की साधना में जहाँ कहीं भूल हुई हो, उसका प्रतिक्रमण
यहाँ अभीष्ट है ।

तेतीस आशातना

अरिहन्त की आशातना से लेकर चौदह ज्ञान की आशातना तक
तेतीस आशातना, मूल सूत्र में वर्णन की गई हैं । कुछ टीकाकार यहाँ
पर भी आशातना से गुरुदेव की ही तेतीस आशातना लेते हैं । गुरुदेव
की तेतीस आशातनाओं का वर्णन परिशिष्ट में दिया गया है ।

जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति बड़ी ही सुन्दर की है ।
सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं
और शातना का अर्थ—खण्डन करना है । गुरुदेव आदि पूज्य पुरुषों
का अग्रमान करने से सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की शातना = खण्डना
होती है । ‘आयः—सम्यग्दर्शनाद्यवासिलक्षणस्तस्य शातना—खण्डनं
निरुक्तादाशातना ।’—आचार्य अभयदेव, समवायांग टीका । ‘आसातणा
णामं नाणादि आयस्स सातणा । यकारलोपं कृत्वा आशातना भवति ।’

—आचार्य जिनदास, आवश्यकचूर्णि ।

अरिहन्तों की आशातना

सूत्रोक्त तेतीस आशातनाओं में पहली आशातना अरिहन्तों की है ।
जैन-शामन के केन्द्र अरिहन्त ही हैं, अतः मर्न

‘निष्ठाश्रमिगुण’ करते हैं। अतिगुण का भाव है—‘उत्कृष्ट, अर्थाधारण गुण ।’

वृत्तीश योग-संग्रह

(१) गुरुजनो के पास दोनों की आलोचना करना . २) किसी के दायाँ की आलोचना सुनकर और के पास न रहना (३) संकट पड़ने पर भी धर्म में दृढ़ रहना (४) आसक्ति रहित तप करना (५) दूषार्थ ग्रहणरूप ग्रहण विद्या एवं प्रतिशेखना आदि रूप आशेषना आचारविद्या को अध्ययन करना (६) शोभा भूषण नहीं करना (७) पूजा प्रतिष्ठा का मोक्ष त्याग कर अज्ञात तप करना (८) लोभ का त्याग (९) तिमिरा (१०) आर्जन = सरलता (११) शुचि = सयम एवं सत्य की पवित्रता (१२) सम्यक्त्व शुद्धि (१३) समाधि = प्रसन्न चित्तता (१४) आचार पानन में माया न करना (१५) निनय (१६) धैर्य (१७) सकेय = सासारिक मोक्षों से भय छपया मोक्षाभिलाषा (१८) माया न करना (१९) सदगुणन (२०) संहर = पानाभय को रोकना (२१) दोनों की शुद्धि करना (२२) काम योगों से विरक्ति (२३) मूलगुणों का शुद्ध पालन (२४) उत्तरगुणों का शुद्ध पालन (२५) व्युत्कर्ष करना (२६) प्रमाद न करना (२७) प्रतिद्वेष सयम यात्रा में सावधानी रखना (२८) शुभ ध्यान (२९) मारणप्रतिक वेदना होने पर भी बाधित न होना (३०) संग का परित्याग करना (३१) प्रायश्चित्त ग्रहण करना (३२) अन्त समय भ ॥ लेखना करके आशयक करना । [समाप्ताग]

आचार्य किदास वृत्तीश योग-संग्रह का एक दूसरा प्रकार भी लिखते हैं। उनके उल्लेखानुसार धर्म ध्यान के सोलह भेद और इसी प्रकार शुद्ध ध्यान के सोलह भेद, सब मिल कर वृत्तीश योगसंग्रह के भेद हो जाते हैं। ‘धर्मो सोऽवसक्तिर्न एवं मुक्तयि ।’

मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं। शुभ और अशुभ से योग के दो प्रकार हैं। अशुभ योग से निरासे और शय योग में

प्रति जात या अजात रूप से की जाने वाली अवज्ञा के लिए, पश्चात्ताप करना होता है—मिच्छामि दुक्कडं देना होता है ।

अन्य धर्मों में प्रायः स्त्री का स्थान बहुत नीचा माना गया है । कुछ धर्मों में तो स्त्री साध्वी भी नहीं बन सकती । वह मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकती । उसे स्वतन्त्र रूप से यज्ञ, पूजा आदि के अनुष्ठान का भी अधिकार नहीं है । कुछ लोग उसे शूद्र, और कुछ शूद्र से भी निम्न समझते हैं । उन्हें वेदादि पढ़ने का भी अधिकार नहीं है । परन्तु जैन-धर्म में स्त्री को पुरुष के बराबर ही धर्म-कार्य का अधिकार है, मोक्ष पाने का अधिकार है । जैन-धर्म किसी विशेष वेप-भेद और स्त्री पुरुष आदि के लिंग-भेद के कारण किसी को ऊँचा नीचा नहीं समझता, किसी की स्तुति-निंदा नहीं करता । जैन धर्म गुण पूजा का धर्म है । गुण हैं तो स्त्री भी पूज्य है, अन्यथा पुरुष भी नहीं । अतएव गृहस्थ-स्थिति में रहती हुई स्त्री, यदि धर्मारोपण करती है—आचक-धर्म का पालन करती है, तो वह स्तुति योग्य है, निन्दनीय नहीं ।

यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में आशिका की अवहेलना करने का भी प्रतिक्रमण है । आशिका गृह कार्य में लगी रहती हैं, आरम्भ में ही जीवन गुज़ारती हैं, बाल-बच्चों के मोह में फँसी रहती हैं, उनकी सद्गति कैसे होगी ? 'आरंभं ताणं कतो सो गती ?' इत्यादि आशिकाओं की अवहेलना है, जो त्याज्य है । साधक का 'दोष इष्टिपरं मनः' नहीं होना चाहिए । देव और देवियों की आशातना ।

देवताओं की आशातना से यह अभिप्राय है कि देवताओं को काम-गर्दभ कहना, उन्हें आलसी और अकिंचित्कर कहना । देवता मांस खाते हैं, मद्य पीते हैं—इत्यादि निन्दास्पद सिद्धान्तों का प्रचार करना ।

साधु और आचकों के लिए देव-जगत के सम्बन्ध में तटस्थ मनोवृत्ति रखना ही श्रेयस्कर है । देवताओं का अपलाप एवं अवर्णवाद करने से साधारण जनता को, जो उनकी मानने वाली होती है, व्यर्थ ही कष्ट पहुँचना है, बुद्धि भेद होता है, और साम्प्रदायिक संघर्ष भी बढ़ता है ।

आता है। वे जगज्जीना के लिए धर्म का उपदेश करते हैं, सन्मार्ग का निरूपण करते हैं और अनन्तकाल से ग्रन्थकार में मग्नते हुए जीवों को मत्स्य का प्रसाद दिखानाते हैं। अतः उनकी होने से उन्हें प्रथम उनकी ही महिमा का उल्लेख है।

आपकन हमारे यहाँ भारतवर्ष में अरिहन्त विद्यमान नहीं हैं, अतः उनकी आशातना कैसे हो सकती है? समाधान है कि अरिहन्तों की कभी कोई सत्ता ही नहीं रही है, उन्होंने निर्दय होकर सर्वथा अव्यवहार्य फटोर निवृत्ति प्रधान धर्म का उपदेश दिया है, बीतपण होते हुए भी स्वर्ण-सिंहामन आदि का उपयोग क्यों करते हैं? इत्यादि दुर्गिहन्त करना अरिहन्तों की आशातना है।

सिद्धों की आशातना

निद्रा ही नहीं। जब शरीर ही नहीं है तो फिर उनको सुप्त किस बात का? मसार से सर्वथा अलग निश्चेष्ट पड़े रहने में क्या आदर्श है? इत्यादि रूप में अग्रण करना, निद्रा की आशातना है।

साधियों की आशातना

स्त्री होने के कारण साधियों की नीच रतना। उनका कलह और संघर्ष की जड़ कहना। साधुओं के लिए साधियों उपद्रव रूप हैं। श्रृंगुल में निवृत्ति मलिनता होनी होगी। इत्यादि रूप से अग्रहेतना करना, साधियों की आशातना है।

आविष्कारों की आशातना

जैन धर्म अनीव उदार और विशद धर्म है। यहाँ केवल अरिहन्त आदि महान् आत्माओं का ही गौरव नहीं है। अभितु माधारण पुरुष होने हुए भी जो स्त्री पुरुष आत्म-धर्म का पालन करते हैं, उनका भी यहाँ गौरवपूर्ण स्थान है। आत्म और आत्मिका की अग्रण करना भी एक पाप है। प्रत्येक आचार्य, उपाध्याय और साधु का भी, प्रति दिन प्रभु और मार्गज्ञान प्रतिकरण के मन्त्र, अतः उन आत्मिका के

प्रति ज्ञान या अज्ञात रूप से की जाने वाली अवज्ञा के लिए, पश्चात्ताप करना होता है—मिच्छामि दुष्कृतं देना होता है ।

अन्य धर्मों में प्रायः स्त्री का स्थान बहुत नीचा माना गया है । कुछ धर्मों में तो स्त्री साध्वी भी नहीं बन सकती । वह मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकती । उसे स्वतन्त्र रूप से यज्ञ, पूजा आदि के अनुष्ठान का भी अधिकार नहीं है । कुछ लोग उसे शूद्र, और कुछ शूद्र से भी निन्द्य समझते हैं । उन्हें वेदादि पढ़ने का भी अधिकार नहीं है । परन्तु जैन-धर्म में स्त्री को पुरुष के बराबर ही धर्म-कार्य का अधिकार है, मोक्ष पाने का अधिकार है । जैन-धर्म किसी विशेष वेप-भेद और स्त्री पुरुष आदि के लिंग-भेद के कारण किसी को ऊँचा नीचा नहीं ममभक्ता, किसी की स्तुति-निंदा नहीं करता । जैन धर्म गुण पूजा का धर्म है । गुण हैं तो स्त्री भी पूज्य है, अन्यथा पुरुष भी नहीं । अतएव गृहस्थ-स्थिति में रहती हुई स्त्री, यदि धर्मारामन करती है—श्रावक-धर्म का पालन करती है, तो वह स्तुति योग्य है, निन्दनीय नहीं ।

यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में श्राविका की अवहेलना करने का भी प्रतिक्रमण है । श्राविका गृह कार्य में लगी रहती हैं, आरम्भ में ही जीवन गुज़ारती हैं, बाल-बच्चों के मोह में फँसी रहती हैं, उनकी सद्गति कैसे होगी ? 'आरंभं ताणं कतो सो गती ?' इत्यादि श्राविकाओं की अवहेलना है, जो त्याज्य है । साधक को 'दोष दृष्टिपरं मनः' नहीं होना चाहिए । देव और देवियों की आशातना ।

देवताओं की आशातना से यह अभिप्राय है कि देवताओं को काम-गर्दभ कहना, उन्हें आलसी और अकिंचित्कर कहना । देवता मांस खाते हैं, मद्य पीते हैं—इत्यादि निन्दास्पद सिद्धान्तों का प्रचार करना ।

साधु और श्रावकों के लिए देव-जगत के सम्बन्ध में तटस्थ मनोवृत्ति रखना ही श्रेयस्कर है । देवताओं का अपलाप एवं अचर्णवाद करने से साधारण जनता को, जो उनकी मानने वाली होती है, व्यर्थ ही कष्ट पहुँचता है, बुद्धि भेद होता है, और साम्प्रदायिक संघर्ष भी बढ़ता है ।

इहलोक और परलोक की आशातना

इहलोक और परलोक का अभिप्राय समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य के लिए मनुष्य इह लोक है और नारक, तिर्यक् तथा देव परलोक हैं। स्वर्गाति का प्राणी-युग इह लोक कहा जाता है और त्रिजातीय प्राणी-युग परलोक। इहलोक और परलोक की अन्त्य प्रकृष्टा करना, पुनर्जन्म आदि न मानना, नरकादि चार गतिषु के सिद्धान्त पर विश्वास न रखना, इत्यादि इहलोक और परलोक की आशातना है।

लोक की आशातना

लोक, संसार को कहते हैं। उनकी आशातना क्या? लोक की आशातना से यह अभिप्राय है कि देवादि-सहित लोक के सम्बन्ध में मिथ्या प्रकृष्टा करना, उसे ईश्वर आदि के द्वारा बना हुआ मानना, लोक सम्बन्धी पौरुषिक कल्पनाओं पर विश्वास करना; लोक की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं का प्रचार करना।

प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की आशातना

प्राण, भूत आदि शब्दों को एकार्थक माना गया है। सत्त्व का अर्थ जीव है। आचार्य जिनदास कहते हैं—‘एतद्विना वा एते ।’ परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि ने उक्त शब्दों के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किए हैं। द्विन्द्व आदि जीवों को प्राण और पृथ्वी आदि एतरेन्द्रिय जीवों को भूत कहा जाता है। ममत्त्व संसारी प्राणिमूर्खों के लिये जीव और संसारी तथा मूर्ख सत्त्व अन्तर्गत जीवों के लिए सत्त्व शब्द का व्यवहार होता है। “प्राणिनः द्विन्द्रियादयः”। भूतानि पृथिव्यादयः”। जीवन्ति जीवा—प्राण कर्मानुभवपुत्राः सर्व एव”। सत्त्वाः—सौप्तिकसंसारवर्तमानाः ।”

—आवश्यक शिष्य हिता दीना ।

प्राण, भूत आदि शब्दों की व्याख्या का एक और प्रकार भी है, जो प्रायः आज भी सर्वमान्य रूप में प्रचलित है और आगम साहित्य में भी स्वीकार्य को भी माना है। द्विन्द्व आदि तीन त्रिन्द्रिय

जीवों को प्राण कहते हैं। वृक्षों को भूत, पञ्चेन्द्रिय प्राणियों को जीव तथा शेष नव जीवों को सत्त्व कहा गया है। “प्राणा द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया, भूताश्च तरवो, जीवाश्च पञ्चेन्द्रियाः, सत्त्वाश्च शेषजीवाः।”

—भाव विजय कृत उत्तगध्ययन सूत्र टीका २६।१६।

विश्व के समस्त अनन्तानन्त जीवों की आशातना का यह सूत्र बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैन-धर्म की करुणा का अनन्त प्रवाह केवल परिचित और स्नेही जीवों तक ही सीमित नहीं है। अपितु समस्त जीवराशि से जमा मँगने का महान् आदर्श है। प्राणी निकट हों या दूर हों स्थूल हों या सूक्ष्म हों, ज्ञात हों या अज्ञात हों, शत्रु हों या मित्र हों किसी भी रूप में हों, उनकी आशातना एवं अवहेलना करना साधक के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

यहाँ आशातना का प्रकार यह है कि आत्मा की मत्ता ही स्वीकार न करना, पृथ्वी आदि को जड़ मानना, आत्मतत्त्व को जगिक कहना, एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों के जीवन को तुच्छ समझना, फलतः उन्हें पीड़ा पहुँचाना।

काल की आशातना

साधक को समय की गति का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। तब क्या काल है? क्या परिस्थिति है? इस समय कौन-सा कार्य कर्तव्य है और कौनसा अकर्तव्य? एक बार गया हुआ समय फिर लौट कर नहीं आता। समय की क्षति सबसे बड़ी क्षति है। इत्यादि विचार साधक जीवन के लिए बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। जो लोग आलसी हैं, समय का महत्त्व नहीं समझते, ‘काले कालं समायरे’ के स्वर्ण सिद्धान्त पर नहीं चलते, वे साधना-पथ से भ्रष्ट हुए विना नहीं रह सकते।

इसी भावना को ध्यान में रखकर काल की आशातना न करने का विधान किया है। काल की अवहेलना बहुत बड़ा पाप है। संयम जीवन की अनिवार्यता ही काल की आशातना है।

आचार्य जिनदाम और हरिभद्र आदि का कहना है कि काल है ही

नहीं, काल ही विरय का वर्ता होता है, काल देव या ईश्वर है, प्रतिलोचना आदि के अमुक निश्चित काल क्यों माने गए हैं ? इत्यादि विचार काल की आशातना है ।

भुत की आशातना

जैन धर्म में भुत शांति को भी धर्म कहा है । बिना भुत शांति के चारित्र्य कैसा ? भुत तो माधुर्य के लिए तीसरा नेत्र है, जिसके बिना चित्र बना ही नहीं जा सकता । इसीलिए आचार्य कुण्डकुन्द कहते हैं 'आगम-चरख साह ।

भुत की आशातना माधुर्य के लिए अतीव भयानक है । जो भुत की अवहेलना करता है, वह साधना की अवहेलना करता है—धर्म की अवहेलना करता है । भुत के लिए अत्यन्त भद्रा रखनी चाहिए । उसके लिए किसी प्रकार की भी अवहेलना का भाव रखना घातक है ।

आचार्य हरिमद्र भुत आशातना के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'जैन भुत साधारण भाग्य प्राकृत में है पता नहीं उसका कौन निमाता है ? यह केवल बड़ा चारित्र्य धर्म पर ही उल्लेख करता है । भुत के अन्वय मन के लिए काल मर्यादा का उल्लेख क्या है ? इत्यादि विचारी विचार और वर्तन भुत की आशातना है ।'

भुत-देवता की आशातना

भुत देवता कौन है ? और उसका क्या स्वरूप है ? यह प्रश्न प्रश्न ही विनाशस्पद है । स्थानकगामी परमेश्वर में भुत देवता का अर्थ क्या आता है—'भुतनिमाता सौम्येश्वर तथा गणधर ।' वह भुत का मूल अविनाशक है, रक्षक है अतः वह उसका देवता है । आचार्य भी श्री मारामनी, भीमानी हरिलाल जीम्यब माई गुमराती, जीमलाल लुगनलाल सवनी आदि प्रायः सभी लोकक देवता ही अर्थ करते हैं ।

परन्तु श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परमेश्वर में 'भुत देवता' एक देवी मानी जाती है, जो भुत की अविनाशक स्वरूप में उनके यहाँ प्रसिद्ध है । यह माता भी काफी पुण्यनी है । आचार्य जिनका भी देवता उन्नेय

करते हैं—‘जीए सुतमधिष्ठितं, तीए आसातणा । नत्थि सा, अकिंचिकरी वा एवमादि ।’ आवश्यक चूर्णि ।

वाचनाचार्य की आशातना

आचार्य और उपाध्याय की आशातना का उल्लेख पहले आ चुका है । फिर यह वाचनाचार्य कौन है ? आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज आदि अत्यापक तथा उपाध्याय अर्थ करते हैं । परन्तु वह ठीक नहीं मालूम होता । सूत्रकार व्यर्थ ही पुनरुक्ति नहीं कर सकते ।

हाँ तो आइए, जरा विचार करें कि यह वाचनाचार्य कौन है ? किंस्वरूप है ? वाचनाचार्य, उपाध्याय के नीचे श्रुतोद्देश के रूप में एक छोटा पद है । उपाध्यायश्री की आज्ञा से यह पढ़नेवाले शिष्यों को पाठ-रूप में केवल श्रुत का उद्देश आदि करता है । आचार्य जिनदास और हरिभद्र यही अर्थ करते हैं । ‘वायणायरियो नाम जो उवज्झाय-संदिट्ठो उद्देशादि करेति ।’ आवश्यक चूर्णि ।

व्यत्याम्रेडित

‘वचामेलियं’ का संस्कृत रूप ‘व्यत्याम्रेडित’ होता है । इसका अर्थ हमने शब्दार्थ में, दो-तीन बार बोलना किया है । शून्यचित्त होकर अनवधानता से शास्त्र-पाठों को दुहराते रहना, शास्त्र की अवहेलना है । कुछ आचार्य, व्यत्याम्रेडित का अर्थ भिन्न रूप से भी करते हैं । वह अर्थ भी महत्त्वपूर्ण है । ‘भिन्न-भिन्न सूत्रों में तथा स्थानों पर आए हुए एक जैसे समानार्थक पदों को एक साथ मिलाकर बोलना’ भी व्यत्याम्रेडित है ।

योग-हीन

योग-हीन का अर्थ मन, वचन और काय योग की चंचलता है । अथवा बिना उद्योग के बढ़ना भी योग-हीनता है ।

श्री हरिभद्र आदि कुछ प्राचीन आचार्य, योग का अर्थ उपधान-तप भी करते हैं । सूत्रों को पढ़ते हुए किया जानेवाला एक विशेष तपश्चरण

उत्थान कहलाता है। उमे योग भी कहते हैं। अतः योगोद्धारण के बिना सूत्र पढ़ना भी योग हीना है।

विनय हान

विनय हीन का अर्थ है, गुरुओं का अनुसरण करते मगध वाग्वानानाई आदि की तथा स्वयं सूत्र के प्रति अनादर बुद्धि रखना, उन्विन विनय न करना। ज्ञान विनय से ही प्राप्त होता है। विनय विनयामन का मूल है। जहाँ विनय नहीं, वहाँ कैसा ज्ञान और कैसा चारित्र्य ?

यहाँ कुछ पाठ में अन्तर्भाव है। हिन्दू ग्रन्थों में 'विषयहीण', 'योगहीण' यह नाम है। आश्विन प्रचलित पाठ भी यही है। परन्तु हरिमठ का नाम इससे भिन्न है। यह 'विषयहीण', 'योगहीण', 'योगहीण' ऐसा नाम मूलित करते हैं। अतः यह आश्विन नृणांकर विनयामन मन्द-सर। उ होने मम रक्षा है—'विषयहीण', 'योगहीण', 'योगहीण', 'विषयहीण'। हमें भी विनयामन मन्दसर का नाम अग्रिम मगध प्रतीत होता है, पर हीनता और योग हीनता से उच्चारण सम्बन्धी भूले हैं। योग हीनता और विनय हीनता भूत के प्रति आश्विन रूप में करने योग्य कार्य की भूले हैं। अतः इन मगध पृथग्प्रत्यक् रूप में उल्लेख करता ही अन्धता रहता है। पदहीनता के बाद विनय हीनता और योगहीनता, तथा उनके पश्चात् अन्त में योग हीनता का होना, विद्वानों के विषय विचारणीय विषय है। इसी अन्त बुद्धि से तो यह सम्भव ही प्रतीत होता है। क्या न हम आचार्य विनयामन के नाम को आश्विन का प्रयत्न करें।

योग हीन

शब्द के दो शरीर माने जाते हैं शब्द शरीर और अर्थ शरीर। शब्द का पढ़ने वाला जिज्ञासु सर्वप्रथम शब्द शरीर को ही स्पर्श करता है। अतः उसे उच्चारण के प्रति अधिक लक्ष्य देना चाहिए। रसर के उच्चारण के साथ मनोभोगपूर्वक सूत्र पाठ पढ़ने से शीघ्र ही अर्थ प्राप्त होनी है और आत्मज्ञान के साक्षात्करण से मधुर चरित्र गुणों

संगती है। अतः उदात्त (ऊँचा स्वर), अनुदात्त (नीचा स्वर), और स्वरित (मध्यम स्वर) का ध्यान न रखते हुए स्वर हीन शास्त्र-पाठ करना, घोषहीन दोष माना गया है।

सुष्ठुदत्त

‘सुष्ठुदत्त’ के सम्बन्ध में बहुत-सी विवादास्पद व्याख्याएँ हैं। कुछ विद्वान् ‘सुदृढदिन्नं दृढं पडिच्छियं’ को एक अतिचार मान कर ऐसा अर्थ करते हैं कि ‘गुरुदेव ने अच्छी तरह अध्ययन कराया हो परन्तु मैंने दुर्विनीत भाव से बुरी तरह ग्रहण किया हो तो।’ यह अर्थ संगत नहीं है। ऐसा मानने से ज्ञानातिचार के चौदह भेद न रह कर तेरह भेद ही रह जायेंगे, जो कि प्राचीन परम्परा से सर्वथा विरुद्ध है। आशातना भी तेतीस से घट कर वत्तीस ही रह जायँगी, जो स्वयं आवश्यक के मूल पाठ से ही विरुद्ध है। अतः दोनों पद, दो भिन्न अतिचारों के सूत्रक हैं, एक के नहीं।

पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज आदि ऐसा अर्थ करते हैं कि ‘मूर्ख, अविनीत तथा कुपात्र शिष्य को अच्छा ज्ञान दिया हो तो।’ इस अर्थ में भी तर्क है कि मूर्ख तथा अविनीत शिष्य को अच्छा ज्ञान नहीं देना तो क्या बुरा ज्ञान देना? ज्ञान को अच्छा विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता है? अविनीत तथा कुपात्र तो ज्ञान दान का अधिकारी पात्र ही नहीं है। रहा मूर्ख, तो उसे धीरे-धीरे ज्ञानदान के द्वारा ज्ञानी बनाना, गुरु का परम कर्तव्य है। अस्तु, यह अर्थ भी कुछ संगत प्रतीत नहीं होता।

आगमोद्धारक पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज का अर्थ तो बहुत ही भ्रान्ति-पूर्ण है। आपने लिखा है—‘विनीत को ज्ञान दे।’ यह वाक्य क्या अभिप्राय रखता है, हम नहीं समझ सके। विनीत को ज्ञान देना, कोई दोष तो नहीं है? कहीं भूल से ‘न’ तो नहीं छुट गया है? दृढं पडिच्छियं का अर्थ अविनीत को ज्ञान देना किया है। यह भी ठीक नहीं; क्योंकि पडिच्छियं का अर्थ लेना है, देना नहीं।

किनने ही विद्वाना का एक श्राव्य अर्थ भी है। वह बहुत विलक्षण है। व 'सुद्धु दिन्न' में 'सुद्धुऽदिन्न' इस प्रकार दिन्न में पहले अकार का प्रक्षेप मानते हैं और अर्थ करते हैं कि शालस्थानश या अन्य किसी इत्यादि के कारण से योग्य शिष्य को अच्छी तरह ज्ञानदान न दिया हो। पर अर्थ उद्गुन सु हर मान्युम देता है।

अब अन्त में एक महत्वपूर्ण अर्थ की चर्चा की जा रही है। इस अर्थ के पीछे एक प्राचीन और विद्वान् आचार्यों की परंपरा है। आचार्य हरिमित्र कहते हैं—'सुद्धु दत्तं' गुरुणा दुद्धु प्रतीक्षित कसुरान्तरस्मिनेति।' इस मत्तैरिति में दोन पदों का मिलान एक अतिचार मानने का भ्रम होना है। इस भ्रान्ति को दूर करने हुए मलधार गच्छीय आचार्य-हेमचन्द्र, अपने हरिमित्रीय श्राव्यक टिप्पण्य में लिखते हैं 'सुद्धु दत्त' में सुद्धु शब्द शोभन वाचक नहीं है, जिसका अर्थ अच्छा किया जाता है। क्योंकि अच्छी तरह जान देने में कोई अतिचार नहीं है। अतः यहाँ सुद्धु शब्द अतिरेकवाचक समझना चाहिए। अल्प भुत के योग्य अल्पबुद्धि शिष्य को अधिक अध्वन कर देना, उसकी योग्यता का विचार न करना, ज्ञानविचार है।

—“अनु सत्ताप्येतानि अनुदंश पदानि तथा पूर्वगते पदा सुद्धु दत्तं दुद्धु प्रतीक्षितमिति पदद्वयं वृथगाशासना-स्वरूपतया भव्यते। नचैतद युज्यते, सुद्धु दत्तस्य तद्रूपताऽयोगात्। नहि शोभनविधिना दत्तं काचिदाशासना संभवति ?

सर्व, स्वादत्तं यदि शोभनत्ववाचकोऽत्र सुद्धु शब्दः स्यात्। तत्र नस्ति, अतिरेक वाच्यत्वेन इहास्य विवक्षितत्वात्। एतदत्र हृदयम्—सुद्धु = अतिरेकेण विवक्षिताऽल्पभुतयोग्यस्य पात्रस्याऽऽक्षिपेन यत् भुतं दत्तं तस्य मिथ्यादुभृतमिति विवक्षितत्वाच्च किञ्चिदसंग्रहमिति।”

प्रत्येक कार्य में योग्यता का ध्यान रखना आवश्यक है। साधारण अल्पबुद्धि शिष्य को मोह या आग्रह के कारण शास्त्रों की विशाल वाचना दे दी जाय तो वह में भ्रान्त नहीं सकता। अतः ज्ञान के प्रति अक्षि

होने के कारण वह थोड़ा सा अपने योग्य ज्ञानाभ्यास भी नहीं कर सकेगा। अतः गुरु का कर्तव्य है कि यथायोग्य थोड़ा-थोड़ा अध्ययन कराए, ताकि धीरे-धीरे शिष्य की ज्ञान के प्रति अभिरुचि एवं जिज्ञासा चलवती होती चली जाय।

अकाल में स्वाध्याय

कालिक और उत्कालिक रूप से शास्त्रों के दो विभाग किए हैं। कालिक श्रुत वे हैं जो प्रथम अन्तिम पहर में ही पढ़े जाते हैं, बीच के पहरों में नहीं। उत्कालिक वे हैं, जो चारों ही पहरों में पढ़े जा सकते हैं। अस्तु, जिस शास्त्र का जो काल नहीं है उसमें उस शास्त्र का स्वाध्याय करना ज्ञानातिचार है। इसी प्रकार निश्चित काल में स्वाध्याय न करना भी अतिचार है।

ज्ञानाभ्यास के लिए काल का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। चैमौके की रागिनी अच्छी नहीं होती। यदि शास्त्राध्ययन करता हुआ कालादि का ध्यान न रखेगा तो कब तो प्रतिलेखना करेगा? कब गोत्र-चर्चा के लिए जायगा? कब गुरुजनों की सेवा का लाभ लेगा? कालातीत अध्ययन कुछ दिन ही चलेगा, फिर अन्त में वहाँ भी उत्साह उंडा पड़ जायगा। शक्ति से अधिक प्रयत्न करना भी दोष है। इसी प्रकार शक्ति के अनुकूल प्रयत्न न करना भी दोष है। स्वाध्याय का समय होते हुए भी आलस्यवश या किसी अन्य अनावश्यक कार्य में लगा रहकर जो साधक स्वाध्याय नहीं करता है, वह ज्ञान का अनादर करता है—अपमान करता है। वह दिव्य ज्ञान-प्रकाश के लिए द्वार बन्द कर अज्ञानान्धकार को निमन्त्रण देता है।

अस्वाध्यायिक में स्वाध्यायित

शीर्षक के शब्द कुछ नवीन से प्रतीत होते हैं। परन्तु नवीनता कुछ नहीं है। स्वाध्याय को ही स्वाध्यायिक कहते हैं और अस्वाध्याय को अस्वाध्यायिक। कारण में कार्य का उपचार हो जाता है। अतः स्वाध्याय और अस्वाध्याय के कारणों को भी क्रमशः स्वाध्यायिक तथा

‘पडिकमामि एगविहे असंजमे’ यह असंयम का समान प्रतिक्रमण है। और यही प्रतिक्रमण आगे ‘दोहि बंधणेहि’ आदि से लेकर तेत्तीसाए आसायणाहि’ तक क्रमशः विराट होता गया है।

क्या यह प्रतिक्रमण तेत्तीस बोल तक का ही है? क्या प्रतिक्रमण का इतना ही विराटरूप है? नहीं, यह बात नहीं है। यह तो केवल सूचनामात्र है, उपलक्षण मात्र है। मलधार-गच्छीय आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में ‘दिङ् मात्रप्रदर्शनाय’ है।

हाँ, तो प्रतिक्रमण के तीन रूप हैं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। ‘पडिकमामि एगविहे असंजमे’ यह अत्यन्त सन्क्षिप्त रूप होने से जघन्य प्रतिक्रमण है। दो से लेकर तीन, चार, दश, शत, सहस्र, लक्ष, कोटि, अर्बुद, किं बहुना, संख्यात तथा असंख्यात तक मध्यम प्रतिक्रमण है। और पूर्ण अनन्त की स्थिति में उत्कृष्ट प्रतिक्रमण होता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण के संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त स्थान हैं।

यह लोकालोक प्रमाण अनन्त विराट संसार है। इसमें अनन्त ही असंयमरूप हिंसा, असत्य, आदि हेय स्थान हैं, अनन्त ही संयमरूप अहिंसा, सत्य आदि उपादेय-स्थान हैं, तथा अनन्त ही जीव, पुद्गल आदि ज्ञेय-स्थान हैं। साधक को इन सबका प्रतिक्रमण करना होता है। अनन्त संयम स्थानों में से किसी भी संयम स्थान का आचरण न किया हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। अनन्त असंयम स्थानों में से किसी भी असंयम स्थान का आचरण किया हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। अनन्त ज्ञेय स्थानों में से किसी भी ज्ञेय स्थान की सम्यक् श्रद्धा तथा प्ररूपणा न की हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। सूत्रकार ने एक से लेकर तेत्तीस तक के बोल सूत्रतः गिना दिए हैं। आखिर एक-एक बोल गिनकर कहाँ तक गिनाते? कोटि-कोटि वर्षों का जीवन समाप्त हो जाय, तब भी इन सब की गणना नहीं की जा सकती। अतः तेत्तीस के समान

ही अन्य अनन्त जेन भी अर्थन. सर्वज्ञ में रहने चाहिए, भले ही
ने ज्ञान ही या अज्ञात हो। माधक को केवल ज्ञात का ही प्रतिप्रमण
नहीं करना है अन्ति अज्ञात का भी प्रतिप्रमण करना है। तभी तो
श्रमि के अन्तिम पाठ में कहा है 'जं संभरामि, जं च न समरामि।'
अर्थात् जो दोन स्मृति में आ रहे हैं उनका प्रतिप्रमण करता हूँ। और
जो दोन इस समय स्मृति में नहीं आ रहे हैं, परन्तु हुए हैं, उन सब का
भी प्रतिप्रमण करना हूँ।

यह है प्रतिप्रमण का विरुद्ध रूप। यहाँ विन्दु में बिन्दु समाना
होना है, विण्ड म ब्रह्माण्ड का दर्शन करना होना है। एक सचित्त रजकण
पर पैर आ गया, अमरुप जीर्ण की दिग्ग हो गई। एक सचित्त जल-
विन्दु का उदगत हो गया, अमरुप जीर्ण की दिग्ग हो गई। यही भी
निगोद का रस हो गया तो अनन्त जीर्ण की विरूपता हो गई। इस प्रकार
अमरुप स्थान अनन्त रूप ले लेने हैं। एक रजकण का भी यथार्थ
अज्ञान न हुआ तो तदगत अनन्त परमाणुओं के कारण अथवा ने
अनन्त रूप ले लिया। सोमालोक रूप अनन्त विश्व के सम्बन्ध में किसी भी
प्रकार की मिथ्या प्ररूपणा हुई तो विगीन प्ररूपणा अनन्तरूप प्ररूप कर
लेनी है। अतः माधक इन सब विगीन भद्रा, विगीन प्ररूपणा एवं
विगीन आसेवना रूप अनन्त अमरुप स्थानों से हटकर सम्पक् भद्रा,
सम्पक् प्ररूपणा एवं सम्पक् आसेवना रूप अनन्त अमरुप स्थानों में वापस
लौट कर आता है, तब क्या प्रतिप्रमण अनन्त रूप नहीं हो जाता है ?
अवश्य हो जाता है। तभी तो मलवारणच्छीय आचार्य हेमचन्द्र, आने
श्यर टीप्पण्य में प्रस्तुत प्रमण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—“अपर-
स्थापि चतुर्विंशदादेरर्जतपर्यवसानस्य प्रतिप्रमण—स्थानस्वार्थतोऽत्र
सूचितत्वात् ।”

आचार्य विनयास महत्तर भी आवश्यक धृति में लिखते हैं—“एवं
ता मुत्तनिषणं, अत्थनो तेचीसाओ चोचीसा अवन्तीचि, चोचीसाए बुद्ध-
व्यथातिसेसेहि, पणनीसाए सच्चवव्यथातिसेसेहि, धुचीसाए उत्तरम-

यणेहिं, एवं जहा समवाए जावं सतभिसयानक्खत्ते सतगतारे पयणत्ते ।
 १. एव' संलेज्जेहिं, असखेज्जेहिं, अणंतेहिं य असंजमट्ठाणेहि य संजमट्ठाणे-
 हि य जं पडिसिद्ध-करणादिना अतियरितं तस्य मिच्छामि पुक्कडं ।
 सठवो वि य एसो दुगादीओ अतियारगणो एकविहस्स असंजमस्स
 पत्तारयसमूहो इति । एव' संवेगाद्यर्थं अणंगधा पुक्कडगरिहा कता ।

: २६ :

प्रतिज्ञा-सूत्र

नमो

चउवीसाए तित्थगराणं

उमभादि-महावीरपज्जवसाणाणं ।

इणमेव निमांथं पाययणं,—

सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, नेआउयं, संसुदं,
सकलगत्तणं, सिद्धिमग्गं सुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं,
निव्वाणमग्गं, आगतहमविसंधिं, सव्वदुस्सण्णहीणमग्गं ।

इत्थं ठिआ बीया, मिज्झंति बुज्झंति, मुच्चंति,
परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेति ।

तं धम्मं सदहामि, पत्तिआभि, रोएभि, फासेमि,
पालेभि, अणुपालेभि ।

तं धम्मं सदहंतो, पत्तिअंतो, रोअंतो, फामंतो, पालंतो ।
अणुपालंतो ।

१ आचार्य जिनदास महत्तर और आचार्य हरिभद्र ने 'पालेमि'
'पालन्ता' का उल्लेख नहीं किया है ।

तस्स धम्मस्स

अव्वुद्धिओमि आराहणाए

विरओमि विराहणाए ।

असंजमं परिआणामि संजमं उवसंपज्जामि,

अवंमं परिआणामि वंमं उवसंपज्जामि,

अकप्पं परिआणामि कप्पं उवसंपज्जामि,

अन्नाणं परिआणामि नाणं उवसंपज्जामि,

अकिरियं^१ परिआणामि किरियं उवसंपज्जामि,

मिच्छत्तं परिआणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि^२

अवोहिं परिआणामि वोहिं उवसंपज्जामि,

अमग्गं परिआणामि, मग्गं उवसंपज्जामि ।

जं^३ संभरामि, जं च न संभरामि,

जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि,

तस्स सब्बस्स देवसियस्स अइआरस्स पडिक्कमामि ।

१—आचार्ये जिनदास महत्तर पहले 'मिच्छत्तं' परिआणामि सम्मत्तं 'उवसंपज्जामि' कहते हैं, और बाद में 'अकिरियं' परिआणामि किरियं उवसंपज्जामि ।

२—आचार्ये जिनदास की आवश्यक चूर्णि में 'अवोहिं परिआणामि, वोहिं उवसंपज्जामि । अमग्गं परिआणामि मग्गं उवसंपज्जामि' यह अंश नहीं है ।

३—आवश्यक चूर्णि में 'जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि' पहले है और बाद में 'जं संभरामि जं च न संभरामि' है ।

समणोऽहं संजय-विरय-पडिहय-पञ्चमसाय-पापकम्मो,
अनियाणो, दिट्ठिसंफन्नो, माया-मोस-भिज्जिओ ।

(१)

अड्ढाइज्जेसु दोद-

समुदेसु पन्नमसु कम्मभूमीसु ।

जानंत के वि साह,

रयहरण-गुच्छ-पडिगह-पारा ॥

(२)

पंचमहवय-धारा

अड्ढार-सहस्र-मीलंगधारा ।

अनसयायारचरित्ता,

ते मज्जे तिरसा मणसा मत्थएण वंटामि ॥

शब्दाध

नमो = नमस्कार हो

वड्ढीगाए = चौबीस

तिथगाराण = तीर्थस्थलों को

उसमादि = आपस आदि

महावीर = महावीर

पञ्चवसाणाण = पंचवन्तों को

इणमेव = यह ही

निगार्थ = निग्रहों का

पापयण = पापघन

ज्ज = साथ है

अणुत्तर = सर्वोत्तम है

केगलप = सर्वज्ञ-प्रकृतित अथवा

अद्वितीय है

पत्तिपुग्ग = प्रतिपूर्ण है

नेआउप = व्याघातवर्धित है, म

ले जाने वाला

म मुद = ऐसे शुद्ध है

मल्ल = शस्त्रों को

मत्तण = काटने वाला है

मिद्धि मगं = मिद्धि का मार्ग है

मुत्ति मगं = मुत्ति का मार्ग है

निजाणमगं = संसार से निकलने
का मार्ग है, मोच
स्थान का मार्ग है

निव्वाण मगं = निर्वाण का मार्ग
है, परम शान्ति
का कारण है

अवितहं = तथ्य है, यथार्थ है

अविसंधि = अव्यवच्छिन्न है, सदा
शाश्वत है

सव्व = सब

दुक्ख = दुःखों के

पहीण = क्षय का

मगं = मार्ग है

इत्थं = इसमें

ठिआ = स्थित हुए

जीवा = जीव

सिज्झंति = सिद्ध होते हैं

बुज्झंति = बुद्ध होते हैं

मुच्चंति = मुक्त होते हैं

परिनिव्वायंति = निर्वाण को प्राप्त होते हैं

सव्वदुक्खाणं = सब दुःखों का

अन्तं = अन्त, क्षय

करेन्ति = करते हैं

तं = उस

धम्मं = धर्म की

मद्दामि = धन्दा करता हूँ

पत्तिआमि = प्रतीति करता हूँ

रोणमि = रुचि करता हूँ

फासेमि = स्पर्शना करता हूँ

पालेमि = पालना करता हूँ

अणु = विशेष रूप से

पालेमि = पालना करता हूँ

तं = उस

धम्मं = धर्म की

मद्दहंतो = धन्दा करता हुआ

पत्तिअंतो = प्रतीति करता हुआ

रोअंतो = रुचि करता हुआ

फासंतो = स्पर्शना करता हुआ

पालंतो = पालना करता हुआ

अणु = विशेष रूप से

पालंतो = पालना करता हुआ

तस्म = उस

धम्मस्स = धर्म की

आराहणाए = आराधना में

अवमुट्ठिअोमि = उपस्थित हुआ हूँ

विराहणाए = विराधना से

विराओमि = निवृत्त हुआ हूँ

असंजमं = असंयम को

परिआणामि = जानता हूँ एवं

त्यागता हूँ

संजमं = संयम को

उवसंपजामि = स्वीकार करता हूँ

अरुण = अरुणवर्ण को

रा आगामि = जानता है और
त्यागता है

रुम = रुमचर्च को

उरुम पत्रामि = स्वीकार करता है

अरुण = अरुण = अरुण व को

पारश्यागामि = जानता है, त्यागता
है

कप = कप = कप को

उरुम पत्रामि = स्वीकार करता है

अरुण = अरुण को

परिश्यागामि = जानता है और
त्यागता है

नाग = नाग को

उरुम पत्रामि = स्वीकार करता है

अनिरिय - अनिरिया को

परिश्यागामि = जानता है एवं
त्यागता है

निरिय = निरिया को

उरुम पत्रामि = स्वीकार करता है

निन्दुत = निन्दुत को

परिश्यागामि = जानता है तथा
त्यागता है

मन्त्रत = मन्त्रत को

उरुम पत्रामि = स्वीकार करता है

अरोहि = अरोहि को

परिश्यागामि = जानता है और
त्यागता है

रोहि = रोहि को

उरुम पत्रामि = स्वीकार करता है

अमर्ग = अमर्ग को

परिश्यागामि = जानता है, त्यागता है

मर्ग = मर्ग को

उरुम पत्रामि = स्वीकार करता है

ज = जो

न मर्गामि = स्वीकार करता है

च = और

प = जो

न = नहीं

न मर्गामि = स्वीकार करता है

ज = जिसका

परिश्यागामि = प्रतिफल करता

च = और

ज जिसका

न = नहीं

परिश्यागामि = प्रतिफल करता

तस्म = उस

सम्बन्ध = सब

देवमित्रतम = देवमित्र सम्बन्धी

अद्वयतम = अद्वय का

परिश्यागामि = प्रतिफल का

समशोह = मैं भगवन् है

म जय संवमी है

विग्न = विरत हैं

पटिहय = नाश करने वाला हूँ

पञ्चक्वाच = त्याग करने वाला हूँ

पावकम्पो = पापकर्मों का

अनियान्णो = निदान रहित

टिट्टि = सम्यग् दृष्टि से

मंपन्नो = युक्त हूँ

माया = माया सहित

मोग = नृपावाद से

विवज्जिआं = मन्त्रा रहित हूँ

अट्टादज्जेसु = अट्टाई

दीव = द्वीप

समुद्देसु = समुद्रों में

पन्नरमसु = पन्द्रह

कम्मभूमीसु = कर्म भूमियों में

ज्जार्धत = जितने भी

केवि = कोई

साहू = साधु हैं

रयहरण = रजोहरण

गुच्छ = गोच्छक

पटिमाह = पात्र के

आग = धारक हैं

पंच = पाँच

महव्यय = महावत के

धारा = धारक हैं

अट्टदार = अट्टारह

महस्स = हजार

सीलंग = शीलान्न के

धारा = धारक हैं

अकल्लय = अकल-परिपूर्ण

आयार = आचार रूप

चरित्ता = चारित्र के धारक हैं

ते = उन

मच्चं = सबको

मिरमा = शिर से

मणसा = मन से

मत्थएण = मस्तक से

वंडामि = वन्दना करता हूँ

भावाथे

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त-त्रैवीस तीर्थंकर देवों को नमस्कार करता हूँ ।

यह निग्रन्थ-प्रवचन अथवा प्रावचन ही सत्य है, अनुत्तर = सर्वोत्तम है, केवल = अद्वितीय है अथवा कैवलिक = केवल-ज्ञानियों से प्ररूपित है, प्रतिपूर्ण = मोक्षप्रापक गुणों से परिपूर्ण है, नैयायिक-मोक्ष पहुँचाने वाला है अथवा न्याय से अबाधित है, पूर्ण शुद्ध अर्थात् सर्वथा निष्कलंक है, शल्यकर्त्तन = माया आदि शल्यों को नष्ट करने वाला है, सिद्धि-

इस निर्मल प्राप्ति में स्थित रहने वाले चर्पित तदनुसार भाव-
रण करने वाले मध्य जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध = सर्वज्ञ होते हैं, मुक्त
होते हैं, परिनिर्वाण = पूर्ण आत्म शान्ति को प्राप्ति करते हैं, समस्त
दुःखों का सदा काल के लिए अन्त करते हैं।

हैं प्रस्तुत जिन धर्म की धड़ा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, स्पर्शना करता हुआ, रचि करता हुआ, पाकना अर्थात् रचा करता हुआ, विशेष रूप से पालना करता हुआ —

धर्म की आराधना करने में पूरा रूप से सम्युत्थित अर्थात् सच
है, और धर्म की विरोधना = सचइना से पूरा तथा निरुत होता है -
असत्य को जानता और त्यागता है, समय को स्वीकार करता
है, अन्नक्षय को जानता और त्यागता है, ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता
है, अकल्प = अकृत्य को जानता और त्यागता है, कल्प = कृत्य
स्वीकार करता है, अज्ञान को जानता और त्यागता है, ज्ञान
स्वीकार करता है, अक्रिया - नास्तिवाद को जानता तथा त्यागता
है, क्रिया = सम्यग्वाद को स्वीकार करता है, मिथ्यात्व = असदाग्रह को ज
- तथा त्यागता है, सम्यक्त्व = सदाग्रह को स्वीकार करता है, अवे
मिथ्या उपाय को जानता है, एव त्यागता है, बोधि = सम्यक्त्व का

स्वीकार करता हूँ, अमार्ग = हिंसा आदि अमार्ग को जानता तथा त्यागता हूँ, मार्ग = अहिंसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ :—

[दोष-शुद्धि] जो दोष स्मृतिस्थ हैं—याद हैं और जो स्मृतिस्थ नहीं हैं, जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिन का प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूँ, उन सब दिवस-सम्बन्धी अतिचारों = दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ—

मैं श्रमण हूँ, संयत=संयमी हूँ, विरत = साद्य व्यापारों से एवं संसार से निवृत्त हूँ, पाप कर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ एवं पाप-कर्मों का प्रत्याख्यान—त्याग करने वाला हूँ, निदान रहित शक्य से रहित अर्थात् आसक्ति से रहित हूँ, दृष्टि सम्पन्न = सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, माया सहित मृगवाद = असत्य का परिहार करने वाला हूँ—

ढाई द्वीप और दो समुद्र के परिमाण वाले मानव क्षेत्र में अर्थात् पंद्रह कर्म भूमियों में जो भी रजोहरण, गुच्छक एवं पात्र के धारण करने वाले—

तथा पाँच महाव्रत, अठारह हजार शील = सदाचार के श्रंगों के धारण करने वाले एवं अज्ञत आचार के पालक त्यागी साधु हैं, उन सबको शिर से, मन से, मस्तक से वन्दना करता हूँ।

विवेचन

यह अन्तिम प्रतिज्ञा का सूत्र है। प्रतिक्रमण आवश्यक के उपमंहार में साधक बड़ी ही उदात्त, गंभीर एवं भावनापूर्ण प्रतिज्ञा करता है। प्रतिज्ञा का एक-एक शब्द साधना की स्मृति एवं प्रगति की दिव्य ज्योति से आलोकित करने वाला है। असंयम को त्यागता हूँ और संयम को स्वीकार करता हूँ, अब्रह्मचर्य को त्यागता हूँ और ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ, अज्ञान को त्यागता हूँ और ज्ञान को स्वीकार करता हूँ, कुमार्ग को त्यागता हूँ, और समार्ग को स्वीकार करता हूँ, इत्यादि कितनी मधुर एवं उत्थान के संकल्पों से परिपूर्ण प्रतिज्ञा है ?

जैन साधक निवृत्ति-मार्ग का अधिक है। उनका गुण कैवल्य पद

ओर है एवं गीट स खार की ओर। कामना से उमे भणा है, अत्यन्त
 है। उमका आदर्श एक मात्र उच्च जीवन, उच्च विचार और उच्च
 चार ही है। वह असंयम से संयम की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अमार्ग
 मार्ग की ओर गतिशील रहना चाहता है। यही कारण है कि यदि
 भी मूल से कोई गिर हो गया हो, आत्मा संयम से असंयम की ओर
 भटक गया हो तो उसकी प्रतिक्रिया द्वारा शुद्धि की जाती है, पश्चात्ताप
 के द्वारा पाप क्षमा साफ की जाती है। असंयम की जरा सी भी रोग
 जीवन पर नहीं रहने दी जाती। प्रतिक्रिया के द्वारा आलोचना कर लेना
 ही अल नहीं है, परन्तु पुनः कभी भी यह दोष नहीं किया जायगा—
 यह हठ सफल भी दुकराया जाता है। प्रत्युत प्रतिज्ञापूर्वक में यही शिव
 सफल है। प्रतिक्रिया आवश्यक की समाप्ति पर, साधक, फिर असंयम
 पर पर कदम न रखने की अपनी घम' बोधना करता है।

जैन धर्म का प्रतिक्रिया अपने तक ही केन्द्रित है। वह किसी
 ईश्वर अथवा परमात्मा के आगे पापों के प्रति क्षमा माचना नहीं है।
 ईश्वर हमारे पापों को क्षमा कर देगा, फल स्वरूप फिर हम कुछ भी
 पाप फल नहीं भोगना पड़ेगा, इस सिद्धान्त में जैन का अनुभव भी
 विश्वास नहीं है। जो लोग इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, वे एक
 ओर पाप करते हैं एवं दूसरी ओर ईश्वर से प्रतिदिन क्षमा माँगते रहते
 हैं। उनका लक्ष्य पापों से उचना नहीं है, किन्तु पापों के फल से बचना
 है। जब कि जैन धर्म मूलतः पापों से बचने का ही आदर्श रखता है।
 अतएव यह कृप पापों के लिए पश्चात्ताप कर लेना ही पर्याप्त नहीं है।
 भूता, प्रत्युत फिर कभी पाप न होने पाएँ—इस बात की भी मान्यता
 रखता है।

पूर्व नमस्कार

प्रतिज्ञा करने से पहले संयम पथ के मंदिर यात्रा श्री श्रद्धा
 महावीर पर्यन्त चौरीय तीर्थकर देव को नमस्कार किया गया है। यह

है कि जैसी साधना करनी हो उसी साधना के उपायकों का स्मरण किया जाता है। युद्धवीर युद्धवीरों का तो अर्थवीर अर्थवीरों का स्मरण करते हैं। यह धर्म युद्ध है, अतः यहाँ धर्मवीरों का ही स्मरण किया गया है। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर धर्म साधना के लिए अनेकानेक भयंकर परीपद सहते रहे हैं एवं अन्त में साधक से सिद्ध पद पर पहुँच कर अजर अमर परमात्मा हो गए हैं। अतः उनका पवित्र स्मरण हम साधकों के दुर्बल मन में उत्साह, बल एवं स्वाभिमान की भावना प्रदीप्त करने वाली है। उनकी स्मृति हमारी आत्मशुद्धि को स्थिर करने वाली है। तीर्थंकर हमारे लिए अन्धकार में प्रकाश स्तंभ हैं।

भगवान् ऋषभदेव

वर्तमान कालचक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, उनमें भगवान् ऋषभदेव सर्व प्रथम हैं। आपके द्वारा ही मानव सभ्यता का आविर्भाव हुआ है। आपसे पहले मानव जंगलों में रहता, वन फल खाता एवं सामाजिक जीवन से शून्य अकेला घूमा करता था। न उसे धर्म का पता था और न कर्म का ही। भगवान् ऋषभ के प्रवचन ही उसे सामाजिक प्राणी बनाने वाले हैं, एक दूसरे के सुख दुःख की अनुभूति में सम्मिलित करने वाले हैं। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि उस युग में मानव के पास शरीर तो मानव का था, परन्तु आत्मा मानव की नहीं। मानव-आत्मा का स्वरूप-दर्शन, सर्व प्रथम, भगवान् ऋषभदेव ने ही कराया।

भगवान् ऋषभदेव जैन धर्म के आदि प्रवर्तक हैं। जो लोग जैन धर्म को सर्वथा आधुनिक मानी बैठे हैं, उन्हें इस ओर लक्ष्य देना चाहिए। भगवान् ऋषभदेव के गुण गान वेदों और पुराणों तक में गाए गए हैं। वे मानव-संस्कृति के आदि उद्धारक थे, अतः वे मानव मात्र के पूज्य रहे हैं। आज भले ही वैदिक समाज ने, उनका वह ऋण, भुला दिया हो, परन्तु प्राचीन वैदिक ऋषि उनके महान् उपकारों को

नहीं भूले थे, आपण उन्हीने मुझे हृदय से मगान आभदेन की स्तुति गान किया है।

अनराणं वृषभं मन्द्रजिह्वं,

बृहस्पतिं वर्चसा नच्यमर्के ।

—श्रुग्० मं० १ गू० १६० मं० १

अपान् मित्रभागी, जानी, स्तुतियोग्य श्रुगम को पूजा गायक मन्त्रों द्वारा वर्धन करो ।

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां,

शिराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।

अशां न पातमरिचना हुवे धियः,

इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः ॥

—अथर्ववेद का० १६।४२।४

अपान् सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक मत्तियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप, श्रीश्रुगमदेन का मैं आवाहन करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रिया के साथ बल प्रदान करें ।

नाभेरमावृषम आम सुदेवमनुर्—

यो वै चचार ममदग् जडयोगचर्याम् ।

यत्पारहंस्यमृषयः पदमामनन्ति,

भ्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्त-संगः ॥

—भीमदभागवत २।७।१

वेद और भागवत क्या, अन्य भी वायु पुराण, पद्म पुराण आदि में मगान् श्रुगमदेन की स्तुति की गई है। इन प्रमाणों से जा जाता है कि—मगान् श्रुगमदेन ममस्त भारतवर्ष के एक मात्र पु

धनता रहे हैं। यह जो वैदिक साहित्य का नमूना है। जैनधर्म का साहित्य तो भगवान् ऋषभदेव के गुणगान से सर्वथा ओतप्रोत है ही। प्रत्येक पाठक इस बात से परिचित है, अतः जैन ग्रन्थों से उद्धरण लेकर व्यर्थ ही लेख का कलेंबर क्यों बढ़ाया जाय ?

भगवान् महावीर

आज भगवान् महावीर को कौन नहीं जानता ? आज से अर्द्धशताब्दी पहले भारतवर्ष में कितना भयंकर अज्ञान था, कितना तीव्र पाग़लपन था, कितना धर्म के नाम पर अत्याचार था ? इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी उस समय के यज्ञादि में होने वाले भयंकर हिंसा काण्डों से परिचित है। भगवान् महावीर ने ही उस समय अहिंसा धर्म की तुन्दुभि बजाई थी। कितने कष्ट सहें, कितनी आपत्तियाँ झेलीं; किन्तु भारत की काया-पलट कर ही दी। आध्यात्मिक क्रांति का सिंहनाद भारत के कोने-कोने में गूँज उठा ! भगवान् महावीर का ऋण भारतवर्ष पर अनन्त है, असीम है ! आज हम किसी भी प्रकार से उनका ऋण अदा नहीं कर सकते। प्रभु की सेवा के लिए हमारे पास क्या है ? और वे हम से चाहते भी तो कुछ नहीं। उनके सेवक किंवा अनुयायी होने के नाते हमारा इतना ही कर्तव्य है कि हम उनके बताए हुए सदाचार के पथ पर चले और श्रद्धा भक्ति के साथ मस्तक झुकाकर उनके श्रीचरणों में वन्दन करें।

भगवान् महावीर का नाम पूर्णतया अन्वर्थक है। साधक जीवन के लिए आपके नाम से ही बड़ी भारी आध्यात्मिक प्रेरणा मिलती है। एक प्राचीन आचार्य भगवान् के 'वीर' नाम की व्युत्पत्ति करते हुए बड़ी ही भव्य-कल्पना करते हैं—

विदारयति यत्कर्म,

तपसा च विराजते ।

ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु ।' 'वाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्गताः साधवः ।'

—आचार्य हरिभद्र ।

आचार्य हरिभद्र की उपर्युक्त व्युत्पत्ति के समान ही अन्य जैनाचार्यों ने भी निर्ग्रन्थ की यही व्युत्पत्ति की है । परन्तु जहाँ तक विचार की गति है, यह शब्द साधारण साधुओं के लिए उच्चार से प्रयुक्त होता है, क्योंकि मुख्य रूप से वाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी पूर्ण निर्ग्रन्थ तो अरिहन्त भगवान ही होते हैं । साधारण निर्ग्रन्थ्यदवाच्य साधु तो ब्राह्म परिग्रह का त्यागी होता है, और आन्तर परिग्रह के कुछ अंश को त्याग देता है एवं शेष अंश को त्यागने के लिए साधना करता है । यदि साधारण साधु भी क्रोवादि आभ्यन्तर परिग्रह का पूर्ण त्यागी हो जाय तो फिर वह साधक कैसा ? पूर्ण न हो जाय, कृतकृत्य न हो जाय ? निर्ग्रन्थत्व की विशुद्ध दशा उमशान्तमोह एवं क्षीण मोह गुण स्थानों पर ही प्राप्त होती है, नीचे नहीं । अतएव जो राग द्वेष की गाँठ को सर्वथा अलग कर देता है, तोड़ देता है, वह तत्त्वतः निश्चयनय सिद्ध निर्ग्रन्थ है । और जो अभी अपूर्ण है, किन्तु नैर्ग्रन्थ्य अर्थात् निर्ग्रन्थत्व के प्रति यात्रा कर रहा है, भविष्य में निर्ग्रन्थत्व की पूर्ण स्थिति प्राप्त करना चाहता है, वह व्यवहारतः सम्प्रदाय-सिद्ध निर्ग्रन्थ है । देखिए, तत्त्वार्थभाष्य अध्याय ६, सू० ४८ ।

'निर्ग्रन्थोऽरिहन्तो का प्रवचन, नैर्ग्रन्थ्य प्रावचन है । 'निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनमिति ।'—आचार्य हरिभद्र । मूल में जो 'निर्ग्रन्थ' शब्द है, वह निर्ग्रन्थ-वाचक न होकर नैर्ग्रन्थ्य-वाचक है । अब रहा 'प्रावचन' शब्द, उसके दो संस्कृत रूपान्तर हैं प्रवचन और प्रावचन । आचार्य जिनदास प्रवचन कहते हैं और हरिभद्र प्रावचन । शब्दभेद होते हुए भी, दोनों आचार्य एक ही अर्थ करते हैं—'जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा

१—आचार्य हरिभद्र भी सामायिकाध्ययन की ७८६ गाथा की टीका में कहते हैं—'निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यम्—आर्हतमिति भावना ।'

चानात्ति रत्तवय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, यह सामान्य से लेकर विदुषार पूर्ण तक का आगम साहित्य ।' आचार्य निमभद्र, आवश्यक् चूणि' न लिखते हैं—'पञ्चयणी समाख्यादि विन्दुसारप्रवसाश, जय्य नाएदसण्णचारित्त-साद्वणवावारा षण्णेषा परिणवन्ति ।' आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—'प्रकर्णेण अभिविजिना वप्पते पीसादयो यस्मिन् सप्रावचनम् ।'

ऊपर के बयान से प्रावचन अथवा प्रवचन का अर्थ 'श्रुत रूप शास्त्र' ध्वनि होना है । परन्तु हमने 'त्रिन शासन' अर्थ किया है, और त्रिन शासन का फलितार्थ 'त्रिन धर्म' । इसका बिना एक तो आगे की बयान शैली ही प्रमाण है । मोक्ष का मार्ग ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूप त्रिन धर्म है, फल शास्त्र तो नहीं । भगवान् मङ्गलीर ने निरूपण किया है—

नाणं च दंसरां चेत्,

चरित्तं च तरो सदा ।

एम् मग्गोत्ति पणुत्तो,

जिणेहि वर - दसिहि ॥

—उत्तराध्यायन २८ । १ ।

—ज्ञान, श्रुति, चारित्र्य और तब ही मोक्ष का मार्ग है ।

आचार्य उपासना भी करते हैं —

मम्पग्दर्शन ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।

—उत्तरार्थ सूत्र १ । १ ।

एक स्थान पर नहीं, सैकड़ों स्थान पर इसी प्रकार ज्ञान, श्रुति और चारित्र्य को मोक्ष मार्ग कहा है । परन्तु सूत्र के 'इत्थं गिघा जीवा सिम्भति, बुज्झति, मुञ्चति' आदि पाठ व द्वारा भी यही सिद्ध होता है । धर्म में स्थित होने पर ही तो जीव सिद्ध बुद्ध, मुक्त होते हैं अथवा नहीं । आगे चल कर 'त धम्मं सद्वर्णमि, पत्तिधम्मि' में स्पष्ट ही धर्म

का उल्लेख किया है। 'तत्' शब्द भी पूर्व-परामर्शक होने के कारण पूर्व उल्लेख की ओर संकेत करता है। अर्थात् पूर्वोक्त-विशेषण-विशिष्ट प्रावचन को ही धर्म बताता है। आचार्य हरिभद्र भी यहाँ ऐसा ही उल्लेख करते हैं—'य एष नैर्ग्रन्थ-प्रावचनलक्षणो धर्म उक्तः, तं धर्मं श्रद्धामहे'।

यापनीय संघ के महान् आचार्य श्री अमराजित तो निर्ग्रन्थ का अर्थ ही मिथ्यात्व, अज्ञान एवं अविरति रूप ग्रन्थ से निर्गत होने के कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र आदि धर्म करते हैं। और जिनागम रूप प्रवचन का अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य विषय होने से धर्म को ही प्रावचन भी कहते हैं। 'प्रावचन' शब्द को देखते हुए, उसका अर्थ, प्रवचन (शास्त्र) की अपेक्षा प्रावचन अर्थात् प्रवचन-प्रतिपाद्य ही भाषा शास्त्र की दृष्टि से कुछ अधिक संगत प्रतीत होता है।

—“प्रथन्ति रचयन्ति दीर्घाकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः—
मिथ्यादर्शनं, मिथ्याज्ञानं, असंयमः, कपायाः, अशुभयोगत्रयं चेत्यमी
परिणामाः। मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्तं किम्? सम्यग् दर्शनम्। मिथ्या-
ज्ञानान्निष्क्रान्तं सम्यग् ज्ञानं, असंयमात् कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च
निष्क्रान्तं सुचारित्रं। तेन तत्त्रयमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते।

प्रावचनं = प्रवचनस्य जिनागमस्य अभिधेयम्।”

(मूलाराधना-विजयोदया १-४३)

सत्य

धर्म के लिए सबसे पहला विशेषण सत्य है। सत्य ही तो धर्म हो सकता है। जो असत्य है, अविश्वसनीय है, वह धर्म नहीं, अधर्म है। जब भी कोई व्यक्ति किसी से किसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में बात करता है तो पूछने वाला सर्वे प्रथम यही पूछता है—क्या यह बात सच है? इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा। तभी कोई सिद्धान्त आगे प्रगति कर सकता है। अतएव सूत्रकार ने सर्वे प्रथम इसी प्रश्न का उत्तर दिया है और कहा है कि खलत्रय रूप जैन धर्म सत्य है।

आचार्य जिनदाम सत्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—(१)

भव्यात्माओं के लिए दिनकर हो तथा मद्भूत हो, यह सत्य होता है।
'सद्भूतो हितं सत्त्वं, सद्भूतं वा सत्त्वं।'

जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका मिद्धान्त पदार्थ विज्ञान की जमीनी पर सरा उतरता है। जब और चैतन्य तत्त्व का निरूपण, जिन शास्त्रों में हम प्रकार किया गया है कि जो आज भी विद्वानों के लिए चमत्कार की वस्तु है। अहिंसावाद, अनेकान्तवाद और धर्मवाद आदि इनमें ऊँचे और प्रामाणिक मिद्धान्त हैं कि आज तक के इतिहास में कभी झुठलाए नहीं जा सके। झुठलाए जाएँ भी कैसे? जो मिद्धान्त सत्य की मुट्ट में नीचे पर लड़े किए गए हैं, वे विशालासहित सत्य होने हैं, तीन काल में भी मिथ्या नहीं हो सकते। देखिए, विदेशी मिद्धान्त भी जैन धर्म की सत्यता और महत्ता को किम प्रकार आदर की दृष्टि से स्वीकार करते हैं :—

पौराण्य दर्शनशास्त्र के सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी मिद्धान्त डाक्टर ए० गिरनार्ड लिखते हैं—“मनुष्यों की उन्नति के लिए जैन धर्म में चारित्र्य सम्बन्ध मूल्य बहुत बड़ा है। जैन धर्म एक बहुत प्रामाणिक, स्वतंत्र और नियमरूप धर्म है।”

पूर्व और पश्चिम के दर्शन शास्त्रों के तुलनात्मक अध्यापी इंगलिश मिद्धान्त डाक्टर एल० पी० टेसीटरी भी जैन धर्म की भेदता स्वीकार करते हैं—“जैन धर्म बहुत ही उच्च कोटि का धर्म है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान शास्त्र के आधार पर रखे हुए हैं। यह मेरा अनुमान ही नहीं, बल्कि अनुभव मूलक पूर्ण दृढ़ विश्वास है कि ज्यों-ज्यों पदार्थ विज्ञान उन्नति करता जायगा, ज्यों-ज्यों जैन धर्म के मिद्धान्त सत्य सिद्ध होते जायेंगे।”

राष्ट्र पिता महात्मा गाँधी, लॉर्डमान्य मिलर, भारत के सर्वप्रथम भारतीय गवर्नर जनरल चक्रवर्त राजगोपालाचार्य, सरदार पटेल आदि ने भी जैन धर्म की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उसके सिद्धांतों की सत्यता के लिए अपनी संपूर्ण सम्पत्ति बलिदान की है। सबके लोचनों का

यहाँ उद्धृत कर सकें, इतना हमें न अवकाश है और न वह लेख मामूरी ही पास है।

केवलियं

मूल में 'केवलियं' शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो किए जा सकते हैं—केवल और कैवलिक। केवल का अर्थ अद्वितीय है। सम्यग् दर्शन आदि तत्त्व अद्वितीय हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। कौन है वह सिद्धान्त, जो इनके समक्ष खड़ा हो सके? मानवजाति का हित एकमात्र इन्हीं सिद्धान्तों पर चलने में है। पवित्र विचार और पवित्र आचार ही आध्यात्मिक सुख समृद्धि एवं शान्ति का मूल मन्त्र है।

कैवलिक का अर्थ है—'केवल ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित अर्थात् प्रतिपादित। छद्मस्थ मनुष्य भूल कर सकता है। अतः उसके बताए हुए सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु जो केवल ज्ञानी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वद्रष्टा हैं, त्रिकालदर्शी हैं; उनका कथन किसी प्रकार भी असत्य नहीं हो सकता। इसी लिए मंगल सूत्र में कहा गया है कि—'केवलि-पन्नत्तो धम्मो मंगलं।' सम्यग् दर्शन आदि धर्म तत्त्व का निरूपण केवल ज्ञानियों द्वारा हुआ है; अतः वह पूर्ण सत्य है, त्रिकालाबाधित है।

उक्त दोनों ही अर्थों के लिए आचार्य जिनदास-कृत आवश्यक चूर्णि का प्रामाणिक आधार है—“केवलियं-केवलं अद्वितीयं एतदेवैकहितं, नान्यद् द्वितीयं प्रवचन मस्ति। केवलिया वा पणत्तं केवलियां”

प्रतिपूर्ण

जैनधर्म एक प्रतिपूर्ण धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही तो जैनधर्म है। और वह अपने आप में सब ओर से 'प्रतिपूर्ण' है, किसी प्रकार भी खण्डित नहीं है।

आचार्य हरिभद्र प्रतिपूर्ण का अर्थ करते हैं—मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सद्गुणों से पूर्ण, भरा हुआ। 'अपवर्ग-आपकेगुणैर्भूतमिति।'

नैयायिक

‘नैयायिक’ का सस्कृत रूप नैयायिक होता है। आचार्य हरिमद्र, नैयायिक का अर्थ करते हैं — जो नयनशील है, ले जाने वाला है, वह नैयायिक है। सम्मग्न दर्शन आदि मोक्ष में ले जाने वाले हैं, अतः नैयायिक कहलाते हैं। ‘नयनशीलं नैयायिकं मोक्षगमनमित्यर्थः।’

श्री भावविजयजी न्याय का अर्थ ‘मोक्ष’ करते हैं। क्योंकि निश्चित आनन्द = लाभ ही न्याय है, और ऐसा न्याय एक मात्र मोक्ष ही है। साधक के लिए मोक्ष से बढ़कर और कौन सा लाभ है ? यह न्याय = मोक्ष ही प्रयोजन है जिनका, वे सम्मग्न दर्शन आदि नैयायिक कहलाते हैं। “निश्चित आद्यो लाभो न्यायो मुक्तिरित्यर्थः, स प्रयोजनमस्येति नैयायिकः।” — उत्तराध्यायनवृत्ति, अध्या० ४। पा० ५।

आचार्य जिनदास नैयायिक का अर्थ न्यायग्राहित करते हैं। ‘न्यायेन चरति नैयायिकं, न्यायाभाधिरनित्यर्थः’ सम्मग्न दर्शन आदि जैनधर्म सर्वथा न्यायक गत है। केवल आगमोक्त होने से ही मान्य है, यह तान नहीं। यह पूर्ण तर्कसिद्ध धर्म है। यही कारण है कि जैनधर्म तर्क से डरता नहीं है। अग्नि तु तर्क का स्वागत करता है। शुद्ध-बुद्धि से धर्म-तत्त्वा की परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा की कसौटी पर, यदि धर्म सत्य है, तो वह और अधिक वांछितमान् रोगा प्रकाशमान होगा। यह सत्य ही क्या, जो परीक्षा की आग में पड़कर म्लान हो जाय ? ‘सत्ये नास्ति भयं कश्चित्।’ सत्य को कहीं भी भय नहीं है। तब सोना क्या कभी परीक्षा से घबराता है ? अतएव जैनधर्म की परीक्षा के लिए, उत्तराध्यायन सूत्र ने केशी गौतम-संवाद में गणधर गौतम ने स्पष्टतः कहा है — ‘पश्चात् समिक्कयणं धम्मः।’ ‘तर्कशील बुद्धि ही धर्म की परीक्षा करती है।’

शान्त्य दर्शन

आगम की भाषा में शान्त्य का अर्थ है ‘माया, निदान और मिथ्यात्व।’

बाहर के शल्य कुछ काल के लिए ही पीड़ा देते हैं, अधिक से अधिक वर्तमान जीवन का संहार कर सकते हैं। परन्तु ये अंदर के शल्य तो बड़े ही भयंकर हैं। अनन्तकाल से अनन्त आत्माएँ, इन शल्यों के द्वारा पीड़ित रही हैं। स्वर्ग में पहुँच कर भी इनसे मुक्ति नहीं मिली। संसार भर का विराट ऐश्वर्य एवं सुख-समृद्धि पाकर भी आत्मा अन्दर में स्वस्थ नहीं हो सकती, जब तक कि शल्य से मुक्ति न मिले। शल्यों का विस्तृत निरूपण, शल्य सूत्र में कर आया है, अतः पाठक वहाँ देख सकते हैं।

उक्त शल्यों को काटने की शक्ति एकमात्र धर्म में ही है। सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व शल्य को काटता है, सरलता माया-शल्य को और निर्लोभता निदान शल्य को। अतएव धर्म को शल्य-कर्तन ठीक ही कहा गया है—“कृन्तीति कर्तनं शल्यानि-मायादीनि, तेषां कर्तनं भव-निबन्धन-मायादि शल्यच्छेदकमित्यर्थः।”—आचार्य हरिभद्र।

सिद्धि-मार्ग

आचार्य हरिभद्र सिद्धि का अर्थ ‘हितार्थ-प्राप्ति’ करते हैं। ‘सेधनं सिद्धिः हितार्थ-प्राप्तिः।’ आचार्यकल्प पं० आशाधरजी मूलाराधना की टीका में ‘अपने आत्म-स्वरूप की उपलब्धि को ही सिद्धि’ कहते हैं। ‘सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः।’ आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई सिद्धि नहीं है। आत्मस्वरूपोपलब्धि ही सबसे महान् हितार्थ है।

मार्ग का अर्थ उपाय है। आत्मस्वरूपोपलब्धि का मार्ग = उपाय सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय है। यदि साधक सिद्धत्व प्राप्त करना चाहता है, आत्मस्वरूप का दर्शन करना चाहता है, कर्मों के आवरण को हटा कर शुद्ध आत्मज्योति का प्रकाश पाना चाहता है, तो इसके लिए शुद्ध भाव से सम्यग्दर्शनादि धर्म की साधना ही एकमात्र अभोव उपाय है।

मुक्ति-मार्ग

आचार्य जिनदास मुक्ति का अर्थ निर्मुक्तता अर्थात् निःसंगता करते हैं। आचार्य हरिभद्र कर्मों की विन्युति को मुक्ति कहते हैं। ‘मुक्तिः, श्रिः

तार्थं कर्मविन्युतिः ।' जय आत्मा कर्म मन्थन से मुक्त होता है, तभी वह पूर्ण शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति करता है ।

निर्याण मार्ग

आचार्य हरिभद्र निर्याण का अर्थ मोक्षपद करते हैं । जहाँ जाग जाता है वह यान होता है । निर्याण यान निर्याण कहलाता है । मोक्ष ही ऐसा पद है, जो सर्व भ्रेष्ट यान = स्थान है, अतः वह जैन आगम साहित्य में निर्याणपदवाच्य भी है । "यान्ति सदिदि यानं 'वृत्त्युदो बहुलं' (पा० २-३-११३) इति चक्षणात्कर्मणि क्युट् । निर्याणं यानं निर्याणं, ईष्यप्राम्भारात् यं मोक्षपदमित्यर्थः ।"

आचार्य जिनदास निर्याण का अर्थ 'संसार से निर्गमन' करते हैं । 'निर्याणं संसारत्पलायणं ।' सम्यग् दर्शनादि धर्म ही अनन्तकाल से भटकते हुए भव्य जीवों को संसार से बाहर निकालते हैं । अतः संसार से बाहर निकलने का मार्ग होने से सम्यग् दर्शनादि धर्म निर्याण मार्ग कहलाता है ।

निर्याण मार्ग

सब कर्मों के क्षय होने पर आत्मा को जो कभी नष्ट न होने वाला आत्यन्तिक आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वह निर्याण कहलाता है । आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'निवृत्ति निर्याण'—सकल कर्मक्षयजमात्यन्तिक सुखमित्यर्थः ।'

आचार्य जिनदास आत्म-स्वास्थ्य को निर्गमन कहते हैं । 'आत्मा कर्मरोग से मुक्त होकर जब अपने स्वस्वरूप में स्थित होता है, पर परिणति से हटकर सदा के लिए स्वरूपरिणति में स्थिर होता है, तब वह वस्थ कहलाता है । इस आत्मिक स्वास्थ्य को ही निर्गमन कहते हैं ।

देखिए, आवश्यक चूणि प्रतिममणाध्याय—“निवृत्ति निवृत्ती आत्म-स्वास्थ्यमित्यर्थः ।”

बौद्ध दर्शन में भी जैन परंपरा के समान ही निर्गमन शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है । जैन दर्शन की साधना के समान बौद्ध दर्शन की

साधना का भी चरम लक्ष्य निर्वाण है। परन्तु जैन धर्म सम्मत निर्वाण और बौद्धाभिमत निर्वाण में आकाश पाताल का अन्तर है। जैन धर्म का निर्वाण उपर्युक्त वर्णन के आधार पर भाववाचक है, आत्मा की अत्यन्त शुद्ध पवित्र अवस्था का सूचक है। हमारे यहाँ निर्वाण अभाव नहीं, परन्तु निजानन्द की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। निर्वाणपद प्राप्त कर साधक, आचार्य जिनदास के शब्दों में 'परम सुहिणो भव'ति' अर्थात् परम सुखी हो जाते हैं, सब दुःखों से मुक्त होकर सदा एक रस रहने वाले आत्मानन्द में लीन हो जाते हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन की यह मान्यता नहीं है। वह निर्वाण को अभाववाचक मानता है। उसके यहाँ निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक जलता-जलता बुझ जाए तो वह कहाँ जाता है? ऊपर आकाश में जाता है या नीचे भूमि में? पूर्व को जाता है या पश्चिम को? दक्षिण को जाता है या उत्तर को? किस दिशा एवं विदिशा में जाता है? आप कहेंगे—वह तो बुझ गया, नष्ट हो गया। कहीं भी नहीं गया। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन भी कहता है कि "निर्वाण का अर्थ आत्म-दीपक का बुझ जाना, नष्ट हो जाना है। निर्वाण होने पर आत्मा कहीं नहीं जाता। जाता क्या, वह रहता ही नहीं। उसकी सत्ता ही सदा के लिए नष्ट हो गयी।" उक्त कथन के प्रमाणस्वरूप सुप्रसिद्ध बौद्ध महाकवि अश्वघोष की निर्वाण-सम्बन्धी व्याख्या देखिए। वह कहता है:—

दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो,
 नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
 दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
 स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
 तथा कृती निवृत्तिमभ्युपेतो,
 नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् !

दिशं न काञ्चिद् भिदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

(सौन्दरानन्द १६, २८-२९)

पाठक प्रियार कर सकते हैं—य क्या निर्माण हुआ ? क्या अपनी सत्ता को समाप्त करने के लिए ही यह साधना का मार्ग है । क्या अपने संहार के लिए ही इतने विशाल उग्र तपश्चरण किए जाते हैं ? महा-कवि प्रबोधन शब्दा में क्या शान्ति का यही स्वर है ? बौद्ध धर्म का क्षणिकगद् साधना की मूल भावना को दर्शा नहीं कर सकता । साधक के मन का समाधान जैन निर्वाण के द्वारा ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं ।

अवितथ

अवितथ का अर्थ सत्य है । वितथ झूठ को कहते हैं, जो वितथ न हो वह अवितथ अर्थात् सत्य होता है । इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने सीधा ही अर्थ कर दिया है—‘अवितथ = सत्यम् ।’

परन्तु प्रश्न है कि जब अवितथ का अर्थ भी सत्य ही है तो फिर पुनरुक्ति क्यों की गयी ? सत्य का उल्लेख तो पहले भी हो चुका है । प्रश्न प्रश्न बोधित है । परन्तु जरा गंभीरता से मनन करेंगे तो प्रश्न के लिए अबकाश न रहेगा ।

प्रथम सत्य शब्द, सत्य का विधानात्मक उल्लेख करता है । जब कि दूसरा वितथ शब्द, निषेधात्मक पद्धति से सत्य की ओर सचेत करता है । सत्य है, इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि सभय है, कुछ देश सत्य हो । परन्तु जब यह कहते हैं कि वह अवितथ है, असत्य नही है तो असत्य का सर्वथा परिहार हो जाता है, पूर्ण यथार्थ सत्य का स्वीकरण हो जाता है । इस स्थिति में दोनों शब्दों का यदि संयुक्त अर्थ करें तो यह हाता है कि ‘बिना शासन सत्य है, असत्य नहीं है ।’ उत्तर अश के द्वारा पूर्ण अश का समर्थन होता है, दृढत्व होता है ।

हम तो अभी इनका ही समझे हैं । वास्तविक हत्य क्या है,

यह तो केवलिंगम्य है। हाँ, अभी तक और कोई समाधान हमारे देखने में नहीं आया है।

अविसन्धि

अविसन्धि का अर्थ है—सन्धि से रहित। सन्धि, बीच के अन्तर को कहते हैं। अतः फलितार्थ यह हुआ कि जिन शामन अनन्तकाल से निरन्तर अव्यवच्छिन्न चला आ रहा है। भरतादि क्षेत्र में, किसी काल विशेष में नहीं भी होता है, परन्तु महा विदेह क्षेत्र में तो सदा सर्वदा अव्यवच्छिन्न बना रहता है। काल की सीमाएँ जैनधर्म की प्रगति को अवरुद्ध नहीं कर सकतीं। वह धर्म ही क्या, जो काल के घरे में आ जाय ! जिन धर्म, निज धर्म है—आत्मा का धर्म है। अतः वह तीन काल और तीन लोक में कहीं न कहीं सदा सर्वदा मिलेगा ही। जैनधर्म ने देवलोक में भी सम्यक्त्व का होना स्वीकार किया है और नरक में भी। पशु-पक्षी तथा पृथ्वी, जल आदि में भी सम्यग् दर्शन का प्रकाश मिल जाता है। अतः किसी क्षेत्रविशेष एवं काल विशेष में जैनधर्म के न होने का जो उल्लेख किया है, वह चारित्र्य धर्म का है, सम्यक्त्व धर्म का नहीं। सम्यक्त्व धर्म तो प्रायः सर्वत्र ही अव्यवच्छिन्न रहता है। हाँ चारित्र्य धर्म की अव्यवच्छिन्नता भी महाविदेह की दृष्टि से सिद्ध हो जाती है।

सर्वदुःख प्रहीण-मार्ग

धर्म का अन्तिम विशेषण सर्वदुःख प्रहीणमार्ग है। उक्त विशेषण में धर्म की महिमा का विराट सागर छुआ हुआ है। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से व्याकुल है, क्लेश से संतप्त है। वह अपने लिए सुख चाहता है, आनन्द चाहता है। आनन्द भी वह, जो कभी दुःख से सम्भिन्न = स्पृष्ट न हो। दुःखासम्भिन्नत्व ही सुख की विशेषता है। परन्तु संसार का कोई भी ऐसा सुख नहीं है, जो दुःख से असम्भिन्न हो। यहाँ सुख से पहले दुःख है, सुख के बाद दुःख है, और सुख की विद्यमानता में भी दुःख है। एक दुःख का अन्त होता नहीं है।

दूबारा दुःख सामने आ उपस्थित होना है। एक इच्छा की पूर्ति होती नहीं है, और दूसरी अनेक इच्छाएँ मन में उछल कूद मचाने लगती हैं। सान्निध्य सुख इच्छा की पूर्ति में होता है, और सभी सुख इच्छाएँ पूर्ण कहाँ होती हैं? अतः संसार में एक-दो इच्छाओं की पूर्ति के सुख की अपेक्षा अनेकानेक इच्छाओं की अपूर्ति का दुःख ही अधिक होता है। दुःखों का सर्वथा अभाव तो तब हो, जब कोई इच्छा ही मन में न हो। और यह इच्छाओं का सर्वथा अभाव, फलतः दुःखों का सर्वथा अभाव मोक्ष में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। और यह मोक्ष, सम्पद्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म की साधना से ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—“सर्वदुःख प्रहीणमार्ग—सर्वदुःख प्रहीणो मोक्षस्तत्कारणमित्यर्थः ।”

सिद्धमति

धर्म की आराधना करने वाले ही सिद्ध होते हैं। निदि है भी क्या वस्तु? आराधना अर्थात् साधना की पूर्णाहुति का नाम ही सिद्धि है। जैन धर्म में आत्मा के अनन्त गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही निदित्व माना गया है। ‘सिद्धमति-सिद्धा भवन्ति, परिनिष्ठितार्था भवन्ति ।’

—आचार्य जिनदास महत्तर ।

जैन धर्म में मोक्षके लिए निद शब्द का प्रयोग अत्यन्त मुक्तिसंगत किया है। बौद्ध दार्शनिक, जहाँ मोक्षका अर्थ दीर्घ निर्माण के समान सर्वथा अभावात्मक स्थिति करते हैं, वहाँ जैन धर्म सिद्ध शब्द के द्वारा अनन्त-अनन्त आत्मगुणों की प्राप्ति को मोक्ष कहता है। हमारे यहाँ सिद्ध का अर्थ ही पूर्ण है। अतः अनात्मवादी बौद्ध दर्शन की मुक्ति का यह निद शब्द परिहार करता है, और उन दार्शनिकों की मुक्ति का भी परिहार करता है, जो अपूर्ण दशा में ही मोक्ष होना स्वीकार करते हैं। ईश्वर या अन्य किसी महा शक्ति के द्वारा अपूर्ण व्यक्तियों को मोक्ष देने की कथाएँ वैदिक पुराणों में बहुल्येन वर्णित हैं। परन्तु जैन धर्म इन बातों पर विश्वास नहीं करता। वह तो अपूर्ण अवस्था को संसार ही कहता है,

मोक्ष नहीं। जब तक ज्ञान अनन्त न हो, दर्शन अनन्त न हो, चारित्र्य अनन्त न हो, वीर्य अनन्त न हो, सत्य अनन्त न हो, करुणा अनन्त न हो, किं बहुना, प्रत्येक गुण अनन्त न हो, तब तक मोक्ष होना स्वीकार नहीं करता। 'अनन्त' आत्म-गुणों के विकास की पूर्ति अनन्तता में ही है, पहले नहीं। और यह पूर्णता अपनी साधना के द्वारा ही प्राप्त होती है। किसी की कृपा से नहीं। अतः 'इत्थं ठिआ जीवा सिज्झंति' सर्वथा युक्त ही कहा है।

बुज्झंति

'सिज्झंति' के बाद 'बुज्झंति' कहा है। बुज्झंति का अर्थ बुद्ध होता है, पूर्ण ज्ञानी होता है। प्रश्न है कि बुद्धत्व तो सिद्ध होने से पहले ही प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक विकास क्रमस्वरूप चौदह गुण स्थानों में; अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुण तेरहवें गुण स्थान में ही प्राप्त हो जाते हैं, और मोक्ष, चौदहवें गुण स्थान के बाद होती है। अतः 'सिज्झंति' के बाद 'बुज्झंति' कहने का क्या अर्थ है? विकासक्रम के अनुसार तो बुज्झंति का प्रयोग सिज्झंति से पहले होना चाहिए था।

यह सत्य है कि केवल ज्ञान तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो जाता है, अतः विकास क्रम के अनुसार बुद्धत्व का नम्बर पहला है। और सिद्धत्व का दूसरा। परन्तु यहाँ सिद्धत्व के बाद जो बुद्धत्व कहा है उसका अभिप्रायः यह है कि सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व बना रहता है, नष्ट नहीं होता है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि मोक्ष में आत्मा का अस्तित्व तो रहता है, किन्तु ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाता है। ज्ञान आत्मा का एक विशेष गुण है। और मुक्त अवस्था में कोई भी विशेष गुण रहता नहीं है, नष्ट हो जाता है। अतः मोक्ष में जब आत्मा चैतन्य भी नहीं रहता तब उसके अनन्त ज्ञानी बुद्ध होने का तो कुछ प्रश्न ही नहीं।

यह सिद्धान्त है वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद का। जैनदर्शन इनका सर्वथा विरोधी दर्शन है। जैनधर्म कहता है—“जैनधर्म

नर ? यह तो आत्मा न सँवर्धन हो जाना हुआ ! सर्वधा शान-
हीन जब पत्थर के रूप में हो जाना, कौन से महत्त्व की बात है ? इससे
तो ससार ही अच्छा जहाँ थोड़ा बहुत मान तो बना रहता है । अस्तु,
आत्मा अनन्त ज्ञानी होने पर ही निबानन्द की अनुभूति कर सकता
है । बुद्धत्व के बिना सिद्धत्व का कुछ मूल्य ही नहीं रहता । अतः
बिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व का रहना अत्यन्त आवश्यक है ।
ज्ञान, आत्मा का निष्कण है, भला यह नष्ट कैसे हो सकता है ?
ज्ञानस्वरूप ही तो आत्मा है, अतः जब ज्ञान नहीं तो आत्मा का ही क्या
अस्तित्व ? हाँ, मोक्ष में भी निद्रा भगवान् सदाकाल अपने अनन्त ज्ञान
प्रकाश से जगमगाते रहते हैं, वहाँ एक क्षण के लिए भी कभी अज्ञान
अन्तर्कार प्रवेश नहीं पा सकता ।

अब उस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि सिद्धत्व में पहले होने
वाले बुद्धत्व को पहले न कहकर बाद में क्यों कहा ? बुद्धत्व को बाद में
इसलिए कहा कि कहा वैशेषिकदर्शन की धारणा के अनुसार विशासुओं
को यह भ्रम न हो जाय कि 'सिद्ध होने से पहले तो बुद्धत्व भले हो,
परन्तु सिद्ध होने के बाद बुद्धत्व रहता है या नहीं ?' अब पहले सिद्ध शरीर
बाद में बुद्ध कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निद्रा होने के बाद भी
आत्मा पहले के समान ही बुद्ध बना रहता है, सिद्धत्व की प्राप्ति होने
पर बुद्धत्व नष्ट नहीं होता ।

मुच्यति

'मुच्यति' का अर्थ कर्मों से मुक्त होना है । अब तक एक भी कर्म
परमात्मा आत्मा से सम्बन्धित रहता है, तब तक मोक्ष नहीं हो सकती ।
जैनदर्शन में 'हरिस्वप्नमवरो मोक्षः' ही मोक्ष का स्वरूप है । मोक्ष में
न ज्ञानादरणादि कर्म रहते हैं और न कर्म के कारण राग द्वेष आदि ।
अर्थात् किसी भी प्रकार का आधिक्य भाव मोक्ष में नहीं रहता ।

आब प्रश्न करेंगे कि जब कर्मों का दण्ड होने पर ही तो निद्रात्व भाव

प्राप्त होता है, मोक्ष होती है। फिर वह 'मुच्चन्ति' के रूप में कर्मों से मुक्ति होने का स्वतंत्र उल्लेख क्यों किया गया ?

समाधान है कि कुछ दार्शनिक मोक्ष अवस्था में भी कर्म की सत्ता मानते हैं। उनके विचार में मोक्ष का अर्थ कर्मों से मुक्ति नहीं, अपितु कृत कर्मों के फल को भोगना मुक्ति है। जब तक शुभ कर्मों का सुख स्व फल का भोग पूर्ण नहीं होता, तबतक आत्मा मोक्ष में रहता है। और ज्यों ही फल-भोग पूर्ण हुआ त्यों ही फिर संसार में लौट आता है।

जैन दर्शन का कहना है कि यह तो संसारस्थ स्वर्ग का स्वयं है, मोक्ष का नहीं। मोक्ष का अर्थ छूट जाना है। यदि मोक्ष में भी कर्म और कर्म-फल रहे तो फिर छूटा क्या ? मुक्त क्या हुआ ? संसार और मोक्ष में कुछ अन्तर ही न रहा ? मोक्ष भी कहना और वहाँ कर्म भी मानना, यह तो वदतोव्याघात है। जिस प्रकार 'मैं गूँगा हूँ, बोलूँ कैसे ?' यह कहना अपने आप में असत्य है, उसी प्रकार मोक्ष में भी कर्म बन्धन रहता है, यह कथन भी अपने आप में भ्रान्त एवं असत्य है। मोक्ष में यदि शुभ कर्मों का अस्तित्व माना जाय तो वह कर्मजन्य सुख दुःखासंभिन्न नहीं हो सकेगा। और यदि मोक्ष में सुख के साथ दुःख भी रहा तो फिर वह मोक्ष ही क्या और मोक्ष का सुख ही क्या ? कर्म होंगे तो कर्मों से होने वाले जन्म, जरा, मरण भी होंगे ? इस प्रकार एक क्या, अनेकानेक दुःखों की परम्परा चल पड़ती है। अतः जैन धर्म का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है कि सिद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। सिद्धत्व का अर्थ ही मुक्तत्व है।

परिनिर्वायन्ति

यह पहले कहा जा चुका है कि जैन दर्शन का निर्वाण बौद्ध निर्वाण के समान अभावात्मक नहीं है। वहाँ आत्मा की सत्ता के नष्ट होने पर दुःखों का नाश नहीं माना है। बौद्ध दर्शन रोगी का अस्तित्व समाप्त होने पर कहता है कि देखो, रोग नहीं रहा। परन्तु जैन दर्शन रोगी का रोग

नष्ट करता है, स्वयं रोगी को नहीं। रोग के साथ यदि रोगी भी ममान हो गया तो रोगी के लिए क्या आनन्द ? कर्म एक रोग है, अतः उसे नष्ट करना चाहिए। स्वयं आत्मा का नष्ट होना मानना, यहाँ का दर्शन है ?

वैशेषिक दर्शन आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करता है, परन्तु वह मोक्ष में सुख का होना नहीं मानता। वैशेषिक दर्शन कहता है कि 'मोक्ष होने पर आत्मा में न ज्ञान होता है, न सुख होता है, न दुःख होता है।' 'नशानामात्म-विशेषगुणानामुच्छेदो मोक्षः।'।

जैन दर्शन मोक्ष में दुःखाभाव को मानता है, परन्तु सुखभाव नहीं मानता। सुख तो मोक्ष में समीप से असीम हो जाता है—अनन्त हो जाता है। हाँ पुद्गल सम्बन्धी कर्मजन्य सातारिक सुख यहाँ नहीं होता, परन्तु आत्मसापेक्ष अनन्त आध्यात्मिक सुख का अभाव तो किसी प्रकार भी घटित नहीं होता। वह तो मोक्ष का वैशिष्ट्य है, महत्त्व है। 'परिनिष्ठावन्ति' के द्वारा यही स्पष्टीकरण दिया गया है कि जैन धर्म का निर्वाण न आत्मा का शुद्ध जाना है और न जैन दुःखाभाव का होना है। वह तो अनन्त सुख स्वरूप है। और वह सुख भी, वह सुख है, जो कभी दुःख से संपृक्त नहीं होता। आचार्य जिनदाम परिनिष्ठावन्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'परिनिष्ठुषा भवन्ति, परमसुखिणो भवन्तीत्यर्थः।'।

सर्वदुःखाणामंतं वरेति

मोक्ष की विशेषताया को उताते हुए सरके ग्रन्थ में कहा गया है कि 'धर्मावधक साधन मोक्ष प्राप्त कर शारीरिक तथा मानसिक सब प्रकार के दुःखों का ग्रन्थ कर देता है। आचार्य जिनदास कहते हैं, 'सर्वेषां सारीर-मायसार्थं दुःखसार्थं चतकरा भवन्ति, बोद्धिदण-सर्वदुःखा भवन्ति।'।

अस्तु विशेष का सायश पहले के विशेषणों में भी आ चुका है। यहाँ स्वतंत्र रूप में इसका उल्लेख, सामान्यतः मोक्षस्वरूप का दिग्दर्शन करने के लिए है। दर्शन शास्त्र में मोक्ष का स्वरूप सामान्यतः सर्व दुःखों का प्रक्षय अर्थात् आत्मनिक नाश ही कहा गया है।

उक्त विशेषण का एक और भी अभिप्राय हो सकता है। वह यह कि सांख्य दर्शन आदि कुछ दर्शन आत्मा को सर्वथा बन्धनरहित होना मानते हैं। उनके वहाँ न कभी आत्मा को कर्म बन्ध होता है और न तत्फलस्वरूप दुःख आदि ही। दुःख आदि सब प्रकृति के धर्म हैं, पुरुष अर्थात् आत्मा के नहीं। जैन दर्शन इस मान्यता का विरोध करता है। वह कहता है कि कर्म बन्ध आत्मा को होता है, प्रकृति को नहीं। प्रकृति तो जड़ है, उसको बन्ध क्या और मोक्ष क्या? यदि कर्म और तत्जन्य दुःख आदि आत्मा को लगते ही नहीं हैं तो फिर यह संसार की स्थिति किस बात पर है? आत्माएँ दुःख से हैरान क्यों हैं? अतः कर्म और उसका फल जब तक आत्मा से लगा रहता है, तब तक संसार है। और ज्यों ही कर्म तथा तत्जन्य दुःखादि का अन्त हुआ, आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेती है, मुक्त हो जाती है। जैन साहित्य में दुःख शब्द स्वयं दुःख के लिए भी आता है, और शुभाशुभ कर्मों के लिए भी। इसके लिए भगवती सूत्र देखना चाहिए। अतः 'सर्व दुःखाणामन्तं करोति' का जहाँ यह अर्थ होता है कि 'सर्व दुःखों का अन्त करता है', वहाँ यह अर्थ भी होता है कि 'सर्व शुभाशुभ कर्मों का अन्त करता है।' जब कर्म ही न रहे तो फिर सांसारिक सुख, दुःख, जन्म, मरण आदि का द्वन्द्व कैसे रह सकता है? जब बीज ही नहीं तो वृक्ष कैसा? जब मूल ही नहीं तो शाखा-प्रशाखा कैसी? मोक्ष, आत्मा की वह निर्वन्द अवस्था है, जिसकी उपमा विश्व की किसी वस्तु से नहीं दी जा सकती।

प्रीति और रुचि

धर्म के लिए अग्नी हादिके श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए साधक ने कहा है कि 'मैं धर्म की श्रद्धा करता हूँ, प्रीति करता हूँ, और रुचि करता हूँ।' वहाँ प्रीति और रुचि में क्या अन्तर है? यह प्रश्न अन्तः समाधान चाहता है।

समाधान यह है कि ऊपर से कोई अन्तर नहीं मालूम देता, परन्तु अन्तरंग में विशेष अन्तर है। प्रीति का अर्थ प्रेम मया आकर्षण

है और रुचि का अर्थ है अभिरुचि अर्थात् उत्सुकता । आचार्य विनयन
क शब्दों में कह तो रुचि के लिए 'अभिजागन्निरेवेषु आसेयनाभि
सुत्ता' कह सकते हैं ।

'एक मनुष्य को रुचि आदि वस्तु प्रिय तो होती है, परन्तु कभी
निम्नी विशेष ज्वरादि स्थिति में रुचिकर नहीं होती । अतः सामान्य प्रेमा
कर्षण को प्रीति कहते हैं, और विशेष प्रेमाकर्षण को अभिरुचि ।
अन्तु, साधक कहता है 'म धर्म' की भडा करना हूँ ।' भडा ऊपर मन
से भी की जा सकती है अतः कहता है कि 'म धर्म' की प्रीति करता
हूँ । प्रीति होने हुए भी कभी विशेष नियति में रुचि नहीं रहती, अतः
कहता है कि 'म धर्म' के प्रति सदाशाल रुचि रहता हूँ ।' कितने ही
सकट हा, आपत्तिपूर्ण हा, परन्तु सच्चे साधक की धर्म के प्रति कभी भी
अरुचि नहीं होती । वह जितना ही धर्मापधन करता है, उतनी ही उस
आर रुचि बढ़ती जाती है । धर्मापधन के मार्ग में न सुख साधक धन
मकता है और न दुःख ! दिन रात अविराम गति से हृदय में भडा
प्रीति और रुचि की प्योनि प्रदीन करता हुआ, साधक, अपने धर्म पथ
पर अग्रसर होता रहता है । बीच मज्जित में कहीं ठहरना, उसका काम
नहीं है । उसकी आँखें यात्रा के अन्तिम लक्ष्य पर लगी रहती हैं ।
यह वहाँ पहुँच कर ही विश्राम लेगा, पहले नहीं । यह है साधक
के मन की अमर भडान्योति, जो कभी बुझती नहीं ।

फासेमि, पालेमि, अगापालेमि

जैनधर्म केवल भडा, प्रीति और रुचि पर ही शान्त नहीं होता ।
उसका वास्तविक लीलाक्षेत्र कर्तव्य भूमि है । वह कहनी के साथ करनी
की रागनी भी गाता है । विश्वास के साथ सदानुसूल आचरण भी होना
चाहिए । मन, वाणी और शरीर की एकता ही साधना का प्राण है ।

१— 'प्रीति रुचिश्च मिन्ने एव, यत्तु क्वचिद् दृष्ट्यादौ प्रीतिसद-
भावेऽपि न सर्वदा रुचिः ।'—आचार्य हरिभद्र ।

यही कारण है कि साधक श्रद्धा, प्रीति और सचि से आगे बढ़कर कहता है—“मैं धर्म का स्पर्श करता हूँ, उसे आचरण के रूप में स्वीकार करता हूँ।” “केवल स्पर्श ही नहीं, मैं प्रत्येक स्थिति में धर्म का पालन करता हूँ—स्वीकृत आचार की रक्षा करता हूँ।” “एक-दो बार ही पालन करता हूँ, यह बात नहीं। मैं धर्म का नित्य निरन्तर पालन करता हूँ, बार-बार पालन करता हूँ, जीवन के हर क्षण में पालन करता हूँ।”

आचार्य जिनदास ‘अणुपालेमि’ का एक और अर्थ भी करते हैं कि “पूर्वकाल के सत्पुरुषों द्वारा पालित धर्म का मैं भी उसी प्रकार अनुपालन करता हूँ।” इस अर्थ में परम्परा के अनुसार चलने के लिए पूर्ण दृढ़ता अभिव्यक्त होती है। ‘अहंवा पुनव पुरिसेहिं पालितं अहं पि अणुपालेमिस्ति।’—आवश्यक चूर्णि

अभ्युद्विगमि^१

यह उभयुक्त शब्द कितना महत्व पूर्ण है ! साधक प्रतिज्ञा करता है कि “मैं धर्म की श्रद्धा, प्रीति, स्पर्शना, पालना तथा अनुपालना करता हुआ धर्म की आराधना में पूर्ण रूप से अभ्युत्थित होता हूँ और धर्म की विराधना से निवृत्त होता हूँ।” वाणी में कितना गंभीर, अटल, अचल स्वर गूँज रहा है ! एक-एक अक्षर में धर्माश्रय के लिए अखंड सत्साहस की ज्वालाएँ जग रही हैं ! ‘अभ्युत्थोऽस्मि, सन्नद्धोऽस्मि’ यह कितना साहस भरा प्रण है !

क्या आप धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हैं ? क्या आपकी धर्म के प्रति अभिरुचि है ? क्या आप धर्म का पालन करना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो फिर निष्क्रिय क्यों बैठते हैं ? कर्तव्य के क्षेत्र में चुप बैठना, आलसी जीवन कर पड़े रहना, पाप है। कोई भी साधक निष्क्रिय रह कर जीवन का

^१ प्रस्तुत पाठ को ‘अभ्युद्विगमि’ से खड़े होकर पढ़ने की परम्परा भी है।

विचारक सम्मत नहीं हो सकता। यहाँ प्रतिप्रमण किया जा रहा है। प्रयोग्य आचरण की आलोचना ने बाद समय पालन के लिए प्रण किया जा रहा है, पलन कहा जा रहा है कि मैं असम आदि की पर परिणति से दृढ़ कर समय आदि की स्वरिणति में आता हूँ, और फिर भाव का त्याग कर जागेरशमिन् आदि आत्मभाव ग्रहणाता हूँ। भला यहाँ अस्त्वनीक यन्त्र का छोड़ता हूँ और कस्त्वनीक वस्तु को ग्रहण करता हूँ—इस प्रतिज्ञा की क्या संगति ?

आचार्य निम्नलिखित सामान्यतः कहे हुए एक विषय असम के ही विशेष निजज्ञाभेद से दो भेद करते हैं 'मूल गुण असम और उत्तर गुण असम'। आचार्य प्रथम शब्द से मूल गुण असम का तथा अकल्प शब्द से उत्तर गुण असम का ग्रहण करते हैं। आचार्य भी न कथनानुसार प्रतिज्ञा का रूढ़ यह होता है—“मैं मूल गुण असम का विशेष पूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ और मूल गुण समय की स्वीकार करता हूँ। इसी प्रकार उत्तर गुण असम को त्यागता हूँ और उत्तर गुण समय की स्वीकार करता हूँ।” “सो य असममो विसेसतो दुविहो—मूलगुण असममो उत्तरगुणसममो य। अतो सामर्थ्येण भणिकुण सवेगाद्यर्थं विसेसतो वेद मयति—अवर्भ० अवभग्गहोय मूलगुणा भवणमि ति एवं सकल्पगहोय उत्तरगुणमि।”—आर्यभट्ट चूणि। अक्रिया और क्रिया।

आचार्य दारभट्ट, अक्रिया को अज्ञान का ही विशेष भेद मानते हैं और क्रिया का सम्पूर्ण ज्ञान का। अतः अज्ञानी दार्शनिक भाषा में आप अक्रिया का नास्तिकवाद करते हैं और क्रिया को सम्पूर्णवाद। “अक्रिया नास्तिकवाद क्रिया सम्पूर्णवाद।” नास्तिकवाद का अर्थ तोक, परलोक, धर्म, अधर्म आदि पर विधान न रखने वाला नास्तिकवाद है। और सम्पूर्णवाद का अर्थ उक्त मन चार्ता पर विराजित रखने वाला आस्तिकवाद है।

आचार्य जिनदास अप्रशस्त = अयोग्य क्रिया को अक्रिया कहते हैं और प्रशस्त = योग्य क्रिया को क्रिया । “अप्पसत्था किरिया अकिरिया, इतरा किरिया इति ।”

अवोधि और बोधि

जैन साहित्य में अवोधि और बोधि शब्द बड़े ही गंभीर एवं महत्वपूर्ण हैं । अवोधि और बोधि का उपरिस्तन शब्दत्पशां अर्थ होता है— ‘अज्ञान और ज्ञान ।’ परन्तु यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं है । यहाँ अवोधि से तात्पर्य है मिथ्यात्व का कार्य, और बोधि से तात्पर्य है सम्यक्त्व का कार्य । आचार्य हरिभद्र, अवोधि एवं बोधि को क्रमशः मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का अग मानते हुए कहते हैं—“अवोधिः—मिथ्यात्वकार्यं बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति ।”

असत्य का दुराग्रह रखना, संसार के कामभोगों में आसक्ति रखना, धर्म की निन्दा करना, प्राणिशों के प्रति निर्दय भाव रखना, वीतराग अरिहन्त भगवान् का अवर्णावाद बोलना, इत्यादि मिथ्यात्व के कार्य हैं । सत्य का अग्रह रखना, संसार के काम भोगों में उदासीन रहना, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखना, प्राणिमात्र पर प्रेम तथा कवणा का भाव रखना, वीतराग देव के प्रति शुद्ध निष्कपट भक्ति रखना, इत्यादि सम्यक्त्व के कार्य हैं । अवोधि को जानना, त्यागना और बोधि को स्वीकार करना साधक के लिए परमावश्यक है ।

आगमरत्नाकर पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज बोधि का अष्टमार्ग करते हैं । पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज अवोधि का अष्टमार्ग करते हैं और बोधि का अर्थ ‘बोधिबीज’ ।

अमाने और माने

प्रथम असेवम के रूप में सामान्यतः विपरीत आचरण का उल्लेख किया गया था । पश्चात् अव्रत आदि में उसी का विशेष रूप से निरूपण होता रहा है । अब अन्त में पुनः सामान्य-रूपेण कहा जा रहा है ।

कि "मैं भिक्षात्न, अतिरिक्ति प्रमाण और कषायभाव आदि अमार्ग को शिक्क पुरांन त्यागता हूँ और सम्यक्त्व, विरक्ति अत्रमाद और अकषाय भाव अदि मार्ग को ग्रहण करता हूँ।"

न समरामि ज च न समरामि

भयादि रूत की व्याख्या में हमने प्रतिजमण के विराट् रूप का निदर्शन कराया है। उसका आशय यह है कि यह मानव जीवन चारों ओर से दोषाच्छन्न है। साधवानी से चलता हुआ साधक भी कहा न कहा भ्रान्त हो ही जाता है। जब तक साधक छद्मस्थ है, 'धातिकर्मोदय' से युक्त है, तब तक प्रनाभोगता किसी न किसी रूप में उनी ही रहती है। अतः एक, दो आदि के रूप में दोषों की क्या गणना? इस-उस तथा अनन्त असंख्य स्थानों में से, पता नहीं, कब कौन सा अमरम का दोष लग जाय? कभी उन दोषों की स्मृति रहती है, कभी नहीं भी रहती है। जिन दोषों की स्मृति रहती है, उनका तो नामोन्मेष पुरांन प्रतिजमण किया जाता है। परन्तु जिनकी स्मृति नहीं है उनका भी प्रतिजमण कर्तव्य है। इन्हीं भावनाओं को ध्यान में रखकर प्रतिजमण रूत की समाप्ति पर अमर साधक कहता है कि "जिन दोषों की स्मृति है, उनका प्रतिजमण करता हूँ, और जिन दोषों की स्मृति नहीं है, उनका भी प्रतिजमण करता हूँ।"

ज पडिक्कमामि, ज च न पडिक्कमामि

ज समरामि' प्राप्ति से लेकर 'ज च न पडिक्कमामि' तक के सूत्रांश का सम्बन्ध 'तत्तल्ल सट्ठपरसस दवमियत्तल्ल अट्ठवारसस पडिक्कमामि' से है। अतः समरा मिलकर अर्थ होता है जिनका स्मरण करता हूँ, जिनका स्मरण नहीं करता हूँ, जिनका प्रतिजमण करता हूँ, जिनका प्रतिजमण नहीं करता हूँ, उन सब दैवसिद्ध अतिचारोंका प्रतिजमण करता हूँ।

१ 'धातिकर्मोदयत्त सल्लिनमामेवित्त पडिक्कमामि मिच्छा दुक्क-
हादिवा ।'—आवरण चूर्णि'

प्रश्न है कि भिन्नका प्रतिक्रमण करता हूँ, फिर भी उनका प्रतिक्रमण करता हूँ—इसका क्या अर्थ ? प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण करना कुछ समझ में नहीं आता ?

आचार्य जिनदान ऊपर की शंका का बहुत सुन्दर समाधान करते हैं। आप पण्डिकमामि का अर्थ परिहरामि करते हैं और कहते हैं—‘शारीरिक दुर्बलता आदि किन्हीं विशेष परिस्थितिवश यदि मैंने करने योग्य सत्कार्य छोड़ दिया हो—न किया हो, और न करने योग्य कार्य किया हो तो उस सब अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ।’ देखिए, आवश्यक चूरीं “संशयणादि दौर्बल्यादिना जं पण्डिकमामि—परिहरामि करणिञ्जं, जं च न पण्डिकमामि अकरणिञ्जं।”

आत्म-समुत्कीर्तन

‘समणोऽहं संजय-विरथ.....मायामोसच्चिज्जिओ’ यह सूत्रांश आत्म-समुत्कीर्तनपरक है। “मैं धमण हूँ, संयत-विरत-प्रतिदत्त-प्रत्याख्यात पापकर्मा हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिमम्य हूँ, और मायामृपा-विवर्जित हूँ”—यह कितना उदात्त, आंजस्वी अन्ननाद है ! अग्ने सदाचार के प्रति कितनी स्वाभिमान पूर्ण गम्भीर वाणी है। सम्भव है किसी को इसमें अहंकार की गन्ध आए ! परन्तु वह अहंकार अप्रशस्त नहीं, प्रशस्त है। आत्मिक दुर्बलता का निराकरण करने के लिए साधक को ऐसा स्वाभिमान सदा सर्वदा प्राप्त है, आदरणीय है। इतनी उच्च संकल्प भूमि पर पहुँचा हुआ साधक ही यह विचार कर सकता है कि ‘मैं इतना ऊँचा एवं महान् साधक हूँ, फिर भला अकुशल पापकर्म का आचरण कैसे कर सकता हूँ ?’ यह है वह आत्माभिमान, जो साधक को पापाचरण से बचाता है, अवश्य बचाता है ! यह है वह आत्मसमुत्कीर्तन, जो

१ ‘परिसो यं हो तो कहां पुण अकुशलमायरिस्सं ?’ आचार्य जिनदास

साधक को धर्माचरण के निष्पन्न प्रत्यक्ष स्मृति देना है, और देता है प्रत्यक्ष ज्ञान देना ।

आइए अब कुछ विशेष शब्दों पर विचार कर लें । 'धर्म' शब्द में साधना व प्रति निरन्तर जगत्सुखा, साधनाना एव प्रयत्नशीला का भाव रहा हुआ है । 'म धर्म' हूँ अर्थात् साधना के लिए कठोर धर्म करने वाला हूँ । मुझे जो कुछ पाना है, अपने धर्म अर्थात् पुरुषार्थ व द्वारा ही पाना है । अब मैं समय के लिए अतीत में प्रतिद्वन्द्व धर्म करता रहा हूँ । वर्तमान में धर्म कर रहा हूँ और भविष्य में भी धर्म करता रहूँगा । यह है वह निराद्वैत आध्यात्मिक धर्म—साधना, जो धर्मग शब्द से प्रनिर्दिष्ट होती है ।

समय का अर्थ है—'समय में सम्यक् चरन करने वाला ।' अहिंसा, सत्य आदि कर्तव्यों में साधक को मटेव सम्यक् प्रयत्न करते रहना चाहिए । यह समय की साधना का भावात्मक रूप है । "संयतो—समं ज्ञो, करणीयेषु जोनेषु सम्यक् प्रयत्नपर इत्यर्थः ।"—आश्विन्यक चूर्ति

विरत का अर्थ है—मग्न प्रकार के साधन योग से विरति = निवृत्ति करने वाला । जो समय की साधना करना चाहता है, उसे अमदाचरण रूप समस्त साधन प्रयत्नों से निवृत्त होना ही चाहिए । यह नहीं हो सक्ता कि एक ओर समय की साधना करते रहें और दूसरी ओर सामाजिक साधन पाप कर्मों में भी मलग्न रहें । समय और असमय में परस्पर विरोध है । इतन्मू निरोध है कि दोनों तीन काल में भी कभी एकत्र नहीं रह सकते । यह साधना का निषेधात्मक रूप है । 'एगमो विरदं कुम्भा, एगमो य पवतश्च'—उत्तराध्यायन सूत्र के उक्त वचन के अनुसार असमय में निवृत्ति और समय में प्रवृत्ति करने से ही साधना का वास्तविक रूप स्पष्ट होता है ।

प्रतिद्वन्द्व प्रत्यापत्त पापकर्मों का अर्थ है—'भूतकाल में किए गए पाप कर्मों की निन्दा एवं गर्हा के द्वारा प्रतिद्वन्द्व करने वाला और वर्तमान

तथा भविष्य में होने वाले पाप कर्मों को अकरणतारूप प्रत्याख्यान के द्वारा प्रत्याख्यात करने वाला ।' यह विशेषण साधक की त्रैकालिक जीवन शुद्धि का प्रतीक है । मच्चा साधक वही साधक है, जो अपने जीवन के तीनों कालों में से अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान में से, पाप कालिमा को धोकर साफ कर देता है । वह न वर्तमान में पाप करता है, न भविष्यत में करेगा और न भूतकाल के पापों को ही जीवन के किसी अंग में लगा रहने देगा । उसे पाप कर्मों से लड़ना है । केवल वर्तमान में ही नहीं, अपितु भूत और भविष्यत् में भी लड़ना है । साधना का अर्थ ही पाप कर्मों पर त्रिकालविजयी होना है ।

प्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य जिनदास लिखते हैं—'पडिहत्तं अतीतं शिंदण-गरहणादीहिं, पच्चवखातं सेसं अकरणतया पावकम्मं पावाचारं येण स तथा ।'

अनिदान का अर्थ होता है—निदान से रहित अर्थात् निदान का परिहार करने वाला । निदान का अर्थ आसक्ति है । साधना के लिए किसी प्रकार की भी भोगासक्ति जहरीला कीड़ा है । कितनी ही बड़ी ऊँची साधना हां, यदि भोगासक्ति है तो वह उसे अन्दर ही अन्दर खोखला कर देती है सड़ा-गला देती है । अतः साधक घोषणा करता है कि "मम श्रमण हूँ, अनिदान हूँ । न मुझे इस लोक की आसक्ति है, और न परलोक की । न मुझे देवताओं का वैभव ललचा सकता है और न किसी चक्रवर्ती सम्राट का विशाल साम्राज्य ही । इस विराट संसार में मेरी कहीं भी कामना नहीं है । न मुझे दुःख से भय है और न सुख से मोह । अतः मेरा मन न काँटों में उलझ सकता है और न फूलों में । मैं साधक हूँ । अस्तु, मेरा एकमात्र लक्ष्य मेरी अपनी साधना है, अन्य कुछ नहीं । मेरा ध्येय व्रन्वन नहीं, प्रत्युत व्रन्वन से मुक्ति है ।"

जैन संस्कृति का यह आदर्श कितना महत्त्वपूर्ण है ! अनिदान शब्द के द्वारा जैन साधना का ध्येय स्पष्ट हो जाता है । जो साधक अपने लिए कोई सांसारिक निदान सम्बन्धी ध्येय निश्चित करते हैं, वे पथ भ्रष्ट हुए

बिना नहीं रह सकते। अभिमान साधक ही पथ भ्रष्ट होने से बचने है और स्वीकृत साधना पर दृढ़ रहकर कर्म जगत् में आने को भक्त कर्म है।

दक्षिणमन्त्र का अर्थ है—'सम्पद्दर्शन रूप शुद्ध दृष्टि वाला।' साधक के लिए शुद्ध दृष्टि होना आवश्यक है। यदि सम्पद् दर्शन न हो, शुद्ध दृष्टि न हो, तो शिवादि का विवेक कैसे होगा? धर्म धर्म का सम्पद्-दर्शन कैसे होगा? सम्पद् दर्शन ही वाऽ निर्मल दृष्टि है, जिसके द्वारा ममार को ममार के रूप में, मोक्ष को मोक्ष के रूप में, ममार के कारणों को ममार के कारणों के रूप में, मोक्ष के कारणों को मोक्ष के कारणों के रूप में, अर्थात् धर्म को धर्म के रूप में और अधर्म को अधर्म के रूप में देखा जा सकता है। आचार्य विनयास इसी लिए 'दिद्वि सम्पन्नो' का अर्थ 'सर्वगुणमूल भूतगुण शुद्ध' करते हैं। 'सम्पद्दर्शन' धन्यता सर गुणों का मूलभूत गुण है।

जब तक सम्पद् दर्शन का प्रकाश विद्यमान है, तब तक साधक को इधर-उधर भटकने का पथ भ्रष्ट होने का कोई भार नहीं है। मिथ्यादर्शन ही साधक को नीचे गिराता है, इधर-उधर के प्रलोभनों में उलझता है। सम्पद्दर्शन का लक्ष्य जहाँ बन्धन से मुक्ति है, वहाँ मिथ्यादर्शन का लक्ष्य स्वयं बन्धन है। भोगासक्ति है, ससार है। अतएव धर्मज्ञ जब यह कहता है कि मैं दक्षिणमन्त्र हूँ, तब उसका अभिप्राय यह होता है कि "मैं मिथ्यादृष्टि नहीं हूँ, सम्पद् दृष्टि हूँ। मैं सत्त्व को सत्य और असत्य को असत्य समझता हूँ मेरे समक्ष ससार एवं मोक्ष का रूप लेकर नहीं आ सकता, बन्धन मोक्ष नहीं हो सकता। मेरी विवेक दृष्टि इतनी पैनी है कि मुझे अज्ञान, सधर्म का बान्धन पहन कर, अधर्म, धर्म का रूप बनाकर, धोखा नहीं दे सकता। मैं प्रकाश में विचरण करने के लिए हूँ। मैं अधमर भ क्यों भटक्ूँ और दीवारों से क्यों टकराऊँ? क्या मेरे आँख नहीं हैं? अनन्त काल से भटकते हुए इस अंधे ने आँख पा ली है। अतः

अब वह नहीं भटकेगा। स्वयं तो क्या भटकेगा, दूसरे अंधों को भी भटकने से बचाएगा। सम्यग्दर्शन का प्रकाश ही ऐसा है।”

माया-मृग-विवर्जित का अर्थ है— नायामृग से रहित,।’ मायामृग साधक के लिए बड़ा ही भयंकर पाप है। जैन धर्म में इसे शत्रु कहा है। यह साधक के जीवन में यदि एक बार भी प्रवेश कर लेता है तो फिर वह कहीं का नहीं रहता। भूल को छुपाने की वृत्ति, पिछले पापों को भी साफ नहीं होने देती और आगे के लिए अधिकाधिक पापों को निमंत्रण देती है। जो साधक झूठ बोल सकता है, झूठ भी वह, जिसके गर्भ में माया रही हुई हो, भला वह क्या साधना करेगा? माया मृग-वादी, साधक नहीं होता, ठग होता है। वह धर्म के नाम पर अधर्म करता है, धर्म का ढोंग रचता है।

यह प्रतिक्रमण-सूत्र है। अतः प्रतिक्रमणकर्ता साधक कहता है कि “मैं श्रमण हूँ। मैंने माया और मृगवाद का मार्ग छोड़ दिया है। मेरे मन में छुपाने जैसी कोई बात नहीं है। मेरी जीवन-पुस्तक का हर एक पृष्ठ खुला है, कोई भी उसे पढ़ सकता है। मैंने साधना पथ पर चलते हुए जो भूलों की हैं, गलतियों की हैं, मैंने उनको छुपाया नहीं है। जहाँ कुछ दोष थे, साफ-साफ कह दिए हैं। भविष्य में भी मैं ऐसा ही रहूँगा। पाप छुपना चाहता है, मैं उसे छुपाने नहीं दूँगा। पाप सत्य से चुँधियात है, अतः असत्य का आश्रय लेता है, माया के अन्धकार में छुपता है, परन्तु मैं इस सम्बन्ध में बड़ा कठोर हूँ, निर्दय हूँ। न मैं पिछले पापों को छुपाने दूँगा, और न भविष्य के पापों को। पाप आते हैं माया के द्वार से, मृगवाद के द्वार से। और मैंने इन द्वारों को बंद कर दिया है। अब भविष्य में पाप आएँ तो किधर से आएँ? पिछले पाप भी माया-मृग के आश्रय में ही रहते हैं। अस्तु ज्यों ही मैं भगवान् सत्य के आगे खड़ा होकर पापों की आलोचना करता हूँ, त्यों ही वस पापों में भगदड़ मचजाती है। क्या मजाल, जो एक भी खड़ा रह जाय।” यह है वह उदात्त भावना, जो मायामृग-विवर्जित की पृष्ठभूमि में रही हुई है।

महयात्रियों को नमस्कार

प्रभुन प्रणिजा गुरु के प्रारंभ में मोक्षमार्ग के उद्देश्य धर्म तीर्थगों को नमस्कार किया गया था। उन नमस्कार में गुरुओं के प्रति बहुमान था, हुनहता की अभिव्यक्ति थी, परिणामनिशुद्धि का स्थिरीकरण था, और था सम्पूर्णदर्शन की शुद्धि का भाव, नमोन आस्थाविनश्वर शक्ति एवं चेतना का भाव। अब प्रभुन नमस्कार में, उन महयात्रियों को नमस्कार किया गया है, जो मातु और माप्पी के रूप में माधनागध पर चल रहे हैं, समय की आराधना कर रहे हैं, एवं कथनमुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। यह नमस्कार मुक्तानुमोदन रूप है, साधियों के प्रति बहुमान का प्रदर्शन है। पूर्ण नमस्कार साधन से निद्र पर पहुँचे गुरुओं को था, अतः यह सहज भाव में किया जा सकता है। परन्तु अपने जैसे ही साथी गत्रियों को नमस्कार करना सहज नहीं है। यहाँ अभिमान से मुक्ति प्राप्त हुए बिना नमस्कार नहीं हो सकता।

जैन धर्म विनय का धर्म है, गुणरक्षणी धर्म है। यहाँ और कुछ नहीं पूछा जाना, केवल गुण पूछा जाना है। निद्र हो अपना साधन ही, कोई भी ही। गुरुओं के सामने झुक जाओ, बहुमान करो—यह है हमारा चिरन्तन आदर्श। समयक्षेत्र के सभी छोटे बड़े साधन, फिर वे भले ही पूर्य हो—श्री ही, सब नमस्करणीय हैं आदरणीय हैं, यह भाव है प्रभुन नमस्कार का। अपने महधर्मियों के प्रति कितना अधिक विनम्र रहना चाहिए, यह आज के संप्रदायवादी साधुआ को सीखने जैसी चीज है। आज की साधुता अपने संप्रदाय में है, अपनी गणधरी में है। अपने साधुता को बिना जाने काका विनाश नमस्कार भी संप्रदायवाद के लुप्त धरे में अग्रदूत हो जाना है। समस्त मानवक्षेत्र के साधनों को नमस्कार का विधान करने वाला विनाश धर्म, इतना लुप्त हृदय भी बन सकता है ? आश्चर्य है।

जम्बू द्वीप, पातली सरपट और अर्ध पुण्ड्र द्वीप तथा लवण एवं कालोदधि समुद्र—यह अर्ध द्वीपसमुद्र—परिमित मानव क्षेत्र है। भ्रमण

धर्म की साधना का यही क्षेत्र माना जाता है। आगे के क्षेत्रों में न मनुष्य हैं और न श्रमणधर्म की साधना है। अस्तु, अन्तिम दो गाथाओं में अर्द्ध द्वीप के मानव क्षेत्र में जो भी साधु-साध्वी हैं, सबको मस्तक झुकाकर वन्दन किया गया है।

प्रथम गाथा में रजोहरण, गोच्छ्रक एवं प्रतिग्रह = पात्र आदि द्रव्य साधु के चिह्न बताए हैं। और आगे की गाथा में पाँच महाव्रत आदि भाव साधु के गुण कहे गए हैं। जो द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से साधुता की मर्यादा से युक्त हों, वे सब वन्दनीय मुनि हैं। द्रव्य के वाद भाव का उल्लेख, भाव साधुता का महत्त्व बताने के लिए है। द्रव्य साधुता न हो और केवल भावसाधुता हो, तब भी वह वन्दनीय है; परन्तु भाव के बिना केवल द्रव्य-साधुता कथमपि वन्दनीय नहीं हो सकती। अटारह हजार शील अंगों की व्याख्या के लिए अवतरणिका उठाते हुए आचार्य हरिभद्र यही सूचना करते हैं कि—“एकाङ्ग विकल-प्रत्येक बुद्धादिसंग्रहाय अष्टादशशीलसहस्रधारिणः, तथाहि—केचिद् मगवन्तो रजोहरणादिधारिणो न भवन्त्यपि।”

अटारह हजार-शील

‘शील’ का अर्थ ‘आचार’ है। भेदानुभेद की दृष्टि से आचार के अटारह हजार प्रकार होते हैं। क्षमा, निलोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य—यह दश प्रकार का श्रमण-धर्म है। दशविध श्रमण धर्म के धर्ता मुनि, पाँच स्थावर, चार वस और एक अजीव—इस प्रकार दश की विराधना नहीं करते।

अस्तु, दशविध श्रमण धर्म को पृथ्वी काय आदि दश की अविराधना से गुणन करने पर १०० भेद हो जाते हैं। पाँच इन्द्रियों के वश में पड़कर ही मानव पृथिवी काय आदि दश की विराधना करता है; अतः सो को पाँच इन्द्रियों के विजय से गुणन करने पर ५०० भेद होते हैं। पुनः आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—उक्त चार संज्ञाओं के निरोध से पूर्वोक्त पाँच सौ भेदों को गुणन करने से दो हजार भेद होते हैं। दो हजार

को 'मन, वचन और काय' उक्त तीन दण्डों के निमित्त में तीनों गुण धरने पर छह हजार भेद होने हैं। पुनः छह हजार को कर्मा, कर्मा और अनुभासन उक्त तीनों से गुणन होने पर पुनः अठारह हजार शीघ्र के भेद होने हैं। आचार्य हरिभद्र हम सम्प्रदाय में एक प्राचीन गाथा उद्धृत करते हैं—

जो ए करण सन्ना,
इंदिय भोमाइ गमल धम्मे य ।
मीलंग-महस्माणं,
अइठार सगस्म निष्फत्ती ॥

शिरसा, मनसा, मन्तकेन

प्रस्तुत सूत्र में 'शिरसा मणसा मन्तकेन वंदामि' पाठ आता है। हमका अर्थ है 'शिर से, मन से और मन्तक से वन्दना करता हूँ।' प्रश्न होता है कि शिर और मन्तक तो एक ही हैं, फिर यह पुनरुक्ति क्यों ? उत्तर में निवेदन है नि-शिर, समस्त शरीर में मुख्य है। अतः शिर से वन्दन करने का अभिप्राय है—शरीर से वन्दन करना। मन अन्त करण है, अतः यह मानसिक वन्दना का बोधक है। 'म मणस' वंदामि का अर्थ है—'मन्तक मुझपर वन्दन' करता हूँ, यह वाचिक वन्दना का रूप है। अस्तु मानसिक वाचिक और वाचिक त्रिविध वन्दना का स्वरूप निर्देश होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

प्रस्तुत पाठ के उक्त अर्थ की अर्थात् 'तेसठे शिरसा मणसा मन्तकेन वंदामि' की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदास भी यही स्पष्टीकरण करते हैं—“ते इडि साधव”, सत्वेत्ति गच्छन्निगत गच्छवासी

१—आचार्य हरिभद्र हत, करितादि करण से पहले गुणन करते हैं, और मन वचन आदि योग से बाद में।

पत्तेय बुद्धादयो । सिरसा इति कायजोगेण, मत्थएण वंदामिति एस
एव वड्ढजोगो ।”

पाठान्तर

प्रस्तुत पाठ का अन्तिम अंश ‘अट्ठाइजेसु’ आदि को कुछ
आचार्य गाथा के रूप में लिखते हैं और कुछ गद्यरूप में । कुछ
जावन्त कहते हैं और कुछ जावन्ति । ‘पडिग्गह धारा’ आदि में आचार्य
जिनदास सर्वत्र ‘धरा’ का प्रयोग करते हैं और आचार्य हरिभद्र आदि
‘धारा’ का । आचार्य हरिभद्र ‘अट्ठार सहस्स सीलंग धारा’ लिखते हैं
और आचार्य जिनदास ‘अट्ठारस सीलंग-सहस्सेधरा ।’ कुछ प्रतियों में
रथवाचक रहे शब्द बढ़ाकर ‘अट्ठार सहस्स सीलंग रह धारा’ भी
लिखा मिलता है । आचार्य जिनदास ने ‘आवश्यक-चूणि’ में अपने
समय के कुछ और भी पाठान्तरों का उल्लेख किया है—“केइ पुण
सुसुहपदं गोच्छं पडिग्गहपदं च न पठंति, अएणे पुण अट्ठाइजेसु
दीसु दीवससुदेसु पठंति, एत्थ विभांसा कातव्वा ।”

: ३० :

छामणा-सूत्र

(१)

आयरिय - उवज्झाए,
सीसे साहम्मिए कुलगाये अ ।
जे मे केइ कयाया,
सज्ये तिबिहेण खामेमि ॥

(२)

सज्जरूप समणसंघस्स,
भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सुअं समावइत्ता,
एमामि सज्जस्म अहर्यं पि ॥

(३)

खामेमि सज्जजीवे,
सज्ये जीआ एमंतु मे ।
मेत्ती मे सज्जभूएसु,^१
वेरं मज्झं न केण्ह ॥

१ सम्यं जीवेसु, इति विनयास महत्तयः ।

शब्दार्थ

(१)

आचार्य = आचार्य पर

उपज्झाए = उपाध्याय पर

मीसे = शिष्य पर

साहम्मिए = साधर्मिक पर

कुल = कुल पर

गणे = गण पर

मे = मैंने

जे = जो

केइ = कोई

कसाया = कपाय किए हों

सव्वे = उन सबको

तिविहेण = त्रिविध रूप से

खामेमि = क्षमाता हूँ ।

(२)

सीसे = शिर पर

अञ्जलिं = अञ्जलि

करिअ = करके

भगवत्थो = पूज्य

सव्वस्स = सब

समण संघस्स = श्रमण संघ से

(अपने)

सव्वं = सब अपराध को

खमावइत्ता = क्षमा कराकर

अहयंपि = मैं भी

सव्वस्स = (उनके) सब अपराध को

खमामि = क्षमा करता हूँ ।

(३)

सव्व = सब

जीवे = जीवों को

खामेमि = क्षमा करता हूँ

सव्वे = सब

जीवा = जीव

मे = मुझे

खमंतु = क्षमा करें

सव्वभूएसु = सब जीवों पर

मे = मेरी

मेत्ती = मित्रता है

केणइ = किसी के साथ

मज्झं = मेरा

वेरं = वैरभाव

न = नहीं है ।

भावार्थ

आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक-कुल और गण; इनके ऊपर मैंने जो कुछ भी कपाय भाव किए हों, उन सब दुराचरणों की मैं मन, वचन और काय से क्षमा चाहता हूँ ॥ १ ॥

अज्जजिण्ह दोनों हाथ जोड़कर समस्त पृथ्वी मुनिसत्त्व से मैं अपने सव अपराधों की क्षमा चाहना हूँ और मैं भी उनका प्रेति क्षमाभाव करता हूँ ॥ २ ॥

मैं सब जीवों की क्षमा करता हूँ और ये सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ पूर्ण मैत्री = मित्रता है, किसी के साथ भी मेरा वैर-विरोध नहीं है ॥ ३ ॥

विश्लेषण

क्षमा, मनुष्य की स्वतः से नहीं शक्ति है। मनुष्य की मनुष्यता के पूर्ण दर्शन भगवन् की क्षमा में ही होती है। यह मनुष्य क्या, जो अणु जरासी बाल पर उनका पड़ता हो, लड़ाई मलका टानता हो, वैर-विरोध करता हो ? उसमें और पशु में एक आदृष्टि के सिवा और कान-सा अन्तर रह जाता है ? वैर-विरोध की, क्रोध-द्वेष की वह भयंकर अग्नि है, जो अपने और दूसरों के सभी सदगुणों को भस्म कर जाचती है। क्षमाहीन मनुष्य का शरीर एड़ी से चोरी तक प्रचण्ड मोषाग्नि से अल उड़ता है, नेत्र ध्वान्नेय धन जाते हैं, रक्त गर्म पानी की तरह लललने लगता है।

क्षमा का अर्थ है—‘सहनशीलता रखना।’ किसी के किए अपराधों को अन्तर्द्वेष में भी भुल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर कुछ भी लक्ष्य न देना, मैत्रुण अपराधों पर अनुराग और धैर्य का मधुर भाव रखना, क्षमा धर्म की उत्कृष्ट विशेषता है। क्षमा के बिना मानवता बन ही नहीं सकती।

अहिंसा मूर्त क्षमावीर न स्वयं किसी का शत्रु है और न कोई उसका शत्रु है, न उससे किसी को भय है और न उससे किसी से भय है “यस्माच्छोद्धृजते लोको लोक्कच्छोद्धृजते च यः।” वह जहाँ कहीं भी रहेगा, प्रेम और स्नेह की साक्षी मूर्ति बन कर रहेगा। उसके मधुर हास्य में विलक्षण शक्ति का प्रामास मिलेगा। भीयुत शिपक्रीलाज धर्मन के शब्दों में—“जैसे सूर्य मरुतल से चारों ओर शुभ ज्योति की किरणें होनी रहती

है, वैसे ही उससे, उसके स्वरूप से, उसकी छाया से और उसकी साँस-साँस से दशो दिशाओं में आनन्द, मंगल और सुख शान्ति की अमृत धाराएँ हर समय प्रवाहित होती रहती हैं एवं संसार को स्वर्ग-मदश बनाती रहती हैं ।”

जैन-धर्म, आज के धार्मिक जगत में जमा का सबसे बड़ा पक्ष-पाती है। जैन-धर्म को यदि जमा-धर्म कहा जाय तो यह सत्य का अधिक स्पष्टीकरण होगा। जैनो का प्रत्येक पर्व = उत्सव जमा धर्म से ओत प्रोत है। जैन धर्म का कहना है कि तुम अपने विरोधी के प्रति भी उदार, सहृदय, शान्त बनो। भूल हो जाना मनुष्य का प्रमाद-जन्य स्वभाव है; अतः किसी के अपराध को गॉट ब्रॉथ कर हृदय में रखना, धार्मिक मनोवृत्ति, नहीं है। जैन-धर्म की साधना में अहोरात्र में दो बार सायंकाल और प्रातः काल—प्रत्येक प्राणी से जमा माँगनी होती है। चाहे किसी ने तुम्हारा अपराध किया हो, अथवा तुमने किसी का अपराध किया हो; विशुद्ध हृदय से स्वयं जमा करो और दूसरों से जमा कराओ। न तुम्हारे हृदय में द्वेष की ज्वाला रहे और न दूसरे के हृदय में, यह कितना सुन्दर स्नेह पूर्ण जीवन होगा !

जमा के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। उग्र-से उग्र-क्रिया काण्ड, दीर्घ से दीर्घ तपश्चरण, जमा के अभाव में केवल देहदण्ड ही होता है; उससे आत्मकल्याण तनिक भी नहीं हो सकता। ईसामसीह ने भी एक बार कहा था—“तुम अपनी आहुति चढ़ाने देव मन्दिर में जाते हो और वहाँ द्वार पर पहुँच कर यदि तुम्हें याद आ जाय कि तुम्हारा अमुक पड़ोसी से मन मुड़ाव है तो तुम आहुति वहीं देवमन्दिर के द्वार पर छोड़ी और वापस जाकर अपने पड़ोसी से जमा माँगो। पड़ोसी से मैत्री करने के बाद ही देवता को भेंट चढ़ानी चाहिए ।” कितना ऊँचा एवं भव्य आदर्श है ? जब तक हृदय जमा-भाव से कोमल न हो जाय, तब तक उसमें धर्मकल्याण का मृदु अंकुर किस प्रकार अंकुरित हो सकता है ?

परिणाम की ममानि पर प्रभु का ज्ञानमूल परते समय इस मायके दो न दोष होकर समा याचना करने के लिए गया होता है, तब किन्ना मुझ योनि का हरण होता है ? अपने चारों ओर अस्थिर संसार के समान छोटे बड़े प्राणिमों से मद् मद् होकर समा माँगना हुआ मायक, वस्तुतः मानस की गवोत्कृष्ट भूमिका पर पहुँच जाता है। किन्नी नष्टा है ! गुरुत्वों से तो समा माँगना ही है, किन्तु छानने से छोटे शिष्य आदि से भी समा याचना करता है। उस समय उनके हृदय से छोटे बड़े का भेद मिलन हो जाता है और अग्नि मिश्र मिश्र के रूप में छाँवों के समान उगमन हो जाता है। इस प्रकार समा याचना की साधना से अराग्यों के गहरार जाने रहते हैं, और मन पावों के मार में महता हल्ला हो जाता है। तब से हमारे अहंकार का नाश होता है और हृदय में उदार मानस का आकाशमित्र पुनः गिन उठता है। अपने हृदय को निर्दोष बना लेना ही समा याचना का उद्देश है। हमारी ज्ञान में विधमैत्री का आदर्श रहा हुआ है। और यह विधमैत्री का जीवन का प्राण है।

कल्याणमूर्ति भगवान् महावीर, समा पर अत्यधिक पल देते हैं। भगवान् की समा का आदर्श है कि तुमने दूसरे के हृदय को किसी भी प्रकार की चोट पहुँचाई हो, दूसरे के हृदय में किसी भी प्रकार की कलुषता उत्पन्न की हो, अथवा दूसरे की आर में अपने हृदय में वैर-विरोध एवं कलुषता के भाव पैदा किए हों, तो उक्त वैरविरोध तथा कलुषता को समा के आदान प्रदान द्वारा तुरन्त छोड़कर भाव कर दो। वैर विरोध की कालिमा को जरा-सी देर के लिए भी हृदय में न रहने दो। बृहत्सहस्रनाम में भगवान् महावीर का अमण्डल के प्रति संकीर्ण एवं मर्मरंशों संदेश है कि—'यदि अमण्डल में किसी से किसी प्रकार का कलह हो जाय तो तब तक परस्पर समा न माँग ले तब तक आहार पानी लेने नहीं आ सकते, शौच नहीं आ सकते, स्नायनाय भी नहीं कर सकते।' समा के लिए किन्ना बटोर अनुशासन है। आज के कलहमित्र साधु,

जरा इस ओर लक्ष्य दें तो श्रमण-संघ का कितना अधिक अभ्युदय एवं आत्म-कल्याण हो ।

जमा प्रार्थना करते समय अपने आपको इस प्रकार उदात्त एवं मधुर भावना में रखना चाहिए कि—हे विश्व के समस्त त्रस स्थावक जीवों ! हम तुम सब आत्म-दृष्टि से एक ही हैं, समान ही हैं । वह जो कुछ भी बाह्य विरोधता है, विषमता है, वह सब कर्म जन्य है, स्वरूपतः नहीं । बाह्य भेदों को लेकर क्यों हम परस्पर एक दूसरे के प्रति द्वेष घृणा, अपमान तथा वैर-विरोध करें । हम सब को तो सदा सर्वदा आत्म-भाव एवं स्नेहभाव ही रखना चाहिए । अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए मैं तुम्हारे संसर्ग में अनन्त बार आया हूँ और उस संसर्ग में स्वाध्याय से, क्रोध से, अविचार से, अहंकार से, द्वेष से, किसी भी प्रकार से किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक तथा कायिक पीड़ा पहुँचाई हो तो उजड़ने के लिए अन्तःकरण से क्षमायाचना करता हूँ । मेरी हृदय से यह भावना है—

शिवमस्तु सर्व - जगतः,

पर-हित-निरता भवन्तु भूतगणाः ।

दोषाः प्रयान्तु नाशं,

सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

प्रश्न है कि 'सन्वे जीवा खमंतु' क्यों कहा जाता है ? सब जीवों को मुझे क्षमा करें, इसका क्या अभिप्राय है ? वे क्षमा करें या न करें, हम इससे क्या ? हमें तो अपनी ओर से क्षमा माँग लेनी चाहिए ।

समाधान है कि प्रस्तुत पाठ में करुणा का अपार सागर तरंगित हो रहा है । कौन जीव कहाँ है ? कौन क्षमा कर रहा है कौन नहीं ? कुछ पता नहीं । फिर भी अपने हृदय की करुणा भावना है कि मुझे सब जीव क्षमा करा दें । क्षमा करा दें तो उनकी आत्मा भी मोक्षित होगी ।

: ३१ :

उपसंहार-सूत्र

एवमहं आलोइअ,
निंदिय गरहिअ दुगुंछिउं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो,
पंदामि जिणे चउव्वीसं ॥

शब्दार्थ

एवं = इस प्रकार

अहं = मैं

सम्मं = अच्छी तरह

आलोइअ = आलोचना करके

निंदिय = निन्दा करके

गरहिअ = गर्हा करके

दुगुंछिउं = जुगुप्सा करके

तिविहेण = तीन प्रकार से

पडिक्कंतो = पाप कर्म से निवृत्त
होकर

चउव्वीसं = चौबीस

जिणे = जिन देवों को

वंदामि = वन्दना करता हूँ

भावार्थ

इस प्रकार मैं सम्यक् आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काय से प्रतिक्रमण कर पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थंकर देवों को वन्दन करता हूँ।

विश्लेषण

यह उत्तमोत्तम-पुत्र है। प्रतिभामय के द्वारा जीवनशुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाने से आत्मा आध्यात्मिक अभ्युदय के शिखर पर आरुढ़ हो जाता है। जब तक हम अपने जीवन का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण नहीं करेंगे, अपनी भूलों के प्रति पश्चात्ताप नहीं करेंगे, मरिच्य के लिए सदाचार के प्रति अचल सक्ल नहीं करेंगे; तब तक हम मानव जीवन में कदापि आध्यात्मिक उत्थान नहीं कर सकेगे। हमारे पतन के बीच, भूलों के प्रति उपेक्षाभाव रखने में रहे हुए हैं।

भूलों के प्रति पश्चात्ताप का नाम जैव परिभाषा में प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण मन, वचन और शरीर तीनों के द्वारा किया जाता है। मानव के पास तीन ही शक्तियाँ ऐसी हैं जो उसे बन्धन में डालती हैं और बन्धन से मुक्त भी करती हैं। मन वचन और शरीर से बंधे गए पा। मन, वचन और शरीर के द्वारा ही क्षीय एवं नष्ट भी होते हैं। रग-रूप से दूषित मन, वचन और शरीर बन्धन के लिए होते हैं, और ये ही भीतराग परिणति के द्वारा कर्म बन्धनों से सश के लिए मुक्ति भी प्रदान करते हैं।

आलोचना का भाव अजीब गंभीर है। निशीथ चूर्चिकार जिनदास गण्डि कहते हैं कि—“जिस प्रकार अपनी भूलों को, अपनी बुराइयों को तुम स्वयं स्वयं के साथ जानते हो, उसी प्रकार स्वयं-पूर्व के दुष्ट भी न छुगते हुए गुह्य के समक्ष का त्यों प्रकट कर देना आलोचना है।” यह आलोचना करना, मानासमान की दुनिया में घूमने वाले माधारण मानव का काम नहीं है। जो सचक दृढ़ होगा, आत्मार्थी होगा, जीवन शुद्धि की ही चिन्ता रखता होगा, उही आलोचना के इस दुर्मम पथ पर अग्रसर हो सक्ता है।

निन्दा का अर्थ है—आत्म मात्मी से अपने मन में अपने पापों की निन्दा करना। गर्हा का अर्थ है—गर की मात्मी से अपने पापों की बुराई करना। जुगुप्सा का अर्थ है—पापों के प्रति पूर्ण वृत्ता भाव व्यक्त करना।

जब तक पापाचार के प्रति घृणा न हो, तब तक मनुष्य उससे बच नहीं सकता । पापाचार के प्रति उत्कट घृणा रखना ही पापों से बचने का एक मात्र अस्खलित मार्ग है । अतः आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा किया जाने वाला प्रतिक्रमण ही सच्चा प्रतिक्रमण है ।

आचार्य जिनदास प्रस्तुत उपसंहार सूत्र में एवं के बाद 'अहं' का उल्लेख नहीं करते । और आलोक्ष्य, निन्द्य आदि में क्त्वा प्रत्यय भी नहीं मानते, जिसका अर्थ 'करके' किया जाता है । जैसे आलोचना करके, निन्दा करके इत्यादि । आचार्य श्री इन सब पदों को निष्ठान्त मानते हैं, फलतः उनके उल्लेखानुसार अर्थ होता है—मैंने आलोचना की है, निन्दा की है, गर्हा की है इत्यादि । दुगुंछा का अर्थ भी स्वतंत्र नहीं करते । अपितु आलोचना, निन्दा और गर्हा को ही दुगुंछा कहते हैं । देखिए आवश्यक चूर्णा प्रतिक्रमणाधिकार :—

“एवमिति अनेन प्रकारेण आलोक्ष्यं पयासितूष्णं गुरुणं कहितं, निन्द्यं मण्णेण पच्छातावो । गरहितं वइजोगेण । एवं आलोक्ष्यनिन्द्य-गरहियमेव दुगुंछितं । एवं तिवहेण जोगेण पडिक्खंतो वंदामि चउब्बीसं ति ।”

अन्त में चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार नंगलार्थक है । प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्ध हुआ साधक अन्त में अपने को तीर्थंकरों की शरण में अर्पण करता है और अन्तर्जल के रूपा में मानो करता है कि—“भगवन् ! मैंने आपकी आज्ञानुसार प्रतिक्रमण कर लिया है । आपकी सान्दी से बिना कुछ छुपाए पूर्ण निष्कपट भाव से आलोचना, निन्दा, गर्हा कर के शुद्ध हो गया हूँ । अब मैं आपके पवित्र चरणों में वन्दन करने का अधिकारी हूँ । आप अन्तर्यामी हैं । घट-घट की जानते हैं । आपसे मेरा कुछ छुपा हुआ नहीं है । अब मैं आपकी देख-रेख में भविष्य के लिए पवित्र संयम पथ पर चलने का दृढ़ प्रयत्न करूँगा ।”



प रि शि ष्ट

: १ :

द्वादशावर्त गुरुवन्दन-सूत्र

इच्छामि रामासमखो ! वंदितुं,
जगदिज्जा२ निसीहियाए ।
अणुजाखह मे भिउगह ।
निसीहि,
अहोकार्य काय-संफारस ।
रामणिज्जो मे फिलामो ।
अप्यकिलंतार्य बहुसुमेण मे दिक्सो वदस्सुतो ?
जत्ता मे ?
जगदिज्जं च मे ?
रामेमि रामासमखो ! देवसियं वस्सकर्म ।
आवस्सिया२ पडिक्कमामि-
रामासमखाणं देवसियाए आसायणा२
तित्तीसन्नयराए, जं किंचि मिच्छाए,
मणहुक्कडा२, वयहुक्कडाए, कायहुक्कडा२,

कोंहाए, माणाए, मायाए, लोभाए,
सव्वकालियाए, सव्वमिच्छोवयाराए,
सव्वधम्माइक्कमणाए, आसायणाए—
जो मे अइयारो कओ,

तस्स

खमासमणो !

पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि,

अप्पाणां वोसिरामि !

शब्दार्थ

[वन्दना की आज्ञा]

खमासमणो = हे [समाश्रमण !

जावणिजाए = यथा शक्रियुक्त

निसीहियाए = पाप क्रिया से निवृत्त

हुए शरीर से

वंदित = (आपको) वन्दना करना

इच्छामि = चाहता हूँ

[अवग्रह प्रवेश की आज्ञा]

मे = (अतः) मुझको

मिडग्गहं = परिमित अवग्रह की,

अर्थात् अवग्रह में कुछ

सोमा तक प्रवेश करने की

अणुजाणह = आज्ञा दीजिए

[गुरु की ओर से आज्ञा होने पर

गुरु के समीप बैठकर]

निसीहि = अशुभ क्रिया को रोककर

अहोकायं = (आपके) चरणों का

कायसंपासं = अपनी काय से

मस्तक से या हाथ

से स्पर्श [करता हूँ]

मे = (मेरे होने से) आपको

किलामो = जो बाधा हुई, वह

खमणिजो = चन्तव्य = क्षमा के योग्य ।

[कायिक कुशल की पृच्छा]

अप्यकिलंताणं = अल्प ग्लान वाले

मे = आपकी का

बहुसुभेण = बहुत आनन्द से

दिवसो = आज का दिन

वइक्कंतो = बीता ?

[संयमयात्रा की पृच्छा]

मे = आपकी

जत्ता = संयमयात्रा (निर्वाध है ?)

[यामनीय की वृद्धा]

न = और

मे = आपका शरीर

अनृज्ज = मन तथा इन्द्रियों
की पीड़ा से रहित है?

[गुह की ओर से एवं करने पर
स्वापराध की समायाचना]

उमासमणो = हे समाधमण !

देवसियं = (मे) दिवस सम्बन्धी

यदक्रम = अपने आपराध को

खानेमि = प्रिमाता हूँ

आवेस्मिं गए = चरु-करु रूप
आपराध किया
करने में जो भी विप
रीत अनुष्ठान हुआ
हो उससे

पटिकमामि = निरुक्त होता हूँ

[विशेष स्वीकरण]

उमासमाणाथ = आप समा धमण
की

देवमियाए = दिवस सम्बन्धी

नितीयन्नपराएत्तेतीस मे से किसी
भी

आसायणाए = आशातना के द्वारा

[आशातना के प्रसार]

उ किचि = जिस किसी भी

निन्द्याए = मिथ्या भाव से की हुई

मण्डुयडाए = दुष्ट मन से की हुई
चण्डुकडाए = दुष्ट वचन से की हुई
कायदुषडाए = शरीर की दुष्टोपाधों
से की हुई

कोडाए = क्रोध से की हुई

माणाए = मान से की हुई

मायाए = भावा से की हुई

लोमाए = लोभ से की हुई

सम्बालियाए = सब काल में की
हुई

सम्बमिन्दोवयाणाए = सब प्रकार के
मिथ्या भावों से पूर्ण

सन्नधम्मार्कमणाए = सब धर्मों
को उत्कर्षण करने वाली

आसायणाए = आशातना से

जे = जो भी

मे = मैंने

अइयारे = अतिचार

कओ = किया हो

तत्स = उसका

पटिकमामि = प्रतिक्रमण करता हूँ

निन्दामि = उसकी निन्दा करता हूँ

महिहामि = विशेष निन्दा करता हूँ

अप्पार्थ = आशातनाकारी अतीत
आत्मा का

बोमियामि = पूर्ण रूप से परित्याग
करता हूँ

भावार्थ

[१. इच्छा निवेदन स्थान]

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! मैं पाप प्रवृत्ति से अलग हटाए हुए अपने शरीर के द्वारा यथाशक्ति आपको वन्दन करना चाहता हूँ ।

[२. अनुज्ञापना स्थान]

अतएव मुझको अवग्रह मैं = आपके चारों ओर के शरीर-प्रमाण क्षेत्र में कुछ परिमित सीमा तक प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए ।

मैं अशुभ व्यापारों को हटाकर अपने मस्तक तथा हाथ से आपके चरण कमलों का सम्यग रूप से स्पर्श करता हूँ ।

चरण स्पर्श करते समय मेरे द्वारा आपको जो कुछ भी बाधा = पीड़ा हुई हो, उसके लिए क्षमा कीजिए ।

[३. शरीरयात्रा पृच्छा स्थान]

क्या ग्लानि रहित आपका आज का दिन बहुत आनन्द से व्यतीत हुआ ?

[४. संयमयात्रा पृच्छा स्थान]

क्या आपकी तप एव' संयम रूप यात्रा निर्बाध है ?

[५. संयम मार्ग में यापनीयता = मन, वचन, काय के सामर्थ्य की पृच्छा का स्थान]

क्या आपका शरीर मन तथा इन्द्रियों की बाधा से रहित सकुशल एव' स्वस्थ है ?

[६. अपराध-क्षमापना स्थान]

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! मुझसे दिन में जो व्यतिक्रम = अपराध हुआ हो, उसके लिए क्षमा करने की कृपा करें ।

भगवन् ! आवश्यक क्रिया करते समय मुझसे जो भी विपरीत आचरण हुआ हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! जिस किसी भी मिथ्याभाव से, द्वेष से,

दुर्मायुष से, शरीर की दुष्ट चेष्टाओं से, लोभ से, मान से, माया से, लोभ से, सार्वकालिकी = सर्वकाल से सम्बन्धित, सब प्रकार के मिथ्या अर्थात् मायिक व्यवहारों वाली, सब प्रकार के धर्मों को अतिक्रमण करनेवाली तेरीस आशतनाथों में से दिवस-सम्बन्धी किसी भी आशतना के द्वारा मैंने जो भी अतिचार = दोष किया हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, मन से उसकी निन्दा करता हूँ, चापके समक्ष बचन से उसकी गद्दी करता हूँ; और पाप कर्म करने वाली बहिरात्मभाव रूप अनीत आत्मा का परिवर्णन करता हूँ, अर्थात् इस प्रकार के पाप-उपा-पारों से आत्मा को अलग हटाया हूँ ।

विवेचन

आनन्दकण्ठिका में तीसरे बन्दन आनन्दक का महत्त्वपूर्ण स्थान है । हितोद्देशी गुरुदेव को निम्न हृदय से अभिबन्दन करना और उनकी दिन तथा रात्रि सम्बन्धी सुखशान्ति पूजना, शिष्य का परम कर्तव्य है । भारतीय संस्कृति में, विशेषतः जैन संस्कृति में अध्यात्मवाद की महती महिमा है; और आध्यात्मिकता के जीवित चित्र गुरुदेव की महिमा के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? अन्धकार में मटकते हुए, टोकरे खाते हुए मनुष्य के लिए दीक की जो स्थिति है, दीक यही स्थिति अज्ञानान्धकार में मटकते हुए शिष्य के प्रति गुरुदेव की है । अतएव जैन संस्कृति में कृतकता प्रदर्शन के नाते पद-पद पर गुरुदेव को बन्दन करने की परंपरा प्रचलित है । अहिंसे के नीचे गुरुदेव ही आध्यात्मिक मामान्य के अधिपति हैं । उनको बन्दन करना भगवान् को बन्दन करना है । अतः, इस महिमाशाली गुरुबन्दन के उद्देश्य को एवं इसकी सुन्दर पद्धति को प्रस्तुत पाठ में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रदर्शित किया गया है ।

आज का मानव धर्म परंपराओं से शून्य होना चर रहा है, चारों ओर स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति बढ़ रही है, नियम और नसबत के स्थान में अद्वार बाग़न हो रहा है । आज वह पुरानी आदर्श पद्धति कहाँ है कि गुरुदेव के आगे ही खड़ा हो जाना, सामने जाना, आसन अर्पण करना

और कुशल क्षेम पूछना । गुरुदेव की आज्ञा में रहकर अपने जीवन का निर्माण करना, आज के युग में बड़ा कष्टप्रद प्रतीत होता है । वन्दन करते हुए आज के शिष्य की गर्दन में पीड़ा होती है । वह नहीं जानता कि भारतीय शिष्य का जीवन ही वन्दनमय है । गुरु चरणों का स्पर्श मस्तक पर लगाने से ही भारतीय शिष्यों को ज्ञान की विभूति मिली है । गुरुदेव के प्रति विनय, भक्ति ही हमारी कल्याण-परंपराओं का मूल स्रोत है । आचार्य उमास्वामि की वाणी सुनिए, वह क्या कहते हैं :—

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ;
ज्ञानस्य फलं विरति विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ।
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ;
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ।
योगनिरोधाद् भवसंततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः ;
तस्मात्कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः ।

—‘गुरुदेव के प्रति विनय का भाव रखने से सेवाभाव की जागृति होती है, गुरुदेव की सेवा से शास्त्रों के गम्भीर ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान का फल पापाचार से निवृत्ति है, और पापाचार की निवृत्ति का फल आश्रवनिरोध है ।’

—‘आश्रवनिरोध = संवर का फल तपश्चरण है, तपश्चरण से कर्म-मल की निर्जरा होती है; निर्जरा के द्वारा क्रिया की निवृत्ति और क्रिया निवृत्ति से मन वचन तथा काययोग पर विजय प्राप्त होती है ।’

—‘मन, वचन और शरीर पर विजय पा लेने से जन्ममरण की लम्बी परंपरा का क्षय होता है, जन्ममरण की परम्परा के क्षय से आत्मा को मोक्षपद की प्राप्ति होती है । यह कार्यकारणभाव की निश्चित शृंखला हमें सूचित करती है कि समग्र कल्याणों का एकमात्र मूल कारण विनय है ।’

प्राचीन भारत में प्रस्तुत विनय के मिद्वान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है। आनन्द के समस्त गुरुचन्दन का पाठ है, देखिए, कितना भावपूर्ण है ? 'विण्णो जिणसासणमूळं' की भावना का कितना सुन्दर प्रतिबिम्ब है ? शिष्य के मुख से एक एक शब्द प्रेम और भद्रा के श्रमृतरस में रूपा निकल रहा है !

श्रद्धा करने के लिए पास में आने की भी जमा मॉगना, चरण छूने से पहले आने सम्भव में 'निसीद्विपाए' पद के द्वारा सदाचार से परित्र रहने का गुरुदेव को विश्वास दिलाना, चरण छूने तक के कष्ट का भी जमा वाचना करना, सायंकाल में दिन सम्बन्धी और प्रातःकाल में रात्रि सम्बन्धी कुशज-क्षेम पूछना, सयम वाता की अंतरालना भी पूछना, आने से आवश्यक क्रिया करते हुए जो कुछ भी आशानना हुई हो सदर्भ जमा मॉगना, पापाचारमय पूर्वजीवन का परित्याग कर भविष्य में नये सिरे से सयम जीवन के प्रवृत्त करने की प्रतिज्ञा करना, कितना भावभरा एवं हृदय के अन्तरतम भाग को छूने वाला श्रद्धा का क्रम है ! स्थान-स्थान पर गुरुदेव के लिए 'समाधमण' सम्बोधन का प्रयोग, जमा के लिए, शिष्य की कितनी अधिक आतुरता प्रकट करता है, तथाच गुरुदेव को किस ऊँचे दर्जे का जमामूर्ति संत प्रमाणित करता है !

अब आइए, मूल सूत्र के कुछ विशेष शब्दों पर विचार करते । यत्र शब्दार्थ और भाग्यार्थ में काफी स्पष्टीकरण हो चुका है, फिर भी गहराई में उतरे बिना पूर्ण स्पष्टता नहीं हो सकती ।

इच्छामि

जैनधर्म 'इच्छावधान धर्म' है । यहाँ किसी आत्म या दवान से कोई काम करना और मन में स्वयं किसी प्रकार का उत्प्लास न रखना, अभिमत अथच अभिहित नहीं है । बिना प्रसन्न मनोभावना के की जाने वाली धर्म क्रिया, कितनी ही कथा न महनीय हो, अन्ततः वह मृत है, निष्प्राण है । इस प्रकार भय के भार से लदी हुई मृत धर्म क्रियाएँ

तो साधक के जीवन को कुचल देती हैं, हीन बना देती हैं । विकासोन्मुख धर्म साधना स्वतन्त्र इच्छा चाहती है, मन की स्वयं कार्य के प्रति होने वाली अभिरुचि चाहती है । यही कारण है कि जैन धर्म की साधना में सर्वत्र 'इच्छामि पडिक्कमामि, इच्छामि खमासमणो' आदि के रूप में सर्वप्रथम 'इच्छामि' का प्रयोग होता है । 'इच्छामि' का अर्थ है मैं स्वयं चाहता हूँ, अर्थात् यह मेरी स्वयं अपने हृदय की स्वतन्त्र भावना है ।

'इच्छामि' का एक ओर भी अभिप्राय है । शिष्य गुरुदेव के चरणों में विनम्र भाव से प्रार्थना करता है कि 'भगवन् ! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा रखता हूँ । अतः आप उचित समझे तो आज्ञा दीजिए । आपकी आज्ञा का आशीर्वाद पाकर मैं धन्य-धन्य हो जाऊँगा ।'

ऊपर की वाक्यावली में शिष्य वन्दन के लिए केवल अपनी ओर से इच्छा निवेदन करता है, सदाग्रह करता है, दुराग्रह नहीं । नमस्कार भी नमस्करणीय की इच्छा के अनुसार होना चाहिए, यह है जैन संस्कृति के शिष्टाचार का अन्तर्हृदय । यहाँ नमस्कार में भी इच्छा मुख्य है, उद्दण्डतापूर्ण बलाभियोग एवं दुराग्रह नहीं । आचार्य जिनदास कहते हैं—'एथ वंदितुमित्यावेदनेन अप्पच्छंदता परिहरिता ।'

क्षमाधमण

'श्रु' धातु तप और खेद अर्थ में व्यवहृत होती है । अतः जो तपश्चरण करता है, एवं संसार से सर्वथा निर्विगुण रहता है, वह श्रमण कहलाता है । क्षमाप्रधान श्रमण क्षमाश्रमण होता है । क्षमाश्रमण में क्षमा से 'मार्दव आदि दशविध श्रमण धर्म का ग्रहण हो जाता है । अतः, जो श्रमण क्षमा, मार्दव आदि महान् आत्मगुणों से सम्पन्न है, अपने धर्म-पथ पर दृढ़ता के साथ अग्रसर है, वे ही वन्दनीय हैं । वह क्षमाश्रमण शब्द, किसको वन्दन करना चाहिए—इस पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है ।

१ 'क्षमाग्रहणे च मद्दवादयो नूयता'—आचार्य जिनदास ।

शिष्य, गुरुदेव को वन्दन करने एवं अपने अपराधों की क्षमा याचना करने के लिए आता है, अतः क्षमाश्रमण सम्बोधन के द्वारा प्रथम ही क्षमादान प्राप्त करने की मावना अभिव्यक्त करता है। आशय यह है कि 'हे गुरुदेव ! आप क्षमाश्रमण हैं, क्षमामूर्ति हैं। अस्तु, मुझ पर कृपाभाव रखिए। मुझसे जो भी भूलें हुई हों, उन सब के लिए क्षमा प्रदान कीजिए।'

यापनीया

'या' प्रापणे वातु से दण्ड मे कर्तारि अनीयच् प्रत्यय होने से यापनीया शब्द बनता है। आचार्य हरिमद्र कहते हैं—'यापयतीति यापनीया तया।' यापनीया का भावार्थ हरिमद्रजी यथाशक्तिपुक्त तनु अर्थात् शरीर करते हैं। आचार्य जिनदास भी कार्यसमर्थ शरीर को यापनीय कहते हैं और असमर्थ शरीर को अयापनीय। 'वायणीया भाम जा वेणति पयोनेण कजसमत्था, जा पुण पयोनेण ॥ न समत्था सा अजावणीया।'।

'यापनीय' कहने का अभिप्राय यह है कि 'मैं अपने पवित्र भाव से वन्दन करता हूँ। मेरा शरीर वन्दन करने की सामर्थ्य रखता है, अतः किसी दगाव से लाचार होकर गिरी पड़ी हालत में वन्दन करने नहीं आया हूँ, अर्थात् वन्दना की भावना से उत्फुल्ल एवं रोमाञ्चित हुए सशक्त शरीर से वन्दना के लिए तैयार हुआ हूँ।'

सशक्त एवं समर्थ शरीर ही निधिपूर्वक धर्म क्रिया का आराधन कर सकता है। दुर्बल शरीर प्रथम तो धर्म क्रिया कर नहीं सकता। और यदि किसी के मन से या स्वयं हठाग्रह से करता भी है तो वह अधिधि से करता है, जो लाभ की अपेक्षा हानिप्रद अधिक है। धर्म साधना का रंग स्वस्थ एवं समस्त शरीर होने पर ही चमता है। यापनीय शब्द की यही ध्वनि है, यदि कोई मुन और समझ सके तो 'आवशिष्टाप निसी-दिदाप ति घणेश सत्रत्वं विवी य दरिस्सिता।'—आचार्य जिनदास।

नैपेधिकी^१

मूल शब्द 'निसीहिया' है। इसका संस्कृत रूप 'नैपेधिकी' होता है। प्राणातिपातादि पापों से निवृत्त हुए शरीर को नैपेधिकी कहते हैं। देखिए, आचार्य हरिभद्र क्या कहते हैं? 'निषेधनं निषेधः, निषेधेन निवृत्ता नैपेधिकी, प्राकृतशैल्या द्वान्द्वसत्त्वाद् वा नैपेधिकेत्युच्यते।'***
 ***नैपेधिक्या—प्राणातिपातादिनिवृत्तया तन्वा शरीरेणेत्यर्थः।'

आचार्य जिनदास नैपेधिकी के शरीर, वसति = स्थान और स्थण्डिल भूमि—इस प्रकार तीन अर्थ करते हैं। मूलतः नैपेधिकी शब्द आलय = स्थान का वाचक है। शरीर भी जीव का आलय है, अतः वह भी नैपेधिकी कहलाता है। इतना ही नहीं, निषिद्ध आचरण से निवृत्त शरीर की क्रिया भी नैपेधिकी कहलाती है।

जैन धर्म की पवित्रता स्नान आदि में नहीं है। वह है पापाचार से निवृत्ति में, हिंसादि से विरति में। अतः शिष्य गुरुदेव से कहता है कि "भगवन् ! मैं अगचित्र नहीं हूँ, जो आपको चन्दन न कर सकूँ। मैंने हिंसा, असत्य आदि पापों का त्याग किया हुआ है, अहिंसा एवं सत्य

१ निषेध का अर्थ त्याग है। मानव शरीर त्याग के लिए ही है, यह जैन धर्म का अन्तर्हृदय है और इसीलिए वह शरीर को भी नैपेधिकी कहता है। नैपेधिकी का अर्थ है जीवहिंसादि पापाचरणों का निषेध अर्थात् निवृत्ति करना ही प्रयोजन है जिसका वह शरीर।

नैपेधिकी का जो यापनीया विशेषण है, उसका अर्थ है जिससे कालक्षेप किया जाय, समय बिताया जाय, वह शारीरिक शक्ति यापनीया कहलाती है।

दोनों का मिल कर अर्थ होता है कि "मैं अपनी शक्ति से सहित त्याग प्रधान नैपेधिकी शरीर से चन्दन करना चाहता हूँ।"

नैपेधिकी और यापनीया का कुछ आचार्यों द्वारा किया जाने वाला यह विश्लेषण भी ध्यान में रखना चाहिए।

का मनी मौलि आचरण रिक्त है; अतः निश्चय रगिण, मैं पवित्र हूँ, श्री पवित्र होने के नाते आरने पवित्र चरण कमलों को स्पर्श करने का अधिकारी हूँ ।”

—“निसीहि नाम सरीरं पसही चंडिलं च मण्णि । उतो निसीहिता नाम आळपो वसही चंडिलं च । सरीरं जीवरस आळपोति । तथा पडिमिडुनिसेवगुनियत्तन्स डिरिया निसीहिया ताए ।-----निसत्रया तन्वा, कइं ? विपडिसिडुनिसेहडिरियाए च, अणरोणं मम सरीरं, पडिसिडुपाक्कम्मो च होत्तमो सुमं चंडितुं इप्पामिति यावत् ।”—

—आचार्य दिनदाग कृत आवश्यक चूर्ण

अवग्रह

जहाँ गुरुदेव नियोजमान होते हैं, वहाँ गुरुदेव के चारों ओर चारों दिशाओं में आराम प्रमाण अर्थात् ‘शरीर-प्रमाण’ साढ़े तीन हाथ का क्षेत्रावग्रह होता है । इस अवग्रह में गुरुदेव की आज्ञा लिए गिना प्रवेश करना निषिद्ध है । गुरुदेव की गौरव मर्यादा के लिए शिष्य को गुरुदेव से साढ़े तीन हाथ दूर अवग्रह से बाहर खड़ा रहना चाहिए । यदि कभी वन्दना एवं वाचना आदि आवश्यक कार्य के लिए गुरुदेव के समीप तक जाना हो तो प्रथम आज्ञा लेकर पुनः अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए ।

अवग्रह की व्याख्या करते हुए आचार्य हरिमद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं—‘अगुर्दिशमिहाचार्यस्य आत्म-प्रमाणां क्षेत्रमवग्रहः । तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते ।’

प्रवचनसरोदार के वन्दनक द्वार में आचार्य नेमिचन्द्र भी यही कहते हैं :—

१ साढ़े तीन हाथ परिमाण अवग्रह इसलिए है कि गुरुदेव अपने इच्छानुसार उठ-बैठ सहे, स्नाय्याय ध्यान कर सकें, आवश्यकता हो तो शयन भी कर सकें ।

आय-प्पमाणमित्तो,

चउदिसिं होइ उगगहो गुरुणो ।

अणणुत्तायस्स सया,

न कप्पए तत्थ पविसेउ' ॥१२६॥

प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में अवग्रह के छः भेद कहे गए हैं :—
नामावग्रह = नाम का ग्रहण, स्थापनावग्रह = स्थापना के रूपमें किसी वस्तु का अवग्रह कर लेना, द्रव्यावग्रह = वस्त्र पात्र आदि किसी वस्तु विशेष का ग्रहण, क्षेत्रावग्रह = अपने आस-पास के क्षेत्र विशेष एवं स्थान का ग्रहण, कालावग्रह = वर्षा काल में चार मास का अवग्रह और शेष काल में एक मास आदि का, भावावग्रह = ज्ञानादि प्रशस्त और क्रोधादि अप्रशस्त भाव का ग्रहण ।

वृत्तिकार ने वंदन प्रसंग में आये अवग्रह के लिये क्षेत्रावग्रह और प्रशस्त भावावग्रह माना है ।

भगवती सूत्र आदि आगमों में देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपति-अवग्रह, सागारी (शय्यादाता) का अवग्रह, और साधर्मिक का अवग्रह—
इस प्रकार जो आज्ञा ग्रहण करने रूप पाँच अवग्रह कहे गए हैं, वे प्रस्तुत प्रसंग में ग्राह्य नहीं हैं ।

अहोकायं काय-संफासं

'अहोकाय' का संस्कृत रूपान्तर अधःकाय है, जिसका अर्थ 'चरण' होता है । अधःकाय का मूलार्थ है काय अर्थात् शरीर का सबसे नीचे का भाग । शरीर का सबसे नीचे का भाग चरण ही है, अतः अधःकाय का भावार्थ चरण होता है । 'अधःकायः पादलक्षणस्तमधः कायं प्रति ।'

—आचार्य हरिमद्र ।

'काय संफासं' का संस्कृत रूपान्तर कायसंस्पर्श होता है । इसका अर्थ है 'काय से सम्यक्तया दर्श करना ।' यहाँ काय से

क्या अभिप्राय है ? यह निवारणीय है ! आचार्य जिनदास काय से हाथ ग्रहण करते हैं। 'अप्यणो कापण हस्तेहि कुसिस्सामि।' आचार्य श्री का अभिप्राय यह है कि आवर्तन करते समय शिष्य अपने हाथ से गुरु के चरणकमलों को स्पर्श करता है अतः यहाँ काय से हाथ ही अभीष्ट है। कुछ आचार्य काय से मस्तक लेते हैं। बंदन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों में अपना मस्तक लगाकर बंदना करता है, अतः उनकी दृष्टि में काय संस्पर्श से मस्तक स्पर्श प्राप्य है। आचार्य हरिमद्र काय का अर्थ सामान्यतः निज देह ही करते हैं—'कायेन निजदेहेन संस्पर्शं कायसंस्पर्शंस्तं करोमि।'।

परन्तु शरीर से स्पर्श करने का क्या अभिप्राय हो सकता है ? यह निवारणीय है। सम्पूर्ण शरीर से तो स्पर्श हो नहीं सकता, यह हागा मात्र हस्तद्वारेण या मस्तकद्वारेण। अतः प्रश्न है कि सूत्रकार ने विशेषोल्लेख के रूप में हाथ या मस्तक न कह कर सामान्यतः शरीर ही क्यों कहा ? जहाँ तक निवारण की गति है, इसका यह समाधान है कि शिष्य गुरुदेव के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करना चाहता है, सर्वस्व के रूप में शरीर के कण-कण से चरणकमलों का स्पर्श करके धन्य धन्य होना चाहता है। प्रत्यक्ष में हाथ या मस्तक का स्पर्श भले हो, परन्तु उसके पीछे शरीर के कण-कण से स्पर्श करने की भावना है। अतः सामान्यतः काय संस्पर्श कहने में अज्ञा के विराट् रूप को अभिव्यक्ति रही हुई है। जब शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों में मस्तक झुकाता है तो उतना अर्थ होगा कि गुरुचरणों में अपने मस्तक की भेंट अर्पण करना। शरीर में मस्तक ही तो मुख्य है। अतः जब मस्तक अर्पण कर दिया गया तो उममा अर्थ है अपना समस्त शरीर ही गुरुदेव के चरणकमलों में अर्पण कर देना। समस्त शरीर को गुरुदेव के चरणकमलों में अर्पण करने का भाव यह है कि—अब मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ आपकी आशा में चर्लूंगा, आपके चरणों का अनुसरण करूँगा। शिष्य का अन्ना कुछ नहीं है। जो कुछ भी है, सब गुरुदेव

का है। अतः काय के उपलक्षण से मन और वचन का अर्पण भी समझ लेना चाहिए।

अल्पक्लान्त

प्रस्तुत सूत्र में 'अप्पकिलंताणं बहुसुमेण....' अंशगत जो अल्प-क्लान्त शब्द है। आचार्य हरिभद्र और नमि ने इसका अर्थ 'अल्प = स्तोके क्लान्तं = क्रमो येषां ते अल्प क्लान्ताः' कहकर 'अल्प पीड़ा वाला' किया है। वर्तमान कालीन कुछ विद्वान् भी इसी पथ के अनुयायी हैं। परन्तु मुझे यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। यहाँ अल्प पीड़ा का, थोड़ी-सी तकलीफ का क्या भाव है? क्या गुरुदेव को थोड़ी-सी पीड़ा का रहना आवश्यक है? नहीं, यह अर्थ उचित नहीं मालूम होता। अल्प शब्द स्तोके वाचक ही नहीं, अभाव वाचक भी है। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम विलयाध्ययन में एक गाथा आती है—'अप्पपाणं ऽप्पवीयम्मि'.... ६५। इसका अर्थ है—अल्पप्राण और अल्पवीज वाले स्थान में साधु को भोजन करना चाहिए। क्या आप यहाँ भी अल्प-प्राण और अल्प-वीज का अर्थ थोड़े प्राणी और थोड़े बीज वाले स्थान में भोजन करना ही करेंगे? तब तो अर्थ का अनर्थ ही होगा? अतः यहाँ अल्प का अभाव अर्थ मान कर यह अर्थ किया जाता है कि साधु को प्राणी और बीजों से रहित स्थान में भोजन करना चाहिए। तभी वास्तविक अर्थ-संगति हो सकती है, अन्यथा नहीं। अस्तु, प्रस्तुत पाठ में भी 'अप्पकिलंताणं' का 'ग्लानि रहित'—'बाधारहित' अर्थ ही संगत प्रतीत होता है।

बहुसुमेण

मूल में 'अप्पकिलंताणं बहुसुमेण मे दिवसो वड्ढकंतो' पाठ है। इसका अर्थ है—'भगवन्! आपका यह दिन विघ्न-बाधाओं से रहित प्रभूत सुख में अर्थात् अत्यन्त आनन्द में व्यतीत हुआ?' यह सर्व प्रथम शरीर सम्बन्धी कुशल प्रश्न है? जैन धर्म के सम्बन्ध में यह व्यर्थ ही

ज्ञान्त धारणा है कि वह कठोर समय धर्म का अनुयायी है, अतः शरीर के प्रति लापरवाह होकर शीघ्र ही मृत्यु का आह्वान करता है। यह ठीक है कि वह उस समय का आग्रही है। परन्तु समय के आग्रह में वह शरीर के प्रति व्यर्थ ही उपेक्षा नहीं रखता है। आप यहाँ देख सकते हैं कि पहले शरीर सम्मन्धी कुशल पूछा गया है और बाद में समय यात्रा सम्मन्धी। 'अरुणावाहपुच्छा नत्ता, एतं ता शरीरं पुच्छितं, इदंणि तवसंजम नियम जोगेसु पुच्छति।'—आवश्यक चूणि।

यात्रा।

शिष्य, गुह्यदेव से यात्रा के सम्बन्ध में कुशल सोम पूछता है। आप यात्रा शब्द देखकर चौंके नहीं। जैन संस्कृति में यात्रा के लिए स्थूल कलमना न होकर एक मधुर आध्यात्मिक सत्य है। यात्रा क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए आइए, प्रभु महाशरीर के चरणों में चले। सोमिल ब्राह्मण भगवान् से प्रश्न करता है कि—'भगवन्! क्या आप यात्रा भी करते हैं?' भगवान् ने उत्तर दिया—'हाँ, सोमिल! मैं यात्रा करता हूँ।' सोमिल ने तुरन्त पूछा—'कौनसी यात्रा?' सोमिल बाह्य जगत में विचर रहा था, भगवान् अन्तर्जगत में विचरण कर रहे थे। भगवान् ने उत्तर दिया—'सोमिल! जो मेरी अग्ने तप, नियम, संयम, रसाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योग की साधना में यतना है—प्रवृत्ति है, वही मेरी यात्रा है।' कितनी सुन्दर यात्रा है! इस यात्रा के द्वारा जीवन निहाल हो सकता है।

—“सोमिला! जं मे तव-नियम-संजम-सम्माय-उक्काणायसग्गमा-दिपसु जोएसु जयणा सेवं अत्ता।” —भगवती सूत्र १८। १०।

यह जैन धर्म की यात्रा है, आत्म-यात्रा। जैन धर्म की यात्रा का पथ जीवन के अंदर में से है, बाहर नहीं। अनन्त अनन्त साधक इसी

१ 'यात्रा तपोनियमादिलक्षणा ज्ञात्मिकमिधौपशमिकभाव लक्षणा वा।'—आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति।

यात्रा के द्वारा मोक्ष में पहुँचे हैं और पहुँचेंगे । संयमी साधक के लिए जीवन की प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति यात्रा है, मोक्ष का मार्ग है ।

यापनीय

‘यात्रा’ के समान ‘यापनीय’ शब्द भी बहुत महत्वपूर्ण है । यापनीय का अर्थ है मन और इन्द्रिय आदि पर अधिकार रखना, अर्थात् उनको अपने वश में—नियंत्रण में रखना । मन और इन्द्रियों का अनुपशान्त रहना, अनियंत्रित रहना अकुशलता है, अयापनीयता है । और इनका उपशान्त हो जाना, नियंत्रित हो जाना ही कुशलता है, यापनीयता है ।

कुछ हिन्दी टीकाकारों ने, जिनमें पं० सुखलालजी भी हैं, ‘जवणिज्जं च मे ?’ की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ‘आपका शरीर मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से रहित है ।’ हमने भी यही अर्थ लिखा है । आचार्य हरेभद्र ने भी इस सम्बन्ध में कहा है—‘यापनीयं चेन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादिना प्रकारेण भवतां ? शरीरमिति गम्यते ।’ यहाँ इन्द्रिय से इन्द्रिय और नोइन्द्रिय से मन समझा गया है और ऊपर के अर्थ की कल्पना की गई है ।

परन्तु भगवती सूत्र में यापनीय का निरूपण करते हुए कहा है कि—यापनीय के दो प्रकार हैं इन्द्रिय यापनीय और नोइन्द्रिय यापनीय । पाँचों इन्द्रियों का निरुपहत रूप से अपने वश में होना, इन्द्रिय-यापनीयता है । और क्रोधादि कर्मायों का उच्छिन्न होना, उदय न होना, उपशान्त हो जाना, नोइन्द्रिय-यापनीयता है !

—जवणिज्जे इविहे पञ्चत्ते, तंजहा—इन्द्रियजवणिज्जे य नो-इन्द्रियजवणिज्जे य ।

से किं तं इन्द्रियजवणिज्जे ? जं मे सोइन्द्रिय—चक्खिदिय—घाणिदिय—जिह्विदिय—फासिदियाइं निरुवहयाइं वसे वटंति, सेज्जं इन्द्रियजवणिज्जं ।

से किं न नोऽद्भियजवर्णिजं ? उं मे कोदमाणमावालोभा
दोऽभिघ्ना नो वदोरेण सेषं नो हृदिय जवर्णिजो ।

—भगवद् गीता १८ । १० ।

आचार्य अमरदेव, भगवद् गीता के उक्त पाठ का विवरण करते हुए लिखते हैं—“यापनीयं = मोक्षार्थनि गच्छतां प्रयोजक इन्द्रिया-
दियरयत्तारूपो धर्मः । - इन्द्रियविरयं यापनीयं = वरवचमिन्द्रिययाप-
नीयं, एवं मो इन्द्रिययापनीयं, नगरं नो सम्पत्स्य मिश्रयत्तारवादिन्द्रियै-
र्मिथ्याः सहार्थत्वाद वा इन्द्रियाणां सहचरिता नोऽन्द्रियाः = करार्याः ।”

भगवद् गीता में नोऽद्भिय से मन नहीं, किन्तु कणाय का ग्रहण
रिया गया है । कणाय चूँकि इन्द्रिय सहचरित होने है, अतः नो इन्द्रिय
महं जाते हैं ।

आचार्य जिनराग भी भगवद् गीता का ही अनुगम्य करते हैं—
‘इन्द्रियजवर्णिजं निरवदृष्टाणि धर्मे य मे वदन्ति इन्द्रियाणि, नो ह्यसु-
कजस्य बाधाय वदन्तीत्यर्थः । एवं नोऽद्भियजवर्णिजं, कोपादीन् वि-
शो मे बाधेति ।—आचार्यक चूर्ति ।

उक्त विचारों के अनुसार यान्त्रिक प्रभ का, यह भावार्थ है कि
‘भगवन् ! आपकी इन्द्रियविरय की साधना ठीक-ठीक चल रही है ?
इन्द्रियाँ आपकी धर्मसाधना में बाधक तो नहीं होती ? अनुत्तर ही रहती
हैं न ? और नोऽद्भिय नियम भी ठीक-ठीक चल रही हैं न ? मोक्षदि
कणाय शास्त्र हैं ? आपकी धर्मसाधना में कमी बाधा तो नहीं पहुँचाते ?’

प्रवचनसंगोष्ठार की वृत्ति में आचार्य सिद्धसेन यात्रा और यापना
के द्रव्य तथा मान के रूप में दो-दो भेद करते हैं । मिथ्यादृष्टि तापस आदि
की अपनी क्रिया में प्रवृत्ति द्रव्ययात्रा है, और भेष्ट साधुओं की यत्रना
महाव्रतादि रूप साधना में प्रवृत्ति मान यात्रा है । इसी प्रकार ब्राह्मण
आदि से शरीर को समाहित करना, द्रव्य यापना है, और इन्द्रिय तथा
नो इन्द्रिय की उग्रशक्ति से शरीर का समाहित होना मानयापना है ।

—‘यात्रा द्विविधा द्रव्यतो भावतः । द्रव्यतस्तापसादीनां मिथ्यादृशां स्वक्रियोत्सर्पणं, भावतः साधूनामिति ।.... यापनापि द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतः शर्वराद्राद्यादिसदोपधैः कायस्य समाहितत्वं, भावतस्तु इन्द्रियनोऽन्द्रियोपशान्तत्वेन शरीरस्य समाहितत्वम् ।’

—प्रवचनमार्गोद्धार वंदनक द्वार ।

आवश्यकता

अवश्य करने योग्य चरण-करणरूप श्रमण योग ‘आवश्यक’ कहे जाते हैं । आवश्यक क्रिया करते समय प्रमादवश जो खलव की विराधना हो जाती है वह आवश्यकता कहलाती है । अतः ‘आवस्तियाए’ का अभिप्राय यह है कि ‘मुझसे आवश्यक योग की साधना करते समय जो भूल हो गई हो, उस आवश्यकता भूल का प्रतिक्रमण करता हूँ ।’

‘आवस्तियाए’ कहते हुए जो अवग्रह से बाहर निकला जाता है, वह इसलिए कि गुरुदेव के चरणों में से कहीं अन्यत्र आवश्यक कार्य के लिए जाना होता है तो गुरुदेव को सूचना देने के लिए ‘आवस्तिया’ कहा जाता है, यह आवश्यकता समाचारी है । अतः यहाँ भी ‘आवस्तियाए’ को आवश्यकता का प्रतीक मानकर शिष्य अवग्रह से बाहर होता है । यही कारण है कि दूसरे खमासमणों में ‘आवस्तियाए’ नहीं कहा जाता और न अवग्रह से बाहर ही आया जाता है ।

आशातना

‘आशातना’ शब्द जैन आगम-साहित्य का एक प्राचीन पारिभाषिक शब्द है । जैन धर्म अनुशासन-प्रधान धर्म है । अतः यहाँ पद-पद पर अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, और गुरुदेव का, किंवदुना, ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूप धर्म साधना तक का भी सम्मान रखा जाता

१ अवश्यकर्तव्यैश्चरण-करणयोगैर्निवृत्ता आवश्यकता तथा ऽऽसेवना-द्वारेण हेतुभूतया यदसाध्वनुष्ठितं तस्य प्रतिष्ठामामि विनिवर्तयामीत्यर्थः ।’—आचार्य हरिमद्र ।

है। सदाचारी गुरुदेव और अपने सदाचार के प्रति किसी भी प्रकार अवस्था एवं अवहेलना, जैनधर्म में स्वयं एक बहुत बड़ा पाप माना है, अनुशासन जैनधर्म का प्राण है।

अइए, अब आशातना के व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ पर विचार करें। 'ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ही वास्तविक आय = लाभ है, आशातना = खरडना, आशातना है।' गुरुदेव आदि का निमित्त दर्शन एवं चारित्र्य रूप ध्यामगुणों के लाभ का नाश करने वाला देविण्ड, प्रतिनिमण सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक का मत है। 'आयस्य ज्ञानादिरूपस्य शातना = खरडना आशातना। निमित्त पञ्चोपः।'।

आशातना के मेशों की कोई इच्छा नहीं है। आशातना के परिचय के लिए दशाभुतस्कन्ध-सूत्र में तेतीस आशातनाएँ वर्णित हैं। परिशिष्ट में उन सब का उल्लेख किया गया है, यहाँ में द्रव्यादि चार आशातनाओं का निरूपण किया जाता है, श्री हरिभद्र के उल्लेखानुसार दिनमें तेतीस का ही समावेश हो जाता। 'तितीसं वि चउसु दग्वाहसु समोपरंति'

द्रव्य आशातना का अर्थ है—गुरु आदि शक्ति के साथ करते समय स्वयं अन्ध-अन्ध मरणा कर लेना और कुछ-कुछ शक्ति देना। यही बात बल, पाप आदि के सम्बन्ध में भी है।

क्षेत्र-आशातना का अर्थ है—अक्षर चलना, अक्षर इत्यादि।

काल आशातना का अर्थ है—यदि या विनाल के समय या के द्वारा जेलने पर भी उत्तर न देना, चुन रहना।

भाष आशातना का अर्थ है—आचार्य आदि शक्तियों को 'तू' बोलना, उनके प्रति दुर्मान रखना, इत्यादि।

मनोदुष्कृता

मनोदुष्कृता का अर्थ है (मन से) दुष्कृत। मन में किसी प्रकार

द्वेष, दुर्भाव, वृणा तथा अवज्ञा का होना, मनोदुःकृता आशातना है । इसी प्रकार अभद्र वचन आदि से वाग्दुःकृता तथा अमित्र गमनादि के निमित्त से कायदुःकृता आशातना होती है ।

क्रोधा

मूल में 'क्रोहा' शब्द है, जिसका तृतीया विभक्ति के रूप में 'क्रोहाए' प्रयोग किया गया है । 'क्रोहा' का संस्कृत रूपान्तर 'क्रोध' होता है । क्रोधा का अर्थ क्रोध नहीं, अपितु क्रोधानुगता अर्थात् क्रोधवती आशातना से है । क्रोध के निमित्त से होने वाली आशातना क्रोधा अर्थात् क्रोधवती कहलाती है ।

'क्रोधा' का 'क्रोधवती' अर्थ कैसे होता है ? समाधान है कि अर्शादिगण आकृति गण माना जाता है, अतः क्रोधादि को अर्शादिगण में मान कर अच् प्रत्यय होने से क्रोधयुक्त का भी क्रोध रूप ही रहता है । आशातना स्त्रीलिंग शब्द है, अतः 'क्रोधा' रूप का प्रयोग किया गया है ।

—'क्रोधयेति क्रोधवयेति प्राप्ते अर्शादिराकृतिगणत्वात् अच् प्रत्ययान्तत्वात् 'क्रोधया' क्रोधानुगतया ।'—आचार्य हरिमद्र ।

'क्रोधया' के 'समान' ही मानया, मायया और लोभया का मर्म भी समझ लेना चाहिए । सब में अर्शादि अच् प्रत्यय है, अतः मानवत्या, मायावत्या और लोभवत्या अर्थ ही ग्राह्य है ।

सार्वकालिणी ।

आशातना के लिए यह विशेषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है । शिष्य गुरुदेव के चरणों में आशातना का प्रतिक्रमण करता हुआ निवेदन करता है कि 'भगवन् !' मैं दैवसिक, रात्रिक, पार्थिक, चातुर्मासिक तथा सांवल्लरिक आशातना के लिए क्षमा चाहता हूँ और उसका प्रतिक्रमण करता हूँ । इतना ही नहीं; अवतार के इस जीवन में जो अपराध हुआ हो, उसके लिए भी क्षमा याचना है । प्रस्तुत जीवन ही नहीं, पूर्व जीवन और उससे भी पूर्व जीवन, इस प्रकार अनन्तानन्ति

अतीत जन्मों में जो भूल हुई हो, अवहेलना का मात्र रहा हो, उन सबकी क्षमा याचना करता हूँ ।'

मूल में 'सत्यकालिया' शब्द है, जिसका अर्थ है सब काल में होने वाली आशानना । आचार्य विनोदसर्वनाल से समस्त भूतकाल प्रदण करते हैं—'सत्यकालो भवा सत्यकालिणी, पश्चिमा, चातुष्मा सिवा, संवत्सरिया, इह मये अण्येषु वा अतीतेषु भवगाइषेषु सत्यमतीतदाकाले ।'

आचार्य हरिभद्र 'सर्वकाल' से अतीत, अनागत और वर्तमान इस प्रकार त्रिकाल का प्रदण करते हैं—'अधुनेहमवान्यभवगताऽतीता नागतकाकलसमग्रम्येमाह, सर्वकालेन अतीतादिना निवृत्ता सारं कालिकी तया ।'

यह विनय धर्म का विनोद महान् गिराट रूप है । जैन धर्म की प्रत्येक साधना छुट्टी से महान् होती हुई अन्त में अनन्त का रूप ले लेती है । आप देख सकते हैं, गुरुदेव के चरणों में की जानेवाली अग्राध श्रमणा भी दैवसिक एवं रात्रिक से महान् होती हुई अन्त में सार्वकालिकी हो जाती है । केवल वर्तमान ही नहीं, किन्तु अनन्त भूत और अनन्त भविष्य काल के लिए भी अग्राध क्षमामना करना, साधक का नित्यप्रति किया जाने वाला आवश्यक कर्तव्य है ।

अनागत-आशानना के सम्बन्ध में प्रश्न है कि भविष्यकाल तो अभी आगे आने वाला है, अतः तत्सम्बन्धी आशानना कैसे हो सकती है ? समाधान है कि गुरुदेव के लिए एव गुरुदेव की आज्ञा के लिए भविष्य में किसी प्रकार की भी अवहेलना का मात्र रहना, संकल्प करना, अनागत आशानना है । भूतकाल की भूलों का पश्चात्ताप करो और भविष्य में भूलें न होने देने के लिए सदा कृतसंकल्प रहो, यह है साधक जीवन के लिए अमर सुन्दर, जो सार्वकालिकी पद के द्वारा अभिव्यञ्जित है ।

चारह आवर्त^१

प्रस्तुत पाठ में आवर्त-क्रिया विशेष ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार वैदिक मंत्रों में स्वर तथा हस्त-सञ्चालन का ध्यान रक्खा जाता है, उसी प्रकार इस पाठ में भी आवर्त के रूप में स्वर तथा चरण स्पर्श के लिए होने वाली हस्त-सञ्चालन क्रिया के सम्बन्ध में लक्ष्य दिया गया है। स्वर के द्वारा वाणी में एक विशेष प्रकार का ओज एवं माधुर्य पैदा हो जाता है, जो अन्तःकरण पर अपना विशेष प्रभाव डालता है।

आवर्त के सम्बन्ध में एक बात और है। जिस प्रकार वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा करने के बाद पारस्परिक कर्तव्य-निर्वाह के लिए आवद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार आवर्त-क्रिया गुरु और शिष्य को एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य बन्धन में बाँध देती है। आवर्तन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों का स्पर्श करने के बाद दोनों अञ्जलिबद्ध हाथों को अपने मस्तक पर लगाता है; इसका हार्द है कि—वह गुरुदेव की आज्ञाओं को सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृत-प्रतिज्ञ है।

प्रथम के तीन आवर्त—‘अहो’—‘काय’—‘काय’—इस प्रकार दो-दो अक्षरों से पूरे होते हैं। कमलमुद्रा से अञ्जलिबद्ध दोनों हाथों से गुरु-चरणों को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से ‘अ’ अक्षर कहना, तत्पश्चात् अञ्जलिबद्ध हाथों को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से ‘हो’ अक्षर कहना, यह पहला आवर्तन है। इसी प्रकार ‘का....यं’ और ‘का....यं’ के शेष दो आवर्तन भी किए जाते हैं।

अगले तीन आवर्त—‘जत्तामे’—‘जवणि’—‘ज्जंच मे’—इस प्रकार

१ ‘सूत्रामिधानगर्भाः काय-व्यापारविशेषाः’—आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति।

‘सूत्र-गर्भा गुरुचरणकमलन्यस्तहस्तशिरः स्थापनरूपाः।’—प्रवचनसरोदार वृत्ति, वन्दनक द्वार।

तीन-तीन अक्षरों के हाते हैं। कम्पनमुद्रा से अबलि गँधे हुए दोनों हाथों से गुह्य चरणों को स्पर्श करते हुए अनुदात्त = मन्द स्वर से—'अ'—अक्षर कहना, पुनः हृदय के पास अबलि लाते हुए स्वरिति = मध्यम स्वर से—'चा'—अक्षर कहना, पुनः अपने मस्तक को छूते हुए उदात्त स्वर से—'मे'—अक्षर कहना, प्रथम आसन है। इसी पद्धति से—'ज . व . शि'—और—'ज . व . मे'—ये शेष दो आसन भी करने चाहिएँ। प्रथम 'रामात्मणो' के छह और इसी भाँति दूसरे 'रामात्मणो' के छह कुल बाह्य आसन होते हैं।

वन्दन-विधि

वन्दन आवश्यक नहीं ही गभीर एव भावपूर्ण है। आज परंपरा की अज्ञानता के कारण हम आर लक्ष्य नहीं दिया जा रहा है और केवल येन-केन प्रकारेण भुक्त से पाठ का पठ लेना ही वन्दन समझ लिया गया है। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि त्रिना त्रिभि के त्रिया पलवती नहीं होती। अतः पाठकों की जानकारी के लिए स्पष्ट रूप से विधि का वर्णन किया जाता है :—

गुरुदेव के आत्मप्रमाण क्षेत्र-रूप अवग्रह के बाहर आचार्य तिलक ने क्रमशः दो स्थानों की कल्पना की है,—एक 'इच्छा निवेदन स्थान' और दूसरा 'अवग्रह प्रवेशाज्ञायात्रना स्थान।' प्रथम स्थान में वन्दन करने की इच्छा का निवेदन किया जाता है, फिर जय आगे अवग्रह के पास जाकर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगी जाती है।

वन्दनकर्ता शिष्य, अवग्रह के बाहर प्रथम इच्छानिवेदन स्थान में यथा ज्ञान मुद्रा से दोनों हाथों में रजोहरण लिए हुए अर्द्धवृत्त होकर अर्थात् आधा शरीर झुका कर नमन करता है और 'इच्छामि रामात्मणो से होकर मिसीहिषाए' तक का पाठ पढ़ कर वन्दन करने की इच्छा निवेदन करता है। शिष्य के इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात्

गुरुदेव यदि अस्वस्थ या किसी कार्य विशेष में व्याजित होते हैं तो 'तिविद्येण'—'त्रिविधेन' ऐसा शब्द कहते हैं, जिसका अर्थ होता है—'अवग्रह' से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन करना। अतः अवग्रह से बाहर रह कर ही त्रिविध के पाठ के द्वारा संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। यदि गुरुदेव स्वस्थ एवं अव्याजित होते हैं तो 'छन्दसा'—'छन्दसा' ऐसा शब्द कहते हैं; जिसका अर्थ होता है—'इच्छानुसार वन्दन करने की सम्मति देना।'

गुरुदेव की ओर से उपर्युक्त पद्धति के द्वारा वन्दन करने की आज्ञा मिल जाने पर, शिष्य, आगे बढ़ कर, अवग्रह-क्षेत्र के बाहर, किन्तु पास ही 'अवग्रह प्रवेशाज्ञा याचना' नामक दूसरे स्थान में पुनः अर्द्धावनत होकर नमन करता है और गुरुदेव से 'अणुजाणह मे मिउगह'—इस पाठ के द्वारा अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है। आज्ञा माँगने पर गुरुदेव अपनी ओर से 'अणुजाणामि' पद के द्वारा आज्ञा प्रदान करते हैं।

आज्ञा मिलने के बाद यथाजात मुद्रा = जनमते समय बालक की अथवा दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैमी मुद्रा होती है वैसे दोनों हाथ अञ्जलिबद्ध कपाल पर रखने की मुद्रा से 'निसीहि'^२ पद कहते हुए

१ 'त्रिविधेन' का अभिप्राय है कि वह समय अवग्रह में प्रवेश कर द्वादशावर्त वन्दन करने का नहीं है। अतः तीन बार त्रिविध के पाठ के द्वारा, अवग्रह से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। 'त्रिविधेन' शब्द मन, वचन, काय योग की एकाग्रता पर भी प्रकाश डालता है। तीन बार वन्दन, अर्थात् मन, वचन एवं काय योग से वन्दन।

२ 'निसीहि' बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर गुरु चरणों में उपस्थित होने रूप नैवेधिकी समाचारी का प्रतीक है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत प्रसंग पर कहते हैं—'ततः शिष्यो नैवेधिवया प्रविश्य।' अर्थात् शिष्य, अवग्रह में 'निसीहि' कहता हुआ प्रवेश करे।

अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए। बाद में रजोहरण से भूमि प्रमार्जन कर, गुरुदेव के पास गोंदोदिका (उकड़) आसन से बैठकर, प्रथम के तीन आचरत 'ग्रहो, कार्य, काय' पूर्वोक्त विधि के अनुसार करके 'संकासं' कहते हुए गुरु चरणों में मस्तक लगाना चाहिए।

तदनन्तर 'स्वमणिमो मे किष्णामो' के द्वारा चरण स्पर्श करते समय गुरुदेव को जो गथा होती है, उसकी क्षमा माँगी जाती है। पश्चात् 'श्रिय किंशंताय बहु सुमेय मे दिवसो वइष्कतो' कहकर दिन-सम्बन्धी कुशल-सौम पूछा जाता है। अनन्तर गुरुदेव भी 'तथा' कह कर अपने कुशल सौम की सूचना देते हैं और फिर उचित शब्दों में शिष्य का कुशल सौम भी पूछते हैं।

तदनन्तर शिष्य 'ज सा मे' 'ज व पि' 'ज व मे'—इन तीन आचरतों की क्रिया करे एवं संयम यात्रा तथा इन्द्रिय सम्बन्धी और मनः सम्बन्धी शान्ति पूछे। उत्तर में गुरुदेव भी 'तुवमं पि वइष्' कहकर शिष्य से उसको यात्रा और यापनीय सम्बन्धी सुख शान्ति पूछे।

तत्पश्चात् मस्तक से गुरु चरणों का स्पर्श करके 'स्वामेभि क्षमासमणो देवसिचं वइष्कमं' कह कर शिष्य विनम्र भाव से दिन-सम्बन्धी अपने अपराधों की क्षमा माँगता है। उत्तर में गुरु भी 'ग्रहमपि क्षमयामि' कह कर शिष्य से स्वकृत भूलों की क्षमा माँगते हैं। क्षामणा करते समय शिष्य और गुरु के साम्य प्रधान सम्मेलन में क्षमा के कारण विनम्र हुए दोनों मस्तक कितने भव्य प्रतीत होते हैं? अथ भावुकता को सक्रिय कीजिए। बन्दन प्रक्रिया में प्रस्तुत शिरोनमन आवश्यक का भद्रवाहु भूत केवली बहुत सुन्दर वर्णन करते हैं।

इसके बाद 'आवस्तिवाप' कहते हुए अवग्रह से बाहर आना चाहिए।

अवग्रह से बाहर लौट कर—'पडिकमामि' से लेकर 'अप्पायं वोस्तिरामि' तक का सम्पूर्ण पाठ पढ़ कर प्रथम समासमणो पूर्ण करना चाहिए।

दूसरा खमासमणो भी इसी प्रकार पढ़ना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि दूसरी बार 'आवस्सियाए' पद नहीं कहा जाता है, और अवग्रह से बाहर न आकर वहीं संपूर्ण खमासमणो पढ़ा जाता है। तथा प्रतिचार-चिन्तन एवं श्रमण सूत्र नमो चउवीसाए-भाटान्तर्गत 'तस्स धम्मस्स' तक गुरु चरणों में ही पढ़ने के बाद 'अब्भुट्ठियोमि' कहते हुए, उठ कर बाहर आना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में जो 'बहुसुमेण भे दिवसो बह्वक्कंतो' के अंश में 'दिवसो बह्वक्कंतो' पाठ है, उसके स्थान में रात्रिक प्रतिक्रमण में 'राहं बह्वक्कंता' पाल्कि प्रतिक्रमण में 'पक्खो बह्वक्कंतो' चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चउमासी बह्वक्कंता' तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'संवच्छरो बह्वक्कंतो' ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए।

वन्दन के २५ आवश्यक

श्री समवायांग सूत्र के १२ वे समवाय में वन्दन-स्वरूप का निर्णय देते हुए भगवान् महावीर ने वन्दन के २५ आवश्यक बतलाए हैं :—

दुओ गायं जहाजायं,

किति-कम्मं बारसावयं ।

चउसिरं तिगुत्तं च,

दुपवेसं एग-निक्खमणं ॥

—'दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुप्ति, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण—इस प्रकार कुल पच्चीस आवश्यक हैं।'

स्पष्टीकरण के लिए नीचे देखिए :—

दो अवनत

अवग्रह से बाहर रहा हुआ शिष्य सर्व प्रथम पनच चढ़ाए हुए धनुष के समान अर्धावनत होकर 'इच्छामि खमासमणो वदिं जावणिजाए निसीहियाए' कहकर गुरुदेव को वन्दन करने की इच्छा का

निवेदन करता है। गुरुदेव की ओर से आजा मिल जाने के बाद पुनः अर्घासनन काय से 'अलुलाशह मे निवग्मह' कह कर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है। यह प्रथम, अवनत आवश्यक है।

अवग्रह से बाहर आकर प्रथम समासमण्यो पूर्ण कर लेने के बाद जब दूसरा समासमण्यो पडा जाता है, तब पुनः इसी प्रकार अर्घासनन होकर वंदन करने के लिए इच्छा निवेदन करना एवं अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगना, यह दूसरा अवनत आवश्यक है।

दो प्रवेश

गुरुदेव की आज्ञा से अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा मिल जाने के बाद मुल से नितीहि कहता हुआ एक रजोहरण से आगे की भूमि को प्रमाजैन करता हुआ जब शिष्य अवग्रह में प्रवेश करता है, तब प्रथम प्रवेश आवश्यक होता है।

इसी प्रकार एक बार अवग्रह से बाहर आकर दूसरा समासमण्यो पड़ते समय जब पुनः दूसरी बार अवग्रह में प्रवेश करता है, तब दूसरा प्रवेश आवश्यक होता है।

बारह आघर्त

गुरुदेव के चरणों के पास ऊकड़ या मोदुह आसन से बैठे, रजोहरण एक ओर जगदर में रख छोड़े। पश्चात् दोनों घुटने टेककर दोनों हाथों को लग्न करके गुरु चरणों का 'हाथ की दशांश अंगुलियों से स्पर्श करता हुआ 'अ' अक्षर बदे और फिर दशांश अंगुलियों से अपने मस्तक का स्पर्श करता हुआ 'हं' अक्षर बदे, यह प्रथम आघर्त है। इसी प्रकार 'का' और 'का' के भी दो आघर्त समझ लेने चाहिए।

इसके बाद कमल मुद्रा में दोनों हाथों को जोड़कर मस्तक पर लगाए और समासमण्यो मे से लेकर दिवसा वदकनो तक पाठ बोले। अनन्तर दोनों हाथों को लग्न करके दशांश अंगुलियों से गुरुचरणों को

१ कुट्ट आचार्य कमल-मुद्रा से करने है।

स्पर्श करता हुआ 'ज' अक्षर कहे, फिर हाथों को हटाकर हृदय के पास लाता हुआ 'त्ता' अक्षर कहे, और अन्त में दशों अँगुलियों से अपने मस्तक को स्पर्श करता हुआ 'भे' अक्षर कहे। इस प्रकार चौथा आवर्त होता है। इसी प्रकार शेष दो आवर्त भी 'ज व णि' और 'ज्जं च भे' के समझ लेने चाहिए।

ये छह आवर्त-आवश्यक प्रथम खमासण कें हैं। इसी प्रकार दूसरे खमासण के भी छह आवर्त-आवश्यक होते हैं।

एक निष्क्रमण

बारह आवर्त करने के बाद प्रथम दोनों हाथों से और पश्चात् मस्तक से गुरु-चरणों का स्पर्श करे तथा 'खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कम' का पाठ कहे। इसके अनन्तर रुड़े होकर रजोहरण से अपने पीछे की भूमि का प्रमार्जन करता हुआ, 'गुरुदेव के मुखकमल पर दृष्टि लगाए, मुख से 'आवसियाए' कहता हुआ, उल्टे पैरों वापस लौट कर अवग्रह से बाहर निकले। यह निष्क्रमण आवश्यक है।

अवग्रह से बाहर गुरुदेव की ओर मुख कर-के पैरों से जिन-मुद्रा का और हाथों से योग-मुद्रा का अभिनय कर के खड़ा होना चाहिए। पश्चात् पडिक्कमामि से लेकर संपूर्ण खमासमणो पढ़ना चाहिए।

तीन गुप्ति

जब शिष्य वन्दन करने के लिए अवग्रह में प्रवेश करता है, तब 'निसीहि' कहता है। उसका भाव यह है कि अब मैं मन, वचन और काय की अन्य सब प्रवृत्तियों का निषेध करता हूँ एवं तीनों योगों को एक मात्र वन्दन-क्रिया में ही नियुक्त करता हूँ। यह एकाग्र भाव की सूचना है, जो तीन-गुप्तियों के आवश्यक का निदर्शन है।

मनोगुप्ति आवश्यक; यह है कि मन में से अन्य सप्त संकल्पों को निकाल कर उसमें एकमात्र वन्दना का मधुर भाव ही रहना चाहिए। विज्ञाने मन से वन्दन करने पर कर्म निर्जरा नहीं होती।

वचन गुप्ति आवश्यक यह है कि वन्दन करते समय चीन्हे में और कुछ नहीं डोचना । वचन का व्यापार एकमात्र वन्दन क्रिया के पाठ में ही लगा रहना चाहिए । और उच्चारण अस्पष्ट, स्पष्ट एवं सस्तर होना चाहिए ।

काय गुप्ति आवश्यक यह है कि शरीर को इधर-उधर आगे-पीछे न हिलाकर पूर्ण रूप से नियंत्रित रखना चाहिए । शरीर का व्यापार वन्दन क्रिया के लिए ही हो, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं । वन्दन करते समय शरीर से वन्दनातिरिक्त क्रिया करना निषिद्ध है ।

चार शिर

अनग्रह में प्रवेश कर क्षामणा करते हुए शिष्य एवं गुरु के दो शिर परस्पर एक दूसरे के सम्मुख होते हैं, यह प्रथम क्षमासमणों के दो शिरः सम्बन्धी आवश्यक है । इसी प्रकार दूसरे क्षमासमणों के दो शिरः सम्बन्धी आवश्यक भी समझ लेने चाहिएँ । इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र आवश्यक नियुक्ति १२०२ वीं गाथा की व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं—प्रथम प्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वय, पुनरपि निष्कस्य प्रविष्टस्य वृचमेवेति भावना ।' आचार्य अभयदेव भी समवा याग सूत्र की वृत्ति में ऐसा ही उल्लेख करते हैं ।

प्रवचन सारोद्धार की टीका में श्री सिद्धसेनजी शिर का शिरोवनमन में लक्षणा मानते हैं और कहते हैं कि अहाँ क्षामणाकाल में 'क्षामेति क्षमासमणो देवसिर्वं वद्भवम्' कहता हुआ शिष्य अपना मस्तक गुरु चरणों में झुकाता है, वहाँ गुरुदेव भी 'अहमपि क्षामेमि तुमे' कहकर अपना शिरोवनमन करते हैं ।

श्री सिद्धसेनजी एक और मान्यता उद्घुष्ट करते हैं, जो नेत्रल शिष्य के ही चार शिरोवनमन की है । एक शिरोवनमन 'संकास' कहते हुए और दूसरा क्षामणा काल में 'क्षामेमि क्षमासमणो' कहते हुए । 'अन्यत्र पुनरेव' दर्शते—संकासनमण्ये पुर्ण, क्षामणानमण्ये सीतस्त चीन्हे । एवं नीयपदेसे वि दोत्रि ।'

यथाजात-मुद्रा

गुरुदेव के चरणों में वन्दन क्रिया करने के लिए शिष्य को यथा-जात मुद्रा का अभिनय करना चाहिए। दोनों ही 'खमासमण सूत्र' यथा-जात मुद्रा में पढ़ने का विधान है। यथा जात का अर्थ है यथा जन्म अर्थात् जिस मुद्रा में बालक का जन्म होता है, उस जन्मकालीन मुद्रा के समान मुद्रा।

जब बालक माता के गर्भ से जन्म लेता है, तब वह नम्र होता है। उसके दोनों हाथ मस्तक पर लगे हुए होते हैं। संसार का कोई भी बाह्य वासनामय प्रभाव उस पर नहीं पड़ा होता है। वह सरलता, मृदुता, विनम्रता और सहृदयता का जीवित प्रतीक होता है। अस्तु, शिष्य को भी वन्दन के लिए इसी प्रकार सरलता, मृदुता, विनम्रता एवं सहृदयता का जीवित प्रतीक होना चाहिए। बालक अज्ञान में है, अतः वह कोई साधना नहीं है। परन्तु साधक तो ज्ञानी है। वह सरलता आदि गुणों को साधना की दृष्टि से विवेक पूर्वक अपनाता है, जीवन के कण-कण में नम्रता का रस बरसाता है, गुरुदेव के समक्ष एक सद्यःसंजात बालक के समान दयापात्र स्थिति में प्रवेश करता है और इस प्रकार अपने को क्षमा-भिक्षा का योग्य अधिकारी प्रमाणित करता है।

यथाजात-मुद्रा में वन्दनार्थी शिष्य सर्वथा नम्र तो नहीं होता, परन्तु रजोहरण, मुख वस्त्रिका और चोलगड् के अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता है और इस प्रकार बालक के समान नम्रता का रूपक अपनाता है। भयंकर शीतकाल में भी यह नम्र-मुद्रा अपनाई जाती है। प्राचीनकाल में यह पद्धति रही है। परन्तु आजकल तो कपाल पर दोनों हाथों को लगाकर प्रणाम-मुद्रा करने में ही यथाजात-मुद्रा की पूर्ति मान ली जाती है।

यथाजात का अर्थ 'श्रमण वृत्ति धारण करते समय की मुद्रा' भी किया जाता है। श्रमण होना भी, संसार-गर्भ से निकल कर एक विशुद्ध आध्यात्मिक जन्म ग्रहण करना है। जब साधक श्रमण बनता है, तब

रजोहरण, मुखचञ्चिका और चोलपट्ट के अतिरिक्त और कुछ भी अपने पास नहीं रखता है एवं दोनों हाथों को मस्तक से लगाकर-वन्दन करने की मुद्रा में गुरुदेव के समक्ष खड़ा होता है।^१ अतः मुनि-दीक्षा प्रदण करने के काल की मुद्रा भी यथाज्ञात मुद्रा बदलाती है।

यथाज्ञात मुद्रा के उद्भूत स्वरूप के लिए, आवश्यक सूत्र की वृत्ति और प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति दृश्य है। आवश्यक सूत्र की अपनी शिष्यरहिता वृत्ति में आचार्य हरिमद्र लिखते हैं—‘यथाज्ञातं भमण त्वमाश्रित्य योनिनिष्क्रमणं च, तत्र रजोहरण-मुखचञ्चिका-चोलपट्टम् प्रयत्नं भमणो ज्ञातः, रचितकरपुरस्तु खोम्पा भिगंतः, प्रवभूत एव वन्दते’

यह पञ्चीस आवश्यकों का वर्णन हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति और प्रवचन सारोद्धार वृत्ति के आधार पर किया गया है। इस सम्बन्ध में जैन जगत के महान् ज्योतिर्वर २२० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल महाराज के हस्तलिखित पत्र से भी उहुन कुछ जानकारी प्राप्त की गई है इसके लिए लेखक भद्रेय जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशीलाल की महाराज का कृतज्ञ है।

छ. द्य नक

प्रस्तुत ‘समासमणो’ सूत्र में छः स्थानक माने जाते हैं। “इच्छामि समासमणोः २ वंदिद ३ जावभिज्ज एव निसीदियाद^२” के द्वारा वन्दन करने की इच्छा निवेदन की जाती है, अ : यह शिष्य की ओर का पंचपद रूप प्रथम ‘इच्छा निवेदन’ स्थानक है।

इच्छानिवेदन के उत्तर में गुरुदेव भी ‘त्रिपिणेन’ अथवा ‘तुदसा’ कहते हैं, यह गुरुदेव की ओर का उत्तर रूप प्रथम स्थानक है।

इसके बाद शिष्य ‘असुज्जाणहं मेर मिडग्गहं^३’ कह कर अवस्था में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है, यह शिष्य की ओर का त्रिपदात्म्य आज्ञा याचना रूप दूसरा स्थानक है।

१ प्राचीनकाल में इसी मुद्रा में ‘मुनिदीक्षा दी जाती थी।

इसके उत्तर में गुरुदेव भी 'अणुजाणामि' कह कर आज्ञा देते हैं, यह गुरुदेव की ओर का आज्ञाप्रदान-रूप दूसरा स्थानक है।

“निसीहि३ ग्रहो२ कायं३ कायसंकासं४ । खमणिजो५ मे६ किला-
मो७ । अप्पक्किलंताणं बहुसुमेण८ मे१० दिवसो११ वड्ढकंतो१२ ?”
—यह शिष्य की ओर का द्वादशानन्द रूप शरीरकुशलपृच्छा नामक तीसरा स्थानक है।

इसके उत्तर में गुरुदेव 'तथा' कहते हैं। तथा का अर्थ है जैसा तुम कहते हो वैसा ही है, अर्थात् कुशल है। यह गुरुदेव की ओर का तीसरा स्थानक है।

इसके अनन्तर “जत्ता १ मे २” कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का द्विपदात्मक संयम यात्रा पृच्छा नामक चौथा स्थानक है। उत्तर में गुरुदेव भी 'तुष्मं पि वट्ठ-गुप्पाकमपि बर्त्तते?' कहते हैं, जिसका अर्थ है—तुम्हारी संयम यात्रा भी निर्वाध चल रही है? यह गुरुदेव की ओर का संयम यात्रा पृच्छा नामक चौथा स्थानक है।

इसके बाद “जवणिजं १ च २ मे ३” कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का त्रिपदात्मक यापनीय पृच्छा नामक पाँचवाँ स्थानक है।

उत्तर में गुरुदेव भी 'एव' कहते हैं, जिसका अर्थ है इन्द्रिय-विजय रूप यापना-ठीक तरह चल रही है। यह गुरुदेव की ओर का पाँचवाँ स्थानक है।

इसके अनन्तर “त्तामेमि१ खमासमणो२ देवसियं३ वड्ढकमं४” कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का पदचतुष्टयात्मक अपराधक्षामणा-रूप छठा स्थानक है।

उत्तर में गुरुदेव भी 'क्षमयामि' कहते हैं, जिसका अर्थ है मैं भी क्षमा वारणा करते समय जो भूलें हुई हों, उसकी क्षमा चाहता हूँ। यह गुरुदेव की ओर का अपराध क्षामणा रूप छठा स्थानक है।

: २ :

प्रत्याख्यान-सूत्र

(१)

नमस्कार सहित सूत्र

उगार घूरे^१ नमोस्कारसहितं पञ्चस्वामि चउच्चिह
वि आहार—असर्ण, पार्ण, राइम, साइम ।

अन्नत्य-ऽणामोगेण, सहसागारेण, वोसिरामि ।

भाषार्थ

एवं वदय होने पर—दो घरी दिन चरे तक—नमस्कार सहित
प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, और अन्न, पान, स्नादिम, स्वादिम चारे
ही प्रकार के आहार का त्याग करता है ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में दो आगार = आकार अर्थात् अपवाद है—
अनामोग = अत्यन्त विस्मृति और सहसाकार = शीघ्रता (अचानक)
इन दो आकारों के सिवा चारों आहार वोसिराता हैं—त्याग करता है ।

१ 'सूरे उगार'—इति हरिमद्राः ।

'नमोस्कारं पञ्चस्वामि सूरे उगार'—इति दिनदाताः ।

दिवेचन

यह 'नमस्कार सहित' प्रत्याख्यान का सूत्र है। नमस्कार सहित का अर्थ है—'सूर्योदय से लेकर दो बड़ी दिन चढ़े तक अर्थात् मुहूर्त भर के लिए, विना नमस्कार मंत्र पढ़े आहार ग्रहण नहीं करना। इसका दूसरा नाम नमस्कारिका भी है। आजकल साधारण बोलचाल में नवकारिणी कहते हैं।

चार आहार इस प्रकार हैं—

(१) अशन—इसमें रोटी, चावल आदि सभी प्रकार का भोजन आ जाता है।

(२) पान—दूध, द्राक्षारस पानी आदि पीने योग्य सभी प्रकार की चीजें पान में आ जाती हैं। परन्तु आजकल परंपरा के नाते पान से केवल जल ही ग्रहण किया जाता है।

(३) खादिम—आदाम, किसमिस आदि मेवा और फल खादिम

१ "नमस्कारेण—पञ्चपरमेष्ठित्वेन सहितं प्रत्याख्याति। 'सर्वे धातवः करोत्यर्थेन व्याप्ता' इति भाष्यकारवचनाच्चमस्कारसहितं प्रत्याख्यानं करोति।" यह आचार्य सिद्धसेन का कथन है। इसका भावार्थ है कि मुहूर्त पूरा होने पर भी नवकार मंत्र पढ़ने के बाद ही नमस्कारिका का प्रत्याख्यान पूर्ण होता है, पहले नहीं। यदि मुहूर्त से पहले ही नवकार मंत्र पढ़ लिया जाय, तब भी नमस्कारिका पूर्ण नहीं होती है। नमस्कारिका के लिए यह आवश्यक है कि सूर्योदय के बाद एक मुहूर्त का काल भी पूर्ण हो जाय और प्रत्याख्यान-पूर्तिस्वरूप नवकार मंत्र का जप भी कर लिया जाय ! इसी विषय को प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में आचार्य सिद्धसेन ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—“स च नमस्कारसहितः पूर्णोऽपि काले नमस्कारपाठमन्तरेण प्रत्याख्यानस्यापूर्णमाणात्वात्, सत्यपि च नमस्कारपाठे मुहूर्ताभ्यन्तरे प्रत्याख्यानमह्नात्; ततः सिद्धमेतत् मुहूर्तमानकाल-नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानमिति।”—प्रत्याख्यानद्वार।

म अन्तर्भूत है। बुद्ध आचार्य विद्यालय को अष्टम में प्रवेश करते हैं और बुद्ध आदिम म, यह स्थान में रहे।

(४) स्वादिम—मुगरी, लौंग, इत्यादि की आदि गुणवत्ता स्वादिम माना जाता है। इन आचार म उद्गमपूर्ण की दृष्टि न होकर मुख्यतः मूल के आधार की ही दृष्टि होती है। मरामी गणक प्रस्तुत आधार का प्रवेश आधार के लिए नहीं, प्रस्तुत मूल की सख्यता के लिए करता है।

म. सुन का आधार ही प्रस्तुत भाषा में आधार है। आधार का अर्थ—अवस्था माना जाता है। अवस्था का अर्थ है कि—यदि किसी विशेष स्थिति में स्थान की हुई वस्तु सेवन भी करली जाय तो भी प्रस्तावना का भंग नहीं होगा। अतः आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र के तीसरे प्रकरण की वृत्ति में लिखते हैं—‘आश्रित्यते विधीयते प्रत्यापान-भंगपरिहारार्थमित्याकारः’—‘प्रत्यापानं च अपवादरूपाकाररहितं कर्तव्यम्, अन्यथा तु भंगः स्यात् ।’^१

१ आ—मर्षाद्वा मर्षाद्वापानार्थमित्यर्थः क्रियन्ते विधीयन्ते इत्याकारः—प्रवचन आरोहण वृत्ति।—प्रत्यापानद्वार।

‘आकारो हि नाम प्रत्यापानाववाद्देवः’—इतिभट्टीय आच-
र्यक सूत्र वृत्ति, प्रत्यापान आर्यक।

जैन धर्म विवेक का धर्म है। अतः यहाँ प्रत्यापान अदि करते समय भी विवेक का पूरा ध्यान रखना जाता है। साधक दुर्बल एवं अल्पज्ञ प्राणी है। अतः उसके समस्त अज्ञानता एवं अशक्तता आदि के कारण कभी वह विवेक प्रसंग प्राप्त सकता है, जो उसकी कल्पना से बाहर हो। यदि पहले से ही उस स्थिति का अवकाश न रखा जाय तो मत भंग होने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि प्रस्तुत प्रत्यापान सूत्र में पहले से ही उस विशेष स्थिति की छूट ‘प्रतिष्ठापाठ में रखी गई है, ताकि साधक का मत भंग न होने पाए। यह है पहले से ही मरिच्य को ध्यान में रख कर चलने की पूर्वदर्शिताका विवेक वृत्ति।

नमस्कारिका में केवल दो ही आकार हैं—अनाभोग, और सहसाकार ।

(१) अनाभोग का अर्थ है—अत्यन्त विस्मृति । प्रत्याख्यान लेने की व्रत सर्वथा भूल जाय और उस समय अनवधानता वश कुछ खा पी लिया जाय तो वह अनाभोग आगार की मर्यादा में रहता है ।

(२) दूसरा आगार सहसाकार है । इसका अर्थ है—मेघ वरसने पर अथवा दही आदि मथते समय अचानक ही जल या छाछ आदि का छीटा मुख में चला जाय ।

अनाभोग और सहसाकार दोनों ही आगारों के सम्बन्ध में यह व्रत है कि जब तक पता न चले, तबतक तो व्रत भंग नहीं होता । परन्तु पता चल जाने पर भी यदि कोई मुख का ग्रास थूके नहीं, आगे खाना वंद नहीं करे तो व्रत भंग हो जाता है । अस्तु, साधक का कर्तव्य है कि ज्यों ही पता चले, त्यों ही भोजन वंद कर दे और जो कुछ मुख में हो वह सब भी यतना के साथ थूक दे ।

एक प्रश्न है ! मूल पाठ में तो केवल नमस्कार-सहित ही शब्द है, काल का कुछ भी उल्लेख नहीं है । फिर यह दो बड़ी की कालमर्यादा किस आधार पर प्रचलित है ?

प्रश्न बहुत सुन्दर है । आचार्य सिद्धसेन ने इसका अच्छा उत्तर दिया है । प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में उन्होंने नमस्कारसहित को मुहूर्त का विशेषण मानते हुए कहा है—‘सहित शब्देन मुहूर्तस्य विशेषितत्वात्’ । इसका भावार्थ यह है कि नमस्कार से सहित जो मुहूर्त, वह नमस्कार सहित कहलाता है । अर्थात् जिसके अन्त में नमस्कार का उच्चारण किया जाता है, वह मुहूर्त । आप कहेंगे—मूल पाठ में तो कहीं इधर उधर मुहूर्त शब्द है नहीं; फिर विशेष्य के बिना विशेषण कैसा ? उत्तर में निवेदन है कि—नमस्कारिका का पाठ अद्धा प्रत्याख्यान में है । अतः काल की मर्यादा अवश्य होनी चाहिए । यदि काल की मर्यादा ही न हो तो फिर यह अद्धा प्रत्याख्यान कैसा ? नमस्कारसहित का पाठ पौरुषी के पाठ से पहले है; अतः यह स्पष्ट ही है कि उसका काल-मान

पौरुषी से कम ही होना चाहिए । आप कहेंगे कि पौरुषी के बालमान से कम तो दो मुहूर्त भी हो सकते हैं ? फिर एक मुहूर्त ही क्या ? उत्तर है कि नमस्कारिका म पौरुषी आदि अन्य प्रत्याख्यानों की अपेक्षा सब से कम, अर्थात् दो ही आकार हैं अतः अल्पाकार होने से इसका बालमान बहुत थोड़ा माना गया है और वह परंपरा से एक मुहूर्त है । अर्द्धा प्रत्याख्यान का बाल कम से कम एक मुहूर्त माना जाता है ।

नमस्कारिका, रात्रिभोजन-दोष की निवृत्ति के लिए है । अर्थात् प्रातः काल दिनोदय होते ही मनुष्य यदि शीघ्रता म भोजन करने लगे और वस्तुतः सुबोदय न हुआ हो तो रात्रि भोजन का दोष लग सकता है । यदि दो घड़ी दिन चढ़े तक के लिए आहार का त्याग नमस्कारिका के द्वारा कर लिया जाए तो फिर रात्रि भोजन की सम्भावना नहीं रहती । दूसरी बात यह है कि साधक के लिए तप की साधना करना आवश्यक है, प्रतिदिन कम से कम दो घड़ी का तप होना ही चाहिए । नमस्कारिका म यह नियम प्रति के तपश्चरण का भाव भी अन्तर्निहित है ।

दूसरा को प्रत्याख्यान करना हो तो मूल पाठ म 'पञ्चस्त्राह' और 'बोसिरह' कहना चाहिए । यदि स्मरण करना हो, तो उल्लिखित पाठा नुसार 'पञ्चस्त्रामि' और 'बोसिरामि' कहना चाहिए । आगे के पाठों म भी यह परिवर्तन स्थान म रखना चाहिए ।

यही पाठ सांकेतिक अर्थात् संकेत पूर्वक किए जाने वाले प्रत्याख्यान का भी है । वहाँ केवल 'गठिसहिय' या 'मुट्टिसहिय' आदि पाठ नमुकार सहिय के आगे अधिक बोलना चाहिए । गठिसहिय और मुट्टि सहिय का यह भाव है कि अब तक बँधी हुई गाँठ अथवा मुट्ठी आदि न खोलूँ तब तक चारों आहार का त्याग करता हूँ ।

१—'गठिसहिय, मुट्टिसहिय' आदि सांकेतिक प्रत्याख्यान पाठ म 'महत्तरागारेण सञ्जसमाह्वितियागारेण' ये दो आहार अधिक बोलने चाहिए । यह सांकेतिक प्रत्याख्यान अन्य समय म भी किया जा सकता

नमस्कारिका चतुर्विधाहार-त्यागरूप होती है या त्रिविधाहार-त्यागरूप ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि नमस्कारिका चतुर्विधाहार त्यागरूप ही होती है । नमस्कारिका का कालमान एक मुहूर्तभर ही होता है, अतः वह अल्पकालिक होने से चतुर्विधाहार त्यागरूप ही है । प्राचीन परंपरा भी ऐसी ही है । 'चतुर्विधाहारस्यैव भवतीति वृद्ध-सम्प्रदायः।'—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

नमस्कारिका में दो आगार माने गए हैं—अनाभोग और सहसकार । आजकल के कुछ विद्वान, अपने प्रतिक्रमण सूत्र में, नौकारसी के चार या पाँच आगार भी लिखते हैं; परन्तु यह लेख परंपरा-विरुद्ध है । प्राचीन आचार्य हेमचन्द्र आदि, दो ही आगार बतलाते हैं—'नमस्कार-सहिते' प्रत्याख्यान दो आकारौ भवतः—योग शास्त्र, तृतीय प्रकाश वृत्ति ।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने भी नमस्कारिका के दो ही आगार माने हैं—'दो चेव नमोकारे ।'—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १५६६ ।

है, अतः जब कभी अन्य समय में किया जाय, तब 'उगएँ सुरे' यह श्रेष्ठ नहीं बोलना चाहिए ।

(२)

पौरुषी-सूत्र

उगरे घूरे पोरिसिं पचकखामि; चउकिहं पि आहारं—
असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्वर्थ—ऽणामोणेणं, सहसामारेणं, पच्छन्नकालेणं,
दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सखसमादिवत्तियागारेणं,
बोसिरामि ।

भाषा

पौरुषी का प्रत्याख्यान करता है । सूर्योदय से लेकर अशन, वान,
खादिम और स्वादिम चारों ही आहार का प्रहर दिन चढ़े तक
त्याग करता है ।

अनामोग, सहसाकार, पच्छन्नकाल, दिशामोह, साधु वचन,
सखसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त छहों आकारों के सिवा पूर्णतया चारों
आहार का त्याग करता है ।

विवेचन

सूर्योदय से लेकर एक पहर दिन चढ़े तक चारों प्रकार के आहार
का त्याग करना, पौरुषी प्रत्याख्यान है । पौरुषी का शाब्दिक अर्थ है—
'पुरुष प्रमाण छाया ।' एक पहर दिन चढ़ने पर मनुष्य की छाया

घटते-घटते अपने शरीर प्रमाण लंबी रह जाती है। इसी भाव को लेकर पौरुषी शब्द प्रहर परिमित कालविशेष के अर्थ में लक्षणा के द्वारा रूढ़ हो गया है।

साधक कितना ही सावधान हो; परन्तु आखिर वह एक साधारण छद्मस्थ व्यक्ति है। अतः सावधान होते हुए भी बहुत बार व्रत-पालन में भूल हो जाया करती है। प्रत्याख्यान की स्मृति न रहने से अथवा अन्य किसी विशेष कारण से व्रतपालन में बाधा होने की संभावना है। ऐसी स्थिति में व्रत खण्डित न हो, इस बात को ध्यान में रखकर प्रत्येक प्रत्याख्यान में पहले से ही संभावित दोषों का आगार, प्रतिज्ञा लेते समय ही रख लिया जाता है। पोरिसी में इस प्रकार के छह आगार हैं :—

(१) अनाभोग—प्रत्याख्यान की विस्मृति हो जाने से भोजन कर लेना।

(२) सहसाकार—अकस्मात् जल आदि का मुख में चले जाना।

(३) प्रच्छन्नकाल—बादल अथवा आँधी आदि के कारण सूर्य के ढँक जाने से पोरिसी पूर्ण हो जाने की भ्रान्ति हो जाना।

(४) दिशामोह—पूर्व को पश्चिम समझ कर पोरिसी न आने पर भी सूर्य के ऊँचा चढ़ आने की भ्रान्ति से अशनादि सेवन कर लेना।

(५) साधुवचन—'पोरिसी आ गई' इस प्रकार किसी आत्मा पुरुष के कहने पर बिना पोरिसी आए ही पोरिसी पार लेना।

(६) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशान्ति के लिए औषधि आदि ग्रहण कर लेना।

'सर्वसमाधि प्रत्ययाकार' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगार है। जै संस्कृति का प्राण त्यादवाद है और वह प्रस्तुत आगार पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। तप बढ़ा है या जीवन? यह प्रश्न है, जो दार्शनिक क्षेत्र में गंभीर विचार-चर्चा का क्षेत्र रहा है। कुछ दार्शनिक तप व महत्त्व देते हैं तो कुछ जीवन को? परन्तु जैन दर्शन तप को भी महत्त्व

देना है और जीवन को भी ! कभी ऐसी स्थिति होती है कि जीवन की अपेक्षा तर महत्त्वपूर्ण होना है । कभी क्या, तब सदा ही महत्त्वपूर्ण है ! जीवन किमके लिए है ? तप के लिए ही तो जीवन है । परन्तु कभी ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि तर को अपेक्षा जीवनरक्षा अधिक आवश्यक हो जाती है । तब जीवन पर ही तो आश्रित है । जीवन रहेगा तो कभी फिर भी तर साधना की जा सकेगी । यदि जीवन ही न रहेगा तो, फिर तर कब और कैसे किया जा सकेगा ? 'जीवन्नरो मद्गच्छानि परयेत् ।'

सर्वममाधिप्रत्यय नामक ग्रन्थ आगार, इसी उद्देश्य भावना को लेकर अग्रसर होता है । तबभरण करते हुए यदि कभी आकस्मिक विद्युच्चिका या शूल आदि का भयकर रोग हो जाय, पक्षतः जीवन सङ्कट में मालूम पड़े तो यौन ही औषधि आदि का सेवन किया जा सकता है । जीवन क्षति के विशेष प्रसंग पर प्रत्याख्यान होते हुए भी औषधि आदि सेवन कर लेने से जैन धर्म प्रत्याख्यान का मंग होना स्वीकार नहीं करना । इस प्रकार के विषय प्रसंगों के लिए पहले से ही छूट रखनी जाती है, जिनके लिए जैन धर्म में आगार शब्द व्यवहृत है । जैन धर्म में तप के लिए अत्यन्त आदर का स्थान है, परन्तु उसके लिए व्यर्थ का मोह नहीं है । जैन धर्म के क्षेत्र में शिव का बहुत घना महत्त्व है । तर के दृष्ट में अके रहकर औषधि सेवन न करना और व्यर्थ ही अनमीन मानव जीवन का संहार कर देना, जैन धर्म की दृष्टि में कथमपि उचित नहीं है । व्यर्थ का दुःखग्रह रखने से आर्त और रोद दुर्घ्यान की संभावना है, जिनके कारण कभी कभी साधना का मूल ही नष्ट हो जाता है । अतः आचार्य सिद्धसेन की गम्भीर नाणी में वहे तो औषधि का सेवन जीवन के लिए नहीं, अपितु आर्त रोद दुर्घ्यान की निवृत्ति के लिए आवश्यक है ।

अपने शरीर भयकर रोग होने पर ही औषधि सेवन करना, यह बात नहीं है । अपितु किसी अन्य के रोगी होने पर यदि कभी वैद्य आदि को सेवाकार्य एवं सन्त्वना देने के लिए मोहन करना पड़े तो उसका भी प्रत्याख्यान में आगार होता है । जैन धर्म अपने समान ही दूसरे की

समाधि का भी विशेष ध्यान रखता है। इस सम्बन्ध में आचार्य सिद्धसेन का अभिप्राय मनन करने योग्य है :—

—“कृतपौरुषीप्रत्याख्यानस्य सहसा सञ्जाततीव्रशूलादिद्रुःखतया समुत्पन्नयोरातरीद्रध्यानयोः सर्वथा निरासः सर्वसमाधिः, स एव आकारः—प्रत्याख्यानपवादः सर्वसमाधिप्रत्यय कारः। पौरुष्यामपूर्णा-
गमप्यकस्मात् शूलादिव्यथायां समुत्पन्नायां तदुपशमनायौषधपथ्यादि-
कं भुजानस्य न प्रत्याख्यानभङ्ग इति भावः। वैद्यादिर्वा कृतपौरुषी-
प्रत्याख्यानोऽन्यस्यातुरस्य समाधिनिमित्तं यदाऽपूर्ण्यामपि पौरुष्यां
भुङ्क्ते तदा न भङ्गः। अर्धभुङ्क्ते त्वातुरस्य समाधौ मरणे वोत्पन्ने
सति तथैव भोजनत्यागः।”—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति।

आचार्य जिनदास ने भी आवश्यक चूणि में ऐसा ही कहा है—
'समाधी णाम तेण थ पोरुसी पच्चवखाता, आसुक्कारियं च दुक्खं
उप्पन्नं तस्स अन्नस्स वा, तेण किंचि कायज्जं तस्स, ताहे परो विज्जे
(हवे) ज्ञा तस्स वा पसमण्णिमित्तं पाराविज्जति ओसहं वा
दिज्जति।'।

यही पाठ अपनी आवश्यक वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने उद्धृत किया है।

आचार्य तिलक लिखते हैं—‘तीव्रशूलादिना विह्वलस्य समाधि-
निमित्तमौषधपथ्यादिप्रत्ययः कारणं स एव आकारः।’

आचार्य नमि भी कहते हैं—‘समाधिः स्वास्थ्यं तत्प्रत्ययाकारेण,
यथा कस्यचित् प्रत्याख्यातुरन्यस्य वा किमप्यातुरं दुःखमुत्पन्नं तदुपश-
महेतोः पार्यते।—

प्रच्छन्नकाल, दिशामोह और साधुवचन उक्त तीनों आगारों का यह अभिप्राय है कि—भ्रान्ति के कारण पौरुषी पूर्ण न होने पर भी पूर्ण समझ कर भोजन कर लिया जाय तो कोई दोष नहीं होता। यदि भोजन करते समय यह मालूम हो जाय कि अभी पौरुषी पूर्ण नहीं हुई है तो

उसी समय भोजन करना छोड़ देना चाहिए। पौड़ी अपूर्ण जानकर म भोजन करता रहे तो प्रत्याख्यान मग का दोष लगता है।

पौड़ी के समान ही सार्ध पौड़ी का प्रत्याख्यान भी होता है। इसमें डेढ़ पहर दिन चढ़े तक आहार का त्याग करना होता है। अतः, जब उक्त सार्ध पौड़ी का प्रत्याख्यान करना हो तब 'पोरिसि' के स्थान पर 'साङ पोरिसि' पाठ कहना चाहिए।

आज मल के कुछ लेखक पौड़ी के पाठ में 'महत्ततगारेण' का पाठ भोलकर छद्म की जगह सत आगार का उत्सर्ग करते हैं, यह भ्रान्ति पर अवलम्बित हैं। हरिमद्र आदि आचार्यों की प्राचीन परंपरा, पौड़ी में केवल छद्म ही आगार मानने की है।

साधु सशक्त हो तो उसे पौड़ी आदि चउविहार ही करने चाहियें। यदि शक्ति न हो तो त्रिविहार भी कर सकता है। परन्तु दुविहार पौड़ी कदापि नहीं कर सकता। हाँ, भावक दुविहार भी कर सकता है। इसने लिए आचार्य देवेन्द्र कृत भाद्र प्रतिक्रमण कृति देखनी चाहिए।

यदि पौड़ी त्रिविहार करनी हो तो 'तिवि ह वि आहार असर्ण, साहम, साहम' पाठ बोलना चाहिए। यदि भावक दुविहार पौड़ी करे तो 'दुविहंवि आहार असर्ण साहम' ऐसा पाठ बोलना चाहिए।



(३)

पूर्वार्ध-सूत्र

उग्राण सूत्रे, पुरिमड्डं पचचन्नामि; चउव्विहं पि
आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्थ-इणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं,
दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहि-
वत्तियागारेणं, वोसिरामि ।

भावार्थ

सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक चारों
आहार अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन,
महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त सात आहारों के सिवा
पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ ।

विवेचन

यह पूर्वार्ध प्रत्याख्यान का सूत्र है । इसमें सूर्योदय से लेकर दिनके
पूर्व भाग तक अर्थात् दो प्रहर दिन चढ़े तक चारों आहार का त्याग
किया जाता है ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में सात आहार माने गए हैं । छह तो पूर्वोक्त

—“महत्तरा गारेहिं-महल्ल पयोयणेहिं, तेण अभत्तट्ठो पचक्खातो, ताथे आयरिण्हिं भण्णति-अमुगं गामं गंतव्वं । तेण निवेदितं—जथा मम अज्ज अभट्ठोत्त । जति ताव समत्थो करेतु जातु य । न तरति अण्णो भचट्ठितो अभत्ताट्ठितो वा जो तरति सो वच्चतु । नत्थि अण्णो तस्म वा कज्जस्स समत्थो ताथे चेव अभत्ताट्ठियस्स गुरु विसज्जयन्ति । पुरिस्स तं जेमंतस्स अण्णभिलासस्स अभत्ताट्ठितणिज्जरा जा सा से भवति गुरुणिओण्ण ।”

आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि के प्रत्याख्यानधिकार में प्रस्तुत महत्तरागार पर लिखते हैं—‘एवं किर तस्स तं जेमंतस्स वि अण्णभिलासस्स अभत्ताट्ठियस्स णिज्जरा जा सच्चेव पत्ता भवति गुरुणिओण्ण ।’

दोनों ही आचार्यों का यह कथन है कि यदि तपस्वी साधक को किसी विशेष सेवा कार्य के लिए उपवास आदि अभिक्तार्थ में भी भोजन कर लेना पड़े तो कोई दोष नहीं होता है । अपितु भोजन करते हुए भी उपवास जैसी ही निर्जरा होती है । क्योंकि भोजन करते हुए भी उसकी भोजन में अभिलाषा नहीं है !

महत्तराकार, नमस्कारिका और पौरुषी में नहीं होता है । क्योंकि उनका काल अल्प है, अतः वह पूर्ण करने के बाद भी निर्दिष्ट सेवा कार्य किया जा सकता है । ‘यच्चात्रैव महत्तराऽऽकारस्याभिधानं न नमस्कारसहितादौ तत्र कालस्याल्पत्वं, अन्यत्र तु महत्त्वं कारणमिति वृद्धा व्याचक्षते ।’ —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

पूर्वार्ध प्रत्याख्यान के समान ही अर्धार्ध प्रत्याख्यान भी होता है । अर्धार्ध प्रत्याख्यान का अर्थ है—तीन पहर दिन चढ़े तक आहार ग्रहण न करना । अर्धार्ध प्रत्याख्यान ग्रहण करने समय ‘पुरिमड्ढं’ के स्थान में ‘अवड्ढं’ पाठ बोलना चाहिए । शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानो का समान है ।

(४)

एकाशन-सूत्र

एगासरं पच्यन्मामि तिविहं पि आहारं असरं,
सादमं, सादमं ।

अन्नतथ—ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं,
आउंटण पसारणेणं, गुरु अन्धुडाणेणं, पारिद्धायणिया-
गारेणं, महत्तरागारेणं, सज्यसमादिवत्तियागारेणं वोसि-
रामि ।

भाव.थं

एकाशन तप स्वीकार करता हैं; फलतः अशन, सादिम, स्वादिम
तीनों आहारों का प्रत्याख्यान करता हैं ।

अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, आकुञ्चनप्रसारण, गुवंशुत्थान,
पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सज्य-समाधिप्रत्यक्षाकार-उक्त आठ
आहारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हैं ।

विवेचन

पौरुषी या पूर्वार्द्ध के बाद दिन में एक बार भोजन करना, एकाशन तप होता है। एकाशन का अर्थ है—'एक + अशन, अर्थात् दिन में एकबार भोजन करना।' यद्यपि मूल पाठ में यह उल्लेख नहीं है कि—'दिन में किस समय भोजन करना।' फिर भी प्राचीन परंपरा है कि कम से कम एक पहर के बाद ही भोजन करना चाहिए। क्योंकि एकाशन में पौरुषीतप अन्तर्निहित है।

प्रत्याख्यान, गृहस्थ तथा श्रावक दोनों के लिए समान ही हैं। अतः एव गृहस्थ तथा साधु दोनों के लिए एकाशन तप में कोई अन्तर नहीं माना जाता है। हाँ गृहस्थ के लिए यह ध्यान में रखने की बात है कि—'वह एकाशन में अचित्त अर्थात् प्रासुक आहार पानी ही ग्रहण करे।' साधु को तो यावज्जीवन के लिए अप्रासुक आहार का त्याग ही है।

१—'एगासण' प्राकृत-शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो होते हैं 'एकाशन' और 'एकासन।' एकाशन का अर्थ है—एक बार भोजन करना, और एकासन का अर्थ है—एक आसन से भोजन करना। 'एगासण' में दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। 'एकं सकृत् अशनं—भोजनं एकं वा आसनं—पुताचलनतो यत्र प्रत्याख्याने तदेकाशनमेकासनं वा, प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपम्।—प्रवचनसारांसार वृत्ति।

आचार्य हरिभद्र एकासन की व्याख्या करते हैं कि एक बार बैठकर फिर न उठते हुए भोजन करना। 'एकाशनं नाम सकृदुपविष्ट पुता चालनेन भोजनम्।'—आवश्यक वृत्ति।

आचार्य जिनदास कहते हैं—एगासण में पुत = नितंब भूमि पर लगे रहने चाहिए, अर्थात् एक बार बैठकर फिर नहीं उठना चाहिए। हाँ, हाथ और पैर आदि आवश्यकतानुसार आकुञ्चन प्रसारण के रूप में हिलाए-डुलाए जा सकते हैं। 'एगासणं नाम पुता भूमीतो न चालिञ्जति, सेसाणि हस्त्ये पायाणि चालेज्जावि।'—आवश्यक चूर्ण

भ्रान्त अर्थात् गृहस्थ के लिए 'पाण्डित्यश्रियागार' नहीं होता, अतः उसे मूल पाठ बोलते समय 'पाण्डित्यश्रियागारेण' नहीं बोलना चाहिए ।^१

एकाशन के समान ही द्विकाशन का भी प्रत्याख्यान होता है । द्विकाशन में दो बार भोजन किया जा सकता है । द्विकाशन करते समय मूल पाठ में 'पूनासथा' के स्थान में 'विद्यासथा' बोलना चाहिए ।

एकाशन और द्विकाशन में भोजन करते समय तो यथेच्छ चारे आहार लिए जा सकते हैं, परन्तु भोजन के बाद शेष काल में भोजन का त्याग होता है । यदि एकाशन तिग्निहार करना हो तो शेष काल में पानी पिया जा सकता है । यदि चउविहार करना हो तो पानी भी नहीं पिया जा सकता । यदि दुविहार करना हो तो भोजन के बाद पानी तथा रसादिम = मुसनाम लिया जा सकता है । आश्वकन तिग्निहार एकाशन की भाँती अधिक प्रचलित है, अतः हमने मूल पाठ में 'तिग्निहं' पान दिया है । यदि चउविहार करना हो तो 'चउविहं' पि आहारं अस्य

१ गृहस्थ के प्रत्याख्यान में 'पाण्डित्यश्रियागार' का स्थान इस लिए नहीं है कि गृहस्थ के घर में तो बहुत अधिक मनुष्यों के लिए भोजन तैयार होता है । हम मिथि में प्रायः कुछ न कुछ भोजन के बचने की भावना रहती ही है । अस्तु, गृहस्थ यदि पाण्डित्यश्रियागार करे तो कहीं तप करेगा ? और क्या वह उन्नि भी होगा ?

दूसरी बात यह है कि गृहस्थ के यहाँ भोजन बन जाता है तो वह रखा लिया जाता है, परखा नहीं जाता है । और उसका अन्य समय पर उचित उपयोग कर लिया जाता है ।

साधु की मिथि इससे भिन्न है । वह अशुद्ध भोजन को, यदि आगे रात्रि आ रही हो तो रख नहीं सकता है, परटना ही है । अतः उस समय ताम्बी मुनि, यदि परिष्कृत भोजन का उपयोग कर ले तो कोई दोष नहीं है ।

पाणं खाइमं साइमं' बोलना चाहिए। यदि दुविहार करना हो तं 'दुविहंपि आहारं असणं खाइमं' बोलना चाहिए।

दुविहार एकाशन की परंपरा प्राचीन काल में थी, परन्तु आज के युग में नहीं है।

एकासनमें आठ आगार होते हैं। चार आगार तो पहले आ ही चुके हैं, शेष चार आगार नये हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

(१) सागारिकाकार—आगम की भाषा में सागारिक गृहस्थ को कहते हैं। गृहस्थ के आ जाने पर उसके सम्मुख भोजन करना निषिद्ध है। अतः 'सागारिक के आने पर साधु को भोजन करना छोड़कर यदि बीच में ही उठकर, एकान्त में जाकर पुनः दूसरी बार भोजन करना पड़े तो व्रत-भङ्ग का दोष नहीं लगता।

गृहस्थ के लिए सागारिक का अर्थ है—वह लोभी एवं क्रूर व्यक्ति, जिसके आने पर भोजन करना उचित न हो। अस्तु^२ क्रूर दृष्टि वाले

१ आचार्य जिहदास ने आवश्यक चूर्णि में लिखा है कि आगन्तुक गृहस्थ यदि शीघ्र ही चला जाने वाला हो तो कुछ प्रतीक्षा करनी चाहिए, सहसा उठकर नहीं जाना चाहिए। यदि गृहस्थ बैठने वाला है, शीघ्र ही नहीं जाने वाला है, तब अलग एकान्त में जाकर भोजन से निवृत्त हो लेना चाहिए। व्यर्थ में लम्बी प्रतीक्षा करते रहने में स्वाध्याय आदि की हानि होती है। 'सागारियं अद्भुतमुद्दिष्टं आगतं जदि बोलेति पडिच्छति, अहं थिरं ताहे सज्जायवाधातो त्ति उट्टेत्ता अन्नत्थ गंतूणं समुद्दिस्सति।'।

सर्प और अग्नि आदि का उपद्रव होने पर भी अन्यत्र जाकर भोजन किया जा सकता है। सागारिक शब्द से सर्पादि का भी ग्रहण है।

२ जैन धर्म छुआछूत के चक्कर में नहीं है। अतएव 'सागारिका कार' का यह अर्थ नहीं है कि कोई अछूत या नीची जाति का व्यक्ति आ जाय तो भोजन छोड़कर भाग खड़ा होना चाहिए। साधु के लिए

शक्ति के आ जाने पर प्रभु भोजन को शीघ्र में ही छोड़कर पकाने में जाकर पुरा भोजन करना हो तो कोई दोष नहीं होगा । 'गृहस्थस्वादि धेन इष्ट भोजनं न क्रीर्यति तदप्रमुखं सामारिको ज्ञातव्यः ।'—प्रवचन सरोदार वृत्ति ।

(२) आशुजनप्रसारण—भोजन करते समय मुख पड़ जाने आदि के कारण से हाथ, पैर आदि अंगों का गिन्टोइना या फैलाना । उर लक्षण में आशुजन प्रसारण में शरीर का आगे पीछे हिलाना हुलाना भी आ जाता है ।

(३) गुर्गमुष्णान—गुह्यन एवं किमी ४ तथि विशेष के आने पर उनका गिनय सत्कार करने ५ बिण उठना, खड़े होना ।

प्रस्तुत आमार का यह भाष है कि गुह्यन एवं अलिधिन्न के आने पर अन्वय ही उठ कर गिरा हो जाता चाहिए । उस समय यह भ्रान्ति नहीं रहनी चाहिए कि 'पकासन में उठकर खड़े होने का विधान नहीं है । अतः उठने और खड़े होने से व्रतभंग के कारण मुझे दोष लगेगा ।' गुह्यनों के बिना उठने में कोई दोष नहीं है, इस से व्रतभंग नहीं होता, प्रस्तुत गिनय तपनी आराधना होती है । आचार्य भिक्षुसेन लिखते हैं 'गुह्यामामुष्णानाहंत्वाद्यश्च सुभ्रातेनाऽप्युष्णानं कर्तव्यमिति ॥ तत्र प्रवाच्यान—मह ॥'—प्रवचन सरोदार वृत्ति ।

जैनधर्म गिनय का धर्म है । जैनधर्म का मूल ही गिनय है । बिणचो 'त्रिणसामणमूल' की मानना जैन धर्म की प्रत्येक छोटी बड़ी साधना में रही हुई है । जैन धर्म की सम्प्रदाय एवं शिष्टाचार सम्बन्धी महत्ता के

तो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी गृहस्थ एक जैसे हैं, उसे तो किसी ५ सामने भी भोजन नहीं करना है । अब रहा गृहस्थ, वह भी मूर्ख दृष्टि वाले व्यक्ति के आने पर भोजन छोड़कर अन्यत्र जा सकता है, फिर भले वह मूर्ख दृष्टि ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, कोई भी हो । एकाशन में जान-पौत के नाम पर बैठकर जाने का विधान नहीं है ।

लिए प्रस्तुत आहार ही पर्याप्त है। मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए ही यह गुरुभक्ति एवं अतिथिभक्ति का उच्च आदर्श अनुकरणीय है।

(४) पारिष्ठापनिकाकार—जैन मुनि के लिए विधान है कि वह अपनी आवश्यक क्षुधापूर्त्यर्थ परिमित मात्रा में ही आहार लाए, अधिक नहीं। तथापि कमी भ्रान्तिवश यदि किसी मुनि के पास आहार अधिक आ जाय और वह परठना = डालना पड़े तो उस आहार को गुरुदेव की आज्ञा से तपस्वी मुनि को ग्रहण कर लेना चाहिए। गृहस्थ के यहाँ से आहार लाना और उसे डालना, यह भोजन का अपव्यय है। भोजन समाज और राष्ट्र का जीवन है, अतः भोजन का अव्यय सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का अपव्यय है।

आचार्य सिद्धसेन परिष्ठापन में दोष मानते हैं और उसके ग्रहण कर लेने में गुण। “परिस्थापनं-सर्वथा त्यजनं प्रयोजनमस्य पारिष्ठापनिकं, तदेवाकारस्तस्मादन्यत्र, तत्र हि त्यज्यमाने बहुदोषसम्भवाश्रीयमाणे चाग्निकन्यायेन गुणसम्भवाद् गुर्वाज्ञया पुनर्भुज्जानस्याऽपि न भङ्गः।” —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

(५)

एकस्थान-सूत्र

एकासणं एगद्धाणं पञ्चकखामि, तिविहं पि आहारं-
असणं, खाइमं, साइमं।

अन्नतथ-ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं,
गुरुअव्भुद्धाणेणं, पारिद्धावणियागारेणं, महत्तरागारेणं,
सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भाषार्थ

एकाशनरूप एकस्थान का घृत ग्रहण करता है। फलतः अशन, स्वादिम और स्वादिम जीनों आहार का प्रत्याख्यान करता है।

अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, गुर्वभ्युत्थान, पारिहापिकाकार, महसराकार और सनसमाधि प्रत्ययोकार—इस सब आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता है।

विवेचन

यह एकस्थान प्रत्याख्यान का सूत्र है। एकस्थानान्तर्गत 'स्थान' शब्द 'स्थिति' का वाचक है। अतः एक स्थान का कलितार्थ है—'दाहिने हाथ एक मुख के अतिरिक्त शेष सब अंगों को दिलाए बिना दिन में एक ही आसन से और एक ही बार भोजन करना।' अर्थात् भोजन प्रारम्भ करते समय जो स्थिति हो, जो अंगविन्यास हो, जो आसन हो, उसी स्थिति अंगविन्यास एवं आसन से बैठे रहना चाहिए।

आचार्य जिनदास ने आवश्यक चूर्ण में एक स्थान की यही परिमाणा दी है—'एकद्वारं ज जया अंगुर्वंग दधिष तदेव समुदिसित्तव्यं, आगारे से आडटणपसारणं नत्थि, सेसा सत्त तदेव।'।

आचार्य सिद्धसेन भी प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में ऐसा ही लिखते हैं—'एक-प्रतितीय स्थान-अङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानप्रत्याख्यानं तद् यथा भोजनकालेऽङ्गोपङ्गं स्थपितं तस्मिन्स्थपारिषत् एव भोजनम्।' —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

एक स्थान की अन्य सब विधि 'एगासन' के समान है। केवल हाथ, पैर आदि के आकुचन प्रसारण का आगार नहीं रहता। इसी लिए प्रस्तुत पाठ में 'आडटण पसारणेवा' का उच्चारण नहीं किया जाता। 'आडटणपसारणा नत्थि, सेसा अज्ञ एकासणाप्।' —इतिमद्रीय आवश्यक वृत्ति।

आगार नहीं है, तब हाथ और मुख का चलन भी कैसे हो सकता है ? समाधान है कि एक स्थान में एक बार भोजन करने का विधान है । और भोजन हाथ तथा मुख की चलन-क्रिया के बिना अशक्य है । अतः अशक्य-परिहार होने से दाहिने हाथ और मुख की चलन क्रिया अप्रतिपिद्ध है । 'मुखस्य हस्तस्य च अशक्यपरिहारत्वाच्चलनमप्रतिपिद्धमिति ।'

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

एक स्थान भी चतुर्विधाहार, त्रिविधाहार, एवं द्विविधाहार रूप से अनेक प्रकार का है । वर्तमान परंपरा के अनुसार हमने केवल त्रिविधा-हार ही मूल पाठ में रक्खा है । यदि चतुर्विधाहार आदि करने हों तो एकाशन के विवेचन में कथित पद्धति के अनुसार पाठ-भेद करके किए जा सकते हैं ।

एक स्थान का महत्त्व तपश्चरस्य की दृष्टि से तो है ही; पण्णु शरीर की चंचलता हटा कर एकाग्र मनोवृत्ति से भोजन करने का और अधिक महत्त्व है । शरीर को निःस्पन्द-मा बना कर और तो क्या खाज भी न खुजला कर काय गुप्ति के साथ भोजन करना सहज नहीं है । ऐसी स्थिति में भोजन भी कम ही किया जाता है ।

'एक स्थान' के प्रत्याख्यान पर से फलित होता है कि साधक को प्रत्येक क्रिया सावधानी के साथ संयम पूर्वक करनी चाहिए । संयम पूर्वक भुजिक्रिया करते हुए भी जीवन शुद्धि का मार्ग प्रशस्त बन सकता है और तप की आराधना हो सकती है ।

(६)

आचाम्ल-सूत्र

आयंघिलं पञ्चक्लामि, अन्नत्यज्याभोगेण, सहस्र-
गारेण, लेयालेवेण, उक्खित्तविवेगेण, गिहि-संसङ्गेण,
परिद्धायणियागारेण, महत्तरागारेण, सञ्चसमाहिबत्तिया-
गारेण योसिरामि ।

भावार्थ

आज के दिन आयंघिल अर्थात् आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ ।
अन्नभोग, सहस्रकर, लेपालेप, उक्खित्त विवेक, गृहस्थसमुष्ट, परिष्क-
निककर, महत्तराकर, सर्वसमाधिपत्ययकार—इन्हें आठ आकर
अर्थात् अरवाहों के अतिरिक्त आचाम्ल आहार का त्याग करता हूँ ।

विवेचन

यह आचाम्ल प्रत्याख्यान का सूत्र है । आचाम्ल व्रत में दिन में
एक बार दूध, नीरस एवं विहृतिपरित एक आहार ही ग्रहण किया
जाता है । दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शकर, मीठा और पक्वान्न आदि
किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन, आचाम्ल व्रत में ग्रहण नहीं किया जा
सकता । अतएव प्राचीन आचार ग्रन्थों में चावल, उड़द अथवा सत्तू
आदि में से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल करने का विधान है ।

१—आचार्य हरिमद्र एवं प्रचनगरांदार के कृत्तिकार आचार्य सिद्ध-
सेन आदि उग्रनिर्दिष्ट पाठ का ही उल्लेख करते हैं । परन्तु कुछ हस्त-
लिखित एवं मुद्रित प्रतियों में पञ्चक्लामि के आगे चौविहार के रूप में
अमर्ण, पार्ण, वाइमं, साइमं तथा त्रिविहार के रूप में अमर्ण, साइमं,
साइमं पाठ भी निरा मिलता है ।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक नियुक्ति में लिखा है—
“गोश्यां नामं त्रिविहं, ओअण कुम्मास सत्तुआ चेव ।” —गाथा १६०३ ।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत गाथा पर व्याख्या करते हुए आवश्यक वृत्ति में लिखा है—‘आयामाम्लमिति गोश्यां नाम । आचामः—अवशायनं आम्लं चतुर्थरसः, ताभ्यां निवृत्तं आयामाम्लम् । इदं चोपधिभेदात् त्रिविधं भवति, ओदनः, कुल्माषः, सक्तवश्चैव ।’

आयंविल प्राकृत भाषा का शब्द है । आचार्य हरिभद्र इसके संस्कृत रूपान्तर आयामाम्ल, आचामाम्ल और आचाम्ल करते हैं ।

आचार्य सिद्धसेन आचाम्ल और आचामाम्ल रूपों का उल्लेख करते हैं । आचामाम्ल की व्याख्या करते हुए आप लिखते हैं—‘आचामः—‘अवश्रमणं अम्लं चतुर्थो रसः, ताभ्यां निवृत्तमित्यण् । एतच्च त्रिविधं उपधिभेदात्, तद्यथा—ओदनं कुल्माषः, सक्तवश्च अधिकृत्य भवति ।’—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति ।

आचार्य देवेन्द्र आठ प्रतिक्रमण वृत्ति में लिखते हैं—‘आयामोऽवश्रावणं अम्लं चतुर्थो रसः, एते व्यञ्जने प्रायो यन्न भोजने ओदन-कुल्माष-सक्तुप्रभृतिके तदाचाम्लं समयभाषयोच्यते ।’

एकाशन और एक स्थान की अपेक्षा आयंविल का महत्त्व अधिक है । एकाशन और एक स्थान में तो एक बार के भोजन में यथेच्छ सरस आहार ग्रहण किया जा सकता है; परन्तु आयंविल के एक बार भोजन में तो केवल उबले हुए उड़द के चाकले आदि लवणरहित नीरस आहार ही ग्रहण किया जाता है । आजकल भुने हुए चने आदि एक नीरस अन्न को पानी में भिगोकर खाने का भी आयंविल प्रचलित है । किं बहुना, भावार्थ यह है कि आचाम्ल तप में रसलोलुपता पर विजय प्राप्त करने का महान् आदर्श है । जिह्वेन्द्रिय का संयम, एक बहुत बड़ा संयम है ।

१ अवश्रमण, अवशायन या अवश्रावण—‘ओसःपण’ को कहते हैं ।

अपने मन को मारना सहज नहीं है। खाने के लिए बैठना और भिन्न भी मनोऽनुकूल नहीं खाना, कुछ साधारण बात नहीं है।

आर्यविल भी साधक की इच्छानुसार चतुर्विधाहार एवं त्रिविधाहार किया जा सकता है। चतुर्विधाहार करना हो तो 'चउत्तिवहं पि आहारं, असणं पाणं, खाइमं, साइमं, बोलना चाहिए। यदि त्रिविधाहार करना हो तो 'तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं' पाठ कहना चाहिए। आर्यविल द्विविधाहार नहीं होता।

आर्यविल में आठ आहार माने गए हैं। आठ में से पाँच आहार तो पूर्व प्रत्याख्यानों के समान ही हैं। केवल तीन आहार ही ऐसे हैं, जो नवीन हैं। उनका मावार्थ इस प्रकार है:—

(१) लोपालेप—आचाम्ल मत में ग्रहण न करने योग्य शर्कर तथा घृत आदि विकृति से यदि पात्र अथवा हाथ आदि लिप्त हो, और दातार गृहस्थ यदि उसे पोंछकर उसके द्वारा आचाम्ल-योग्य भोजन बहाए, तो ग्रहण कर लेने पर मत भंग नहीं होता है।

'लोपालेप' शब्द लेप और अलेप से समस्त होकर बना है। लेप का अर्थ घृतादिसे पहले लिप्त होना है। और अलेप का अर्थ है बाद में उसको पोंछकर अलिप्तकर देना। पोंछ देने पर भी विकृति का कुछ न कुछ अंश लिप्त रहता ही है। अतः आचाम्ल में लोपालेप का आहार रक्ता जाता है। 'लेपश्च अलेपश्च लोपालेपं तस्मादम्बत्र, भाजने विहृत्याद्य-वयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः।' —प्रयत्न सारोद्धार वृत्ति।

(२) उत्तिष्ठ-विवेक—शुष्क ओदन एवं रोटी आदि पर गुड़ तथा शर्कर आदि अद्रव = सूखी विकृति पहले से रक्खी हो। आचाम्लमतधारी मुनि को यदि कोई वह विकृति उठाकर रोटी आदि देना चाहे तो ग्रहण की जा सकती है। उत्तिष्ठ का अर्थ उठाना है और विवेक का अर्थ है उठाने के बाद उसका न लगा रहना। मावार्थ यह है कि आचाम्ल में प्राण द्रव्य के साथ यदि गुणादि विकृति रूप अप्राण द्रव्य का धर्म भी हो और कुछ नाम मान का अंश लगा हुआ भी हो तो व्रत भंग

नहीं होता । परन्तु यदि विकृति द्रव हो, उठाने की स्थिति में न हो तो वह वस्तु ग्राह्य नहीं है । ऐसी वस्तु का भोजन करने से आचाम्ल व्रत का भंग माना जाता है । 'शुक्लौदनादिभक्ते पतितपूर्वस्याचाम्ल-प्रत्याख्यानवतामयोग्यस्य अद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य उत्तिष्ठस्य—उद्धृतस्य विधेको—निःशेषतया त्यागः उत्तिष्ठविवेकस्तस्मादन्यत्र, भोक्तव्यद्रव्यस्याभोक्तव्यद्रव्यस्पर्शेनाऽपि न भङ्ग इत्यर्थः । यत्तूत्तेषु न शक्यते तस्य भोजने भङ्ग एव ।"—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

(३) गृहस्थसंसृष्ट—घृत अथवा तैल आदि विकृति से छँके हुए कुल्माष आदि लेना, गृहस्थसंसृष्ट आगार है । अथवा गृहस्थ ने अपने लिए जिस रोटी आदि खाद्य वस्तु पर घृतादि लगा रक्खा हो, वह ग्रहण करना भी गृहस्थसंसृष्ट आगार है । उक्त आगार में यह ध्यान में रखने की बात है कि यदि विकृति का अंश स्वल्प हो, तब तो व्रत भंग नहीं होता । परन्तु विकृति यदि अधिक मात्रा में हो तो वह ग्रहण करलेने से व्रत भंग का निमित्त बनती है ।

प्रवचन सारोद्धार वृत्ति के रचयिता आचार्य सिद्धमेन, घृतादि विकृति से लिप्त पात्र के द्वारा आचाम्लयोग्य वस्तु के ग्रहण करने को गृहस्थसंसृष्ट कहते हैं । 'विकृत्यो संसृष्टभाजनेन हि दीयमानं भक्ष्यमकल्पनीयद्रव्यमिश्रं भवति तद् भुञ्जानस्यापि न भङ्ग इत्यर्थः, यदि अकल्प्यद्रव्यरसो बहु न ज्ञायते ।'—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, प्रत्याख्यान द्वार ।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि लेपालेप, उत्तिष्ठविवेक, गृहस्थ-संसृष्ट और पारिष्ठापनिकागार—ये चार आगार साधु के लिए ही हैं, गृहस्थ के लिए नहीं ।

(७)

अभक्तार्थ=उपवास-सूत्र

उग्राए सरे, अमत्तद्धं पञ्चम्यामि, चउत्थिई पि
आहारं—असर्गं, पार्णं, खादमं, सादमं ।

अन्नत्यणामोगेणं, सहसागारेणं, पारिष्टावणियागारेणं,
महत्तरागारेणं, मध्यममाह्वितियागारेणं, योसिरामि ।

भाषार्थ

सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ=उपवास ग्रहण करता हूँ; पञ्चठं
अशन, पान, ल-दिम और स्वादिम चारों ही आहार का त्याग
करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, पारिष्टापनिकाकार, महत्तराकार, सब-
समाधि प्रत्ययाकार—उक्त पाँच आहारों के सिवा सब प्रकार के आहार
का त्याग करता हूँ ।

विवेचन

अभक्तार्थ, उपवास का ही पर्यायान्तर है । 'भक्त' का अर्थ
'भोजन' है । 'अर्थ' का अर्थ 'प्रयोजन' है । 'अ' का अर्थ 'नहीं' है ।
तीनों का मिलकर अर्थ होता है—भक्त का प्रयोजन नहीं है जिस मत में
यह उपवास । 'न विद्यते भ्रातृषो यस्मिन् प्रत्याख्यानने सोऽभ्राथं स
उपवासः'—देवेन्द्र कृत श्रद्ध प्रतिनमस्य श्रुति ।

उपवास के पहले तथा पिछले दिन एकाशन हो तो उपवास के पाठ
में 'चउत्थमत्तं अमत्तद्धं' दो उपवास में 'अद्धमत्तं अमत्तद्धं' तीन

१ 'भ्राते-भोजनेन अर्थ-प्रयोजनं भ्रातृषं, न भ्रातृषोऽभ्राथं' ।
अथवा न विद्यते भ्रातृषो यस्मिन् प्रत्याख्यानविरोधे सोऽभ्राथं-
उपवास इत्यर्थः ।"—प्रवचन सारोद्धार श्रुति ।

उपवास में 'अद्वयभक्तं भक्तद्वय' पढ़ना चाहिए। इस प्रकार उपवासकी संख्या को दूना करके उसमें दो और मिलाने से जो संख्या आए उतने 'भक्त' कहना चाहिए। जैसे चार उपवास के प्रत्याख्यान में 'द्वयभक्त' और पाँच उपवास के प्रत्याख्यान में 'चारहभक्त' इत्यादि।

अन्तकृद् दशांग आदि सूत्रों में तीन दिन के व्रत को 'सद्विभक्त' कहा है। इस पर से कुछ विद्वानों को आशंका है कि ये संग्राह्य उपयुक्त कण्डिका के अर्थ को व्योतित नहीं करती? ये केवल प्राचीन रुढ़ संज्ञाएँ ही हैं। इस लिए श्री गुरुविनयगणी धर्मसागरीय उत्सूत्र खण्डन में लिखते हैं—'प्रथमदिने चतुर्थमिति संज्ञा, द्वितीयेऽह्नि षष्ठं, तृतीयेऽह्नि अष्टममित्यादि।'।

चउविहाहार और तिविहाहार के रूप में उपवास दो प्रकार का होता है। चउविहाहार का पाठ ऊपर मूलसूत्र में दिया है। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों आहारों का त्याग करना, चउविहाहार अभक्तद्वय कहलाता है। तिविहाहार उपवास करना हो तो पानी का आगार रखकर शेष तीन आहारों का त्याग करना चाहिए। तिविहाहार उपवास करने समय 'तिविहं पि आहारं-असणं, खाहमं, साहमं।' पाठ कहना चाहिए।

कितने ही आचार्यों का मत है कि—'पारिष्ठावणियागारेण' का आगार तिविहाहार उपवास में ही होता है, चउविहाहार उपवास में नहीं। अतः चउविहाहार उपवास में 'पारिष्ठावणियागारेण' नहीं बोलना चाहिए।

अचार्य जिनदास लिखते हैं—'जति तिविहस्स पञ्चक्खाति विगि-
,चणियं कप्पति, जदि चउविहस्स पाणणं च नत्थि न वट्ठति।'।

—आवश्यक चूर्णि।

आचार्य नमि लिखते हैं—'चतुर्विधाहार प्रत्याख्याने पारिष्ठापनिका न कल्पते।'—प्रतिक्रमण सूत्र विवृत्ति।

परिद्धत प्रसर सुखलालजी ने अपने पञ्चप्रतिक्रमण सूत्र में पारिद्ध पनिकागार के विषय में लिखा है—‘चडव्विहाहार उपवास में पानी, त्रिविधाहार उपवास में अन्न और पानी, तथा आयविल में विगद, अन्न एवं पानी लिया जा सकता है।’

त्रिविधाहार अर्थात् त्रिविधाहार उपवास में पानी लिया जाता है। अतः जल सम्बन्धी छु आगार मूल पाठ में ‘सम्यक्समाहित्तियागारेण’ के आगे इस प्रकार वृद्ध कर धोतने चाहिये—‘पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अप्पेण वा, पहलेण वा, सत्तिसेण वा, असिरेण वा धोत्तिरामि।’

उक्त छु आगारों का उल्लेख जिनदास महत्तर, हरिभद्र और सिद्ध सेन आदि पाच सभी प्राचीन आचार्यों ने किया है। केवल उपवास में ही नहीं अन्य प्रत्याख्यानों में भी जहाँ त्रिविधाहार करना हो, सर्वत्र उक्त पाठ धोतने का विधान है। यद्यपि आचार्य जिनदाम आदि ने इस का उल्लेख अभिज्ञान के प्रसंग पर ही किया है।

उक्त जल सम्बन्धी आगारों का भाग्यार्थ इस प्रकार है —

(१) लेपकृत—दाल आदि का मॉक तथा इमली, लवंग, दाल आदि का पानी। यह सब पानी जो पात्र में उम्लोत्कारक हो, लेपकृत कहलाता है। त्रिविधाहार में इस प्रकार का पानी प्रदण किया जा सकता है।

(२) अलेपकृत—झाड़ू आदि का निभण हुआ और काँड़ी आदि का पानी अलेपकृत कहलाता है। अलेपकृत पानी से यह धोवन लेना चाहिये, जिसका पात्र में लेर न लगता हो।

(३) अण्ड—अण्ड का अर्थ स्वच्छ है। गर्म किया हुआ स्वच्छ पानी ही अण्ड शब्द से ग्राह्य है। हाँ, प्रयत्न सारोद्धार की वृत्ति ने रचयिता आचार्य सिद्धसेन उण्डोदकादि कथन करन है। ‘अण्डोदकात् उण्डोदकादे।’ परन्तु आचार्यजी ने स्पष्टीकरण नहीं किया कि आदि से उण्डजल के अतिरिक्त और कौन सा जल ग्राह्य है। संभव है फल

आदि का स्वच्छ धोवन ग्राह्य हो । एक गुजराती अर्थकार ने ऐसा लिखा भी है ।

(४) बहल—तिल, चावल और जौ आदि का चिकना मांड बहल कहलाता है । बहल के स्थान पर कुछ आचार्य बहुलेप शब्द का भी प्रयोग करते हैं ।

(५) ससिक्थ—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जिस में सिक्थ अर्थात् आटा आदि के कण भी हों । इस प्रकार का जल त्रिविधाहार उपास में लेने से व्रत भंग नहीं होता ।

(६) असिक्थ—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जो छुना हुआ हो, फलतः जिस में आटा आदि के कण न हो ।

परिणत सुखलाल जी एक विशेष बात लिखते हैं । उनका कहना है—प्रारंभ से ही चउव्विहाहार उपास करना हो तो 'पारिद्धावणियागारेणं' बोलना । यदि प्रारंभ में त्रिविधाहार किया हो, परन्तु पानी न लेने के कारण सायंकाल के समय त्रिविधाहार से चउव्विहाहार उपास करना हो तो 'पारिद्धावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए ।

(८)

दिवसचरिम-सूत्र

दिवसचरिमं पञ्चकखामि, चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, ।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सब्ब समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

भार्य

दिवस चरम का वन ग्रहण करता है, कलत अशन, वान, सारिम और स्वादिम चारों आहार का त्याग करता है ।

अनाभोग, सहसाकार, महसाकार और ससमाधिप्रव्याकार-उक्त चार आहारों के सिवा आहार का त्याग करता है ।

दिचेचन

यह चरम प्रत्याख्यान सूत्र है । 'चरम' का अर्थ 'अन्तिम भाग' है । यह दो प्रकार का है—दिवस का अन्तिम भाग और भय अर्थात् आयु का अन्तिम भाग । सूर्य के अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सुषोदय तप के लिए चारों अथवा तीनों आहारों का त्याग करना, दिवस चरम प्रत्याख्यान है । अर्थात् उक्त प्रत्याख्यान में शेष दिवस और सम्पूर्ण रात्रि-भर के लिए चार अथवा तीन आहार का त्याग किया जाता है । साधक के लिए आवश्यक है कि वह कम से कम दो पक्षी दिन रहते ही आहार पानी से निवृत्त हो जाय और कार्यवासीन प्रतिजमण के लिए तैयारी करे ।

भयचरम प्रत्याख्यान का अर्थ है जब साधक को यह निश्चय हो जाय कि आयु थोड़ी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारों या तीनों आहारों का त्याग करदे और मंथारा ग्रहण करने सपन की आराधना करे । भयचरम का प्रत्याख्यान, जीवन भर की मयम साधना सामग्री सफलता का उज्ज्वल प्रतीक है ।

भयचरम का प्रत्याख्यान करना हो तो 'दिवस चरम' के स्थान में 'भय चरम' जोचना चाहिए । शेष पाठ दिवस चरम ने समान ही है ।

दिवस चरम और भयचरम चउनिहाहार और तिनिहाहार दोनों प्रकार से होते हैं । तिनिहाहार में पानी ग्रहण किया जा सकता है । साधु के लिए 'दिवसचरम' चउनिहाहार ही माना गया है ।

दिवसचरम और भवचरम में केवल चार आगार ही मान्य हैं। पारिष्ठापनिक आदि आगार यहाँ, अभीष्ट नहीं हैं। कुछ लेखकों ने पारिष्ठानिका आदि आगारों का उल्लेख किया है, वह अप्रमाण समझना चाहिए।

यह चरमद्वय का प्रत्याख्यान, यदि तिविहाहार करना हो तो 'तिविहं पि आहारं-असणं खाहमं साहमं' पाठ बोलना चाहिए। चउ-विहाहार का पाठ, ऊपर मूल सूत्र में लिखे अनुसार है।

पं० मुखलाल जी ने दिवस चरम में गृहस्थों के लिए दुविहाहार प्रत्याख्यान का भी उल्लेख किया है।

दिवस-चरम एकाशन आदि में भी ग्रहण किया जाता है, अतः प्रश्न है कि एकाशन आदि में दिवस चरम ग्रहण करने का क्या लाभ है? भोजन आदि का त्याग तो एकाशन प्रत्याख्यान के द्वारा ही हो जाता है? समाधान के लिए कहना है कि एकाशन आदि में आठ आगार होते हैं और इसमें चार। अस्तु, आगारों का संक्षेप होने से एकाशन आदि में भी दिवस चरम का प्रयोजन स्वतः सिद्ध है।

मुनि के लिए जीवनपर्यन्त त्रिविधं त्रिविधेन रात्रि-भोजन का त्याग होता है। अतः उनको दिवस चरम के द्वारा शेष दिन के भोजन का त्याग होता है, और रात्रि भोजन त्याग का अनुवादकत्वेन स्मरण हो जाता है। रात्रि भोजन त्यागी गृहस्थों के लिए भी यही बात है। जिनको रात्रि भोजन का त्याग नहीं है, उनको दिवस चरम के द्वारा शेष दिन और रात्रि के लिए भोजन का त्याग हो जाता है।

: ६ :

अभिग्रह-सूत्र

अभिग्रहं पञ्चक्खामि चउज्झिदं पि आहारं असणं,
पाणं, खादमं, सादमं ।

अन्नत्थऽणा भोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं,
सव्वसमाहियत्तियागारेणं वोसिरामि ।

भाषार्थ

अभिग्रह का मत ग्रहण करता हूँ, फलतः अन्न, पान खादिम और
खादिम चारों ही आहार का (संबन्धित समय तक) त्याग करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाभिग्रहत्याकार—
उह चार आहारों के सिवा अभिग्रहपूर्ति तक चार आहार का त्याग
करता हूँ ।

विशेषण

उपवास आदि तप के बाद अथवा बिना उपवास आदि के भी अपने
मनमें निश्चित प्रतिज्ञा कर लेना कि अभुक्त बातों के मिलने पर ही पारणा
अर्थात् आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा मत, बेला, तेला आदि
संबन्धित दिनों की अवधि तक आहार ग्रहण नहीं करूँगा—इस
प्रकार की प्रतिज्ञा को अभिग्रह कहते हैं ।

अभिग्रह में जो बातें धारण करनी हों, उन्हें मन में निश्चय कर लेने
के बाद ही उपयुक्त पाठ के द्वारा प्रत्याख्यान करना चाहिए । यह न हो
कि पहले अभिग्रह का पाठ पढ़ लिया जाय और बाद में धारण किया
जाय । यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि अभिग्रह-पूर्ति से पहले
अभिग्रह की किसी के आगे प्रकट न किया जाय ।

अभिग्रह की प्रतिज्ञा उड़ी नठिन होनी है । अत्यन्त धीर एवं वीर साधक

ही अभिग्रह का पालन कर सकते हैं। अतएव साधारण साधकों को अतिसाहस के फेर में पड़ने से बचना चाहिए। जैन इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि एक साधु ने सिंहकेसरिया मोदकों का अभिग्रह कर लिया था और जब वह अभिग्रह पूर्ण न हुआ तो पागल होकर दिन-रात का कुछ भी विचार न रखकर पात्र लिए घूमने लगा। कल्पसूत्र की टीकाओं में उक्त उदाहरण आता है। अतः अभिग्रह करते समय अपनी शक्ति और अशक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

(१०)

‘निर्विकृतिक-सूत्र

विगड्ग्रोः पञ्चमखामि, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसा-
गारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसिद्धेणं, उद्विखत्तविधेगेणं,
पडुच्चमक्खिण्णं, पारिद्धावणियागारेणं, महत्तरागारेणं,
सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि ।

१ प्राकृत भाषा का मूल शब्द ‘निव्विगड्ग्रं’ है। आचार्य सिद्धसेन ने इसके दो संस्कृतरूपान्तर किए हैं—निर्विकृतिक और निर्विगतिक। आचार्य श्री घृतादि को विकृतिहेतुक होने से विकृति और विगतिहेतुक होने से विगति भी कहते हैं। जो प्रत्याख्यान विकृति से रहित हो वह निर्विकृतिक एवं निर्विगतिक कहलाता है। ‘तत्र मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगतिहेतुत्वाद् वा विकृतयो विगतयो वा, निर्गता विकृतयो विगतयो वा यत्र तन्निर्विकृतिकं निर्विगतिकं वा प्रत्यायाति ।’—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति प्रत्याख्यान द्वार ।

२ प्रवचन सारोद्धार में ‘विगड्ग्रो’ के स्थान में ‘निव्विगड्ग्रं’ पाठ है।

भाषार्थ

विकृतियों का प्रत्यारथान करता है । अनामोग, सद्वसाकार, लेपालेप, महत्त्वसमष्ट, उत्तिष्ठविवेक, प्रसोत्पन्नद्वित, पारिष्ठाभनिक, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययकार-उक्त नौ आचारों के सिवा विकृति का परित्याग करता है ।

विधेयन

मन में विकार उत्पन्न करने वाले भोग्य पदार्थों को विकृति कहते हैं । मनसो विकृति हेतुत्वाद् विकृतयः' आचार्य हेमचन्द्र-वृत्त योगशास्त्र तृतीय प्रकाश इति । विकृति म 'दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु आदि भोग्य पदार्थ सम्मिलित हैं ।

भोजन, मानव-जीवन में एक अतीव महत्त्वपूर्ण वस्तु है । शरीरवाना के लिए भोजन तो ग्रहण करना ही होता है । ऊँचे से ऊँचा साधक भी सर्वथा सदाशूल निराहार नहीं रह सकता । अतएव शास्त्रकारों ने प्रवृत्तार्था है कि—भोजन में सात्विकता रखनी चाहिए । ऐसा भोजन न हो, जो अत्यन्त पौष्टिक होने के कारण मन में दूषित वासनाओं की उत्पत्ति करे । निवारजनक भोजन स्वयं को दूषित किए बिना नहीं रह सकता ।

१ विकृतियों के मध्य और अभद्ररूप से दो भेद किए गए हैं । मध्य और माय तो सर्वथा अभद्र विकृतियों हैं । अतः साधक को इनका त्याग जीवन-व्यय-त के लिए होता है । मधु और नवनीत = मक्खन भी विशेष स्थिति में ही लिए जा सकते हैं, अन्यथा नहीं । दूध, दही, घी, तेल, गुड़ आदि और अवगादिम अर्थान् पक्वान्न—ये छः मध्य विकृतियाँ हैं । मध्य-विकृतियों का भी यथारक्ति एक या एक से अधिक के रूप में प्रति दिन त्याग करते रहना चाहिए । यथावसर सभी विकृतियों का त्याग भी किया जाता है ।

आवश्यक चूर्ण, प्रवचन सरोदार आदि प्राचीन ग्रन्थों में विकृतियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है ।

शरीर के लिए पौष्टिक आहार सर्वथा वर्जित नहीं है। सर्वथा शुष्क आहार, कभी-कभी शरीर को क्षीण बना देता है। अतः यदा कदा पौष्टिक आहार लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। परन्तु नित्य-प्रति विकृति का सेवन करना, निषिद्ध है। जो साधु नित्य प्रति विकृति का सेवन करता है, उसे शास्त्रकार पापश्रमण बतलाते हैं।

निर्विकृति के नौ आगार हैं। आठ आगारों का वर्णन तो पहले के पाठों में यथास्थान आचुका है। प्रतीत्यम्रक्षित नामक आगार नया है। भोजन-बनाते समय जिन रोटी आदि पर सिर्फ उँगली से घी आदि चुपड़ा गया हो ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करना, प्रतीत्यम्रक्षित आगार कहलाता है। इस आगार का यह भाव है कि—घृत आदि विकृति का त्याग करने वाला साधक धारा के रूप में घृत आदि नहीं खा सकता। हाँ घी से साधारण तौर पर चुपड़ी हुई रोटियाँ खा सकता है। “प्रतीत्य सर्वथा रुक्षमण्डकादि, ईषत्सौकुमार्यं प्रतिपादनाय यदंगुल्या ईषद् घृतं गृहीत्वा म्रक्षितं तदा कल्पते, न तु धारया”

—तिलकाचार्य-कृत, देवेन्द्र प्रतिक्रमण वृत्ति

विकृति द्रव और अद्रव के भेद से दो प्रकार की होती हैं। जो घृत, तैला आदि विकृति-द्रव हों, तरल हों, उनके प्रत्याख्यान में उत्क्षिप्त-विवेक का आगार नहीं रक्खा जाता। गुड़ और पक्वान्न आदि अद्रव अर्थात् शुष्क विकृतियों के प्रत्याख्यान में ही उक्त आगार होता है।

किसी एक विकृति-विशेष का त्याग करना हो तो उसका नाम लेकर पाठ बोलना चाहिए। जैसे ‘दुग्धविगइयं पचक्खामि’ ‘दधिविगइयं पचक्खामि’ इत्यादि।

१ ‘म्रक्षित’ चुपड़े हुए को कहते हैं। और प्रतीत्यम्रक्षित कहते हैं—जो अच्छी तरह चुपड़ा हुआ न हो, किन्तु चुपड़ा हुआ जैसा हो, अर्थात् म्रक्षिताभास हो। ‘म्रक्षितमिव यद् वर्तते तत्प्रतीत्यम्रक्षितं म्रक्षिताभासमित्यर्थः।’ —प्रवचन सारोद्धार वृत्ति

जितने काल के लिए त्याग करना हो, उतना काल त्याग करने समय अपने मन में निश्चित कर लेना चाहिए ।

(११)

प्रत्याख्यान पारणा सूत्र

उत्ताए सूरं नमुक्कार सहियं पञ्चखल्लारं कथं । 'तं
पञ्चखल्लारं सम्मं काएण कासियं, पालियं, तीरियं, किट्ठियं,
सोहियं, आराहिअं । जं च न आराहिअं, तस्म मिच्छा
मि दुक्कडं ।

भावार्थ

सूर्योदय होने पर जो नमस्कार सहित प्रत्याख्यान किया था, वह प्रत्याख्यान (मन वचन) शरीर के द्वारा सम्यक् रूप से स्पष्ट, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित एवं आराधित किया । और जो सम्यक् रूप से आराधित न किया हो, उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।

विवेचन

यह प्रत्याख्यानवृत्ति का सूत्र है । कोई भी प्रत्याख्यान किया हो उसकी समाप्ति प्रस्तुत सूत्र के द्वारा करनी चाहिए । ऊपर मूल पाठ में 'नमुक्कारसहियं' नमस्कारिका का सूचक सामान्य शब्द है । इसके स्थान में जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रमता हो उसका नाम लेना चाहिए । जैसे कि पोरसी ले रक्ती हो तो 'पोरिसी पञ्चखल्लारं कथं' ऐसा कहना चाहिए ।

प्रत्याख्यान पालने के छह श्रद्धा उतलाए गए हैं । असु मूल पाठ के अनुसार निम्नोक्त कृपा श्रद्धा से प्रत्याख्यान की आराधना करनी चाहिए ।

(१) फासियं (स्पृष्ट अथवा स्पर्शित) गुरुदेव से या स्वयं विधिपूर्वक प्रत्याख्यान लेना ।^१

(२) पालियं (पालित) प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना ।

(३) सोहियं (शोभित) कोई दूषण लग जाय तो सहसा उसकी शुद्धि करना । अथवा 'सोहियं' का संस्कृत रूप शोभित भी होता है । इस दशा में अर्थ होगा—'गुरुजनों को, साथियों को अथवा अतिथिजनों को भोजन देकर स्वयं भोजन करना ।

(४) तीरियं (तीरित) लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहर कर भोजन करना ।

(५) किट्टियं (कीर्तित) भोजन प्रारंभ करने से पहले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर उत्कीर्तन-पूर्वक कहना कि मैंने अमुक प्रत्याख्यान अमुक रूप से ग्रहण किया था, वह भली भाँति पूर्ण होगया है ।

(६) आराहियं (आराधित) सब दोषों से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधि के अनुसार प्रत्याख्यान की आराधना करना ।^२ साधारण मनुष्य सर्वथा भ्रान्ति रहित नहीं हो सकता । वह साधना

१—'प्रत्याख्यान ग्रहणकाले विधिना प्राप्तम् ।'

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

आचार्य हरिभद्र फासियं का अर्थ 'स्वीकृत प्रत्याख्यान को बीच में खण्डित न करते हुए शुद्ध भावना से पालन करना' करते हैं । 'फासियं नाम जं अंतरा न खंडेति ।' आवश्यक चूर्णि

२—'शोभितं-गुवांङि प्रदत्तशेषभोजनाऽऽसेवनेन राजितम् ।'

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

'शोभितं' नाम जो भक्षणार्थ आणेत्या पुट्ठं दाऊण सेसं भुजति दायव्यपरिणामेण वा, यदि पुण एकतो भुजति ताहे ए सोहियं भवति ।' —आचार्य जिनदासकृत शास्त्रार्थ कौमुदी

जाना हुआ भी कभी कभी साधना पथ में हथर उधर भटक जाता है।
अनुनृत रूप के द्वारा स्वीकृत बात की शुद्धि की जाती है, भ्रान्ति व्रजित-
दार्श की आलोचना की जाती है, और अन्त में मिच्छामि हुकूम देकर
प्रत्याख्यान में हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है। आलोचना
एवं प्रतिक्रमण करने से बात शुद्ध हो जाता है।



३—आचार्य विनयान ने 'पाराधिष' के स्थान में 'अनुपालित' कहा है। अनुपालित का अर्थ किया है—तीर्थकर देव के वचनों का बार बार स्मरण करते हुए प्रत्याख्यान का पालन करना। 'अनुपालित' नाम अनुसृत्य अनुसृत्य तीर्थकरवचनं प्रत्याख्यानं पालयिष्ये।
—आवश्यक चूर्ति।

: ३ :

संस्तार-पौरुषी-सूत्र

[जैनधर्म की निवृत्तिप्रधान साधना में 'संधारा'—'संस्तारक' का बहुत बड़ा महत्त्व है। जीवनभर की अच्छी-बुरी हलचलों का लेखा लगाकर अन्तिम समय ममस्त दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करना; मन, वाणी और शरीर को संयम में रखना; ममता से मन को हटाकर उसे प्रभुस्मरण एवं आत्मचिन्तन में लगाना; आहार पानी तथा अन्य सब उपाधियों का त्याग कर आत्मा को निर्द्वन्द्व एवं निस्पृह बनाना; संसारा का आदर्श है। यहाँ मृत्यु के आगे गिड़गिड़ाते रहना, रोते पीठते रहना, बचने के प्रयत्न में अंठ-मंठ पापकारी क्रियाएँ करना, अभिमत नहीं है। जैनधर्म का आदर्श है—जब तक जीवो, विवेक पूर्वक आनन्द से जीवो। और जब मृत्यु आ जाए तो विवेकपूर्वक आनन्द से ही मरो। मृत्यु तुम्हें रोते हुएों को घसीट कर ले जाय, यह मानवजीवन का आदर्श नहीं है। मानवजीवन का आदर्श है—संयम की साधना के लिए अधिक से अधिक जीने का यथासाध्य प्रयत्न करो। और जब देखो कि अब जीवन की लालसा में हमें अपने धर्म से ही च्युत होना पड़ रहा है, संयम की साधना से ही लक्ष्य भ्रष्ट होना पड़ रहा है, तो अपने धर्म पर, अपने संयम पर दृढ़ रहो और समाधिस्मरण के स्वागतार्थ हँसते-हँसते तैयार हो जाओ। जीवन ही कोई बड़ी चीज़ नहीं है। जीवन के बाद मृत्यु भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मृत्यु को किसी तरह डाला तो

न नहीं सकता, हाँ, उसे मथाना की भावना के द्वारा करने जरूर बनाया जा सकता है।

रात्रि में सोचना भी एक छोटो भी अच्छा—सालिह मूल्य है। मोने समय मनुष्य की चेतना शक्ति पहुँचनी पड़ जानी है, शरीर निश्चेष्टता पर मानवभावना में रहता हो जाता है। और तो क्या, आत्मरक्षा का भी उस समय कुछ प्रयत्न नहीं हो पाता। अ०-बौध्दाचार्य प्रतिदिन रात्रि में मोने समय मागारी मथारा करने का विधान करते हैं, यही मथाग पौढ़गी है। मोने के बाद क्या नहीं क्या होगा? प्रातःकाल सुबहपूर्वक शय्या से उठभी सकेंगे अथवा नहीं? आजभी सोचाने कहाँ है—“जिसके बीच में रात, कमकी क्या बात? अतएव शास्त्रकार प्रतिदिन सावधान रहने की प्रेरणा करते हैं और कहते हैं कि जीवन के मोने में मृत्यु की न भूल जाओ, उसे प्रतिदिन याद रखो। फलस्वरूप सोने समय भी अपने आपको समन्तामान पर रागद्वेष से दूर रखकर समभाव में संलग्न करो, बाध्यवशत् से मुँह मोड़कर अन्नद्वारा में प्रवेश करो। मोने समय जो भावना बनती जाती है प्रायः वही स्वप्न में भी रह जाती है। अतः मथाग के रूप में मोने समय यदि विशुद्ध भावना है तो वह स्वप्न में भी गतिशील रहेगी, और मुझरे जीवन की अविशुद्ध न होने देगी।]

अणुनाखद परमगुरु !

गुरुगुरु-नयरोहिं मंडियमरीरा ।

यद्गु पडिपुत्रा पोरिसि,

राइयमंथारर ठामि ॥ १ ॥

[सपारा के जिय आजा] हे छोटे गुणरत्नों से अज्ञात परम-गुरु ! आप मुझसे सपारा करने की आज्ञा दीजिए। एक प्रह्वर परिपूर्ण बीज चुका है, इस जिए में रात्रिसपारा करना चाहता हूँ।

अणुजाणह संथारं,
बाहुवहाणेण वामपासेणं ।

कुक्कुडि-पायपसारण

अतरंत पमज्जए भूमिं ॥ २ ॥

संकोइय संडासा,
उच्चट्ठंते अ काय-पडिलेहा ।

दब्बाई-उक्कओगं,

ऊत्तासनिरुंभणालोए ॥ ३ ॥

भावार्थ

[संथारा करने की विधि] मुझको संथारा की आज्ञा दीजिए ।
[संथारा की आज्ञा देते हुए गुरु उसकी विधि का उपदेश देते हैं]
मुनि बाईं भुजा को तकिया बनाकर बाईं करवट से सोवे । और मुर्गी
की तरह ऊँचे पाँव करके सोने में यदि असमर्थ हो तो भूमि का
प्रमार्जन कर उस पर पाँव रखे ।

दोनों घुटनों को सिकोड़ कर सोवे । करवट बदलते समय शरीर
की प्रतिलेखना करे । जागने के लिए ' द्रव्यादि' के द्वारा आत्मा का

१—मैं वस्तुतः कौन हूँ और कैसा हूँ ? इस प्रश्न का चिन्तन करना
द्रव्य चिन्तन है । तत्त्वतः मेरा क्षेत्र कौनसा है ? यह विचार करना क्षेत्र-
चिन्तन है । मैं प्रमाद रूप रात्रि में सोया पड़ा हूँ अथवा अप्रमत्त भावरूप
दिन में जाग्रत हूँ ? यह चिन्तन कालचिन्तन है । मुझे इस समय लघु-
शंका आदि द्रव्य बाधा और रागद्वेष आदि भावबाधा कितनी है ? यह
विचार करना भावचिन्तन है ।

चिन्तन करे। इसने पर भी यदि अच्छी तरह निद्रा दूर न हो तो श्वाह को रोक्कर उसे दूर करे और द्वार का अवलोकन करे—अर्थात् दरवाजे की ओर देखे।

चत्वारि मंगलं—

अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,

साहू मंगलं, कैवल्यपद्मचो धम्मो मंगलं ॥४॥

भावार्थ

चार मंगल हैं, अरिहन्त भगवान् मंगल हैं, सिद्ध भगवान् मंगल हैं, पाँच महायत्तपारी साधु मंगल हैं, केवल्य ज्ञानी का कदा हुआ अहिंसा आदि धर्म मंगल है।

चत्वारि लोगुत्तमा—

अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा;

साहू लोगुत्तमा, कैवल्यपद्मचो धम्मो लोगुत्तमो ॥५॥

भावार्थ

चार सत्तार में उत्तम हैं—अरिहन्त भगवान् उत्तम हैं, सिद्ध भगवान् उत्तम हैं, साधु मुनिराज उत्तम हैं, केवल्यी का कदा हुआ धर्म उत्तम है।

चत्वारि सरणं पवज्जामि—

अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि;

साहू मरणं पवज्जामि, कैवल्यपद्मचो धम्मं सरणं पवज्जामि ॥६॥

भावार्थ

चारों की शरण भंगीकार करता हूँ—अरिहंतों की शरण भंगीकार करता हूँ, सिद्धों की शरण भंगीकार करता हूँ, साधुओं की शरण भंगीकार करता हूँ, केवल्यी-ज्ञाता परम धर्म की शरण छोड़कर करता हूँ।

जइ मे हुज्ज पमाओ,

इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए ।

'आहार सुवहिदेहं,

सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥७॥

भावार्थ

[नियमसूत्र] यदि इस रात्रि में मेरे इस शरीर का प्रमाद हो
अर्थात् मेरी मृत्यु हो तो आहार, उपधि=उपकरण और देह को मन,
वचन और काय से त्याग करता हूँ ।

पाणाइवायमलिअं,

चोरिककं मेहुणं दविणमुच्छं ।

कोहं, माणं, मायं,

लोहं, पिज्जं तहा दीसं ॥८॥

कलहं अब्भक्खाणं,

पेसुन्नं रह-अरइ-समाउत्तं ।

परपस्विअं माया-

मोसं सिच्छत्तसल्लं च ॥९॥

'वोसिरसु' इमाइं,

मुखमग्गसंसग्गविग्घभूआइं ।

दुग्गइ-निवंधणाइं,

अट्ठारस पावठाणाइं ॥१०॥

भाषार्थ

[पाप स्थान का त्याग] हिंसा, अमाय, चोरी, मैथुन, परिग्रह, मोह मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अग्निदाहमान = मिथ्या होशारोपण, पैशुन्य = चुगली, रतिभरति, पर परिवाद, मायामृगशब्द, मिथ्याप्रशङ्क ।

ये अद्वारह पाप स्थान मोह के माने ॥ निग्रह हैं, बाधक हैं । इतनी ही नहीं, दुर्गति के कारण भी हैं । अतएव सभी वापस्थानों का मन बचन और शरीर से त्याग करता है ।

एगोई नत्थि मे कोइ,

नाहमन्नस्य कस्मिद् ।

एवं अदीणमणमो,

अप्पाणमणुमासइ ॥११॥

एगो मे सामथ्रो अप्पा,

नाणादंनरा-संजुओ ।

सेसा मे वाहिरा भावा,

सब्बे संजोगलक्खणा ॥१२॥

संजोगमूला जीरेण,

पत्ता दुक्ख-परंपरा ।

तम्हा मंजोग-मंवंधं,

सर्वं तिमिहेण वोसिरिअं ॥१३॥

भावार्थ

[एकद्वय और अनित्य भावना] मुनि प्रदत्त चित्त से आपने आपको समझाता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ ।

—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, उपलक्षण से सम्यक् चारित्र्य से परिपूर्ण मेरा आत्मा ही शाश्वत है, सन्य मनात्तन है; आत्मा के सिवा अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं ।

—जीवात्मा ने आज तक जो भी दुःखपरंपरा प्राप्त की है, वह सब पर पदार्थों के संयोग से ही प्राप्त हुई है । अतएव मैं संयोग-सम्यन्ध का सर्वथा परित्याग करता हूँ ।

खमिअ खमाविअ मह खमह,

सव्वह जीव-निकाय ।

सिद्धह साख आलोयणह,

मुज्झह वहर न भाव ॥१४॥

सव्वे जीवा कम्मवत्त,

चउदह-राज भमंत ।

ते मे सव्व खमाविआ,

मुज्झ वि तेह खमंत ॥१५॥

भावार्थ

[चमापना] हे जीवगण ! तुम सब खमण खामणा करके मुझ पर चमाभाव करो । सिद्धों को साखी रख कर आलोचना करता हूँ कि—मेरा किसी से भी वैरभाव नहीं है ।

—सभी जीव कर्मवश चौदह रात्रुप्रमाण लोक में परिभ्रमण करते हैं, इन सब को मैंने समायो है, अतएव वे सब मुझे भी पमा करें ।

जं जं मणेरुण वद्धं,

जं जं चाणुण भासियं पाणं ।

जं जं काणुण कयं,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥१६॥

भावार्थ

[मिच्छा मि दुक्कडं] मैंने जो जो पाप मन से संकल्प द्वारा बाँधे हों, पाणी से पापमूलक वचन बोले हों, और शरीर से पापाचरण किया हो, वह सब पाप मेरे लिए मिच्छा हो ।

नमो अरिहंताणं,

नमो सिद्धाणं,

नमो आयरियाणं,

नमो उवज्झापाणं

नमो लोए सव्व-साहणं !

एमो पंच - नमुज्झारो,

सव्व- पाव- परामणो ।

मंगलार्थं च सव्वेसिं

पदमं हवइ मंगलं ॥

भावार्थ

श्री अरिहंतों को नमस्कार हो,

श्री भिदों को नमस्कार हो,

श्री आचार्यों को नमस्कार हो,
 श्री उपाध्यायों को नमस्कार हो,
 लोक में के सब साधुओं को नमस्कार हो ।

यह पाँच पदों को किया हुआ नमस्कार, सब पापों का सर्वथा
 नाश करने वाला है । और संसार के सभी मंगलों में प्रथम अर्थात्
 भावरूप मुख्य मंगल है ।



: ४ :

शेष सूत्र

(१)

सम्यक्त्व सूत्र

अरिहंतो मह देवो,
जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण-पणणत्तं तत्तं,
इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अरिहंतो = अहंस्त भगवान्

मह = मेरे

देवो = देव हैं

जावज्जीवं = जावज्जीवन,

जीवन पर्यन्त

सुसाहुणो = श्रेष्ठ साधु

गुरुणो = गुरु हैं

जिणपणणत्तं = भी जिनराज का

कहा हुआ

त्तं = तत्त्व है, धर्म है

इअ = यह

सम्मत्तं = सम्यक्त्व

मए = मैंने

गहियं = ग्रहण किया है

भाषार्थ

शरीर-द्वेष के जीतने वाले श्री अरिहंत भगवान् मेरे देव हैं, जीवन-पर्यन्त संयम की साधना करने वाले सच्चे साधू मेरे गुरु हैं, श्री जिनेश्वर देव का बताया हुआ अहिंसा सत्य आदि ही मेरा धर्म है—यह देव, गुरु धर्म पर श्रद्धा स्वरूप सम्यक्त्व व्रत मैंने यात्राजीवन के लिए ग्रहण किया ।

(२)

गुरु गुणस्मरणं सूत्र

पञ्चिदिय-संवरणो,

तह नवविह-वंभचेर-गुत्ति-धरो ।

चउविह-कसाय-मुक्को,

इअ अठ्ठारस-गुणेहिं संजुत्तो ॥ १ ॥

पंच - महव्वय - जुत्तो,

पंचविहायार - पालण - समत्थो ।

पंच - समिओ तिगुत्तो,

छत्तीस—गुणो गुरू मज्झ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पञ्चिदिय = पांच इन्द्रियों को

गुत्तिधरो = गुत्तियों को धारण करने वाले

संवरणो = वश में करने वाले

तह = तथा

चउविह = चार प्रकार के

नव विह वंभचेर = नव प्रकार के

कसायमुक्को = कषाय से मुक्त

= सचर्य की

इअ = इन

अष्टारह गुणैर्दि = अष्टारह
गुणों से

सवुत्तो = ससुत्र, सहित

पंच महव्यय वुत्तो = पांच महाव्रतों
से सुत्र

पंच विदायार = पांच प्रकार का
आचार

पालय नमन्थो = पालने में समर्थ

पंचसमिथो = पांच समिति वाले

त्रिगुत्तो = तीन गुति वाले

छत्तीसगुणो = (इस प्रकार) छत्तीस
गुणों वाले साधु

मन्त्र = मेरे

गुरु = गुरु हैं

भावार्थ

पांच इन्द्रियों के वैयक्तिक पाचक्य को रोकनेवाले, ब्रह्मचर्य
व्रत की नवविध गुतियों को-नी बातों को धारण करने वाले, शोध
आदि चार प्रकार की कथाओं से सुत्र, इस प्रकार अष्टारह गुणों
से ससुत्र ।

अहिंसा आदि पांच महाव्रतों से सुत्र, पांच आचारों के पालन
करने में समर्थ, पांच समिति और तीन गुति के धारण करने वाले,
अर्थात् उक्त छत्तीस गुणों वाले भेद साधु मेरे गुरु हैं ।

(३)

गुरुवन्दन सूत्र

तिकवुत्तो

आपाहिणं पयाहिणं करेमि,

वन्दामि, नमस्सामि,

सक्कारेमि, सम्माणेमि,

कन्ल्लायं, मंगलं,

देवयं, चेइयं,
पञ्जुवासामि,
मत्थएण वंदामि ।

शब्दार्थ

पितृकुतो = तीन बार
आयाहिणं = दाहिनी ओर से
पयाहिणं = प्रदक्षिणा, आर्चन
करेमि = करता हूँ
वंदामि = स्तुति करता हूँ
नमंतामि = नमस्कार करता हूँ
सक्कारेमि = सत्कार करता हूँ
सम्माणेमि = सम्मान करता हूँ
[आप कैसे हैं ?]

कल्याणं = आप कल्याण रूप हैं
मंगलं = मंगल रूप हैं
देवयं = देवता रूप हैं
चेइयं = ज्ञान-रूप हैं
पञ्जुवासामि = (मैं) आपकी पयु-
पासना = सेवा भक्ति करता हूँ
मत्थएण = मस्तक से, यानी मस्तक
झुका कर
वंदामि = वन्दना करता हूँ

भावांर्थ

भगवन् ! दाहिनी ओर से प्रारम्भ करके पुनः दाहिनी ओर तक
आप की तीन बार प्रदक्षिणा करता हूँ ।

वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, सम्मान
करता हूँ ।

आप कल्याण रूप हैं, मंगल रूप हैं । आप देवता-स्वरूप हैं,
चैतन्य स्वरूप = ज्ञानस्वरूप हैं ।

गुरुदेव ! आपकी [मन वचन और शरीर से] पयुपासना = सेवा
भक्ति करता हूँ । विनय-पूर्वक मस्तक झुकाकर आपके चरण कमलों में
वन्दना करता हूँ ।

(४)

आलोचना-सूत्र

इच्छाकारेण संदितह भगवं !

हरियावहियं, पडिक्कमामि ?

इच्छं

इच्छामि पडिक्कमिउं, ॥१॥

हरियावहियाए, विराहणाए ॥ २ ॥

गमणागमणे, पाणक्कमणे,

धीयक्कमणे, हरिय-क्कमणे,

ओसा उरिग-पणग-दग-भट्टी-मक्कडसंताणा-संकमणे ॥४॥

जे मे जीवा विराहिया ॥ ५ ॥

एगिदिया, चेईदिया, तेईदिया,

चउरिंदिया, पंचिंदिया ॥ ६ ॥

अभिहया, वत्तिया, लेसिया,

संधाइया, संघट्टिया, परियाविया,

फिलाभिया, उदिया,

ठाणाओ ठाणं संकामिया,

जीवियाओ ववरोविया,

वस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥७॥

शब्दार्थ

भगवं = हे भगवन् !

इच्छाकरेण = इच्छापूर्वक

संदिसह = आज्ञा दीजिए

इरियावहियं = ऐर्यापथिकी (आने

जाने की) क्रिया का

पडिकमामि = प्रतिक्रमण करूँ

(गुरुजनों की ओर से आज्ञा मिल

जाने पर, या अपने संकल्प से ही

आज्ञा स्वीकार करके अब साधक

कहता है]

इच्छं = आपकी आज्ञा शिरोधार्य है

भावार्थ

भगवन् ! इच्छा के अनुसार आज्ञा दीजिए कि मैं ऐर्यापथिकी =
गमन मार्ग में अथवा स्वीकृत धर्माचरण में होने वाली पापक्रिया का
प्रतिक्रमण करूँ ?.....

(५)

उत्तरीकरण-सूत्र

तस्स

उत्तरीकरणेणं,

पायच्छित्त-करणेणं,

विसोही-करणेणं,

विसल्ली-करणेणं,

पावाणं कम्माणं

निग्घायणद्ठाणं,

ठामि काउस्सगं ॥१॥

१—शेष पाठ का शब्दार्थ और भावार्थ श्रमण-सूत्र के ५४ वें पृष्ठ
पर देखिए ।

शाब्दार्थ

तत्स = उसकी, नृपित आत्मा की निगर्हीकरणे = शब्द से रहित
 उत्तरी करणे = विशेष करके छद्मा करने के लिए
 के लिए पावाण कृमाण = पाप कर्मों से
 पायच्छित्तकरणे = प्रायश्चित्त करने निग्रात्रणद्वारे = विनाश के लिए
 के लिए कायस्वभा = कायोत्सर्ग अर्थात्
 विमोही करणे = विरोध निर्मूलता शरीर की क्रिया का त्याग
 के लिए ठामि = करता हूँ

भाषार्थ

आत्मा की विशेष स्वरूपा = शब्दों के लिए, प्रायश्चित्त के लिए
 विशेष निर्मूलता के लिए, शब्द रहित होने के लिए, पाप कर्मों का
 पूर्णतया विनाश करने के लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हूँ, अर्थात् आत्म
 विकास की प्राप्ति के लिए शरीरमयवन्धी समस्त वस्तुओं का त्याग
 करता हूँ ।

(६)

आगार-सूत्र

अथ

उममिण नीममिण,

रामिण, छीण,

लंभाइणं,

उद्धुण,

वायनिमगेण,

भमलीए, पित्तमुच्छाए

मुहंमहि अंगसंचालेहि,

सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं,
 सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं ।
 एवमाइएहिं आगारेहिं,
 अभग्गो, अविराहिओ,
 हुज्ज मे काउस्सग्गो ।
 जाव अरिहंताणं भगवंताणं,
 नमुक्कारेणं, न पारेमि,
 ताव कायं ठाणेणं, मोणेणं,
 भाणेणं,
 अप्पाणं, वोसिरामि ।

शब्दार्थ

अन्नत्थ = आगे कहे जाने वाले
 आगारों के सिवाय कायो-
 त्मर्ग में शेष काय-व्या-
 पारों का त्याग करता हूँ

ऊससिएणं = ऊँचा श्वास लेने से

नीससिएणं = नीचा श्वास लेने से

खासिएणं = खाँसी से

छीएणं = छींक से

जंभाइएणं = जंभाई, उबासी लेने से

उड्डुएणं = डकार लेने से

चायनिसग्गेणं = अधोवायु निक-
 लने से

भमलीए = चक्कर आने से

नित्तमुच्छाए = पित्तविकार के

कारण मूर्छा आ-
 जाने से

सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा-सा भी

अंग संचालेहिं = अंग के संचार से

सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा-सा भी

खेल संचालेहिं = कफ के संचार से

सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा सा भी

दिट्ठिसंचालेहिं = दृष्टि, नेत्र के संचार
 से

एवमाहण्डि = इत्यादि^१

आगारेण्डि = आगारों से, भगवानों से

मे = मेरा

काउत्सगो = कायोत्सर्ग

अभग्नो = अभग्न

अविगदिश्रो = अविराधित, अव्यंजित

हुज्ज = होवे

[कायोत्सर्ग पत्र तक]

जान = जब तक

अरिहताण = अरिहत

भगवताण = भगवानों को

नमुक्कारेण = नमस्कार करके,

‘धानी प्रकट रूप में

‘नमो अभि-

हंताण’ बोल

न पा रेमि = कायोत्सर्ग न पारु-

त्ताय = तब तक (‘मै’)

टाणेण = एक स्थान पर स्थिर

रह कर

मोणेण = मौन रह कर

भण्णेण = ध्यानस्थ रह कर

अपाय्य = अपने

काय = शरीर को

धोसिरामि = धोसिराता हूँ,

स्वाग्मता हूँ

‘भाषार्थ’

कायोत्सर्ग में काय-व्यापारों का परित्याग करता हूँ, निश्चय हो हूँ, परन्तु जो शारीरिक क्रियाएँ ‘असंख्य परिवार’ होने के कारण स्वभाव हरकत में आ जाँती हैं, वेनको छोड़कर !

‘रंज्य’ वासि-‘रंज्य’ वा रवास, नि रंवांस-‘नीचा’ रवीस, ‘कासित खांसी, छिका = छींक, उवासी, इकोर, ‘अपान’ घोषु, ‘वेर्कर, पि विकोरजन्य भूष्वा, ‘सुत्त’ रूप से ‘अंगा’ का ‘हितना, ‘सुत्त’ रूप केफ का ‘निकलना, ‘सुत्त’ रूप से ‘नेत्रो’ का ‘हरकत’ में ‘आ’ जान इत्यादि आगारों से मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एवं अविराधित हो ।

१—‘आचार्य भद्रशांढु स्वामी ने आवश्यक नियुक्ति में आदिश का निर्दिष्टन करते हुए लिखा है कि यदि अग्नि का उपद्रव हो, पञ्चेन्द्रियाणों का छेदन-भेदन हो, सर्प आदि अनेकों अथवा किसी दूसरे काट खाए तो आत्म रक्षा के लिए एवं दूसरों की सहायता करने के लिए ध्यान छोला जा सकता है ।

जब तक अरिहंत भगवान् की नमस्कार न कर लूँ, सुधार्ण 'नमो अरिहंताय' न पढ़ लूँ, तब तक एक स्थान पर स्थिर रहकर, मौन रहकर, धर्म ध्यान में चित्त की एकाग्रता बढ़ाकर अपने शरीर की पाप-व्यापारों से घोरिराजा हूँ = अलग करता हूँ ।

(७)

चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र

लोगस्य उज्जोयगरे,
धम्म-तित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं,
चउचीसं पि केवली ॥ १ ॥

उत्सभमजियं च वंदे,
संभवमभिणंदणं च सुमहं च ।
पडमप्पहं सुपासं,
जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥

सुविहिं च पुण्फदंतं,
सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं,
धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥

कुंथुं अरं च मल्लिं,
वंदे सुणिसुव्वयं जमिजिणं च ।

वंदामि सिट्ठनेमि,
 पासं तद्द वद्धमाणं च ॥ ४ ॥
 एतं मय अमियुआ,
 विहुय-रयमला, पहीणजरमरणा ।
 चउवीसं पि जिखवरा,
 तित्थयरा मे पसीरंतु ॥ ५ ॥
 कित्थिय-वंदिय-महिया,
 जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
 आरुग्गबोहिलाभं,
 समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
 वदेसु निम्मलयरा,
 आइच्चेसु अहियं पयामयरा ।
 सण्णर-अर-संभीरा,
 मिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

लोगस्स = लोक में	चउवीसपि = चौबीसों ही
उज्जोयगरे = ज्ञान का प्रकाश करने वाले	पेउली = केवल ज्ञानियों का
धम्मतित्थयरे = धर्मवीरों की	कित्तइस्सं = कीर्तन करूँगा
स्थापना करने वाले	उत्तम = अष्टमदेव को
जिणे = रागद्वेष के विजेता	च = और
अरिहंते = अरिहंत भगवान्	अजिय = अजितनाथ को
	वदे = वन्दना करता हूँ

संभवं = संभव को

अभिणंदणं च = और अभिनन्दन को

सुमङ्गं च = और सुमति को

पउमप्पहं = पद्मप्रभ को

सुपासं = सुपार्श्व को

च = और

चंदप्पहं = चन्द्रप्रभ

जिणं = जिन को

वन्दे = वन्दना करता हूँ

सुविहिं च = और सुविधि, अर्थात्

पुष्पदंतं = पुष्पदन्त को

सीअल = शीतल

सिज्जंस = श्रेयांस को

वासुपुज्जं च = और वासुपूज्य को

वेमलं = विमल को

अणंतं च जिणं = और अनन्त जिन को

धम्मं = धर्मनाथ को

संतिं च = और शान्तिनाथ को

वंदामि = वन्दना करता हूँ

कुथुं = कुन्धुनाथ को

अरं च = और अरनाथ को

मल्लिं = मल्लि को

मुणि सुव्वयं = मुनिसुवत को

च = और

नमिजिणं = नमि जिनको

वन्दे = वन्दना करता हूँ

रिट्ठिनेमिं = अरिष्टनेमि को

पासं = पार्श्वनाथ को

तह = तथा

वद्धमाणं = वर्द्धमान स्वामी को

वंदामि = वन्दना करता हूँ

एवं = इस प्रकार

मए = मेरे द्वारा

अभिथुआ = स्तुति किए गए

विहुयरयमला = कर्मरूपी रज तथा मल से रहित

पहीण जरमरणा = जरा और मरण से मुक्त

चउवीसंपि = ऐसे चौबीसों ही

जिणवरा = जिनवर

तिथयरा = तीर्थंकर देव

मे = मुझ पर

पमीयंतु = प्रसन्न होवें

जे = जो

ए = ये

लोगरा = लोक में

उत्तमा = उत्तम,

सिद्धा = तीर्थंकर सिद्ध भगवान

कित्तिय = वचन से कीर्तित, स्तुति किए गए

वदिय = मस्तक से वन्दित
 महिषा = भाव से पूजित,
 य दम्भ = धारोभ्य, आत्मिक शान्ति
 बोदिलोम = सम्यग्दर्शन-रूप
 बोधि का लाभ
 समाशिरसुत्तम = उत्तम समाधि
 दितु = देवे
 चदेसु = चन्द्रमाद्यो से
 निम्मलायण = निम्नतर

आइन्चेसु = सूर्यो से भी
 अदिय = अदिक
 पत्तासयरा = प्रकाश करने वाले
 सागरवर = महासागर से भी अधिक
 गंभीरा = गंभीर, अद्भुत
 सिद्धा - तीर्थंकर सिद्ध भगवान्
 मम - मुझे
 सिद्धि = सिद्धि, कर्मों से मुक्ति
 दिसनु = दवे

माचार्य

अलिल विरध में धर्म का उद्घोष = प्रकाश करने वाले, धर्म-
 तीर्थ की स्थापना करने वाले, (राग द्वेष के) जीतने वाले, (अतरङ्ग-
 काम क्रोधादि) शत्रुओं को नष्ट करने वाले, केवलशायी चौबीस
 तीर्थंकरों का मैं जीतने कहूँगा = स्तुति कहूँगा ॥ १॥

श्री अष्टमध्व, श्री अजितनाथ जी को वन्दना करता हूँ । सम्भव,
 अमिन्वन्त, सुमति, पद्मध्व, सुपारव, और राग-द्वेष के विजेता अष्ट-
 ध्व पित्रों को नमस्कार करता हूँ ॥ २॥

श्री पुण्ड्रिक (सुविमलाय), शीलज, धेयाय, वासुदेवाय,
 विमलनाथ, राग द्वेष के विजेता अनन्त, धर्म तथा श्री शान्ति नाथ
 भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

श्री कुण्डुनाथ, अरनाथ, भगवती मन्त्री, मुनि सुमन्त, पूर्व रागद्वेष
 के विजेता नमिनाथ जी को वन्दना करता हूँ । इसी प्रकार अष्टिनेमि,
 पारंगनाथ, अष्टम तीर्थंकर परमान (महावीर) स्वामी को
 नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्म रूप धूल तथा मल से रहित हैं, जो जरा-मरण दोषों से सर्वथा मुक्त हैं, वे अन्तःशत्रुओं पर विजय पाने वाले धर्म प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर मुक्त पर प्रसन्न हों ॥ ५ ॥

जिनकी इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, वन्दना की है, भाव से 'पूजा' की है, 'और' जो 'अखिल' संसार में 'सबसे' उत्तम हैं, वे सिद्ध = तीर्थंकर भगवान् मुझे अरोग्य = सिद्धत्व अर्थात् आत्मशान्ति, बोधि = सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का 'पूर्ण' लाभ, तथा 'उत्तम' समाधि प्रदान करें ॥ ६ ॥

जो अनेक कोटा-कोटि चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयम्भूरमण जैसे महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर हैं; वे तीर्थंकर सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि = मोक्ष प्राप्त हो ॥ ७ ॥

(८)

प्रणिपात-सूत्र

नमोत्थुणं !

अरिहंताणं, भगवंताणं, ॥१॥

आइगराणं,

तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं ॥२॥

पुरिखुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं,

पुरिसवरपुण्डरियाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं, ॥३॥

लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं,

लोगपईवाणं, लोग-पज्जोयगराणं ॥४॥

अभयदयारणं, चक्रसुदयारणं, ममगदयारणं,
 सरणदयारणं, जीवदयारणं, बोहिदयारणं ॥५॥
 धम्मदयारणं, धम्मदेसयारणं, धम्मनायगारणं,
 धम्ममारहीणं, धम्मरचाउरंत-चक्रवट्ठीणं ॥६॥
 दीर-ताण-सरण-गइ-पइट्ठारणं,
 अप्पडिहय-वरणाख-दंसणधरारणं, वियट्ठउमारणं ॥७॥
 जिणारणं, लावयारणं, तिणारणं, तारयारणं,
 बुद्धारणं, बोहयारणं, मुत्तारणं, मोवगारणं ॥८॥
 सच्च-न्नूणं, सच्च-दरिसीणं,
 सिरमयल्लमरयमणंतमस्सयमवरावाह,—
 मणुणरारित्ति-सिद्धिगइनामधेयं^१ ठारणं संपत्तारणं,
 नमो जिणारणं, जियमयारणं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

नमाधुण = नमस्कार हो

अरिइत्ताण = अरिहन्त

भगरतारण = भगवान् को

[भगवान् कैसे हैं ?]

आइगराण = धर्म की आदि करने
वाले

निधयराण = धर्म सीखने की

स्थापना करने वाले

सयसबुद्धारण = अपने आप ही

सम्यक् बोध को पाने वाले

पुरिमुत्तमारण = पुराणों में श्रेष्ठ

पुरिससीहण = पुराणों में सिंह

पुरिउरपु डरिणण = पुराणों में

श्रेष्ठ श्वेतकमल के समान

^१ —अरिहन्त स्तुति में 'ठारणं संपत्तारणं' के स्थान पर 'ठारणं संगविउ कामाण, वइना चादिण ।

शब्दार्थ

पुरिसं = पुरुषों में

वरगन्धहस्तीणं = श्रेष्ठ गन्धहस्ती

लोगुज्जमाणां = लोक में उत्तम

लोगनाहाणां = लोक के नाथ

लोगहियाणां = लोक के हितकारी

लोगपईवाणां = लोक में दीपक

लोगपज्जोयगराणां = लोक में ज्ञान

का प्रकाश करने वाले

अभय दयाणां = अभयदान देने वाले

चक्रबुदयाणां = ज्ञान नेत्र के देने

वाले

मृगदयाणां = मोक्षमार्ग के दाता

सरणदयाणां = शरण के दाता

जीवदयाणां = संयमजीवन के दाता

बोहिदयाणां = सम्यक्त्वरूप बोधि, १

के दाता

धम्मदयाणां = धर्म के दाता

धम्मदेसयाणां = धर्म के उपदेशक

धम्मनायगाणां = धर्म के नेता

धम्मसारहीणां = धर्मरथ के सारथी

धम्मवर = धर्म के सबसे श्रेष्ठ

चाळरंत = चारों गति के अन्त

करने वाले

चक्रवर्तीणां = (धर्म) चक्रवर्ती

दीव = (भवसागर में) द्वीपरूप

ताण = रक्षारूप

सरण = शरणरूप

गइ = गति-आश्रयरूप

मईद्वयाणां = प्रतिष्ठा-आधाररूप

अण्पडिहय = अप्रतिहत किसी भी

रक्षावट में न आने वाले, ऐसे

वर नाणदंसणधराणां = श्रेष्ठ ज्ञान

दर्शन के धारक

वियइ छउमाणां = छद्म-प्रमाद से

रहित

जिणाणां = राग-द्वेष के जीतने

वाले

जात्रयाणां = दूसरों को जिताने वाले

तिन्नाणां = स्वयं संसार सागर से

तरे हुए

तारयाणां = दूसरे को तारने वाले

बुद्धाणां = स्वयं बोध को प्राप्त हुए

बोहयाणां = दूसरों को बोध देने

वाले

मुत्ताणां = स्वयं कर्मों से मुक्त

मोयगाणां = दूसरों को मुक्त कराने

वाले

सव्वन्नूणां = सर्वज्ञ

सव्वदरिसीणां = सर्वदर्शी तथा

सिवं = शिव, कल्याणरूप

अयलं = अचल, स्थिर स्वरूप

अरुयं = अरुज, रोग से रहित

अणंतं = अनंत, अन्त से रहित

अकल्लयं = अक्षय, धन से रहित

अव्याबाह = अव्याबाध, बाधा से
रहित

अपुनरावृत्ति = अपुनरावृत्ति, पुनरा-
गमन से रहित, (ऐसे)

सिद्धिगदनामधेय = सिद्धिगति
नामक

टाण = स्थान, पद को

संग्त्तार्ण = प्राप्त करने वाले

नमो = नमस्कार हो

जिणार्ण = जिन भगवान को

नियमयार्ण = भव पर विजय पाने
वालों को

भाषार्थ

धी अरिहंत भगवान् को नमस्कार हो । (अरिहंत भगवान् कैसे
हैं ?) धर्म की आदि करने वाले हैं, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले
हैं, अपने आप प्रसन्न हुए हैं ।

पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, पुरुषों में सिंह हैं, पुरुषों में पुण्डरीक कमल हैं,
पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध हस्ती हैं । लोक में उत्तम हैं, लोक के नाथ हैं,
लोक के हितकर्ता हैं, लोक में दीपक हैं, लोक में उद्घोष करने वाले हैं ।

अमय देने वाले हैं, ज्ञान रूपी नेत्र के देने वाले हैं, धर्ममार्ग
के देने वाले हैं, शरण के देने वाले हैं, धर्म के दाता हैं, धर्म के
उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म के सारथी = संचालक हैं ।

चार गति के प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती हैं, अप्रतिहत
पूर्व श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के धारण करने वाले हैं, ज्ञानाशरण आदि धार्मिक
कर्म से अथवा प्रमाद से रहित हैं ।

स्वयं राग-द्वेष के जीतने वाले हैं, दूसरों को जीताने वाले हैं, स्वयं
संसार सागर से छर गए हैं, दूसरों को छारने वाले हैं, स्वयं बोध पा
चुके हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को
मुक्त कराने वाले हैं ।

संपन्न हैं, सर्वदर्शी हैं । तथा शिव = कस्याय रूप अचल = स्थिर,

अरुज = रोग रहित, अनन्त = अन्तरहित, अक्षय = क्षयरहित, अन्ध्या-
 बाध = बाधा पीड़ा रहित, अपुनरावृत्ति = पुनरागमन से रहित अर्थात्
 जन्म मरण से रहित, सिद्धि गति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं,
 भय के जीतने वाले हैं, राग-द्वेष के जीतने वाले हैं—उन जिन
 भगवानों को मेरा नमस्कार हो ।'

१—श्रमण सूत्र के अतिरिक्त जो प्राकृत पाठ हैं, उनका यह शेष-
 सूत्र के नाम से संग्रह कर दिया है । इनका विवेचन लेखक की सामायिक-
 सूत्र नामक पुस्तक में देखिए ।

॥ ५ ॥

संस्कृतच्छायाऽनुवाद

[श्रमण सूत्र]

(१)

नमस्कार सूत्र

नमोऽर्हद्भ्यः

नमः सिद्धेभ्यः

नम आचार्येभ्यः

नम उपाध्यायेभ्यः

नमो लोके सर्व साधुभ्यः ।

(२)

सामायिक सूत्र

करोमि भदन्त ! * सामायिकम्,

सर्वं सापरायम् = सगण-पाप सहित, योगम् = व्यापारं प्रत्याख्यामि =
प्रत्याच्छेदे २ याज्जीवया = यावज्जीवनम्, यावत् मम जीवनपरिमाणं तावत्

१ — 'भयान्त !' इति हरिभद्राः

२ — "यावज्जीवता, तथा यावज्जीवतया । तत्रास्तास्तणिकथणं लोपात्
'जावज्जीवाण' इति सिद्धम् । अथवा प्रत्याख्यानक्रिया अन्यपदार्थ इति
तामभिप्रेक्ष्य समासो बहुव्रीहिः, यावज्जीवो मयां वा यावज्जीवा तथा ।"

— हरिभद्री ४ आवश्यक वृत्ति

त्रिविधं^१ त्रिविधेन^२
 मनसा वाचा कायेन
 न करोमि, न कारयामि,
 कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानामि = नानुमन्येऽहम्
 तस्य^३ भदन्त !
 प्रतिक्रमामि = निवर्त्तयामि
 निन्दामि = स्वसाक्षिकं जुगुप्से
 गहे^४ = भवत्साक्षिकं जुगुप्से
 आत्मानं = अतीतसावद्ययोगकारिणम्
 व्युत्सृजामि = त्रिविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि !

(३)

मङ्गल-सूत्र

चत्वारः [पदार्था इतिगम्यते] मङ्गलम्
 अर्हन्तो मङ्गलम्
 सिद्धा मङ्गलम्
 साधवो मङ्गलम्
 केवल-प्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ।

१—तिस्रो विधा यस्य सावद्य-योगस्य स त्रिविधः, स च प्रत्याख्येय-
 त्वेन कर्म संपद्यते, कर्मणि च द्वितीया विभक्तिः, अतस्तं त्रिविधं योगं—
 मनोवाक्कायच्यापारलक्षणम् ।

२—त्रिविधेनेति करणे तृतीया ।

३—तस्य इत्यधिकृतो योगः संबध्यते । कर्मणि द्वितीया प्राप्ताऽपि
 अवयवावयविसम्बन्धलक्षणा पठ्यते ।

(४)

उत्तम सूत्र

चत्वारो लोकोत्तमा
 अर्हन्तो लोकोत्तमा
 सिद्धा लोकोत्तमा-
 साधवो लोकोत्तमा-
 केवलं प्रज्ञाप्रो धर्मो लोकोत्तमः ।

(५)

शरण-सूत्र

चतुरः शरणं प्रपद्ये
 अर्हन्तः शरणं प्रपद्ये
 सिद्धान् शरणं प्रपद्ये
 साधून् शरणं प्रपद्ये
 केवलं प्रज्ञा धर्मं शरणं प्रपद्ये ।

(६)

संचित प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि = अभिलषामि, प्रतिक्रमितुम् = निवर्तितुम्, [कृत्य]
 यो मया देवसिद्धः = दिवसेन निवृत्तो दिवसपरिमाणो वा देवासक्तः,
 अतिचारः = अतिचरन् अतिचारः अतिश्रम इत्यर्थः, कृत = निवर्तित
 [तस्य इति योगः]

[कतिपयः अतिचारः ?] कायिकः = वायेन शरीरेण निवृत्तः

कायिकः कायकृत इत्यर्थः, वाचिकः = वाक्कृतः, मानसिकः = मनःकृतः ।

[पुनः किं स्वरूपः कायिको वाचिकश्च ?] उत्सूत्रः = ऊर्ध्वं सूत्राद् उत्सूत्रः सूत्रानुक्त इत्यर्थः, उन्मार्गः, अकल्पः (लप्यः) = कल्पो विधिः आचारः न कल्पः अकल्पः, कल्प्यः = चरणकरणव्यापारः न कल्प्यः अकल्प्यः, अकरणीयः ।

[मानसिकः किं स्वरूपः ?] दुर्ध्यातः = दुष्टो ध्यातः दुर्ध्यातः, दुर्विचिन्तितः, अनाचारः, अनेष्टव्यः = मनागपि मनसाऽपि न प्रार्थनीयः, अश्रमणप्रायोग्यः = न श्रमणप्रायोग्यः श्रमणानुचित इत्यर्थः,

[किं विषयोऽतिचारः ?] ज्ञाने तथा दर्शने चारित्र्ये

[भेदेन वर्णयति] श्रुते, सामायिके

[सामायिकातिचारं भेदेनाह] तिसृणां गुप्तीनां, चतुर्णां कषायाणां, पञ्चानां महाव्रतानां, षण्णां जीवनिकायानां, सप्तानां पिण्डैषणानां, अष्टानां प्रवचनमातृणां, नवानां ब्रह्मचर्यं गुप्तीनां, दशविधे श्रमण धर्मे श्रमणानां योगानाम् = व्यापारणाम्

यत्खण्डितं = देशतो भग्नं, यद्विराधितं = सुतरां भग्नम् तस्य मिथ्या सम दुष्कृतम् !

(७)

ऐर्यापथिक-सूत्र

इच्छामि प्रतिक्रमितुम् ईर्यापथिकायां विराधनायाम् [योऽतिचार इति वाक्यशेषः]

गमनागमने, प्राणोक्रमणे = प्राण्याक्रमणे, बीजाक्रमणे, हरिता-क्रमणे, अवश्यया - उत्तिङ्ग - पनक-दक-मृत्तिका-मर्कट-संतान-संक्रमणे [सति इति वाक्यशेषः]

ये मया जीवा विराधिताः = दुःखेन स्थापिताः ।

एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः
पञ्चेन्द्रियाः ।

अभिहृताः = अभिमुगता इताः, चरयेन ग्रहिता, उद्विष्य दिता
वा, वर्तिताः = पुञ्जीकृता, भूत्या वा रथगिताः, श्लेषिताः = मिष्टा,
भूम्यादिषु वा लगिताः, संधातिताः = अन्योन्यं मात्रैरेकत्र लगिताः,
संघट्टिताः = मनाद् स्पृष्टाः, परितापिताः = समन्ततः पीडिताः, क्लेश-
मिताः = समुदघातं जीताः, स्लानिमापादिताः, अस्त्राविताः = इत्या-
दिताः, स्थानात्स्थानान्तरं संक्रामिताः = स्वस्थानात् परं स्थानं
गीताः, जीविताद् व्यपरोपिताः = व्यापादिताः

तस्य = अतिचारस्य, मिथ्या मम दुष्कृतम् ।

॥ ८ ॥

शय्या-सूत्र

इच्छासि प्रतिक्रामितुं प्रकाशराध्यया = शयनं शय्या प्रथमं चतु-
र्थमं शयनं प्रथमशय्या तथा, दीर्घकालशयनेम्, निष्कामराध्यया =
प्रतिदिनं प्रथमशय्यैव निष्कामशय्या उच्यते तथा, उद्वर्तनया = तद्विषय-
मतया वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तनम् उद्वर्तनम्, उद्वर्तनमेव
उद्वर्तना तथा, परिवर्तनया = पुनर्वामपार्श्वेनैव परिवर्तनम् तदेव परि-
वर्तना तथा, आकुञ्चनया = हस्तपादादीनां सङ्कोचनया, प्रसारणया =
हस्तपादादीनां विज्ञेयशया, पट्पदिकार्थघट्टनया = युक्तानां सङ्गनया

कृजिते = अग्निविना अयननया वासिते सति, कर्करायिते = विषमे-
यमित्यादि शय्यादोगोन्चारणे, चुते, = अग्निविना जूमिते, धामये = अग्न-

१—शेस्तेभ्यमिति वा शय्या संस्तारकादितद्वया प्रथमा, उत्पन्ना
शय्या प्रथमशय्या—संस्तारोत्तरपट्टमिति विज्ञा प्रायश्चमभिरुक्त्य कल-
भयातिरिक्ता वा तथा हेतुमत्तया ।

मृज्य करेण स्पर्शने, सरजस्कामर्पे = पृथिव्यादिरजसा सह यद् वस्तु स्पृष्टं तत्संस्पर्शं सति,—

आकुलाकुलया = स्यादिपरिभोगविबाहुयुद्धादिसंस्पर्शननानाप्रकारया, स्वप्नप्रत्ययया = स्वप्ननिमित्तया, विराधनया स्त्रीवैपर्यासिकया = स्त्रिया विपर्यासो अत्रह्रस्वेवनं तस्मिन् भवा स्त्री वैपर्यासिकी तथा, दृष्टिवैपर्यासिकया = स्त्रीदर्शनानुरागतस्तदवलोकनं दृष्टिविपर्यासः तस्मिन् भवा दृष्टिवैपर्यासिकी तथा, मनोवैपर्यासिकया = मनसा अध्युपपातो मनोविपर्यासः तस्मिन् भवा मनोवैपर्यासिकी तथा, पानभोजनवैपर्यासिकया = रात्रौ पानभोजनपरिभोग एव तद् विपर्यासः तस्मिन् भवा पानभोजन वैपर्यासिकी तथा [विराधनया इति शेषः सर्वत्र]

यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः
तस्य मिथ्यां मम दुष्कृतम् !

(६)

गोचरचर्या-सूत्र

प्रतिक्रमामि गोचरचर्यायां गोश्चरणं गोचरः, चरणं चर्या, गोचर इव चर्या गोचरचर्या तस्याम्, भिक्षाचर्यायां = भिक्षार्थं चर्या भिक्षाचर्या तस्याम्,

उद्घाटकपाटोद्घाटनया = उद्घाटं अदत्तार्गलं ईपत्स्थगितं वा कपाटम् तस्योद्घाटनं, तदेव उद्घाटकपाटोद्घाटना तथा; श्वचत्सदारकसंघट्टनया; मण्डी प्राभृतिकया = यात्रान्तरेऽप्रकूरं कृत्वा यां प्राभृतिकां भिक्षां ददाति सा मण्डीप्राभृतिका तथा, बलिप्राभृतिकया = चतुर्दिशं बह्वौ वा बलिं क्षिप्तवां ददाति तस्यां बलिप्राभृतिकां तथा, स्थापनाप्राभृतिकया = भिक्षाचर्यं स्थापिता स्थापनोप्राभृतिका तथा—

शङ्किते = आधाकर्मादिदोषाणामन्यतमेन शङ्किते गृहीते सति, सहसाकारे = भ्रष्टव्यकल्पनीये गृहीते सति,—

अनेपणया=अनेन प्रकारेण अनेरण्या हेतुभूत्या; प्राणभोजनया=प्राणिनो रणजादयः भोजने दण्डोदनादौ विगण्यन्ते यस्यां प्राभूतिकार्या म प्राणिभोजना तथा, पीत्रभोजनया, हरितभोजनया, पर्यात्कर्मिक्या=पश्चाद्दानानन्तरं कर्म जलोष्मनादि यस्यां मा पश्चात्कर्मिका तथा; पुरः कर्मिक्या = पुरः आदौ कर्म यस्यां सा पुरः कर्मिका तथा; अट्टाष्टाद्वया=अट्टश्लोक्षेऽग्निहोत्राग्नीतया उद्गससम्प्राद्वया = जलसम्प्राद्वया; रजः संस्पृष्टाद्वया; पारिशाटनिक्या=परिशाटनं उग्मनं तस्मिन् मया पारिशाटनिका तथा; पारिष्ठापनिक्या = परिष्ठापनं प्रदानमात्रेण गतद्रव्यस्याभ्यग्निमन् पात्रे उग्मनम् तेन निर्दिष्टा पारिष्ठापनिकी तथा; अथवा परि नरैः प्रकारैः स्थापनं परिस्थापनमपुनर्ग्रहणतया न्यायः, तेन निर्दिष्टा पारिष्ठापनिकी तथा; अवभाषणभिक्षया = अवभाषणेन निशिष्टं द्रव्यं वाचनेन लब्धा भिक्षा अवभाषणभिक्षा तथा;

यद्=अशनादि उद्गमेन = अथाकर्मादिलक्षणेन; उत्पादनया = धान्यादिलक्षणा, एषणया=शङ्खितादिलक्षणा; अपरिशुद्धं परिगृहीतं परिभुक्तं वा, यत् न परिष्ठापितम्=कथंचित्परिदीतमपि सद्यो भोजनं यन्नाभिक्तम्, परिभुक्तमपि च भावतः अपुनः करणादिना प्रकारेण नोभिक्तम्,

तस्य मिध्या मम दुष्टतम् !

(१०)

काल प्रतिलेखना-सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुष्कालं = दिवसरात्रि-प्रथमचरमप्रहरौ, स्वाध्यायस्य = सूत्रगौरव्यलक्षणस्य; अकरणतया = अनासेवनतया हेतु-भूतया [यो मया दैवमिहोर्जतचारः तस्य इति योगः]

उभयकालं = प्रथमपश्चिम गौरव्यलक्षणे काले; भारडोपकरणस्य = पात्रवस्त्रादेः, अप्रत्युपेक्षणया = मूलत एव चक्षुषा अनिरीक्षणा;

१ आचार्य हरिभद्र 'पारिष्ठापनिक्या' लिखते है ।

दुष्प्रत्युपेक्षया = दुर्निरीक्ष्यत्वज्ञानेन; अप्रमार्जनया = भूलन एव
रजोहरणादिना श्चर्यनया, दुष्प्रमार्जनया = अविधिना प्रमार्जनया,

अतिक्रमे, व्यतिक्रमे, अतिचारे, अनाचारे,

यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः,

तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम् !

(११)

असंयम सूत्र

प्रतिक्रमामि एकविधे = एकप्रकारे असंयमे [= अविरतिलक्षणे
अति अप्रतिपिदकरणादिना यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इति गम्यते
तस्य मिथ्या दुष्कृतमिति सम्बन्धः । एवमन्यत्रापि योजना कार्या]

(१२)

बन्धन सूत्र

प्रतिक्रमामि द्वाभ्यां बन्धनाग्र्याम = हेतुभूताभ्याम् [योऽतिचारः
कृतस्तस्मात्]

(१) राग-बन्धनेन, (२) द्वेष-बन्धनेन !

(१३)

दण्ड सूत्र

प्रतिक्रमामि त्रिभिः दण्डैः = हेतुभूतैर्योऽतिचारस्तस्मात्

(१) मनोदण्डेन, (२) वचोदण्डेन (३) कायेदण्डेन ।

(१४)

गुप्ति सूत्र

प्रतिक्रमामि तिसृभिः गुप्तिभिः = सम्यग् अपरिपालिताभिः
हेतुभूताभिः ।

(१) मनोगुप्त्या, (२) वचोगुप्त्या, (३) कायगुप्त्या !

(१५)

शल्य सूत्र

प्रतिष्ठापामि त्रिभिः शल्यैः,—

(१) मायाशल्येन (२) निदानशल्येन (३) मिथ्या-
दर्शनशल्येन ।

(१६)

गौरव सूत्र

प्रतिष्ठापामि त्रिभिः गौरवैः,—

(१) श्रुतिगौरवेण, (२) रत्नगौरवेण, (३) सातगौरवेण ।

(१७)

विराधना सूत्र

प्रतिष्ठापामि तिसृभिः विराधनाभिः,—

(१) ज्ञानविराधनया, (२) दर्शनविराधनया (३) चारि-
विराधनया ।

(१८)

कषाय सूत्र

प्रतिष्ठापामि चतुर्भिः कषायैः,—

(१) क्रोधकषायेन, (२) मानकषायेन
(३) मात्सर्यकषायेन, (४) लोभकषायेन ।

(१९)

संज्ञा सूत्र

प्रतिष्ठापामि चतुर्भिः संज्ञाभिः,—

(१) आहारसंज्ञया, (२) भयसंज्ञया,
(३) मैथुनसंज्ञया, (४) परिग्रह-संज्ञया ।

(२०)

विकथा सूत्र

प्रतिक्रमामि चतसृभिः विकथाभिः,—

(१) स्त्रीकथया (२) भक्तकथया,

(३) देशकथया (४) राजकथया ।

(२१)

ध्यान सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुर्भिः ध्यानेः, [अशुभैः कृतैः शुभैश्चाकृतैः]

(१) आर्तन ध्यानेन, (२) रौद्रेण ध्यानेन

(३) धर्मेण ध्यानेन, (४) शुक्लेन ध्यानेन ।

(२२)

क्रिया-सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः क्रियाभिः,—

(१) कायिक्या (२) आधिकरणिक्याः

(३) प्राद्वेषिक्या (४) पारितापनिक्या, (५) प्राणान्ति-
पातक्रियया ।

(२३)

कामगुण सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः कामगुणैः,—

(१) शब्देन (२) रूपेण, (३) गन्धेन, (४) रसेण,
(५) स्पर्शेन ।

(२४)

महाव्रत सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः महाव्रतैः = सम्यगप्रपालितैः—

(१) सर्वस्मात् प्राणाविपाताद् विरमणम् (२) सर्वस्माद् मृषायादाद् विरमणम् (३) सर्वस्माद् अदत्तादानाद् विरमणम् (४) सर्वस्माद् मैशुनाद् विरमणम् (५) सर्वस्मात् परिग्रहाद् विरमणम् ।

(२५)

समिति सूत्र

प्रतिष्ठापयामि पञ्चभिः समितिभिः = सम्यग्गणितानि

(१) ईर्यासमित्या, (२) भाषासमित्या, (३) एषणा-समित्या, (४) आदान भाष्यमात्र मिच्छेपणा समित्या, (५) वच्चार-प्रस्रवण-नेल-सिद्धाण-अरुल पारिष्टापनिरासमित्या !

(२६)

जीवनिर्णय सूत्र

प्रतिष्ठापयामि षड्भिः जीवनिर्णयैः [कथञ्चित्पीडितैः]

(१) पृथिवी कायेन, (२) अप्कायेन, (३) तेजः कायेन, (४) वायुकायेन (५) वनस्पतिकायेन (६) त्रसकायेन ।

(२७)

लेश्या सूत्र

प्रतिष्ठापयामि षड्भिः लेश्याभिः = अशुभाभि इवामि, शुभाभि ररुताभिः

(१) कृष्णलेश्याया, (२) नीललेश्याया (३) कापोष्ठ-लेश्याया, (४) तैजोलेश्याया (५) पद्मलेश्याया (६) शुक्ल-लेश्याया ।

(२८)

मयादि सूत्र

सप्तभिः भयस्थानैः, अष्टभिः मदस्थानैः, नवभिः त्रद्वधयै-

गुप्तिभिः [सम्यग्यालिताभिः] दशविधे श्रमण धर्मे, एकादशभिः
उपासक प्रतिमाभिः [अश्रद्धानवितयप्ररूपणाभिः] द्वादशभिः भिद्-
प्रतिमाभिः, त्रयोदशभिः क्रियास्थानैः, चतुर्दशभिः भूतग्रामैः
[विराहितैः]; पञ्चदशभिः परमाधार्मिकैः [एतेषां पापकर्मानु-
मोदनाभिः]; षोडशभिः गाथाषोडशैः = सूत्रकृताङ्गावश्रुतस्त्वन्योध्ययनैः
[एषामविधिना पठनादिभिः] सप्तदशविधे ऽसंचमे, अष्टादश-
विधेऽत्रद्वयचर्ये; एकोनविंशत्या ज्ञाताध्ययनैः; विंशत्या असमाधि-
स्थानैः; एकविंशत्या शवलैः; द्वाविंशत्या परीपहैः [सम्यगसाहैः]
त्रयोविंशत्या सूत्रकृताध्ययनैः; चतुर्विंशत्या देवैः; पञ्चविंशत्या
भायनाभिः [अभान्तिताभिः]; षड्विंशत्या दशा-कल्प-व्यवहा-
राणामुद्देशनकालैः [अविधिना रक्षितैः]; सप्तविंशत्या
अनगारगुणैः; अष्टाविंशत्या आचार-प्रकल्पैः; एकोनविंशता
पापश्रुतप्रसङ्गैः [पापकरणश्रुतासेवनैः]; त्रिंशता मोहनीय-
स्थानैः [कृतैः विकीर्णितैर्वा]; एकत्रिंशता सिद्धादिगुणैः;
द्वात्रिंशता योगसंग्रहैः [अननुशीलितैः]; त्रयस्त्रिंशता आशा-
तनाभिः = अचञ्चभिः—

(१) अर्हतामाशातनया, (२) सिद्धानामाशातनया, (३)
आचार्याणामाशातनया, (४) उपाध्यायानामाशातनया, (५)
साधूनामाशातनया, (६) साध्वीनामाशातनया, (७) श्राव-
काणामाशातनया, (८) श्राविकाणामाशातनया, (९) देवाना-
माशातनया, (१०) देवीनामाशातनया, (११) इहलोकस्य
आशातनया, (१२) परलोकस्य आशातनया, (१३) केवलि-
प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य आशातनया, (१४) सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य
आशातनया, (१५) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वानांमांशातनया,
(१६) कालस्य आशातनया, (१७) श्रुतस्य आशातनया,
(१८) श्रुतदेवतायाः, आशातनया, (१९) वार्चनाचार्यस्य
आशातनया, (२०) यद् व्याविद्धम् = विपर्यस्तम् (२१) व्यत्या-

अद्वितम् = द्विरितकृतम् (२२) हीनाक्षरम् = त्यक्ताक्षरम् (२३)
 अत्यक्षरम् = अधिकाक्षरम्, (२४) पदहीनम्, (२५) विनयहीनम्,
 (२६) योगहीनम् = योगरहितम् (२७) घोषहीनम्,
 (२८) सुष्ठु दत्तम्, (२९) दुष्ठु प्रतीच्छितम्, (३०) अकाले कृतः
 स्वाध्यायः, (३१) काले न कृतः स्वाध्यायः, (३२) अस्वा
 ध्यायिके स्वाध्यायितम्, (३३) स्वाध्यायिके न स्वाध्यायितम्
 यो मया दैवसिकः अतिषारः कृतः।
 तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम् !

(२६)

अन्तिम प्रतिज्ञा-सूत्र

नमः, चतुर्विंशत्यै तीर्थकरेभ्यः, ऋषभादिमहाधीरपदं
 वसानेभ्यः ।

इदमेव नैर्मन्थ्यं प्रायचनम् = विनशासनम् सत्यं, अनुत्तर
 वैवलिक, प्रतिपूणं, नेयायिकं = मोक्षगमकं, संशुद्धं, शाल्यकर्तनं
 सिद्धिमार्गः, मुक्तिमार्गः, निर्याणमार्गः = मोक्षमार्गः, निर्याणमार्गः
 आत्यन्तिकमुत्तमार्गः, अद्वितय, अद्विसन्धि = अन्त्यवच्छिन्न
 सर्वदुःखप्रहीणमार्गः ।

अत्र स्थिता जीवाः सिद्धयन्ति, बुद्धयन्ते, मुच्यन्ते, परि
 निर्वायन्ति, सर्वदुःखानामन्तः = विनाशं कुर्वन्ति ।

तं धर्मं श्रद्धाधे, प्रतिपद्ये, रोचयामि, स्मृशामि, पालयामि
 अनुपालयामि ।

तं धर्मं श्रद्धावान्, प्रतिपद्यमानः, रोचयन्, स्मृशान्, पालयन्
 अनुपालयन् ।

तस्य धर्मस्य अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायां, विरतोऽस्मि
 धिराधनायाम् ।

असंयमं परिजानामि, संयममुपसंपद्ये । अव्रह्म परिजानामि,
ह्य उपसंपद्ये । अकल्पं परिजानामि, कल्पमुपसंपद्ये । अज्ञानं
रिजानामि, ज्ञानमुपसंपद्ये । अक्रियां परिजानामि, क्रियामुप-
पद्ये । मिथ्यात्वं परिजानामि, सम्यक्त्वमुपसंपद्ये । अवोधिं
रिजानामि, बोधिमुपसंपद्ये । अमार्गं परिजानामि, मार्गमुपसंपद्ये ।
यत्स्मरामि, यच् च न स्मरामि । यत्प्रतिक्रमामि, यच् च न
तिक्रमामि । तस्य सर्वस्य देवसिकस्य अतिचारस्य प्रतिक्रमामि ।
अमणोऽहम्, संयत—विरत—प्रतिहत—प्रत्याख्यात—
ापकर्मा, अनिदानः, दृष्टि-सम्यन्तः, मायामृषाविवर्जितः ।

(१)

अर्ध - तृतीयेषु द्वीप—,

समुद्रेषु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु ।

यावन्तः केऽपि साधवः,

रजोहरण-गोच्छप्रतिग्रहधराः ॥

(२)

पञ्चमहाव्रतधराः,

अष्टादश-शीलाङ्ग - सहस्र-धराः !

अक्षताचार-चारित्र्याः,

तान् सर्वान् शिरसा मनसा मस्तकेन वन्दे ॥

(३०)

क्षमापना-सूत्र

आचार्य—उपाध्याये,

शिष्ये साधर्मिके कुल-गणे च ।

ये मया केऽपि कपायाः,

सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥

(२)

सर्वस्य , श्रमण - सङ्घस्य,
 भगवतोऽञ्जलिं कृत्वा शीर्षे ।
 सर्वं ; क्षमयित्वा,
 क्षाम्यामि सर्वस्य अहङ्कमपि ॥

(३)

क्षम्यामि सर्वान् जीवान्,
 सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे ।
 मैत्री मे सर्वभूतेषु,
 धैर्यं मम न केनचित् ॥

(३१)

उपसंहा सूत्र २

एषमहमालोच्य,
 निन्दित्वा गदित्वा जुगुप्सित्वा सम्यक् ।
 त्रिभिधेन प्रतिक्रान्तो,
 वन्दे जिनान् चतुर्विंशतिम् ॥ १ ॥

परिशिष्ट

(१)

द्वादशावर्तं गुरुवन्दन सूत्र

इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुम् = नमस्कृतुम् [भवन्तम्]
यापनीयया = यथाशक्तियुक्तया, निपेक्षया = प्राणातिपातादिनिवृत्तया
तन्वा अर्थात् शरीरेण । [अतएव]

अनुजानीत = अनुज्ञां प्रयच्छथ मे मितावग्रहं = चतुर्दिशम्
आत्मप्रमाणं भवदधिष्ठितप्रदेशम् [प्रवेष्टुमिति गम्यते]

निपेक्ष्य = [सर्वाणुभग्यापारान्] अधः कार्यं = भवच्चरणं प्रति
कायसंस्पर्शम् = उद्ध्वकायेन मस्तकेन संस्पर्शम्, [करोमि, एतच्च अनु-
जानीत इति वाक्य शेषः] क्षमणीयः भवद्भिः क्लमः = स्पर्शजन्य-
देहग्लानिरूपः ।

अल्प-क्लान्तानां = ग्लानिरहितानाम् बहुशुभेन = प्रभूतसुखेन
भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः = निर्गतः ?

यात्रा = तपोनियमादिलक्षणा भवतां [कुशला वर्तते] ?

यापनीयं = इन्द्रियनोद्भिन्नैरवाधितं शरीरं च भवतां [कुशलं
वर्तते] ?

क्षमयामि क्षमाश्रमण ! दैवसिकं, व्यतिक्रमम् = अपराधम् !

आवश्यक्या = अवश्यकर्तव्यैश्वर्यकरणयोगैः निवृत्ता आवश्यकी
क्रिया, तथा हेतुभूतया यदसाधु कर्म अनुष्ठितं, तस्मात् प्रतिक्रमामि =
निवर्त्तयामि ।

क्षमाश्रमणानां देवसिक्त्या = दिवसेन निर्वृत्तया आशासनया,
 त्रयस्त्रिंशदन्यतरया, यत् किञ्चनमिष्यया = यत्किञ्चित्कदालभ्यन
 माश्रित्य मिष्यायुक्तेन कृतया ।

मनोदुष्कृतया = मनोकथदुष्कृतयुक्तया, वचोदुष्कृतया = अक्ष-
 भुवचननिमित्तया, कायदुष्कृतया = आसंश्लेषमनादिनिमित्तया—

क्रोधया = क्रोधवत्या क्रोधयुक्तया, मानया = मानवत्या मानयुक्तया,
 मायया = मायावत्या मायायुक्तया, लोभया = लोभवत्या लोभयुक्तया
 [क्रोधादिभिर्जनितया इत्यर्थः]—

सर्वकालिकया = रहमयाऽप्यमवाप्तीनाऽनागत सर्वकालेन निर्वृत्तया,
 सर्वमिष्योपचारया = सर्वमिष्यात्रियाविशेषयुक्तया, सर्वधर्मातिवर्त्मनया =
 अष्ट प्रवचनमातृरूप-सर्वधर्मैल्लक्षणयुक्तया, आशासनया = श्रवण-
 यो मया अतिचारः = अपराधः कृतः तस्य क्षमाश्रमण । प्रतिवृ-
 त्तमामि = अपुन परणतया निवर्तयामि, निन्दामि, गर्हे आत्मानं =
 आशातिनाशरणकलवर्तिन दुष्कर्मचारिण अनुमतिस्थानेन, व्युत्सृजामि =
 अक्षं त्यजामि ।

(२)

प्रत्याख्यान सूत्र

(१)

नमस्कारसहित सूत्र

उद्गते सूर्ये नमस्कारसहितं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, व्युत्सृजामि ।

(२)

पौरुषी सूत्र

उद्गते सूर्ये पौरुषीं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, प्रच्छन्नकालेन, दिग्भोगेन, साधुचचनेन, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(३)

पूर्वार्द्ध सूत्र

उद्गते सूर्ये पूर्वार्द्धं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, प्रच्छन्नकालेन, दिग्भोगेन, साधुचचनेन, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

१. अत्र सर्वेषु आकारेषु पञ्चम्यर्थे तृतीया । अन्यत्र अनाभोगात्, सहसाकाराच्च, एतौ वर्जयित्वा इत्यर्थः ।

(४)

- एकाशन सूत्र -

एकाशनं प्रत्याख्यामि, त्रिविधमपि आहारम्—अशनं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, सागारिकाकारेण, आयुञ्जनप्रसारणेन, गुर्धभ्युत्थानेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(५)

एकस्थान सूत्र

एकाशनं एकस्थानं प्रत्याख्यामि, त्रिविधमपि आहारम्—अशनं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, सागारिकाकारेण, गुर्धभ्युत्थानेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(६)

आचाम्ल सूत्र

आचाम्लं प्रत्याख्यामि, अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, लेपालेपेन, उत्क्षिप्तविवेकेन, गृहस्थसंसृष्टेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(७)

अभस्तार्थ=उपवास सूत्र

उद्गते सूर्ये अभस्तार्थं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(८)

दिवसचरिम-सूत्र

दिवसचरिमं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आधारम्—अशनं, तनं, स्वादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, महत्तराकारेण, सर्व समाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(९)

अभिग्रह-सूत्र

अभिग्रहं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आधारम्—अशनं, तनं, स्वादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, महत्तराकारेण, सर्व समाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(१०)

निर्विकृति-सूत्र

विकृतिः प्रत्याख्यामि । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, त्रिपातेन, गृहस्थ संभृष्टेन, उत्तिष्ठविवेकेन, प्रतीत्यसंज्ञितेन, परिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्व समाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(११)

प्रत्याख्यानपारणा-सूत्र

उद्गते सूर्ये नमस्कारसहितं—प्रत्याख्यानं कृतम्, तत्प्रत्याख्यानं सन्ध्यायां कायेन स्मृष्टं, पालितं, तीरितं, कीर्तितं, शोधितं, ध्यायितम् । यत् न आराधितम् । तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

(३)

संस्तार-पौरुषी सूत्र

अनुजानीत परमगुरवः,
 गुरुगुणरत्नैर्मैरिडित - शरीराः ।
 बहुप्रतिपूर्णा पौरुषी,
 रात्रिके संस्तारके तिष्ठामि ॥ १ ॥

अनुजानीत संस्तारः,
 बाहुपयनेन दानपार्ष्वेन ।
 कुक्कुटी-भादप्रसारणे,
 ऽशक्नुवन् प्रमार्जयेद् भूमिम् ॥ २ ॥

सङ्कोच्य संदर्शौ,
 उद्वर्तमानश्च कार्यं प्रतिलिखेत् ।
 द्रव्याद्युपयोगेन,
 उच्छ्वासनिरोधेन आलोकं (कुर्यात्) ॥ ३ ॥

चत्वारो मङ्गलम्,
 अर्हन्तो मङ्गलं, सिद्धा मङ्गलं, साधवो
 मङ्गलं, केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ॥ ४ ॥

चत्वारो लोकोत्तमाः,
 अर्हन्तो लोकोत्तमाः, सिद्धा लोकोत्तमाः, साधवो
 लोकोत्तमाः, केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः ॥ ५ ॥

चतुरः शरणं प्रपद्ये,
 अर्हतः शरणं प्रपद्ये, सिद्धान् शरणं प्रपद्ये, साधून्
 शरणं प्रपद्ये, केवलि-प्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

यदि मे भवेत् प्रमादो

ऽस्य देहस्य अस्यां रजन्याम् ।

आहारमुपधिदेहं,

सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृष्टम् ॥ ७ ॥

प्राणातिपातमलीकं,

चौर्यं मैथुनं द्रविणमूर्च्छाम् ।

क्रोधं मानं मायं

लोभं प्रेम तथा द्वेषम् ॥ ८ ॥

कलहमभ्याख्यानं,

पैशुन्यं रत्यरतिसमायुक्तम् ।

पर-परिवादं माया—

मृपां मिथ्यात्वशक्त्यं च ॥ ९ ॥

व्युत्सृज इमानि

मोक्षमार्गसंसर्ग - विघ्नभूतानि ।

दुर्गति-निबन्धनानि

अष्टादश पाप-स्थानानि ॥ १० ॥

एकोऽहं नास्ति मे कश्चित्,

नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ।

एवमदीन—मना

आत्मानमनुशास्ति ॥ ११ ॥

एको मे शाश्वत आत्मा

ज्ञान - दर्शन - संयुतः ।

शेषा मे बाह्या भावाः,

सर्वे संयोग - लक्षणाः ॥ १२ ॥

संयोग—मूला जीवेन

प्राप्ता दुःख—परम्परा ।

तस्मान् संयोग-सम्बन्धः,
 सर्वः त्रिविधेन व्युत्सृष्टः ॥१३॥
 क्षमित्वा क्षामयित्वा मयि क्षमर्ष्व
 सर्वे जीव - निष्ठायाः ।
 सिद्धानां साक्ष्यया श्रालोचयामि,
 मम चरं न भावः ॥१४॥
 सर्वे जीवाः कर्म-शराः,
 क्षतुर्दरा - रज्जौ ध्राम्यन्तः ।
 ते मया सर्वे क्षामिताः,
 मयि अपि ते क्षाम्यन्तु ॥१५॥
 यद् यद् मनसा यद्धं,
 यद् यद् वाचा भाषितं पापम् ।
 यद् यन् वायेन कृतं,
 तस्य मिथ्या मे दुष्टतम् ॥१६॥
 नमोऽर्हद्भ्यः
 नमः सिद्धेभ्यः
 नम आचार्येभ्यः
 नम उपाध्यायेभ्यः
 नमो लोके सर्व-साधुभ्यः ।

एष पञ्च - नमस्कारः

सर्व - पाप - प्रणशानः ।

मह-गलानां च सर्वेषां,

प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥

(४)

शेष-सूत्र

(१)

सम्यक्त्व सूत्र

अहंन् मम देवः,

यावज्जीवं सुसाधवः गुरवः ।

जिन - प्रज्ञप्तं तत्त्वं,

इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥१॥

(२)

गुरु-गुण-स्मरण सूत्र

पञ्चेन्द्रिय - संवरणः,

तथा नवविध-ब्रह्मचर्यगुमिधरः ।

चतुर्विध - कपायमुक्तः,

इत्यष्टादशगुणैः संयुक्तः ॥ १ ॥

पञ्चमहाव्रत - युक्तः,

पञ्चविधाचार - पालनसमर्थः ।

पञ्चसमितः त्रिगुप्तः,

पट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ॥ २ ॥

(३)

गुरुवन्दन सूत्र

त्रिकृत्वः

आदक्षिणं प्रदक्षिणं करोमि

वन्दे, नमस्यामि,

सत्करोमि, सम्मानयामि,

कल्याण, महलम्,
देवत, चैत्यम्,
पर्युपासे
मस्तकेन वन्दे ।

(४)

ऐर्यापथिरु आलोचना सूत्र

इच्छाकरणे = निवेष्टया, न तु बलामिच्छेन
सदिरात भगवन् !
ऐर्यापथिरु प्रतिब्रजामि
इच्छामि ० ० ० ० १

(५)

उत्तरीकरण सूत्र

तस्य = भामर्ययोगस तस्य कथञ्चिद् प्रमादात् खरिष्टस्य-विराधि
तस्य वा, उत्तरीकरणेन = पुनः संस्कारदाणरिक्करणेन, प्रायश्चित्त
करणेन, विशोर्थाकरणेन = द्वायथमचिनस्थात्मन प्रदात्तनेन,
विशाल्पीकरणेन,

पापानां कर्मणां निर्भावनार्थाय,

विष्ठाभि = ऋषेभि, त्रयोत्सर्गम् = व्यासखतः कथस्य परि
त्यागम् ॥ १ ॥

(६)

आकार सूत्र

अन्यत्र उच्छ्वसितेन, निःस्वसितेन, कासितेन,
धुतेन, जृम्भितेन, उद्गारितेन, वातनिसर्गेण,
धर्म्या = अम्या, पित्तमूर्च्छया ॥ १ ॥

१—अमेतेन पाठः भमरासुप्रान्तान्तेतमेर्यापथिरुवद् देवः ।

सूक्ष्मैः अङ्ग-सञ्चारैः,

सूक्ष्मैः खेल (श्लेष्म) सञ्चारैः,

सूक्ष्मैः दृष्टि-सञ्चारैः ॥ २ ॥

एवमादिभिः आकारैः=अपवादरूपैः, अभग्नः=न सर्वथा नाशितः,

अचिराधितः=न देशतो नाशितः,

भवतु मे कायोत्सर्गः ॥ ३ ॥

[कियन्तं कालं यावत् ?] यावद् अर्हतां भगवतां नमस्कारेण
न पारयामि ॥ ४ ॥

तावत् [तावन्तं कालं] कायं स्थानेन, मौनेन, ध्यानेन,

आत्मानं=आत्मीयं, व्युत्सृजामि ॥ ५ ॥

(७)

चतुर्विंशतिस्तव सूत्र

लोकस्योद्घोतकरान्, धर्मतीर्थकरान् जिनेान् ।

अर्हतः कीर्तयिष्यामि, चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥ १ ॥

ऋषभमजितं च वन्दे, संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।

पद्मप्रभं सुपार्श्वं, जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥ २ ॥

सुविधिं च पुष्पदन्तं, शीतल-श्रेयांसं वासुपूज्यं च ।

विमलमनन्तं च जिनं, धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥ ३ ॥

कुन्थुमरं च मल्लिं, वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।

वन्दे अरिष्टनेमिं, पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥ ४ ॥

एवं मया अभिष्टुता, पिधुतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः ।

चतुर्विंशतिरपि जिनवराः, तीर्थकराः मे प्रसीदन्तु ॥ ५ ॥

कीर्तित-वन्दित-महिताः, ये एते लोकस्योत्तमाः सिद्धाः ।

आरोग्य - बोधिलभः, समाधिवरमुत्तमं ददतु ॥ ६ ॥

चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः, आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः ।

सागरवरगम्भीराः, सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥ ७ ॥

(८)

प्रणिपात सूत्र

नमोऽस्तु अर्हद्भ्य, भगवद्भ्य ॥ १ ॥
 आदिरुरेभ्य, तीर्थकरेभ्य, स्वयसम्युद्धेभ्य ॥ २ ॥
 पुरुषोत्तमेभ्य, पुरुषसिंहेभ्य, पुरुषवर पुण्डरीकेभ्य,
 पुण्यवर-गन्धहस्तिभ्य ॥ ३ ॥
 लोकोत्तमेभ्य, लोचनायेभ्य,
 लोकरहितेभ्य, लोकर प्रदीपेभ्य, लोकरप्रद्योतकरेभ्य ॥ ४ ॥
 अभयदयेभ्य,
 चक्षुर्दयेभ्य, मार्गदयेभ्य, शरणदयेभ्य,
 जीवदयेभ्य, बोधदयेभ्य ॥ ५ ॥
 धर्मदयेभ्य, धर्मदेशनेभ्य, धर्मनायकेभ्य,
 धर्मसारधिभ्य, धर्मवर-चतुरन्तचरवर्तिभ्य ॥ ६ ॥
 द्वीप-त्राण शरण-नावि प्रतिष्ठारूपेभ्य,
 अप्रतिहत-वर-ज्ञान दर्शनधरेभ्य,
 व्यावृत्ति-छद्मभ्य ॥ ७ ॥
 जिनेभ्य, नापम्भ्य, तीर्णेभ्य, तारकेभ्य,
 मुद्धेभ्य, बोधकेभ्य, मुक्तेभ्य, मोचकेभ्य ॥ ८ ॥
 सर्वज्ञेभ्य, सर्वदर्शिभ्य, शिवमचल—
 मरुतमनन्तमक्षयमव्यावाधमपुनरावृत्ति—
 सिद्धिगति-नामधेय स्थान सम्प्राप्तेभ्य,
 नमो निनेभ्य, जित्तमयेभ्य ॥ ९ ॥

अतिचार-आलोचना

ज्ञान-शुद्धि

साधनों के होते भी न ज्ञानाभ्यास किया स्वयं,
 दूसरों को भी न यथायोग्यता कराया हो ।
 ज्ञान के नशे में चूर लड़ता-लड़ाता फिरा,
 ज्ञानी जनों को न शीघ्र सादर भुकाया हो ॥
 सूत्र और अर्थ नष्ट-भ्रष्ट किया घटा-बढ़ा,
 तत्त्वशून्य तर्कणा में मस्तक लड़ाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 श्रेष्ठ ज्ञान-रत्न में जो दूषण लगाया हो ॥

दर्शन-शुद्धि

वीतराग-वाणी पे न श्रद्धाभाव दृढ़ रखना,
 फँस के कुतर्कजाल शङ्काभाव लाया हो ।
 नानाविध पाखंडों के मोहक स्वरूप-देख,
 संसारी सुखों के प्रति चित्त ललचाया हो ॥
 धर्माचार-फल के सम्बन्ध में संशंक बना,
 मन को पाखंडियों की पूजा में भ्रमाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 सम्यक्त्व-सुरल में जो दूषण लगाया हो ॥

ईर्या-समिति

स्वच्छ, शुद्ध, श्रेष्ठजनगम्य राजमार्ग छोड़,
 सूक्ष्म - जन्तु - पूरित सुपथ अपनाया हो ।
 दाएँ-बाएँ अच्छे-बुरे दर्यों को लसाता बना,
 नीची दृष्टि में न देख कदम उठाया हो ॥
 पातों की बहार में विमुग्ध शून्य वित्त बना,
 तुच्छकाय कीटों पे गजेन्द्ररूप धाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पापदोष मिथ्या होवे,
 गमनसमिति में जो दूषण लगाया हो ॥

भाषा-समिति

पूज्य आत पुरुषों का गाया नहीं गुणगान,
 यत्र-तत्र अपना ही कीर्तिगान गाया हो ।
 सर्वजन - हितकारी मीठे नहीं बोले बोल,
 हसी से या चुगली से कलह बढ़ाया हो ॥
 दूसरों के दोषों का जगत में दिंदोरा पीटा,
 पाणी के प्रताप हिंसा-धरु भी चलाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पापदोष मिथ्या होवे,
 भाषणसमिति में जो दूषण लगाया हो ॥

एषणा-समिति

चद्गमादि फयालीस भिन्ना - दोष टाले नहीं,
 जैसा-तैसा खाय भट्ट पात्र में भराया हो ।
 ताक-ताक ऊँचे-ऊँचे महलों में दौड़ा गया,
 रङ्ग पर सूखी रोटी देख चकराया हो ॥
 जीवनार्थ भोजन का संयम-रहस्य गुला,
 भोजनार्थ मात्र साधुजीवन बनाया हो ।

दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
एपणा-समिति में जो दूषण लगाया हो ॥

आदाननिक्षेप-समिति

वस्त्र - पात्र - पुस्तकादि पडिलेहे—पूँजे विना,
देखे-भाले विना मन आया जहाँ वगाया हो ।
देह में घुसाया भूत आलस्य विनाशकारी,
प्रतिलेखना का श्रेष्ठ काल विसराया हो ॥
संयम का शुद्ध मूलतत्त्व सुविवेक छोड़,
सूक्ष्म जीव जन्तुओं का जीवन नशाया हो ।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
आदान - समिति में जो दूषण लगाया हो ॥

उत्सर्ग (परिष्ठापना) समिति

परठने-योग्य कफ मल मूत्र आदि वस्तु,
आगमोक्त योग्य-भूमि में न परठाया हो ।
भुक्तशेष अन्न-जल दूर ही से फेंक दिया,
सर्वथा असंयम का पथ अपनाया हो ।
स्वच्छ, शान्त, स्वास्थ्यकारी स्थानों को बिगाड़ा हन्त,
जैनधर्म एवं साधु-संघ को लजाया हो ।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
उत्सर्ग-समिति में जो दूषण लगाया हो ॥

मनोगुप्ति

व्यर्थ के अयोग्य नाना सकल्प-विकल्प जोड़—
तोड़, चित्त-चक्र अति चंचल डुलाया हो ।
किसी से बढ़ाया राग किसी से बढ़ाया द्वेष,
परोन्नति देख कभी ईर्ष्या-भाव आया हो ॥

विषय-सुगों की कल्पनाओं में फँसाके रख,
 समय से दूर दुराधार में रमाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवे,
 श्रेष्ठ मनोगुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

वचन-गुप्ति

बैठ जन-मण्डली में लम्बी-चौड़ी गप्प होंक,
 बातों ही में घटुमूल्य समय गँवाया हो ।
 बोला क्या वचन, उस वक्ता-सा ही मार दिया,
 दीन दुखियों पे मुला आर्तक जमाया हो ॥
 राज-देश-भक्त-नारी चारों पिछ्छाएँ कह,
 स्व-पर-धिकार-वासनाओं को जगाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवे,
 श्रेष्ठ वचनगुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

काय-गुप्ति

भोगासक्ति रस नानाविध मुरख-साधनों की,
 मृदु कष्ट-कातर स्पन्द को बनाया हो ।
 शुद्धता का भाव त्याग शृंगार का भाव धारा,
 सादगी से ध्यान हटा फैशन सजाया हो ॥
 अलङ्कृतने में आ के यतना को गया भूल,
 अस्त-व्यस्तता में किसी जीव को सताया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवे,
 श्रेष्ठ काय-गुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

अहिंसा-महाव्रत

सूक्ष्म औ यादर त्रस-स्थायर समस्त प्राणी—
 वर्ग, जिस-किसी भोंति खरा भी सताया हो ।

सुनते ही कटु-वाक्य अग्नि-ज्यों भभक उठा,
 निन्दकों के प्रति घृणा-द्वेष-भाव लाया हो ॥
 रोगी, दीन, दुःखी छोटे-बड़े सभी प्राणियों से,
 प्रेम-भरा वन्धुता का भाव न रखाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 आद्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

सत्य-महाव्रत

हास्य-वश लम्बी-चौड़ी गढ़ के गढ़न्त झूठी,
 औंधा-सीधा कोई भद्र प्राणी भरमाया हो ।
 राज की, समाज की या प्राणों की विभीषिका से,
 झूठ बोल जानते भी सत्य को छुपाया हो ॥
 द्वेष-वश मिथ्या दोष लगा बदनाम किया,
 सत्य भी अनर्थकारी झूल प्रगटाया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 सत्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

अचौर्य-महाव्रत

अशन, वसन अथ अन्य उपयोगी वस्तु,
 मालिक की आज्ञा बिना तृण भी उठाया हो ।
 मानव-समाज की हा ! छाती पै का भार रहा,
 विश्व-हित-हेतु स्वकर्तव्य न बजाया हो ॥
 वृद्धों की, तपस्वियों की तथा नवदीक्षितों की,
 रोगियों की सेवा से हुरामी जी चुराया हो ।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
 दत्त-महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

ब्रह्मचर्य-महाव्रत

विश्व की ममस्त नारी माता भगिनी न जानी,
 देखते ही सुन्दरी-सी दुवती लुभाया हो।
 पाताचिद्ध हृद के समान बना चल-चित्त,
 काम-राग दृष्टिराग स्नेहराग छाया हो॥
 बार-बार पुष्टि-कर सरस आहार भोगा,
 शान्त इन्द्रियों में भोगानल दहकाया हो।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होयें,
 ब्रह्म-महाव्रत में जो दूषण लगाया हो॥

अपरिग्रह-महाव्रत

विद्यमान वस्तुओं के मूर्धना, अविद्यमान—
 वस्तुओं की लालसा में मन को रमाया हो।
 गच्छ मोह, शिष्य-मोह, शास्त्र मोह, स्थान-मोह,
 अन्य भी देहादि-मोह जाल में फँसाया हो॥
 आवश्यकताएँ बड़ा योग्यायोग साधनों से,
 व्यर्थ ही अयुक्त वस्तु-संचय जुटाया हो।
 दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होयें,
 अन्त्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो॥

अरात्रिमोजन-व्रत

अशनादि चारों ही आहार रात्रि-समय में,
 जान या अजान स्वर्य खाया हो, खिलाया हो।
 'औषधी के खाने में तो कुछ भी [नहीं है दोष],
 प्राणमोही वन मिथ्या मन्तव्य चलाया हो॥
 रसना के चक्कर में आ के सुस्वादु राख,
 अभिम दिनार्थ घासी रखी हो, रखाया हो।

दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होंवें,
निशाऽभुक्ति-व्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

महाव्रत-भावना

पंच महाव्रत की न भावना पच्चीस पाली,
होकर अति सुखशील आतमा करली काली ।
संयम की ले छोट मृद ही देह सँभाली,
ऊपर ढोंग विचित्र होगया अन्दर खाली ॥

गत भूलों पर तीव्रतम,
पुनि-पुनि पश्चात्ताप है ।
दुश्चरित्र मुनि संघ पर,
एक मात्र अभिशाप है ॥

पच्चीस मिथ्यात्व

अपने मिथ्या मत का भी अति-आग्रह धारा,
लड़ा कुतर्क स्पष्ट सत्य पर-मत धिक्कारा ।
कभी ज्ञान तो कभी क्रिया एकान्त विचारा,
लोकाचार-विमूढ़ मोक्ष का मार्ग घिसारा ।

पाँच-बीस मिथ्यात्व की,
करूँ अखिल आलोचना ।
मनसा घबसा कर्मणा,
योग-शुद्धि की योजना ॥

गुरुजनों का अविनय

पूजनीय गुरुजन की सेवा से मुख मोड़ा,
आदर-सत्कारादि भक्ति का बन्धन तोड़ा ।

हित-शिक्षा नाहिं यही द्वेष से नाक सिरोदा,
 घना घोर अविनीत 'अहं' मे नाना जोड़ा ।

हा ! इस फलुपित कर्म पर,
 प्रार-भार धिक्कार है ।
 गुरु-सैवा ही मोक्ष का,
 एक मात्र यर द्वार है ॥

अष्टादश-पाप

पाप-वंक अष्टादश प्रतिफल,
 आत्मा मलिन बनाते हैं ।
 भीम भयंकर भय अटर्पी में,
 भ्रान्त बना भटकाते हैं ।
 पाप-शिरोमणि हिंसा से जग—
 जीव नित्य भय, खाते हैं ।
 मृषापाद से मानव जग में,
 निज विश्वास गंवाते हैं ।
 बोर्यवृत्ति अति ही अधमाधम,
 निज-पर सब को दहती है ।
 मैथुनरत पुरुषों की बुद्धि,
 निशदिन विवृत रहती है ।
 संसृति-मूल परिग्रह भीषण,
 ममताऽऽसक्ति बढ़ाता है ।
 आवुल व्याकुल जीवन रहता,
 आरिज नरक पठाता है ।
 मोघ मन से सज्जन जन भी,
 फटपट बैरी हो जाने ।

माया-लोभ अतल महासागर,
 हूवे पार नही पावे ।
 राग, द्वेष, कलह के कारण,
 पामर नर-जीवन होता ।
 अभ्याख्यान पिशुनता का विष,
 शान्ति-सुखा का रस खोता ।
 पृष्ठ-भांस भक्षण-सी निन्दा,
 फैले क्लेश परस्पर में ।
 रति-अरति से क्षण-क्षण बहता,
 हर्ष-शोक-नद अन्तर में ।
 मायामृपा खड्ग की धारा,
 मधु-प्रलिप्त जहरीली है ।
 मिथ्या-दर्शन की तो अति ही,
 घातक विकट पहेली है ।
 भगवन् ! ये सब पाप पुण्यरिपु,
 स्वयं करे करवाए हों ।
 अथवा वन अनुमोदक स्तुति के,
 गीत मुदित हो गाए हों ।
 पूर्णरूप से कर आलोचन,
 पाप-क्षेत्र से हटता हूँ ।
 अधः पतन के पथ को तज कर,
 उन्नत पथ पर बहता हूँ ।

उपसंहार

पंच महाव्रत श्रेष्ठ मूल गुण मंगलकारी,
 दशविध प्रत्याख्यान गुणोत्तर कलिमल हारी ।

लगे अतिक्लम और व्यतिक्रम दूषण भारी,
 आई हो अतिचार अनाचारों की घारी ।

भूल-चूक जो भी हुई,
 बार-बार निन्दा करूँ ।

आगे आत्मविशुद्धि के,
 तब प्रयत्न सब आदरूँ ।



: ७ :

परमेष्ठि-वन्दन

अरिहंत-वन्दन

नमोऽस्त्युणं अरिहंताणं, भगवंताणं, सच्चजगजीववृच्छ-
लाणं, सच्चजगमंगलाणं, मोक्षमग्गदेसगाणं, अप्पडिहयवरणा-
दंसणधराणं, जियरागदोसमोहाणं, जिणाणं ।

राग-द्वेष महामल्ल घोर धनघातिकर्म,
नष्ट कर पूर्ण सर्वज्ञ - पद पाया है ।
शान्ति का सुराज्य समोसरण में कैसा सौम्य,
सिंहनी ने दुग्ध मृगशिशु को पिलाया है ॥
अज्ञानान्धकार-मग्न विश्व को दयाद्र होके,
सत्य-धर्म-ज्योति का प्रकाश दिखलाया है ।
'अमर' सभक्तिभाव बार - बार वन्दनार्थ,
अरिहंत - चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

सिद्ध-वन्दन

नमोऽस्त्युणं सिद्धाणं, बुद्धाणं, संसारसागरपारगयाणं,
जम्मजरामरणचक्कविप्पमुक्काणं, कम्ममलरहियाणं, अव्वावाह-
सुहमुवगयाणं, सिद्धिदाणं, संपत्ताणं ।

जन्म-जरा-मरण के चक्र से पृथक् भये,
 पूर्ण सत्य विद्वानन्द शुद्ध रूप पाया है ।
 मनसा अचिन्त्य तथा वचसा अवाच्य सदा,
 स्थायक स्वभाव में निजातमा रमाया है ॥
 संकल्प-विकल्प - शून्य निरंजन निराकार,
 माया का प्रपञ्च जड़मूल से नशाया है ।
 'अमर' समक्तिमाय बार-बार वन्दनार्थ,
 पूज्य सिद्ध-चरणों में 'मस्तक' मुकाया है ॥

आचार्य-वन्दन

नमोऽत्थुण आचरियाण, नाणंदसण्णरित्तरयाण, गच्छ-
 मेदिभूयाण, सागरपरगभीषण, सवपरसमयणिच्छिद्याण,
 वैस-काल दमराण ।

आगमों के भिन्न भिन्न रहस्यों के ज्ञाता ज्ञानी,
 उत्तम चारित्र का पथ अपनाया है ।
 पशुपातता से शून्य यथायोग्य न्यायकारी,
 पतितों को शुद्ध कर धर्म में लगाया है ॥
 सूर्य-सा प्रचण्ड तेज प्रतिरोधी जावे केन्द्र,
 संघ में अखण्ड निज शासन चलाया है ।
 'अमर' समक्तिमाय बार-बार वन्दनार्थ,
 गच्छ-आचार्य-चरणों में मस्तक मुकाया है ॥

उपाध्याय-वन्दन

नमोऽत्थुण उवज्झयाण - अकण्ठनाणसायराण, धम्ममुत्त-
 वायगाण, जिणधम्मसम्भासंस्करणदकराण, नयत्पमाण
 निउणाण, मिन्दत्तधारादिवायराण ।

सन्द-बुद्धि शिष्यों को भी विद्या का अभ्यास करा,
 दिग्गज सिद्धान्तवादी पंडित बनाया है ।
 पाखंडीजनों को गर्व खर्व कर जगत् में,
 अनेकान्तता का जय-केतु फहराया है ॥
 शंका-समाधान-द्वारा भविकों को बोध दे के,
 देश - परदेश ज्ञान - भानु चमकाया है ।
 'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
 उपाध्याय - चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

साधु-वन्दन

नमोऽस्त्युणं सव्वसाहणं, अक्खलियसीलाणं, सव्वालंबण-
 विप्पमुक्काणं, समसत्तुमित्तपक्खणं, कलिमलमुक्काणं, उज्झिय-
 विसयकसायाणं, भावियजिणवयणमणाणं, तेल्लोत्कमुद्दावहाणं,
 पंचमहव्वयधराणं ।

शत्रु और मित्र तथा मान और अपमान,
 सुख और दुःख द्वैत-चिन्तन दृढ़ाया है ।
 मैत्री और करुणा समान सब प्राणियों में,
 क्रोधादि-कपाय-दावानल भी घुसाया है ॥
 ज्ञान एवं क्रिया के समान दृढ़ उपासक,
 भीषण समर कर्म-चमू से मचाया है ।
 'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
 त्यागी-मुनि-चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

धर्मगुरु-वन्दन

नमोऽस्त्युणं धम्मपरियाणं, धम्मदेसगाणं, संसारसागर-
 तारगाणं, असंकिलिट्ठायारचरित्ताणं, सव्वसत्ताणुग्गहपरा-
 यणाणं, उय्यग्गहकुसणाणं ।

भीम-भय-वन से निकाला बड़ी कोशिशों से,
 मोक्ष के विगुह्य राजमार्ग वे चलाया है ।
 संकट में धर्म-प्रदा दीली-दाली होने पर,
 समझा-बुझ के हृद माहम बँधाया है ।
 कटुता का नहीं लेश मुधा-सी सरस घाली,
 धर्म-प्रवचन नित्य प्रेम से सुनाया है ।
 'धर्मर' समतिभाष बार-बार बन्दनार्थ,
 धर्मगुरु-परणों में मस्तक झुकाया है ॥

(२)

अप्रमाद-प्रतिलेखना

(१) अनर्तित—प्रतिलेखना करते हुए शरीर और वस्त्र आदि को इधर-उधर नचाना न चाहिए ।

(२) अवलित—प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र कहीं से मुड़ा हुआ न होना चाहिए । प्रतिलेखना करने वाले को भी अपने शरीर को किन मोड़ें सीधे बैठना चाहिए । अथगु प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र और शरीर को चंचल न रखना चाहिए ।

(३) अननुबन्धी—वस्त्र को अत्यन्त से झड़वाना नहीं चाहिए ।

(४) अमोसली—धान्यादि कूटते समय ऊपर, नीचे और निरद्धा लगाने वाले मूमल की तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर नीचे या निरद्धा दीगर आदि से न लगाना चाहिए ।

(५) पद् पुग्मिनयस्फोटका—(छः पुरिमा नन शोभा)

प्रतिलेखना में छः पुरिम और नन छोड़ करने चाहियें । वस्त्र के दोनों हिस्सों को तीन-तीन बार रखेरना, छः पुरिम हैं । तथा वस्त्र को तीन-तीन बार पूँज कर उसका तीन बार शोधन करना, नन छोड़ हैं ।

(६) पाणि प्राण विरोधन—वस्त्र आदि पर कोई जीव देखने में आए तो उसका यत्नापूर्वक अपने हाथ में शोधन करना चाहिए ।

[दण्डाग सूत्र]

(३)

प्रमाद-प्रतिलेखना

(१) आरभटा—विश्रुत रीति से अथवा शीघ्रता से प्रतिलेखना करना । अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना बीच में अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करने लग जाना, वह आरभटा प्रतिलेखना है ।

(२) सम्मर्दा—जिस प्रतिलेखना में वस्त्र के कोने मुड़े ही रहें अर्थात् उसकी सलवट न निकाली जाय, वह सम्मर्दा प्रतिलेखना है। अथवा प्रतिलेखना के उपकरणों पर बैठकर प्रतिलेखना करना, सम्मर्दा प्रतिलेखना है।

(३) मोसली—जैसे धान्य कूटते समय मूसल ऊपर, नीचे और तिरछे लगता है, उसी प्रकार प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे अथवा तिरछा लगाना, मोसली प्रतिलेखना है।

(४) प्रस्फोटना—जिस प्रकार धूल से भरा हुआ वस्त्र जोर से झड़काया जाता है, उसी प्रकार प्रतिलेखना के वस्त्र को जोर से झड़काना, प्रस्फोटना प्रतिलेखना है।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों को बिना प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों में मिला देना, विक्षिप्ता प्रतिलेखना है। अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले आदि को इधर-उधर फेंकते रहना विक्षिप्ता प्रतिलेखना है।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पसवाड़े हाथ रखना, अथवा दोनों घुटनों या एक घुटने को भुजाओं के बीच रखना, वेदिका प्रतिलेखना है। [आणांग सूत्र]

(४)

आहार करने के छह कारण

(१) वेदना—क्षुधा वेदना की शान्ति के लिए।

(२) वैयावृत्य—सेवा करने के लिए।

(३) ईर्यापथ—मार्ग में गमनागमन आदि की शुद्ध प्रवृत्ति के लिए।

(४) संयम—संयम की रक्षा के लिए।

(५) प्राणप्रत्ययार्थ—प्राणों की रक्षा के लिए।

(६) धर्मचिन्ता—शास्त्राध्ययन आदि धर्म चिन्तन के लिए।

[उत्तराध्ययन २६ वाँ अध्याय]

(५)

आहार त्यागने के छह कारण

- (१) आतङ्क—मरकर रोग से प्रल दाने पर ।
- (२) उपसर्ग—आकस्मिक उपसर्ग आने पर ।
- (३) ब्रह्मचर्यगुप्ति—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ।
- (४) प्राप्तिन्या—दीनों की दया के लिए ।
- (५) तप—तप करने के लिए ।
- (६) सत्केरना—अन्तिम समय सहाय करने के लिए ।

[उत्तपण्यन २६ वीं अध्यायन]

(६)

शिवाभिलाषी के आठ गुण

- (१) शान्ति—शान्त रहे, हँसी मजाक न करे ।
- (२) इन्द्रियदुमन—इन्द्रियाँ पर नियंत्रण रखे ।
- (३) स्वदोषदृष्टि—दूसरों के दोष न देख कर अपने ही दोष देखे ।
- (४) सदाचार—सदाचार का पालन करे ।
- (५) ब्रह्मचर्य—ब्राम्चर्य का त्याग करे ।
- (६) अनासक्ति—विषयों में अनासक्त रहे ।
- (७) सत्याग्रह—सत्य ग्रहण के लिए सन्नद्ध रहे ।
- (८) सहिष्णुता—सहनशील रहे, क्रोध न करे ।

(७)

उपदेश देने योग्य आठ बातें

- (१) शान्ति—अहिंसा एवं दया ।
- (२) विरति—शय्यचार से विरुक्त ।

- (३) उपशम—कृपाय विजय ।
- (४) निर्वृत्ति—निर्वाण, आत्मिक शान्ति ।
- (५) शौच—मानसिक पवित्रता, दोषों का त्याग ।
- (६) आर्जव—सरलता, दम्भ का त्याग ।
- (७) मार्दव—कोमलता, दुराग्रह का त्याग ।
- (८) लाघव—परिग्रह का त्याग, अनासक्त रहना ।

(८)

भिक्षा की नौ कोटियाँ

- (१) आहारार्थ स्वयं जीवहिंसा न करे ।
- (२) दूसरों के द्वारा हिंसा न कराए ।
- (३) हिंसा करते हुआ का अनुमोदन न करे ।
- (४) आहारदि स्वयं न पकावे ।
- (५) दूसरो से न पकवावे ।
- (६) पकाते हुआ का अनुमोदन न करे ।
- (७) आहार स्वयं न खरीदे ।
- (८) दूसरो से न खरीदवावे ।
- (९) खरीदते हुआ का अनुमोदन न करे ।

उपर्युक्त सभी कोटियाँ मन, वचन और कायरूप तीनों योगों से हैं ।
इस प्रकार कुल भंग सत्ताईस होते हैं ।

(९)

रोग की उत्पत्ति के नौ कारण

- (१) अत्यासन—अधिक बैठे रहने से ।
- (२) अहितासन—प्रतिकूल आसन से बैठने पर ।
- (३) अतिनिद्रा—अधिक नींद लेने से ।

- (४) अतिजागरित—अधिक जागने से ।
- (५) उन्चारनिरोध—उड़ी नीति की बाधा रोकने से ।
- (६) प्रसवणनिरोध—लघुनीति (पेशाब) रोकने से ।
- (७) अतिगमन—मार्ग में अधिक चलने से ।
- (८) प्रतियूलभोजन—प्रकृति के प्रतिकूल भोजन करने से ।
- (९) इन्द्रियार्थविकोपन—विषयासक्ति अधिक रखने से ।

(१०)

समाचारी के दश प्रकार

(१) इच्छाकार—यदि आपनी इच्छा हो तो मैं अपना अनुकूल कार्य करूँ, अथवा आप चाहें तो मैं आप का यह कार्य करूँ ? इस प्रकार पूछने को इच्छाकार कहते हैं । एक साधु दूसरे से किसी कार्य के लिए प्रार्थना करे अथवा दूसरा साधु स्वयं उस कार्य को करे तो उससे इच्छाकार कहना आवश्यक है । इससे किसी भी कार्य में किसी भी प्रकार का बलाभियोग नहीं रहता ।

(२) मिथ्याकार—सवम का पालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो गया हो तो उस पाप के लिए पश्चात्ताप करता हुआ साधु 'मिथ्यामि दुक्करो' बहे, यह मिथ्याकार है ।

(३) तथाकार—गुरुदेव की ओर से किसी प्रकार की आज्ञा मिलने पर अथवा उपदेश देने पर तद्वत्ति (जैसा आप कहते हैं वही ठीक है) कहना, तथाकार है ।

(४) आवसियकी—आवश्यक कार्य के लिए उपाधय से बाहर जाते समय साधु को 'आवसिमा' कहना चाहिए—अर्थात् मैं आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाता हूँ ।

(५) नैपेधिकी—बाहर से वापिस आकर उपाधय में प्रवेश करते समय 'निसीदिया' कहना चाहिए । इसका अर्थ है—अब मुझे बाहर रहने का कोई काम नहीं रहा है ।

(६) **आपृच्छना**—किसी कार्य में प्रवृत्ति करनी हो तो पहले गुरुदेव से पूछना चाहिए कि—‘क्या मैं यह कार्य कर लूँ ?’ यह आपृच्छना है ।

(७) **प्रतिपृच्छना**—गुरुदेव ने पहले जिस काम का निषेध कर दिया हो, यदि आवश्यकतावश वही कार्य करना हो तो गुरुदेव से पुनः पूछना चाहिए कि “भगवन् ! आपने पहले इस कार्य का निषेध कर दिया था, परन्तु यह अतीव आवश्यक कार्य है; अतः आप आज दें तो यह कार्य कर लूँ ?” इस प्रकार पुनः पूछना, प्रतिपृच्छना है ।

(८) **छन्दना**—स्वयं लाए हुए आहार के लिए साधुओं का आमंत्रण देना कि—‘यह आहार लाया हूँ, यदि आप भी इसमें से कुछ ग्रहण करें तो मैं धन्य होऊँगा ।’

(९) **निमंत्रणा**—आहार लाने के लिए जाते हुए दूसरे साधुओं को निमंत्रण देना, अथवा यह पूछना कि क्या आपके लिए भी आहार लेता आऊँ ?

(१०) **उपसंपदा**—ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिए अपना गच्छ छोड़कर किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेना, उपसंपदा है । गच्छ-मोह में पड़े रह कर ज्ञानादि उपार्जन करने के लिए दूसरों योग्य गच्छ का आश्रय न लेना, उचित नहीं है ।

(भगवती, शत० २५., ३७)

(११)

साधु के योग्य चौदह प्रकार का दान

(१) **अशन**—खाए जाने वाले पदार्थ रोटी आदि ।

(२) **पान**—पीने योग्य पदार्थ, जल आदि ।

(३) **खादिम**—मिश्रण, मेवा आदि सुखादु पदार्थ ।

(४) **स्वादिम**—मुख की स्वच्छता के लिए, लौंग सुपारी आदि

- (५) वस्त्र—पहनने योग्य वस्त्र ।
 (६) पात्र—काठ, मिट्टी और गुम्बे के बने हुए पात्र ।
 (७) कम्बल—ऊन आदि का बना हुआ कम्बल ।
 (८) पादप्रोज्ज्वल—रजोहरण, श्रोणा ।
 (९) पीठ—बैठने योग्य चौकी आदि ।
 (१०) कलक—सीने योग्य पट्टा आदि ।
 (११) शय्या—ठहरने के लिए मकान आदि ।
 (१२) सधार—बिठाने के लिए घास आदि ।
 (१३) औषध—एक ही वस्तु से बनी हुई औषधि ।
 (१४) भेषज—अनेक चीजों के मिश्रण से बनी हुई औषधि ।

ऊपर जो चौदह प्रकार के पदार्थ बताए गए हैं, इन में प्रथम के आठ पदार्थ तो दानदाता से एक गर लेने के बाद फिर वापस नहीं लौटाए जाते । शेष छह पदार्थ ऐसे हैं, जिन्हें साधु अपने काम में लाकर वापस लौटा भी देते हैं ।

[आवश्यक]

(१२)

कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष

घोडग^१ लया^२ य रमे कुड्डे^३ माले^४ य सवरि^५ बहु^६ नियले^७ ।
 लंबुत्तर^८ पण^९ उड्डी^{१०} सजय^{११} खलिये^{१२} य बायस^{१३} कविडे^{१४} ॥
 लीसोकपिप^{१५} मूर्ई^{१६} अंगुलि भमुहा^{१७} य वाक्यी^{१८} पेहा^{१९} ।
 एण कण्ड सग्गे हवति दोमा इगुणवीस ॥

(१) घोटक दोष—घोड़े की तरह एक पैर को मोड़कर खड़े होना ।

(२) लता दोष—पग्न प्रवर्धित लता की तरह झोंपना ।

(३) स्तम्भकुड्डय दोष—रामे या दीवाल का सहाय लेना ।

(४) माल दोष—माल अर्थात् ऊपर की ओर किसी के सहाये मस्तक लगा कर खड़े होना ।

(५) शवरो दोप—नग्न भिल्लनी के समान दोनों हाथ गुह्य-
थान पर रखकर खड़े होना ।

(६) वधू दोप—कुल-वधू की तरह मस्तक झुकाकर खड़े होना ।

(७) निगड दोप—बेड़ी पहने हुए पुरुष की तरह दोनों पैर
फैला कर अथवा मिलाकर खड़े होना ।

(८) लम्बोत्तर दोप—अविधि से चोलपट्टे को नाभि के ऊपर
और नीचे घुटने तक लम्बा फरके खड़े होना ।

(९) स्तन दोप—मञ्जर आदि के भय से अथवा अज्ञानता-
वश छाती दक कर कायोत्सर्ग करना ।

(१०) उर्द्धिका दोप—एड़ी मिला वर और पंजों को फैलाकर खड़े
रहना, अथवा अँगूठे मिलाकर और एड़ी फैलाकर खड़े रहना, उर्द्धिका
दोप है ।

(११) सयती दोप—साध्वी की तरह कपड़े से सारा शरीर ढँक
कर कायोत्सर्ग करना ।

(१२) खलीन दोप—लगाम की तरह रजोहरण को आगे रख
कर खड़े होना । अथवा लगाम से पीड़ित अश्व के समान मस्तक को
कभी ऊपर कभी नीचे हिलाना, खलीन दोप है ।

(१३) चायस दोप—कौवे की तरह चंचल चित्त होकर इधर-
उधर आँखें घुमाना अथवा दिशाओं की ओर देखना ।

(१४) कपित्थ दोप—प्रट्पदिका (जूँ) के भय से चोलपट्टे को
कपित्थ की तरह गोलाकार बना कर जंघाओं के बीच दबाकर खड़े
होना । अथवा मुट्ठी बाँध कर खड़े रहना, कपित्थ दोप है ।

(१५) शीर्षोत्कम्पित दोप—भूत लगे हुए व्यक्ति की तरह सिर
धुनते हुए खड़े रहना ।

(१६) मूक दोप—मूक अर्थात् गूँगे आदमी की तरह 'हूँ हूँ' आदि
अव्यक्त शब्द करना ।

(१७) अंगुलिका भ्रू दोप—आलापकों को अर्थात् पाठ की आवृ-

चित्तों को गिनने के लिए अँगुली हिलाना, तथा दूसरे व्यापार के निमित्त भी वह चला कर सकेन करना ।

(१८) वारणी दोष—जिस प्रकार तैयार की जाती हुई शराब से कुछ-कुछ शब्द निकलना है, उसी प्रकार अव्यक्त शब्द करते हुए लगे रहना । अथवा शराबी की तरह भ्रूमते हुए लगे रहना ।

(१९) प्रेक्षा दोष—याद का चिन्तन करते हुए वानर की तरह चोटों को चलाता । [प्रवचनसारोद्धार]

योगशास्त्र के तृतीय प्रकाश में श्रीहेमचन्द्राचार्य ने कायोत्तमों में द्वासीस दोष उल्लेख हैं । उनके मतानुसार स्तम्भ दोष, कुण्डल दोष, अँगुली दोष और भ्रू दोष चार हैं, जिनका ऊपर स्तम्भकुण्डल दोष श्री अँगुलिभ्रू दोष नामक दो दोषों में समावेश किया गया है ।

(१३)

साधु की ३१ उपमाएँ

(१) उत्तम एव खच्छु काश्य पात्र जैसे जल मुक्त रहता है, उस पर पानी नहीं टहरता है, उसी प्रकार साधु भी साधारण स्नेह से मुक्त होता है ।

(२) जैसे शल पर रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार साधु राग भाव से रञ्जित नहीं होता ।

(३) जैसे पक्षुपा चार पैर और एक गर्दन-हड्डी पोंचों अवयवों को सकोच कर, खोड़ी में छुपाकर सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार साधु भी समय क्षेत्र में पोंचों इन्द्रियों का गोपन करता है, उन्हें विषयों की ओर प्रतिकूल नहीं होने देता ।

(४) निर्मल सुवर्ण जैसे प्रशस्त रूपवान् होता है, उसी प्रकार साधु भी रागादि का नाश कर प्रशस्त आत्मस्वरूप वाला होता है ।

(५) जैसे कमल-पत्र जल से निर्जित रहता है, उसी प्रकार

साधु, अनुकूल विषयों में आसक्त न होता हुआ उनसे निर्लस रहता है ।

(६) चन्द्र जैसे सौम्य (शीतल) होता है, उसी प्रकार साधु स्वभाव से सौम्य होता है । शान्त-परिणामी होने से किसी को क्लेश नहीं पहुँचाता ।

(७) सूर्य जैसे तेज से दीप्त होता है, उसी प्रकार साधु भी तप के तेज से दीप्त रहता है ।

(८) जैसे सुमेरु पर्वत स्थिर है, प्रलयकाल में भी चलित नहीं होता, उसी प्रकार साधु संयम में स्थिर रहता हुआ अनुकूल तथा प्रतिकूल किसी भी परीपह से विचलित नहीं होता ।

(९) जिस प्रकार समुद्र गम्भीर होता है, उसी प्रकार साधु भी गम्भीर होता है, हर्ष और शोक के कारणों से चित्त को चंचल नहीं होने देता ।

(१०) जिस प्रकार पृथ्वी सभी बाधा पीड़ाएँ सहती है, उसी प्रकार साधु भी सभी प्रकार के परीपह एवं उपसर्ग सहन करता है ।

(११) राख की भाँई आने पर भी अग्नि जैसे अन्दर प्रदीप्त रहती है और बाहर से मलिन दिखाई देती है; उसी प्रकार साधु तप से कृश होने के कारण बाहर से म्लान दिखाई देता है, किन्तु अन्तर में शुभ भावनों के द्वारा प्रकाशमान रहता है ।

(१२) धी से सींची हुई अग्नि जैसे तेज से देदीप्यमान होती है उसी प्रकार साधु ज्ञान एवं तप के तेज से दीप्त रहता है ।

(१३) गोशीर्ष चन्दन जैसे शीतल तथा सुगन्धित होता है, उसी प्रकार साधु कपायों के उपशान्त होने से शीतल तथा शील की सुगन्ध से वासित होता है ।

(१४) हवा न चलने पर जैसे जलाशय की सतह सम रहती है ऊँची-नीची नहीं होती; उसी प्रकार साधु भी समभाव वाला होता है सम्मान हो अथवा अपमान, उसके विचारों में चढ़ाव-उतार नहीं होता

(१५) सम्मार्जित एवं स्वच्छ दर्पण जिस प्रकार प्रतिबिम्बप्राप्ती होता है, उसी प्रकार साधु मायारहित होने के कारण शुद्ध हृदय होता है, साधु के भावों को पूर्णतया प्रदण्य करता है।

(१६) जिस प्रकार हाथी रणाङ्गण में अपना हृद शौर्य दिग्गता है, उसी प्रकार साधु भी परीहरूप सेना के साथ युद्ध में अपूर्व आत्म-शौर्य प्रकट करता है एवं विजय प्राप्त करता है।

(१७) वृषभ जैसे घोर होता है, शकट-भार को पूर्णतया वहन करता है, उसी प्रकार साधु भी ग्रहण किए हुए व्रत नियमों का उत्साह पूर्वक निर्वाह करता है।

(१८) जिस प्रकार सिंह मरुशक्तिशाली होता है, पक्षतः पक्ष के अन्य मृगादि पशु उसे हरा नहीं सकते; उसी प्रकार साधु भी आध्यात्मिक शक्तिशाली होते हैं, परीह उन्हें पराभूत नहीं कर सकते।

(१९) शरद् ऋतु का जल जैसे निर्मल होता है उसी प्रकार साधु का हृदय भी शुद्ध — रागादि मल से रहित होता है।

(२०) जिस प्रकार भारयुक्त पक्षी अहर्निश अत्यन्त सावधान रहता है, तनिक भी प्रमाद नहीं करता; इसी प्रकार साधु भी सदैव समानुशान में सावधान रहता है, कभी भी प्रमाद का भेषन नहीं करता।

(२१) जैसे नैवे के मस्तक पर एक ही सींग होता है, उसी प्रकार साधु भी राग द्वेष रहित होने से एकाग्र होता है, किसी भी व्यक्ति एवं वस्तु में आसक्ति नहीं रखता।

(२२) जैसे स्थाणु (बृज का ढूँठ) निश्चल खड़ा रहता है उसी प्रकार साधु भी कायोन्मग्न आदि के समय निश्चल एवं निःप्रकाश खड़ा रहता है।

(२३) सूने भर में जैसे मफाई एवं सजावट आदि के संस्कार नहीं होते, उसी प्रकार साधु भी शरीर का संस्कार नहीं करता। यदि

(२४) जिस प्रकार निर्वात (वायु से रहित) स्थान में रहा हुआ दीपक स्थिर रहता है, कपित नहीं होता, उसी प्रकार साधु भी एकान्त स्थान में रहा हुआ उपसर्ग आने पर भी शुभ ध्यान से चलायमान नहीं होता ।

(२५) जैसे उस्तरे के एक ओर ही धार होती है, वैसे ही साधु भी त्याग-रूप एक ही धारा वाला होता है ।

(२६) जैसे सर्प एक-दृष्टि होना है अर्थात् लक्ष्य पर एक टक दृष्टि जमाए रहता है, उसी प्रकार साधु भी अपने मोक्ष-रूप ध्येय के प्रति ही ध्यान रक्खता है, अन्यत्र नहीं ।

(२७) आकाश जैसे निरालम्ब = आधार से रहित है, उसी प्रकार साधु भी कुल, ग्राम, नगर, देश आदि के आलम्बन से रहित अनासक्त होता है ।

(२८) पक्षी जैसे सब तरह से स्वतंत्र होकर विहार करता है, वैसे ही निष्परिग्रही साधु भी स्वजन आदि तथा नियतवास आदि के बन्धनों से मुक्त होकर स्वतंत्र विहार करता है ।

(२९) जिस प्रकार सर्प स्वयं घर नहीं बनाता, किन्तु चूहे आदि दूसरों के बनाये बिलों में जाकर निवास करता है, उसी प्रकार साधु भी स्वयं मकान नहीं बनाता, किन्तु गृहस्थों के अपने लिए बनाए गए मकानों में उनकी आज्ञा प्राप्त कर निवास करता है ।

(३०) वायु की गति जैसे प्रतिबन्ध-रहित अव्याहत है, उसी प्रकार साधु भी बिना किसी प्रतिबन्ध के स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करता है ।

(३१) मृत्यु के बाद परभव में जाते हुए जीव की गति में जैसे कोई रुकावट नहीं होती, उसी प्रकार स्वपर सिद्धान्त का जानकार साधु भी निःशङ्क होकर विरोधी अन्य-तीर्थिकों के देशों में धर्म प्रचार करता हुआ विचरता है ।

[औपपातिक सूत्र]

(१४)

चत्तीस अस्वाध्याय

चत्तीस अस्वाध्यायों का वर्णन स्थानाङ्ग सूत्र में है। वह इस प्रकार है—दश आकाश सम्बन्धी, दश औदारिक-सम्बन्धी, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओं के पूर्व की पूर्णिमाएँ, और चार सन्ध्याएँ। अन्य ग्रन्थों में कुछ मत भेद भी हैं। परन्तु यहाँ स्थानाङ्ग सूत्र के अनुसार ही लिखा जा रहा है।

(१) उल्कापात—आकाश से रेखा वाले तैलापुञ्ज का गिरना, अभ्रमा पीछे से रेखा एवं प्रकाश वाले तारे का टूटना, उल्कापात कहलाता है। उल्कापात होने पर एक महर तक सूत्र की अस्वाध्याय रहती है।

(२) दिग्दाह—किसी एक दिशा-विशेष में मानों बड़ा नगर जल रहा हो, इस प्रकार ऊपर की ओर प्रकाश दिखाई देना और नीचे अन्धकार मालूम होना, दिग्दाह है। दिग्दाह के होने पर एक महर तक अस्वाध्याय रहती है।

(३) गर्जित—वादल गर्जने पर दो महर तक शास्त्र की स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए।

(४) विद्युत्—त्रिजली चमकने पर एक महर तक शास्त्र की स्वाध्याय करने का निषेध है।

आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र तक अर्थात् वर्षा ऋतु में गर्जित और विद्युत् की अस्वाध्याय नहीं होती। क्योंकि वर्षा काल में ये प्रकृतिसिद्ध स्वामाधिक होते हैं।

(५) निर्घात—बिना वादल वाले आकाश में व्यन्तरादिकृत गर्जना की प्रचण्ड भ्रमि की निर्घात कहते हैं। निर्घात होने पर एक अहायति तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

(६) यूपरु—शुक्ल पद में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना, यूपरु है। इन

दिनों में चन्द्र-प्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या का वीतना मालूम नहीं होता। अतः तीनों दिनों में रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना मना है।

(७) यक्षादीत—कभी किसी दिशा-विशेष में विजली सरीखा, बीच-बीच में ठहर कर, जो प्रकाश दिखाई देता है उसे यक्षादीत कहते हैं। यक्षादीत होने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(८) धूमिका—कार्तिक से लेकर माघ मास तक का समय मेषों का गर्भमास कहा जाता है। इस काल में जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जल रूप धूँवर पड़ती है, वह धूमिका कहलाती है। यह धूमिका कभी कभी अन्य मासों में भी पड़ा करती है। धूमिका गिरने के साथ ही सभी को जल-किलन्न कर देती है। अतः यह जब तक गिरती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(९) महिका—शीत काल में जो श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूँवर पड़ती है, वह महिका है। यह भी जब तक गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय रहता है।

(१०) रजउद्घात—वायु के कारण आकाश में जो चारों ओर धूल छा जाती है, उसे रजउद्घात कहते हैं। रजउद्घात जब तक रहे, तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

ये दश आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं।

(११-१३) अस्थि, मांस और रक्त—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के अस्थि, मांस और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हों तो संभवकाल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना मना है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली वगैरह चूहे आदि को मार डालें तो एक दिन-रात अस्वाध्याय रहता है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रक्त का अस्वाध्याय भी समझना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि—इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्रियों के

मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन का एवं जलक और बालिका के जन्म का प्रसङ्गः सात और आठ दिन का माना गया है।

(१४) अशुनि—श्री और पेशाब यदि स्वाध्याय स्थान के समीप हो और वे दृष्टिगोचर होते हो अथवा उनकी दुर्गन्ध आती हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१५) रमरान—रमरान के चारों तरफ सौ-सौ हाथ तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१६) चन्द्र ग्रहण—चन्द्र-ग्रहण होने पर जलन्य आठ और उत्कृष्ट बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि उगता हुआ चन्द्र प्रकट हुआ हो तो चार प्रहर उस रात के एवं चार प्रहर आगामी दिवस के—इस प्रकार आठ प्रहर स्वाध्याय न करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रभात के समय ग्रहण-स्थिति अस्त हुआ हो तो चार प्रहर दिन के, चार प्रहर रात्रि के एवं चार प्रहर दूसरे दिन के—इस प्रकार बारह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

पूर्ण ग्रहण होने पर भी बारह प्रहर स्वाध्याय न करना चाहिए। यदि ग्रहण अल्प-अपूर्ण हो तो आठ प्रहर तक अस्वाध्यायकाल रहता है।

(१७) सूर्य ग्रहण—सूर्य ग्रहण होने पर जलन्य बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। अपूर्ण ग्रहण होने पर बारह, और पूर्ण तथा पूर्ण के लगभग होने पर सोलह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

सूर्य अस्त होते समय प्रकट हो तो चार प्रहर रात के, और आठ आगामी अहोरात्रि के—इस प्रकार सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। यदि उगता हुआ सूर्य प्रकट हो तो उस दिन रात के आठ एवं आगामी दिन-रात के आठ—इस प्रकार सोलह प्रहर तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१८) पतन—परा की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा राजा

सिंहासनारूढ़ न हो, तब तक स्वाध्याय करना मना है। नये राजा के हो जाने के बाद भी एक दिन-रात तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

राजा के विद्यमान रहते भी यदि अशान्ति एवं उपद्रव हो जाय तो जब तक अशान्ति रहे तब तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। शान्ति एवं व्यवस्था हो जाने के बाद भी एक अहोरात्र के लिए अस्वाध्याय रखा जाता है।

राजमंत्री की, गाँव के मुखिया की, शय्यातर की, तथा उपाश्रय के आस-पास में सात वरों के अन्दर अन्य किसी की मृत्यु हो जाय तो एक दिन-रात के लिए अस्वाध्याय रखना चाहिए।

(१६) राजव्युद्ग्रह—राजाओं के बीच संग्राम हो जाय तो शान्ति होने तक तथा उसके बाद भी एक अहोरात्र तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(२०) औदारिकशरीर—उपाश्रय में पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का अथवा मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा हो तो सौ हाथ के अन्दर स्वाध्याय न करना चाहिए।

ये दश औदारिक—सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं। चन्द्र-ग्रहण और सूर्य ग्रहण को औदारिक अस्वाध्याय में इसलिए गिना है कि उनके विमान पृथ्वी के बने होते हैं।

(२१-२५) चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ़ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा—ये चार महोत्सव हैं। उक्त महापूर्णिमाओं के बाद आने वाली प्रतिपदा महा-प्रतिपदा कहलाती है। चारों महापूर्णिमाओं और चारों महाप्रतिपदाओं में स्वाध्याय न करना चाहिए।

(२६-३२) प्रातःकाल, दुपहर, सायंकाल और अर्द्ध रात्रि—ये चार सन्ध्याकाल हैं। इन सन्ध्याओं में भी दो घड़ी तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

[स्थानांग सूत्र]

(१५)

वन्दना के बत्तीस दोष

(१) अनाश्रित—आदरभाव के बिना वन्दना करना ।

(२) स्तब्ध—अभिमान पूर्वक वन्दना करना अर्थात् दण्डायमान रहना, झुक्ना नहीं । रोगादि कारण का आगत है ।

(३) प्रविष्ट—अनियमित रूप से अस्थिर होकर वन्दना करना । अथवा वन्दना शुरू ही छोड़ कर चले जाना ।

(४) परिपिण्डित—एक स्थान पर रहे हुए आचार्य आदि को पृथक्-पृथक् वन्दना न कर एक ही वन्दन से सब को वन्दना करना । अथवा जथा पर हाथ रख कर हाथ पैर बाँधे हुए अल्प उच्चारण-पूर्वक वन्दना करना ।

(५) टोलगति—टिड्डे की तरह आगे पीछे ऊँच नीचे कर वन्दना करना ।

(६) अशुश—रजोहरण को अशुश की तरह दोनों हाथों से पकड़ कर वन्दना करना । अथवा हाथी को जिस प्रकार जनात् अशुश के द्वारा पिठाया जाता है, उसी प्रकार आचार्य आदि सोये हुए हो या अन्य किसी कार्य में सलग्न हों तो अवशपूर्वक हाथ रींच कर वन्दना करना अशुश दोष है ।

(७) कच्छ परिगत—‘तित्सिन्नयगाए’ आदि पाठ कहते समय लड़े होकर अथवा ‘अहोकार्यकाय’ इत्यादि पाठ लेते समय बैठ कर कल्लुए की तरह गैंगते अर्थात् आगे-पीछे चलते हुए वन्दना करना ।

(८) मत्स्योद्घृत्त—आचार्यादि को वन्दना करने के बाद बैठे बैठे ही मछली की तरह शीघ्र पार्व फेर कर पास में बैठे हुए अन्य रत्नाधिक साधुओं को वन्दना करना ।

(९) मनसा प्रद्विष्ट—रत्नाधिक गुरुदेव के प्रति अस्यापूर्वक वन्दना करना, मनसाप्रद्विष्ट दोष है ।

(१०) वेदिकाचढ़—दोनों घुटनों के ऊपर, नीचे पार्श्व में अथवा गोदी में हाथ रख कर या किसी एक घुटने को दोनों हाथों के बीच में करके वन्दना करना ।

(११) भय—आचार्य आदि कहीं गच्छ से बाहर न करदें, इस भय से उनको वन्दना करना ।

(१२) भजमान—आचार्य हम से अनुकूल रहते हैं अथवा भविष्य में अनुकूल रहेंगे, इस दृष्टि से वन्दना करना ।

(१३) मैत्री—आचार्य आदि से मैत्री हो जायगी, इस प्रकार मैत्री के निमित्त से वन्दना करना ।

(१४) गौरव—दूसरे साधु यह जान लें कि यह साधु वन्दन-विषयक समाचारी में कुशल है, इस प्रकार गौरव की इच्छा से विधि-पूर्वक वन्दना करना ।

(१५) कारण—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सिवा अन्य ऐहिक वस्त्र पात्र आदि वस्तुओं के लिए वन्दना करना, कारण दोष है ।

(१६) स्तैन्य—दूसरे साधु और श्रावक मुझे वन्दना करते देख न लें, मेरी लघुता प्रकट न हो, इस भाव से चोर की तरह छिपकर वन्दना करना ।

(१७) प्रत्यनीक—गुरुदेव आहारादि करते हों उस समय वन्दना करना, प्रत्यनीक दोष है ।

(१८) रुष्ट—क्रोध से जलते हुए वन्दन करना ।

(१९) तर्जित—गुरुदेव को तर्जना करते हुए वन्दन करना । तर्जना का अर्थ है—‘तुम तो काष्ठ मूर्ति हो, तुमको वन्दना करें या न करें, कुछ भी हानि लाभ नहीं ।’

(२०) शठ—विना भाव के भिर्क दिखाने के लिए वन्दन करना अथवा बीमारी आदि का झूठा बहाना बना कर सम्यक् प्रकार से वन्दन न करना ।

(२१) ह्रीलित—‘आपको वन्दना करने में क्या लाभ!’—एक प्रकार हंसी करते हुए आदेचनापूर्ण वन्दना करना ।

(२२) विपरिमुष्पित—वन्दना अधूरी छोड़ कर देश आदि की हयल-उपर की शानें करने लगना ।

(२३) दृष्टादृष्ट—श्रुति में माधु वन्दना कर रहे हो उस समय किसी माधु की आज्ञा में वन्दना किए बिना गढ़े रहना अथवा अंधेरी जगह में वन्दना किए बिना ही सुचारु गढ़े रहना, परन्तु आचार्य के देख लेने पर वन्दना करने लगना, दृष्टादृष्ट दोष है ।

(२४) भृंग—वन्दना करने समय ललाट के धीव दोनों हाथ न लगाकर ललाट की घाँई या दाहिनी तरफ लगाना, भृंग दोष है ।

(२५) कर—वन्दना को निर्वैराग या हेतु न मान कर उसे अरिहन्त भगवान् का कर समझना ।

(२६) मोचन—वन्दना से ही मुक्ति सम्भव है, वन्दना के बिना मोक्ष न होगा—यह मोचनर विषयता के साथ वन्दना करना ।

(२७) आश्लिष्ट अनाश्लिष्ट—‘असौ काय काय’ इत्यादि आचमन देते समय दोनों हाथों से रजोदरुण और मल्लक को ममशः छूना चाहिए । अथवा गुरुदेव के चरण कमल और निम्न मल्लक को ममशः छूना चाहिए । ऐसा न करके किसी एक को छूना, अथवा दोनों को ही न छूना, आश्लिष्ट अनाश्लिष्ट दोष है ।

(२८) उन्न—आवश्यक वचन एवं नमनादि क्रियाओं में से कोई सी त्रिंश छोड़ देना । अथवा उमुस्ता के कारण थोड़े समय में ही वन्दन क्रिया समाप्त कर देना ।

(२९) उत्तरचूडा—वन्दना कर लेने के बाद उँचे स्वर से ‘मत्पण्य वन्दामि’ कहना उत्तर चूडा दोष है ।

(३०) मूक—पाठ का उच्चारण न करके मूक के समान वन्दना करना ।

(३१) ढड्डर—ऊँचे स्वर से अभद्र रूप में वन्दना-सूत्र का उच्चारण करना ।

(३२) चुड्ली—अर्द्धदग्ध अर्थात् अधजले काष्ठ की तरह रजोहरण को सिरे से पकड़ कर उमे घुमाते हुए वन्दन करना ।

[प्रवचन सारोद्धार, वन्दनाद्वार]

(१६)

तेतीस आशातनाएँ

(१) मार्ग में रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) से आगे चलना ।

(२) मार्ग में रत्नाधिक के बराबर चलना ।

(३) मार्ग में रत्नाधिक के पीछे अड़कर चलना ।

(४-६) रत्नाधिक के आगे बराबर में तथा पीछे अड़ कर खड़े होना ।

(७-९) रत्नाधिक के आगे, बराबर तथा पीछे अड़कर बैठना ।

(१०) रत्नाधिक और शिष्य विचार-भूमि (जंगल में) गए हों वहाँ रत्नाधिक से पूर्व आचमन शौच करना ।

(११) बाहर से उपाश्रय में लौटने पर रत्नाधिक से पहले ईर्यायथ की आलोचना करना ।

(१२) रात्रि में रत्नाधिक की ओर से 'कौन जागता है ?' पूछने पर जागते हुए भी उत्तर न देना ।

(१३) जिस व्यक्ति से रत्नाधिक को पहले बात-चीत करनी चाहिए, उससे पहले स्वयं ही बात-चीत करना ।

(१४) आहार आदि की आलोचना प्रथम दूसरे साधुओं के आगे करने के बाद रत्नाधिक के आगे करना ।

(१५) आहार आदि प्रथम दूसरे साधुओं को दिखला कर बाद में रत्नाधिक को दिखलाना ।

(१६) आहार आदि के लिए प्रथम दूसरे साधुओं को निमन्त्रित कर बाद में रत्नाधिक को निमन्त्रण देना ।

(१७) रत्नाधिक को भिन्ना पूछे दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देना ।

(१८) रत्नाधिक के साथ आहार करते समय मुत्वाहु आहार त्याग लेना, अथवा साधारण आहार भी शीघ्रता से अधिक त्याग लेना ।

(१९) रत्नाधिक के बुलाये जाने पर सुना अनुमति कर देना ।

(२०) रत्नाधिक के प्रति या उनके समक्ष कठोर अप्रिय वार्ता से अधिक बोलना ।

(२१) रत्नाधिक के द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य को उत्तर : 'मत्प्रणम्य वदामि' कहना चाहिए । ऐसा न कह कर 'क्या कहते हो इन शब्दों में उत्तर देना ।

(२२) रत्नाधिक के द्वारा बुलाने पर शिष्य को उनके समीप आकर नमस्ते करना चाहिए । ऐसा न करके आसन पर बैठे ही बैठे नमस्ते और उत्तर देना ।

(२३) गुरुदेव के प्रति 'तु' का प्रयोग करना ।

(२४) गुरुदेव किसी कार्य के लिए आज्ञा देवें तो उसे स्वीकार : करके उल्टा उन्हीं से कहना कि 'आप ही कर लो ।'

(२५) गुरुदेव के धर्मकथा कहने पर ध्यान से न सुनना और अन्य मनस्क रहना, प्रवचन को प्रशंसा न करना ।

(२६) रत्नाधिक धर्मकथा करते हाँ तो बीच में ही टोकना— 'आप भूल गए । यह ऐसे नहीं, ऐसे है'—इत्यादि ।

(२७) रत्नाधिक धर्मकथा कर रहे हों, उस समय किसी उगव से कथा भग करना और स्वयं कथा कहने लगना ।

(२८) रत्नाधिक धर्मकथा करते हों उस समय परिषद् का भेदन करना और कहना कि—'कब तक कहोगे, भिक्षा का समय हो गया है ।'

(२९) रत्नाधिक धर्म कथा कर चुके हों और जनता अभी विरही

न हो तो उस सभा में गुरुदेव—कथित धर्मकथा का ही अन्य व्याख्यान करना और कहना कि 'इसके ये भाव और होते हैं ।'

(३०) गुरुदेव के शय्या-संस्तारक को पैर से छूकर क्षमा माँगे बिना ही चले जाना ।

(३१) गुरुदेव के शय्या-संस्तारक पर खड़े होना, बैठना, और सोना ।

(३२) गुरुदेव के आसन से ऊँचे आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना ।

(३३) गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना ।

ये आशातनाएँ हरिभद्रीय आवश्यक के प्रतिक्रमणाध्ययन के अनुसार दी हैं । समवायांग और दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में भी कुछ क्रम-भंग के सिवा ये ही आशातनाएँ हैं ।

(१७)

गोचरी के ४७ दोष

गवेषणा के १६ उद्गम दोष

आहाकम्पुद्देशिय पूर्वकम्भे य मीसजाए य ।

ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे ॥ १ ॥

परियट्टिए अभिहडे उट्ठिभन्न मालोहडे इय ।

अच्छिज्जे अणिसिद्धे अळ्मोयरए य सोलसमे ॥ २ ॥

(१) आधाकर्म—साधु का उद्देश्य रखकर बनाना ।

(२) औद्देशिक—सामान्य याचकों का उद्देश्य रखकर बनाना ।

(३) पूतिकर्म—शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना ।

(४) मिश्रजात—अपने और साधु के लिए एक साथ बनाना ।

(५) स्थापन—साधु के लिए दुग्ध आदि अलग रख देना ।

(६) प्राभृतिका—साधु को पास में आया जान कर
विशिष्ट आहार पहरने के लिए बीमणवार आदि का दिन आगे पीछे
कर देना ।

(७) प्रादुष्करण—अन्यकार्युक स्थान में दीपक आदि का
प्रकाश करके भोजन देना ।

(८) क्रीत—साधु के लिए ग्रीद कर लाना ।

(९) प्रामित्य—साधु के लिए उपहार लाना ।

(१०) परितर्कित—साधु के लिए श्रद्धा-स्रष्टा करके लाना ।

(११) अभिदूत—साधु के लिए दूर से लाकर देना ।

(१२) उद्भिन्न—साधु के लिए लित-दान का मुग्न खोल कर
पूत आदि देना ।

(१३) मालापहत—ऊपर की मञ्जिल से या छीने बगैरह से
सीढ़ी आदि से उतार कर देना ।

(१४) आच्छेद्य—दुर्बल से छीन कर देना ।

(१५) अनिसृष्ट—साधु की चीज दूसरों की आज्ञा के बिना देना ।

(१६) अभ्ययपूरक—साधु को गाँव में आया जान कर अपने
लिए बनाये जाने वाले भोजन में और बढ़ा देना ।

उद्गम दोषों का निमित्त गृहस्थ होता है ।

गवेपणा के १६ उत्पादन दोष

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे विगिच्छा य ।

कोहे माणै माया लोभे य हवति दस एए ॥१॥

पुत्थि पच्छासथव विज्जा मने य चुएण जोगे य ।

उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्भे य ॥२॥

(१) धात्री—घाय की तरह गृहस्थ के बालनों को खिला खिला
कर, हँसा-रमाकर आहार लेना ।

(२) दूती—दूत के समान सदेशवाहक जनकर आहार लेना ।

- (३) निमित्त—शुभाशुभ निमित्त बताकर आहार लेना ।
 (४) आजीव—आहार के लिए जाति, कुल आदि बताना ।
 (५) वनीपक—गृहस्थ की व्रशंसा करके भिक्षा लेना ।
 (६) चिकित्सा—औषधि आदि बताकर आहार लेना ।
 (७) क्रोध—क्रोध करना या शापादि का भय दिखाना ।
 (८) मान—अपना प्रभुत्व जमाते हुए आहार लेना ।
 (९) माया—छल कपट से आहार लेना ।
 (१०) लोभ—सरस भिक्षा के लिए अधिक घूमना ।
 (११) पूर्वपश्चात्संस्तव—दान-दाता के माता-पिता अथवा सास-ससुर आदि से अपना परिचय बताकर भिक्षा लेना ।
 (१२) विद्या—जप आदि से सिद्ध होने वाली विद्या का प्रयोग करना ।
 (१३) मंत्र—मंत्र-प्रयोग से आहार लेना ।
 (१४) चूर्ण—चूर्ण आदि वशीकरण का प्रयोग करके आहार लेना ।
 (१५) योग—सिद्धि आदि योग-विद्या का प्रदर्शन करना ।
 (१६) मूलकर्म—गर्भस्तंभ आदि के प्रयोग बताना ।
 उत्पादन के दोष साधु की ओर से लगते हैं । इनका निमित्त साधु ही होता है ।

ग्रहर्षण के १० दोष

संकिय मक्खिय निक्खित्त,

पिहिय साहरिय दायगुम्भीसे ।

अपरिणय लित्त छड्डिय,

एसण दोसा दस हवन्ति ॥१॥

- (१) शङ्कित—आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी लेना ।
 (२) म्रक्षित—सचित्त का संशय होने पर आहार लेना ।
 (३) निक्षिप्त—सचित्त पर रखवा हुआ आहार लेना ।

- (४) पिहित—सचित्त से ढका हुआ आहार लेना ।
 (५) संहृत—यात्र में पहले से रखे हुए अवलम्बीय पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र से देना ।
 (६) दायक—शराही, गर्मिशी आदि अनधिकारी से लेना ।
 (७) उन्मिश्र—सचित्त से मिश्रित आहार लेना ।
 (८) अपरिणत—पूरे तौर पर पके बिना शाकादि लेना ।
 (९) लिप्त—दही, घृत आदि से लिप्त होनावाले पात्र या हाथ से आहार लेना । पहले या पीछे घोने के कारण पुरः कर्म तथा पश्चात्कर्म्म दोष होता है ।
 (१०) छर्दित—छाटे नीचे पड़ रहे हों, देखा आहार लेना ।
 गृहस्थ तथा साधु दोनों के निमित्त से लगने वाले दोष, प्रक्षयैय्या के दोष कहलाते हैं ।

ग्रामैषणा के ५ दोष

संजोयणाऽपमाणे,

इंगाले धूमऽकारणे चैव ।

- (१) संजोचना—रसलोलुप्ता के कारण दूध शक्कर आदि द्रव्यों को परस्पर मिलाना ।
 (२) अप्रमाण—प्रमाण से अधिक भोजन करना ।
 (३) अङ्गार—मुग्धादु भोजन को प्रशंसा करते हुए खाना । यह दोष चारित्र्य को बनाकर कोपलास्यरूप निस्तेज बना देना है, अतः अंगार कहलाता है ।
 (४) धूम—नीरग आहार को निन्दा करते हुए खाना ।
 (५) अकारण—आहार करने के छः कारणों के सिवा बलवृद्धि आदि के लिए भोजन करना ।
 ये दोष साधु मण्डली में बैठकर भोजन करने हुए लगने हैं, अतः प्रक्षयैय्या दोष कहलाते हैं ।

उपर्युक्त ४७ दोहों का वर्णन पिण्डनिर्युक्ति, प्रवचनसार, आवश्यक आदि में आता है। प्रत्येक व्रीहकार कुल अर्थभेद की भी सूचना देते हैं। यहाँ ममान्वयता प्रचलित अर्थों का ही उल्लेख किया गया है।

(१७)

चरण-सप्तति

यय समणधम्म,

संजम वेयावच्चं च वंभगुत्ताओ ।

नाणाइतियं तवं,

कोह-निग्गहाई चरणमेयं ॥

—श्रोत्रनिर्युक्ति-भाष्य

पाँच महाव्रत, क्षमा आदि दश धर्म-धर्म, सत्तरह प्रकार का संयम, दश वेयावृत्त्य, नौ व्रतचर्य की गुति, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यरूप तीन जल, चारह प्रकार का तप, चार कथाओं का निग्रह—यह सत्तर प्रकार का चरण है।

(१८)

करण-सप्तति

पिंड विसोही समिद्धे,

भावण पडिमा य इंदियनिरोहो ।

पडिलेहण गुत्तीओ,

अभिग्गहा चेव करणं तु ॥

—श्रोत्रनिर्युक्ति-भाष्य

अशन आदि चार प्रकार की पिण्ड विशुद्धि, पाँच प्रकार की समिति, चारह प्रकार की भावना, चारह प्रकार की भिक्षु-प्रतिमा, पाँच प्रकार

का इन्द्रियनिरोध, पक्षीम प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुनियों, अर
चार प्रकार का अभिग्रह—यह सत्तर प्रकार का करण है ।

जिस का नित्य प्रति निरंतर आचरण किया जाय, वह अक्षर
आदि चरण होता है । और जो प्रयोजन होने पर किया जाय और
प्रयोजन न होने पर न किया जाय, वह करण होता है । ओर्गनियुक्ति
की टीका में आचार्य द्रोण लिखते हैं—“चरणकरणयोः क. प्रति
विशेषः ? नित्यानुष्ठानं चरणं, यत्तु प्रयोजने आपन्ने क्रियते तत्कर
णमिति । तथा च वृत्तादि सर्वकालमेव चर्यते, न पुनर्मतश्च
कश्चिकालः । पिण्डवैशद्यवादि तु प्रयोजने आपन्ने क्रियते इति ।”

(१६)

चौरामी लाख जीव-योनि

चार गति के जितने भी समारी जीव हैं, उनकी ८४ लाख योनियाँ
हैं । योनियों का अर्थ है—जीवों के उत्पन्न होने का स्थान । समस्त जीवों
के ८४ लाख उत्पत्ति स्थान हैं । गन्धि स्थान तो इस से भी अधिक है
परन्तु पण्य, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान के रूप में जितने भी स्थान
परस्पर समान होते हैं, उन सब का मिल कर एक ही स्थान मान
जाता है ।

पृथ्वी काय के मूल भेद २५० हैं । पाँच वर्ण से उक्त भेदों को गुणा
करने से १७५० भेद होते हैं । पुनः दो गन्ध से गुणा करने पर ३५००,
पुनः पाँच रस से गुणा करने पर १७५००, पुनः आठ स्पर्श से गुणा
करने पर १४००००, पुनः पाँच संस्थान से गुणा करने से कुल सात
लाख भेद होते हैं ।

उपयुक्त पदार्थ से ही जल, तेज एवं वायु काय के भी प्रत्येक के
मूल भेद २५० हैं । उनको पाँच वर्ण आदि से गुणन करने पर प्रत्येक
की सात सात लाख योनियाँ हो जाती हैं । प्रत्येक वनस्पति के मूलभेद
५०० हैं । उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने से कुल दस लाख

योनियाँ हो जाती हैं। कन्दमूल की जाति के मूलभेद ७०० हैं, अतः उनको भी पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर कुल १४०००००० योनियाँ होती हैं।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय विकलत्रय के प्रत्येक के मूल-भेद १०० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल योनियाँ दो-दो लाख हो जाती हैं। तिर्यञ्च पञ्चोन्द्रिय, नारकी एवं देवता के मूलभेद २०० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल चार-चार लाख योनियाँ होती हैं। मनुष्य की जाति के मूलभेद ७०० हैं। अतः पाँच वर्ण आदि से गुणा करने में मनुष्य की कुल १४०००००० योनियाँ हो जाती हैं।

(२०)

पाँच व्यवहार

साधक-जीवन की आधारभूमि पाँच व्यवहार हैं। सुमुक्त साधकों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को व्यवहार कहते हैं। अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही व्यवहार है, और यही चारित्र्य है। आचार्य नेमिचन्द्र कहते हैं—

‘असुहादो विणिचित्ति,

सुहे पचित्ति य जाण चारित्तं ।’

साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति ज्ञानमूलक होनी चाहिए। ज्ञान रहित प्रवृत्ति, प्रवृत्ति नहीं, कुप्रवृत्ति है। और इसी प्रकार निवृत्ति भी निवृत्ति नहीं, कुनिवृत्ति है। चारित्र्य का आधार ज्ञान है। अतः जहाँ साधक की प्रवृत्ति निवृत्ति को व्यवहार कहते हैं, वहाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति के आधार भूत ज्ञान विशेष को भी व्यवहार कहते हैं।

१. आगम व्यवहार—केवल ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान, अविधि-ज्ञान, चौदह पूर्व, दश पूर्व और नव पूर्व का ज्ञान आगम कहलाता है। आगम ज्ञान से प्रवर्तित प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप व्यवहार आगम व्यवहार कहलाता है।

२. श्रुत व्यवहार—आचार्य आदि गुरुओं का ज्ञान श्रुत है। श्रुत ज्ञान से प्रकृत व्यवहार श्रुत व्यवहार कहलाता है। यगि नव, दश और चौदह पुराण का ज्ञान भी श्रुत रूप ही है, तथापि अतीन्द्रियार्थ-विनाशक विशिष्ट ज्ञान का कारण होने से उक्त नव, दश आदि पुराणों का ज्ञान साविशय है, अतः आगमरूप माना जाता है। और नव पुराण में न्यून ज्ञान साविशय न होने से श्रुत रूप माना जाता है।

३. आशा व्यवहार—दो गीतार्थ साधु एक दूसरे से अलग दूर देश में रहे हुए हो और शरीर शक्ति के क्षीण हो जाने से विहार करने में असमर्थ हो। उनमें से किसी एक को प्रायश्चित्त ज्ञान पर यह मुनि योग्य गीतार्थ शिष्य के अभावे में मति एवं धारणा में अङ्गुल अगीतार्थ शिष्य को आगम की साकेतिक गूढ भाषा में अपने अतिचार होर कह कर या लिख कर उसे दूर, धर्म गीतार्थ मुनि के पास भेजता है और इस प्रकार अपनी पापलोचना करता है। गूढ भाषा में बड़ी दुरि आलोचना को सुनकर ये गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, मान, सदन, धर्म, धर्म आदि का विचार करके स्वयं वहाँ पहुँच कर प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं अथवा योग्य गीतार्थ शिष्य को भेज कर उचित प्रायश्चित्त की सूचना देते हैं। यदि गीतार्थ शिष्य का योग न हो तो आलोचना के सन्देशवाहक उसी अगीतार्थ शिष्य के द्वारा ही गूढ भाषा में प्रायश्चित्त की सूचना भिजवाते हैं। यह सब आशा व्यवहार है। अर्थात् दूर देशान्तर स्थित गीतार्थ की आशा से आलोचना आदि करना, आशा व्यवहार है।

४. धारणा व्यवहार—किसी गीतार्थ मुनि ने द्रव्य क्षेत्र, काल, मान की अपेक्षा से जिस अणुष का जो प्रायश्चित्त दिया है, कालान्तर में उसी धारणा के अनुसार वैसे अणुष का वैसे ही प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है।

वैशङ्क्य करने आदि के कारण जो साधु मच्छ का विशेष उपकार हो, वह यदि सम्पूर्ण छेद-सूत्र सिखाने के योग्य न हो तो उसे गुरुदेव

कृमि पूर्वक उचित प्रायश्चित्त विधान की शिक्षा दे देते हैं। और यह शिष्य यथावसर कालान्तर में अपनी उक्त भारणा के अनुसार प्रायश्चित्त आदि का विधान करता है, यह भारणा व्यवहार है।

५. जीत व्यवहार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, व्यक्ति-निशेष, प्रति-सेवना, संहनन एवं धैर्य आदि की क्षीणता का विचार कर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह जीत व्यवहार है।

अथवा किसी गच्छ में कारण-विशेष से मूल से न्यूनाधिक प्रायश्चित्त की प्रवृत्ति हुई हो और दूसरों ने उसका अनुसरण कर लिया हो तो वह प्रायश्चित्त जीत व्यवहार कहा जाता है। अर्थात् अपने-अपने गच्छ की परंपरा के अनुसार प्रायश्चित्त आदि का विधान करना, जीत व्यवहार है।

अथवा अनेक गीतार्थ मुनियों द्वारा प्रचारित की हुई मर्यादा का प्रतियादन करने वाला ग्रन्थ जीत कहलाता है और उसके द्वारा प्रवर्तित व्यवहार जीत व्यवहार है।

उक्त पाँच व्यवहारों में यदि व्यवहर्ता के पास आगम हो तो उसे आगम से व्यवहार करना चाहिए। आगम में भी केवल ज्ञान, मनः पर्याय आदि अनेक भेद हैं। इनमें पहले केवल ज्ञान आदि के होते हुए उन्हीं से व्यवहार चलाया जाना चाहिए, दूसरों से नहीं। आगम के अभाव में श्रुत से, श्रुत के अभाव में आज्ञा से, आज्ञा के अभाव में भारणा से, और भारणा के अभाव में जीत व्यवहार से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार का प्रयोग करना चाहिए। देश, काल के अनुसार उपयुक्त पद्धति से सम्यक् रूपेण पञ्चातरहित व्यवहारों का प्रयोग करता हुआ साधक भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है।

[स्थानांग सूत्र ५।२।४२१]

(२१)

अठारह हजार शीलाङ्ग रय

जे नो करति मणसा, निजियाहारमन्ना मोद्रिणि;
पुनर्वाकायारंभे, खविजुआ ते गुणो पंदे ।

जे नो करति ६...	जे नो कायति ६....	जे नाछु मोयति ६...
मणसा २..	ययसा २....	कायसा २..
निजिया ५००	निजिया ५००	निजिया ५००
हाररात्रा ५००	भयसजा ५००	नेटुगलसा ५००
ओमेन्द्रिय १००	चड्डु रिन्द्रिय १००	प्रासेन्द्रिय १००
पुनिकी १०	अर १०	तेज १०
खान्ति १	मुक्ति २	आचंग ३

निजिया
परिणाह
मना ५००

रत्नेन्द्रिय
१००

वायु
१०

माईय
८

रायति
न्द्रिय १००

यनरयति
१०

सायर
५

द्वीन्द्रिय
१०

मत्य
६

धीन्द्रिय
१०

मयम
७

चतुन्द्रिय
१०

नय
८

चतुन्द्रिय
१०

ममचय
८

अतिव
१०

विवेचनादि में प्रयुक्त ग्रंथों की सूची

- १ अजित जिन स्तवन—उपाध्याय देवचन्द्र
- २ अनुयोग द्वार सूत्र
- ३ अनुयोगद्वार—टीका
- ४ अथर्व वेद
- ५ अमितगति श्रावकाचार
- ६ अष्टक प्रकरण—आचार्य हरिभद्र
- ७ आवश्यक बृहद् वृत्ति—आचार्य हरिभद्र
- ८ आवश्यक टीका—आचार्य मलयगिरि
- ९ आचारांग सूत्र
- १० आवश्यक चूर्णि—जिनदास महत्तर
- ११ आवश्यक सूत्र—पूज्य श्री अमोलक ऋषि
- १२ आवश्यक निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु
- १३ उत्तराध्ययन सूत्र
- १४ उत्तराध्ययन टीका—भाव विजय
- १५ उत्तराध्ययन टीका—आचार्य शान्ति सूरि
- १६ औपपातिक सूत्र
- १७ ऋग्वेद
- १८ कठोपनिषद्
- १९ गुरु ग्रन्थ साहव
- २० छान्दोग्योपनिषद्
- २१ जय धवला
- २२ तत्त्वार्थ भाष्य—उमा स्वाति

- २३ तत्त्वार्थ राजवार्तिर—भट्टनाथ
 २४ तीन गुण ग्रन्थ—पूज्य जगद्गुरुनाथ
 २५ द्वात्रिंशति—गणक यशोविजय
 २६ धर्म समग्र—मान विजय
 २७ धर्म पद—तथागत बुद्ध
 २८ निष्ठा—वास
 २९ निशीथ वृत्ति—निश्चय गणी महत्तर
 ३० दशार्थ कालिक सूत्र
 ३१ दशार्थ कालिक सूत्र टीका—आचार्य हरिभद्र
 ३२ दशाधृत स्कन्ध
 ३३ प्रतिप्रमण ग्रन्थत्रयी—आचार्य धर्मानन्द
 ३४ प्रतिप्रमण सूत्र वृत्ति—आचार्य नमि
 ३५ प्रतिप्रमण सूत्र वृत्ति—आचार्य तिनक
 ३६ पञ्च प्रतिप्रमण—१० सुप्रसन्नजी
 ३७ प्रवचन सार—आचार्य कुन्द कुन्द
 ३८ प्रवचन सारोद्धार—आचार्य मेघेन्द्र
 ३९ प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
 ४० बृहत्कल्प भाष्य—संज्ञान गणी
 ४१ बोल समग्र—भैरवजी सेठिया
 ४२ भगवद् गीता
 ४३ भगवत् सूत्र
 ४४ भगवती सूत्र वृत्ति—आचार्य अभयदेव
 ४५ भामिनी विलास—पश्चिम बंगाल
 ४६ भागवत
 ४७ महा धवला
 ४८ महाभारत
 ४९ मूलाचार—वज्रेश्वर

- ५० मूलाराधना-विजयोदया—आचार्य अपराजित
- ५१ योग दर्शन
- ५२ योगदर्शन व्यासभाष्य
- ५३ योगशिखोपनिषद्
- ५४ योगशास्त्र वृत्ति—आचार्य हेमचन्द्र
- ५५ विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण
- ५६ वैशेषिक दर्शन
- ५७ वैराग्य शतक—भर्तृहरि
- ५८ व्यवहार भाष्य
- ५९ सर्वार्थ सिद्धि—पूज्यपाद
- ६० सर्वार्थ सिद्धि—कमलशील
- ६१ साधु प्रतिक्रमण—पूज्य श्री आत्मारामजी
- ६२ सूत्र कृतांग सूत्र
- ६३ सूत्र कृतांग टीका
- ६४ संथारा पइन्ना
- ६५ सम्यक्त्व पराक्रम—पूज्य जवाहिराचार्य
- ६६ समवायांग सूत्र
- ६७ समवायांग सूत्र टीका—आचार्य अभयदेव
- ६८ संग्रहणी गाथा
- ६९ समयसार—आचार्य कुन्द कुन्द
- ७० समयसार नाटक—बनारसीदासजी
- ७१ सौन्दरानन्द काव्य—महाकवि अश्वघोष
- ७२ सौर परिवार
- ७३ स्थानांग सूत्र
- ७४ हरिभट्टीय आवश्यक वृत्ति टीप्पणक—मलधार गच्छीय
आचार्य हेमचन्द्र

सन्मति ज्ञान पीठ के प्रकाशन

सामायिक-सूत्र

[उग्राध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज]

प्रस्तुत ग्रन्थ उग्राध्याय जी ने अपने गम्भीर अध्ययन, गहन चिन्तन और सूक्ष्म अनुमीक्षण के फल पर तैयार किया है। सामायिक सूत्र पर ऐसा सुंदर निवेदन एवं विश्लेषण किया गया है कि सामायिक का लक्ष्य तथा उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। भूमिका के रूप में, जैन धर्म एवं जैन संस्कृति के सूक्ष्म तत्वों पर आलोचनात्मक एक सुविरचित निबन्ध भी आप उसमें पढ़ेंगे।

इस में शुद्ध मूल पाठ, सुन्दर रूप में मूलार्थ और भावार्थ, संस्कृत प्रेमियों के लिए छायानुवाद और सामायिक के रहस्य को समझने के लिए निरूपित विवेचन किया गया है। मूलः २॥)

सत्य-हरिश्चन्द्र

[उग्राध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज]

'सत्य हरिश्चन्द्र' एक प्रबन्ध-काव्य है। राजा हरिश्चन्द्र की जीवन गाथा भारतीय जीवन के अणुअणु में व्याप्त है। सत्य परिपालन के लिए हरिश्चन्द्र कैसे-कैसे कष्ट उठाता है और उसकी रानी एवं पुत्र रोहित पर क्या-क्या अगदार्थें आती हैं, फिर भी सत्यप्रिय राजा हरिश्चन्द्र सत्य-धर्म का पला नहीं छोड़ता, यही तो वह महान् आदर्श है, जो भारतीय संस्कृति का गौरव समझा जाता है।

कुशल पाठ्य-कलाकार कवि ने अपनी साहित्यिक लेखनी से राजा हरिश्चन्द्र, रानी तारा और राजकुमार रोहित का बहुत ही रमणीय चित्र खींचा है। काव्य की भाषा सरल और सुगोचर तथा भावाभिव्यक्ति प्रभाव-शालिनी है। पुस्तक की छपाई-सफाई सुंदर है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य २॥)।

जैनत्व की भाँकी

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्र जी महाराज]

इस पुस्तक में महाराज श्री जी के निबन्धों का संग्रह किया गया है। उपाध्याय श्री जी एक कुशल कवि और एक सफल समालोचक तो हैं ही ! परन्तु वे हमारी समाज के एक महान् निबन्धकार भी हैं। उनके निबन्धों में स्वाभाविक आकर्षण, ललित भाषा और ठोस एवं मौलिक विचार होते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में जैन-इतिहास, जैन-धर्म, और जैन-संस्कृति पर लिखित निबन्धों का सर्वाङ्ग सुन्दर संकलन किया गया है। निबन्धों का वर्गीकरण ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक रूपों में किया गया है। जैन धर्म क्या है ? उसकी जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में क्या मान्यताएँ हैं और जैन-संस्कृति के मौलिक सिद्धान्त कर्मवाद और स्याद्वाद जैसे गम्भीर एवं विशद विषयों पर बड़ी सरलता से प्रकाश डाला गया है। निबन्धों की भाषा सरस एवं सुन्दर है।

जो सज्जन जैन-धर्म की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। हमारी समाज के नवयुवक भी इस पुस्तक को पढ़कर अपने धर्म और संस्कृति पर गर्व कर सकते हैं। पुस्तक सर्वप्रकार से सुन्दर है। राजसंस्करण का मूल्य १।) साधारण संस्करण का मूल्य III)।

भक्तामर-स्तोत्र

[उपाध्याय पं० मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज]

आपको भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति अब तक संस्कृत में ही प्राप्त थी। उपाध्याय श्री जी ने भक्तों की कठिनाई को दूर करने के लिए सरल एवं सरस अनुवाद और सुन्दर टिप्पणी एवं विवेचन के द्वारा भक्तामर-स्तोत्र को बहुत ही सुगम बना दिया है। संस्कृत न जानने वालों के लिए हिन्दी भक्तामर भी जोड़ दिया गया है। मूल्य 1-।

पद्मपात्रमन्दिर-स्तोत्र

[उग्रापात्र मुनि भी अमरगुप्त भी महापुत्र]

उग्रापात्र पुस्तक में उग्रापात्र विष्णुदेव शंकर अमरगुप्त पारंगनापत्री का संकृत स्तोत्र है। उग्रापात्र भी भी में उग्रापात्र गणेश अनुवाद और सुन्दर विचित्र वरद और महावीर स्तोत्रों पर टिप्पणियाँ देकर महापुत्र स्तोत्रों के लिए भी उग्रापात्र महापुत्र गणेश बना दिया है। अमरगुप्त भी सुन्दर है। पुस्तक के पीछे हिन्दी कृतान्तर्गत भी है। पृष्ठ ॥१॥

वीर-स्तुति

[उग्रापात्र वं० मुनि भी अमरगुप्त भी महापुत्र]

हम पुस्तक में अमरगुप्त महावीर की स्तुति है। हममें गणेश पुस्तक स्तोत्रों में अमरगुप्त महावीर के स्तुति का बहुत ही सुन्दर दण्ड है। वर्णित किया है। मूल-पाठ प्राकृत भाषा में होने में अमरगुप्त की बड़ी बढियाँ थी। उग्रापात्र भी भी में हमका भावानुवाद, पद्मानुवाद और विचित्र दण्ड दण्ड बहुत ही सुगम बना दिया है। मूल ही मूल का महावीरपत्र भी पद्मानुवाद और भावानुवाद मिला देकर पुस्तक को और भी अधिक उपयोगी बना दिया है। पृष्ठ ॥१॥

मंगल-वाणी

[परिश्रम मुनि भी अमरगुप्त भी महापुत्र]

अमरगुप्त पुस्तक में तीन विभाग है, जिनमें प्रथम प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी के भावपूर्ण एवं विस्तृत स्तोत्रों और स्तवनों का सुन्दर संग्रहण किया गया है। जैन धर्म के मुख्यतः और प्रतिदिन पठनीय और सुनि, महापुत्र, महापुत्र-मन्दिर और मेरी भाषा, पद्मपत्रों की बढियाँ तथा समाज में प्रचलित हिन्दी के भाषा सभी स्तवनों का हम पुस्तक में अत्यन्त शैली से संकलन किया गया है। मुख्य भाषा और जैन स्तुति से भी अधिक सुन्दर संग्रह है। सुन्दर छन्द, मुद्राकार और पृष्ठ संख्या ३२५ है। परिशिष्ट में पद्मपत्रपत्र एवं स्तोत्रों के अर्थ तथा स्तोत्रों के पढ़ने

विधान भी दिए गए हैं। पाठ करने वाले बन्धुओं के लिए संग्रहणीय है। मूल्य साधारण संस्करण १।) राज संस्करण २)

संगीतिका

ज-विशारद पण्डित विश्वम्भरनाथ भट्ट एम ए. एल एल. बी.]
स्तुत पुस्तक में उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द्रजी महाराज के रचित न बहुत ही सुन्दर सम्पादन एवं संकलन हुआ है। संगृहीत गीतों की रचना भी मनोवैज्ञानिक पद्धति से हुआ है। सब से बड़ी विशेषता है कि सङ्गीतशास्त्र के उद्भूत विद्वान् पण्डित विश्वम्भरनाथजी ने गीतों की आधुनिक प्रचलित रागों में स्वरलिपि तैयार करके प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। सङ्गीत सीखने वालों के यह पुस्तक बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक में संकलित सभी गीत राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक हैं। प्रकार के उत्सवों पर गाए जा सकते हैं। पुस्तक अपने ढङ्ग की निराली हैं। पुस्तक की छपाई-सफाई बहुत ही आकर्षक एवं सुन्दर ग्राट पेपर पर छपी हुई इस पुस्तक का मूल्य ६) और साधारण एण का ३॥)।

उज्ज्वल-वाणी

[श्री रत्नकुमार 'रत्नेश' साहित्य रत्न, शास्त्री]

प्रस्तुत पुस्तक में महामती श्री उज्ज्वलकुमारीजी के ओजस्वी एवं तकारी प्रवचनों का बहुत ही सुन्दर संकलन और सम्पादन हुआ सतीजी स्थानकवासी समाज की एक परम विदुषी और प्रौढ़ विचार-ता साध्वी हैं। आपके प्रवचनों में स्वभाविक वाणी का प्रवाह, समाज को प्रबुद्ध करने का विलक्षण प्रभाव और उच्च विचार मान हैं। जीवन को समाजोन्मोगी, पवित्र, उन्नत, और सुखी बनाने लिए यह पुस्तक आपके पथ प्रदर्शन का काम करेगी।

इस पुस्तक में राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवचनों

का समग्र उद्भूत ही उपयोगी ढंग से निभा गया है। प्रसवता, व्याख्यानदाता और उपदेशक के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। सती उज्ज्वलकुमारीजी ने जैनसंस्कृति और जैनधर्म के सिद्धान्तों का अपने प्ररचनों में अभिनव शैली से समझाने का सफल प्रयास किया है। सभी विद्वानों ने इस पुस्तक की भरसक प्रशंसा की है।

पुस्तक में आकर्षक गेट अप, सुन्दर छपाई-सफाई और बड़िया सागज लगाया गया है। पृष्ठ संख्या २७५ और मूल्य ₹।

जिनेन्द्र-स्तुति

[उपाध्याय प० मुनि भी अमरचन्द्रजी महाराज]

इस पुस्तक में भगवान् शृणुभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक २४ तीर्थंकरों की स्तुति है। मन्दानान्ता छन्द में, सरस एवं सुन्दर भाषा में स्तुति पठनीय है। पुस्तक सर्वप्रकार से सुन्दर है। मूल्य १)।

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

['परिद्धत इन्द्रचन्द्र एम० ए० वेदान्ताचार्य]

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने भारत की दो प्राचीन संस्कृतियों पर अधिकार पूर्णक विचार किया है। वे प्राचीन संस्कृतियों हैं—ब्राह्मण संस्कृति और भमण संस्कृति। परिद्धत इन्द्रचन्द्र जी ने इस सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा है, यह सब ईमानदारी के साथ लिखा है।

विद्वान लेखक ने दोनों ही संस्कृतियों का वास्तविक चित्र खींचा है। पुस्तक सर्व साधारण के अध्ययन योग्य है। विषय गम्भीर होने हुए भी रोचक एवं पठनीय है। भाषा सरस और सुन्दर बन पड़ी है। पुस्तक सर्व प्रकार से संग्रहीय है। मूल्य १-)

